DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DTATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१२

महाकविश्रीहर्षविरचितं

नैषधीयचरितम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

80738 LIBRARY College

व्याख्याकार:—

आचार्य श्रीशेषराजशर्मा रेग्मी:

भूतपूर्व-प्राध्यापक

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य, नेपालस्यत्रिभुवनविश्वविद्यालयस्य,

वाल्मीकिसंस्कृतमहाविद्यालयस्य च



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ३३३४३१
सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रथम संस्करण १९९५
मूल्य :
प्रथम सर्ग २५-०० , १–३ सर्ग ५०-०० , २–३ सर्ग ३०-०० ,
४–५ सर्ग २५-०० , १–५ सर्ग ७०-०० , ६–८ सर्ग ३५-०० ,
६–९ सर्ग ५०-०० , ९वां सर्ग २०-०० , १–९ सर्ग १२५-००
१०वाँ सर्ग १५-०० , १–१० सर्ग १५०-००
अन्य प्राप्तिस्थान
80738
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर
पो० बा० नं० २११३
दिल्ली ११०००७
दूरभाष : २३६३९१
प्रमुख वितरक
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ३२०४०४
मुद्रक
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

13

NAISADHĪYACARITA

SRĪ HARSA

With

'Chandrakala' Sanskrit & Hindi Commentaries

By

Acharya Sheshraja Sharma 'Regmi'

Former Professor

Banaras Hindu University, Tribhuvan University and Valmiki Sanskrit Mahavidyalaya, Nepal



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391



Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001

C No

भूमिका

महाकाव्य नैषधीयचरित और महाकवि श्रीहर्ष

संस्कृतके महाकाव्योंमें नैषधीयचरितका उच्च स्थान है। यों तो संस्कृतमें काव्य अपरिमित हैं, परन्तु पठनपाठनमें लघुत्रयी, बृहत्त्रयी और पञ्च महाकाव्य बहुत ही प्रसिद्ध हैं। लघुत्रयीमें प्रस्तुत महाकाव्यका परिगणन न होनेसे उसके विषयमें कुछ भी न कहकर बृहत्त्रयी और पञ्च काव्योंकी कुछ चर्चा की जाती है। किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित ये तीन महाकाव्य बृहत्त्रयीके रूपमें विख्यात हैं। इसी तरह कुमारसम्भव, रघुवंश, किरातार्जुनीय शिशुपालवध और नैषधीयचरित ये पाँच महाकाव्य "पञ्चकाव्य" के रूपमें विख्यात हैं और पठनपाठनमें बहुप्रचलित हैं। इन दोनों विभागोंमें व्याकरणके "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" इस उक्तिके समान पूर्वकी अपेक्षा पर श्रेष्ठ माने गये हैं। लोकोत्तर चमत्कार, रस, भाव, ध्वनि, अलङ्कार, पदलालित्य और वर्णन तथा प्रमाणमें असाधारणता इत्यादि गुणगणोंसे नैषधीयचरित महाकाव्य सब काव्योंमें श्रेष्ठ माना गया है।

पूर्वोक्त इन सभी काव्योंका कथानक इतिहास और पुराणसे लिया गया है परन्तु इनको आकर्षक मनोहर कल्पनासे सजाकर महाकवियोंने अतिशय सुन्दरता और नवीनतासे चित्रित किया है। अतएव।

> "अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
> यथेदं रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
> शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये सर्वं रसमयं जगत्।
> स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥"

यह उक्ति विशेषतया इन लोगों में लागू होती है। यद्यपि—

> "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
> नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥"

इस उक्तिमें नैषधमें पदलालित्यकी विशेषता होने पर भी तीनों गुण होनेसे माघकी विशेषता परिलक्षित होती है, परन्तु—

"तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे भानौ क्व माघः ? क्व च भारविः ? ।।"

अर्थात् भारविकी कान्ति माघके उदयके पहले ही शोभित होती है परन्तु नैषधरूपी सूर्यके उदय होनेपर कहाँ माघ ? और कहाँ भारवि ? इस उक्तिसे नैषधमहाकाव्यकी पूर्वोक्त दोनो काव्योंमें श्रेष्ठता जानी जाती है ।

नैषधीयचरित महाकाव्यके कर्ता महाकवि श्रीहर्षके पिताका नाम श्रीहीर और माताका नाम मामल्लदेवी वा अल्लदेवी था, यह बात उक्त काव्यके प्रत्येक सर्गके अन्तमें स्थित—

"श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं ।
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ॥"

इस पद्यसे मानी जाती है । किसी उदयनाचार्य नामके पण्डितसे श्रीहर्षके पिता श्रीहीर शास्त्रार्थमें हार गये थे । ये उदयनाचार्य कुसुमाञ्जलि और किरणावलीके कर्ता दशमशताब्दीके मैथिल दार्शनिक उदयनाचार्यसे भिन्न थे । अन्तिम समयमें श्रीहीरने अपने पुत्र श्रीहर्षसे उक्त पण्डितको शास्त्रार्थमें जीतनेका अनुरोध किया था । श्रीहर्षने अपनी मातासे चिन्तामणि मन्त्रकी दीक्षा लेकर भगवतीकी उपासनाके फलस्वरूप असाधारण विद्वत्ता और प्रतिभाकी प्राप्ति होनेसे खण्डन-खण्डखाद्य नामक वेदान्त ग्रन्थसे उदयनाचार्यको परास्त किया ।

असामान्य वैदुष्यपूर्ण प्रतिभाके कारण जब इसकी रचना दुरूह हुई तब अपनी कृतिको बोधगम्य करानेके लिए उन्होंने आधीरातके समय शिरमें पानी डालकर दही पिया तब कफकी प्रचुरतासे कुछ बुद्धिकी मन्दता हुई तदनन्तर इनका काव्य समझनेमें लोग समर्थ हुए ऐसी अनुश्रुति है ।

ऐसी भी उक्ति है कि महाकवि श्रीहर्ष प्रसिद्ध आलङ्कारिक मम्मटभट्टके भाञ्जे थे और उन्होंने अपनी रचना नैषधचरित मामाको दिखलाया मम्मटने कहा कि "मुझे काव्यप्रकाशके सप्तम उल्लास लिखनेके पहले ही यह ग्रन्थ मिल जाता तो दोषोंके उदाहरण ढूँढनेमें अनेक ग्रन्थोंको देखनेका परिश्रम नहीं उठाना पड़ता, तुम्हारे एक ही ग्रन्थ से सब काम चल जाता" परन्तु इस लोकोक्तिमें सत्यताका बहुत कम अंश देखा आता है । महाकवि श्रीहर्ष कान्यकुब्ज (कन्नौज) और वाराणसीके महाराज विजयचन्द्र और जयचन्द्रके सभापण्डित थे और वे कान्यकुब्जेश्वरसे पानके दो बीड़े और आसन पाते थे, तथा समाधिमें ब्रह्मका

साक्षात्कार करते थे। उनका काव्य मधुकी वृष्टि करनेवाला है और तर्कोंमें उनकी उक्तियाँ शत्रुओंको परास्त करने वाली हैं, ये बात ग्रन्थके अन्त मे स्थित-

> "ताम्बूलद्वयमासन च लभते य कान्यकुब्जेश्वरा-
> द्य साक्षात्कुरुते समाधिषु पर ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।
> यत्काव्य मधुवर्षि, धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तय
> श्रीश्रीहर्षकवे कृति कृतिमुदे तस्याऽभ्युदीयादियम् ॥"२२-१५३

इस पद्यसे जानी जाती है। महाकवि श्रीहर्षका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी है। ये न्याय, वेदान्त आदि अनेक शास्त्रोंपर पूर्ण अधिकार रखते थे। इनके ग्रन्थोका सक्षिप्त परिचय देकर पीछे नैपधीयचरितपर कुछ लिखेंगे—

१ स्थैर्यविचारणप्रकरण—सभवत इसमे बौद्धोके क्षणिकवादका खण्डन होगा।

२ विजयप्रशस्ति—इसमे जयचन्द्रके पिता विजयचन्द्र की प्रशस्ति है।

३ खण्डनखण्डखाद्य—इसमे न्यायकी रीतिका अवलम्बन कर न्यायका खण्डन और अद्वैतसिद्धान्तका मण्डन है। यह अत्यन्त दुरुह और पाण्डित्यका निकषग्रावा माना गया है। बादमे विक्रमकी सोलहवी शताब्दीके शङ्करमिश्रने इसीकी शैलीपर "वादिविनोद" नामक ग्रन्थकी रचना की थी।

४ गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति—इसमे बङ्गदेशके किसी राजाकी प्रशस्तिका वर्णन है।

५ अर्णववर्णन—इसमे समुद्रका वर्णन होगा।

६ छिन्दप्रशस्ति—इसमे छिन्द नामके किसी राजाकी प्रशस्तिका वर्णन होगा।

७ शिवशक्तिसिद्धि—नामके अनुसार इसमे भी शिव और शक्तिकी सिद्धि की गई होगी।

८ नवसाहसाङ्कचरितचम्पू—सभवत राजा भोजके पिता 'नवसाहसाङ्क' उपाधिवाले सिन्धुराजका चरित होगा।

९ नैपधीयचरित महाकाव्य—महाकविने इसे "तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले" कहकर चिन्तामणि मन्त्रके चिन्तनसे फलस्वरूप बतलाया है। इसमे कुल २२ सर्ग हैं रत्नाकर महाकविके "हरविजय महाकाव्य"—(जिसमे ५० सर्ग हैं) को छोडकर प्रचलित अन्य समस्त महाकाव्योमे यह विशाल और श्रेष्ठ है इसमे तेरहवाँ सर्ग ५६ श्लोकोका १५ वाँ सर्ग ९३ श्लोकोंका और उन्नीसवाँ सर्ग ६७ श्लोकोका है। इनको

छोड़कर अन्य सर्गोमे श्लोकोंकी संख्या शताऽधिक है। किं बहुना १७ वां सर्ग २२२ श्लोकोका है।

इसमे समष्टि श्लोकसंख्या २८२८ है। कहा जाता है कि अपने आश्रयदाता महाराज जयचन्द्रकी आज्ञासे महाकविने इस महाकव्यको रचा था इसमें उन्नीस छन्दोंका प्रयोग किया गया है जिनमे सबसे अधिक उपजाति छन्द हैं, जिसमे ७ सर्ग लिखे गये हैं। वंशस्थमें ४ सर्ग हैं। इनके अतिरिक्त दोधक, वसन्ततिलका, स्वागता, द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, शिखरिणी और अनुष्टुप् आदि छन्द हैं। १७ वां सर्ग तो अनुष्टुप् छन्दोंमे ही रचित है। इस महाकाव्यपर २३ टीकाएँ रची गई है ऐसा प्रतीत हुआ है। जिनमें प्राचीनमे मल्लिनाथकी जीवातु और नारायण पण्डितकी प्रकाश टीका तथा नवीनमें जीवानन्द विद्यासागर और म० म० हरिदास सिद्धान्तवागीशकी टीकाएँ उपलब्ध हैं, टीकाएँ केवल नाममात्रसे प्रसिद्ध हैं। श्रीहर्षके ग्रन्थोमे नैषधीयचरित और खण्डनखण्डखाद्य उपलब्ध हैं अन्य अप्राप्य हैं।

नैषधीयचरितका उपजीव्य है महाभारतके वनपर्वस्थित नलोपाख्यान। इसमें आरम्भमे नलके अनुपम गुणगणोंका सविस्तर वर्णन है। दमयन्तीके पूर्वाऽनुरागकी भी विशद चर्चा है। अनन्तर नलकी दमयन्तीमें आसक्ति, दमयन्तीके विरहसे अधीर होकर राजा वनविहारके लिए जाते हैं, वहां तालाब-के पास एक हंसको पकड़ते है। मनुष्यकी वाणीमें उसका विलाप सुनकर उसको छोड़ देते है। वह फिर आकर उनसे दमयन्तीका वर्णन करता है, और दमयन्तीके साथ राजाका सम्बन्ध करानेका प्रण कर दमयन्तीकेपास जाता है। हंस दमयन्तीसे राजा नलके सौन्दर्य और गुणोंका वर्णन करता है राजा भीम दमयन्तीके स्वयम्वरका प्रयोग करते हैं नारदके मुखसे स्वयम्वरका समाचार सुनकर इन्द्र, यम, वरुण और अग्निके साथ दमयन्तीके स्वयम्वरमें जानेके लिए प्रस्तुत होते हैं। रास्तेमें नलको देखकर अपने कौशलसे उन्हें अपना दूत बनाते हैं। बड़े समारोहसे स्वयंवर होता है: चारों देवता नलका रूप लेकर उपस्थित होते हैं। नलका निश्चय करनेमें असमर्थ होकर दमयन्ती व्याकुल होती है। अन्तमें देवगण उनकी पति-भक्तिसे प्रसन्न होकर अपने चिह्नोंको प्रकट करते हैं तब दमयन्तीके साथ नलका विवाह होता है। लौटते समय कलिके साथ देवताओंका सामना होता है। कलिके नास्तिकवाद प्रकाशित करनेपर देवगण उसका खण्डन करते हैं। कलि नलके ऊपर कुपित होकर उनको पीडित करने-का प्रण करके द्वापरके साथ अन्यत्र कही उपयुक्त स्थान न देखकर उनके

वाणीचेमे रहकर अवसर ताकता रहता है। अन्तमे नल और दमयन्तीकी प्रथम मिलनरात्रिका मनोहर वर्णन करके ग्रन्थ समाप्त होता है।

नलोपाख्यानके अनुसार भाई पुष्करके साथ जुँएमे राज्य गँवाकर नलका पर्यटन आदि वृत्तान्त न होनेसे यह महाकाव्य अधूरा-सा प्रतीत होता है। अतएव कहा जाता है कि इसमे पहले ६० सर्ग थे, परन्तु अभी २२ सर्ग-मात्र उपलब्ध हैं इसमे रस अलङ्कार, ध्वनि, गुण, रीति आदि अलङ्कार शास्त्रके प्रत्येक विषयसे पूर्ण मौलिकता परिलक्षित होती है। कालिदासकी रचनाओंको छोड़कर पूर्ववर्ती समस्त कवियोंकी रचनाएँ इसके सामने हतप्रभ हो गई हैं। श्रीहर्षने आलङ्कारिकोंके नियमका भी पूर्णरूपसे पालन नहीं किया है, वर्णनोंमें उनकी विलक्षण कल्पनाओंकी उड़ानने सब सीमाका अतिक्रमण कर दिया है। श्रीहर्षने अलङ्कार आदिके प्रयोगोंमे दर्शन और व्याकरणसे उदाहरण लेकर अपनी अनोखी सूझबूझका परिचय दिया है। संस्कृतभाषामे श्रीहर्षका असाधारण अधिकार देखा जाता है। "नैषध विद्वदौषधम्" यह प्रसिद्ध जनश्रुति है। नैषधको शास्त्रकाव्य कहनेमे कुछ भी अत्युक्ति नहीं प्रतीत होती है। अलङ्कारोंमे उन्होंने अतिशयोक्ति, अपह्नुति, अर्थान्तरन्यास, उपमा, व्यतिरेक, रूपक आदिमे अपना बेजोड़ कौशल प्रदर्शित किया है। यमक आदि शब्दालङ्कारके प्रयोगमे भी वे अपनी सानी नहीं रखते है। हाँ भारवि और माघके समान एकाक्षर और द्व्यक्षरवाले श्लोकोंका प्रदर्शन कर श्रीहर्षने काव्यशिल्प नहीं दरसाया है, वस्तुत यह भूषण है, दूषण नहीं है। नैषधीयचरितके १३ वें सर्गके ३४ वें श्लोकमे उन्होंने पञ्चनलोंका वर्णन करनेमें अद्भुत और असाधारण वैदुष्य दिखाया है। नैषधीयचरितमे प्रसादगुण और वैदर्भी रीतिका पर्याप्त प्रदर्शन होनेपर भी माधुर्य और ओजोगुण और पाञ्चाली आदि रीतिकी प्रचुरता उपलक्षित होती है। इस काव्यरत्नके रसास्वादनके लिए कठिन परिश्रम और परिमार्जित बुद्धि अपेक्षित है इसमे दो मत नहीं।

अब नैषधीयचरितके कुछ असाधारणश्लोकोंका प्रदर्शन कर इस प्रसङ्गका उपसहार किया जाता है—

नलके प्रताप और यशका कैसा मनोहर वर्णन है—

"तदाजसस्तद्यशस स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानो परिवेशकैतवात्तदा विधि कुण्डलना विधोरपि ॥ १-१४।

दमयन्तीके विरहसे सन्तप्त होनेपर भी नलके अयाचित-व्रतका पालन कितनी रमणीयतासे वर्णित है—

"स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥ १-५० ।

नलसे पकड़े जानेपर हंसके मुखमे करुणरसका कैसा सजीव वर्णन है—

"मदेकपुत्रा जननी जरातुरा, नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो ! विधे ! त्वां करुणा रुणाद्धि नो" ॥१-१३५

महाराज भीमकी पुरीका श्लिष्ट रूपमें कैसा मनोहर वर्णन है—

"स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ।
स्वरभेदगुपेतु या कथं कलिताऽनल्पमुखारवा न वा" ॥ २-९८ ॥

नलकी साधुताका वर्णन व्याकरणपाण्डित्यप्रदर्शनपूर्वक कैसी प्रवीणतासे किया गया है—

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाऽभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमानामपदं बहु स्यात्" ॥ ३-२३।

कितनी मार्मिकतासे नलके घोड़ोंका वर्णन अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकसे प्रदर्शित है—

"विना पतत्रं विनतातनूजैः समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न निर्जिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥ ३-३७ ।

कैसी सूझबूझसे नलके गुणोंका अतिशयोक्तिसे अशक्यवर्णन प्रतिपादित किया है—

"यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात् ।
पारेपरार्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात्" ॥ ३-४० ॥

चन्द्रमे स्थित कलङ्कको उत्प्रेक्षा और अपह्नुतिसे कैसी सजीवतासे दरसाया है—

"स्मरमुखं हरनेत्रहुताशनाज्ज्वलदिदं विधिना चकृपे विधुः ।
बहुविधेन वियोगिवधैनसा शशमिषादथ कालिकयाऽङ्कितः" ॥ ४-७३ ।

इस पद्यमें देवताओंका विग्रह नहीं है, शब्द ही देवता है ऐसे मीमांसा-सिद्धान्तको कैसी विलक्षणतासे प्रस्तुत किया है—

"विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये ।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनि स निनाय" ॥ ५-३९ ।

सार अलङ्कारके द्वारा इन्द्रकी श्रेष्ठताका कैसा मनोहर वर्णन है—

"लोकस्रजि द्यौर्दिवि चादितेया अत्यादितेयेषु महान्महेन्द्र ।
किञ्चतु मर्त्यो यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्षा किमत परोऽपि ॥६–८१ ।

स्वर्गसे भी भारतवर्षकी श्रेष्ठताका कितना सुन्दर वर्णन है—

"स्वर्गे सता शर्म, पर न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च ।
इष्टयाऽपि तुष्टि सुकरा सुराणा कथ विहाय त्रयमेकमीहे" ॥ ६–९८ ।

एक दमयन्तीको देखनेसे अनेक अप्सराओको देखनेका कौतुक पूर्ण होता है, इस बातको कैसी विलक्षणतासे दिखाया है—

भ्रूश्चित्ररेखा च, तिलोत्तमाऽस्या नासा च, रम्भा च यदूरुसृष्टि ।
दृष्टा तत पूरयतीयमेकाऽनेकाऽप्सर प्रेक्षणकौतुकानि" ॥ ७–९२ ।

महाराज नल कामदेव और अश्विनीकुमारोसे भी सुन्दर हैं इस बातको दमयन्ती के मुखसे किस तरह विलक्षणतासे प्रदर्शित किया है—

"न मन्मथस्त्व स हि नाऽस्तिमूर्तिर्न वाऽऽश्विनेय स हि नाऽद्वितीय ।
चिह्नै किमन्यैरथवा तवैव श्रीरेव तावाभ्यामधिको विशेष " ॥ ८–२६ ।

दमयन्ती नलको "आपकी वाणी मात्रके सुननेसे नाम सुननेकी इच्छा शिथिल नही हुई है" इस बातको दृष्टान्त अलङ्कारसे कैसे मधुरतापूर्वक कहती है—

"गिर श्रुता एव तव श्रव सुधा , श्लथाऽभवन्नाम्नि तु न श्रुतिस्पृहा ।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा, न जातु दुग्धा मधुनोऽधिकादपि" ॥९५ ॥

नैषधीयचरितके एकसे नौ सर्गों तक आपातत कतिपय मनोहर श्लोकोका प्रदर्शन किया गया है, इसको परिसख्याके रूपमे नही समझना चाहिए ।

नैषधीयचरितकी इस नवीन चन्द्रकलाव्याख्यामे मैंने प्राचीन तथा नवीन जीवातु, प्रकाश और जयन्तीका निरीक्षणपूर्वक छात्रोको सुगमतया बोध कराने-का प्रयत्न किया है, मैं इस विषयमे कहाँ तक सफल हुआ हूँ इस विषयमें कृतवेदी विद्वद्गण तथा छात्रगण ही प्रमाण हैं ।

अतमे त्वरा और प्रमादके कारण होनेवाले स्खलनमे सूचनाकी प्रार्थना कर मैं अपने लघुवक्तव्यको समाप्त करता हूँ ।

वाराणसी, ब्रह्माघाट
स० २०३३ मेषसक्रान्ति ।

शेषराजशर्मा

द्वितीय संस्करण

यद्यपि संस्कृतके महाकवियोंकी कृतिमें एक-एक विशिष्ट उत्कर्ष विद्यमान है, जैसे प्रसादगुण, उपमा आदि अलङ्कार और वैदर्भी रीतिमें कालिदास; अर्थगौरव, प्रकृतिवर्णन आदिमे भारवि; पदलालित्य और अनुप्रास आदिमें दण्डी और वर्णन आदिकी व्यापकतामे बाणभट्ट अपनी सानी नही रखते है। तथाऽपि संस्कृत महाकाव्यमे महाकवि श्रीहर्ष अप्रतिम हैं। मैंने पूर्व संस्करणकी भूमिकामे उनकी रचनाकी कतिपय विशेषताको प्रदर्शित किया है तो भी इस द्वितीय संस्करणमे भी थोड़ा-सा दिग्दर्शन करनेका प्रयास करता हूँ।

सभी जानते है कि प्रतिभा; लोकचरित्रविज्ञता और शास्त्रज्ञता इनसे काव्यकी उत्पत्ति होती है, इन तीनो गुणोंके परिपाकसे काव्य चरम उत्कर्षको प्राप्त होता है। जैसे केवल शास्त्रज्ञता होनेसे कवित्व कुण्ठित होता है वैसे केवल लोकचरित्रविज्ञता होनेसे काव्य, ग्राम्यता आदि अनेक दोषोका स्थान होता है। मुरारि कविमें शास्त्रज्ञताकी मात्रा अधिक होनेसे उनके अनर्घराघवमें कवित्वका परिपाक नही हो पाया है। भवभूतिके उत्तररामचरितमें और दिङ्नागकी कुन्दमालाकी तुलनामें उनका अनर्घराघव नहीं ठहरता है। जैसे प्रतिभाके साथ साथ पूर्वोक्त दोनों गुणोका उत्कर्ष श्रीहर्षके नैषधीयचरितमे देखा जाता है संभवतः वैसा उत्कर्ष विश्वसाहित्यमे प्राप्त नही है।

नैषधीयचरितकी विशेषताको परखनेके लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी आवश्यकता है; इसलिए अभी इतनेसे ही सन्तोष करते हैं।

—शेषराजशर्मा

संक्षिप्त कथासार

[नवमसर्गपर्यन्त]

प्रथम सर्ग

निषध देशके महाराज नलके गुणोंका वर्णन। उनके गुणोंको दूत, द्विज और वन्दी आदिसे सुनकर विदर्भ देशके नरेश भीमकी पुत्री दमयन्तीका उनमें पूर्वराग-का वर्णन। उसी तरह दमयन्तीके लोकोत्तर सौन्दर्य और गुणगणोंको सुनकर उन पर नलके अनुरागका वर्णन। दमयन्तीके विरहसे आकुल होकर सभाभवनमें रहनेमें नलकी असमर्थता। मन बहलानेके लिए बागीचेमें जानेके लिए उनकी इच्छा। नलके घोड़ेका वर्णन। घुड़सवार अपने वयस्योंके साथ उपवनमें नलकी यात्राका वर्णन। उपवनमें साथ वहाँके तालाबका सविस्तर वर्णन। वहाँपर एक सुनहरे हंसको देखकर नल द्वारा उसका ग्रहण। मनुष्यवाणीमें नलकी निन्दा कर अपनी माता, हंसी और बच्चोंकी शोचनीयताको प्रकाश कर हंसका अतिकरुण विलाप करना। उससे आर्द्रचित्त होकर सहृदय नलका उसे छोड़ देना।

द्वितीय सर्ग

नलसे छुटकारा पाकर हंसका अपने घोंसलेमें जाना और वहाँसे लौटकर फिर राजाके पास आना। हंसका राजाके लिए मृगयाका समर्थन करना और और प्रत्युपकारके लिए दमयन्तीका और उनके सौन्दर्य आदिका सविस्तर वर्णन कर राजाके प्रति दमयन्तीकी आसक्ति उत्पन्न करानेकी प्रतिज्ञा करना। दमयन्तीके विरहमें अपनी अवस्थाका राजा द्वारा वर्णन। राजाकी अनुमतिसे आकाश मार्गसे हंसका कुण्डिनपुरके प्रति प्रस्थान। प्रस्थान-मार्गमें शकुन आदिका वर्णन। कुण्डिनपुर वहाँके भवनोंका और राजप्रासादका सविस्तर वर्णन उप-वनका वर्णन और हंसका उपवनमें सखियोंके साथ दमयन्तीका देखना।

तृतीय सर्ग

दमयन्तीके पास जमीनपर हंसका उतरना। उसे देखकर पकड़नेके लिए दमयन्तीकी इच्छा। उनकी सखियोंका निषेध। दमयन्तीका अभिप्राय जानकर प्रतारण कर हंसका सखियोंसे बहुत दूर एकान्त स्थानमें दमयन्तीका पहुँचाना और मनुष्यवाणीसे उनको उलाहना देकर अपना परिचय देकर नलके गुणोंका

सविस्तर वर्णन करना। हंसका नलके प्रति दमयन्तीका अनुराग उत्पन्न करनेका प्रयत्न करना और "मैंने आपको परिश्रान्त कर अपराध किया है, अतः आपका कौन-सा ईप्सित कर्म करूँ ?" कहना। दमयन्तीका उत्तरके तौरपर आरम्भमें आकारगोपन करना और श्लेषसे द्व यर्थक पदोंका प्रयोग करना, तब नलके प्रति दमयन्तीका सन्देश देनेके लिए हंसकी असमर्थता प्रकट करनेपर दमयन्तीका व्यक्त रूपसे नलमें अपने अनुरागको प्रकाश करना तथा नलको अपने प्रति-सन्देश देनेके लिए उपयुक्त अवसरका प्रतिपादन करना। हंसका भी नलकी विरहाऽवस्थाका वर्णन करना और दमयन्तीका नलके साथ सम्बन्धमें औचित्य का प्रतिपादन करना इसी समय ढूँढती हुई सखियोंका उस स्थानपर आना और रुखसत होकर हंसका विरहसे व्याकुल और अशोक वृक्षके नीचे शय्यामें लेटे हुए राजाके पास आकर कार्यकी सफलताकी सूचना करना।

चतुर्थ सर्ग

दमयन्तीकी विरहाऽवस्थाका करुण वर्णन। सखियोंके सामने उपालम्भ-पूर्वक दमयन्तीका चन्द्रकी निन्दा और राहुकी स्तुति करना। पीछे उनको सविस्तर कामदेवकी निन्दा करना। दमयन्तीका कामबाणसे विद्ध होकर ज्यादा बोलनेमें असमर्थ होना, सखियोंके साथ उक्तिप्रत्युक्तिमें तत्पर होना जैसे कि पूर्वार्द्धमें सखियोका दमयन्तीको प्रबोध करना उत्तरार्द्धमे दमयन्तीका उत्तर देना। इसी प्रसङ्गमे नैराश्यके कारण दमयन्तीका बेहोश होना, उनको होशमें लानेके लिए सखियोंका अनेक उपचार करना। दमयन्तीकी चेतनाका वर्णन, कोलाहल सुनकर राजा भीमका प्रधान मन्त्री और प्रधान वैद्यके साथ कन्याके अन्तःपुरमें आना तथा प्रधानमन्त्री और प्रधान वैद्यका एक-ही पद्यमें भिन्न-भिन्न अर्थमे दमयन्तीके उपयुक्त उपचारका प्रतिपादन करना और राजा स्वयंवर करानेकी सूचना कर दमयन्तीको आश्वासन देना।

पञ्चम सर्ग

राजा भीमका दमयन्तीके स्वयंवरमे उपस्थितिके लिए अनेक राजाओको निमन्त्रण देना उसी अवसरमे पर्वत मुनिके साथ देवर्षि नारदका आकाशमार्गसे इन्द्रके समीप जानेका वर्णन अतिथ्य कर इन्द्रका "राजाओंका धर्मयुद्धमें प्राण-परित्याग न करनेका" कारण पूछना। नारदका स्वयंवरमे दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिए राजाओकी युद्धमें अप्रवृत्तिका वर्णन करना और युद्ध देखनेके लिए

अपनी इच्छाको प्रकट करना। इन्द्रका उपेन्द्रके संरक्षणमें युद्धमें अपनी अभीति का प्रकाश करना और दोनों ऋषियोंका मर्त्यलोकके प्रति प्रस्थान। यम वरुण और अग्निके साथ इन्द्रका कुण्डिनपुरमें दमयन्तीके स्वयंवरमें जानेके लिए प्रवृत्त होना। उस समय इन्द्राणी और अप्सराओंके भिन्न भिन्न मनोभावों का सविस्तर वर्णन। इन्द्र आदि देवताओंका दमयन्तीके पास दूतीको और राजा भीमके पास मित्रभावसे अनेक उपहारोंको भेजना। रास्तेमें रथमें आरूढ होकर कुण्डिनपुर में प्रस्थानके लिए उद्यत नल का सौन्दर्य देखकर देवताओंमें प्रत्येककी दमयन्ती की प्राप्तिमें निराशाका वर्णन। इन्द्रका अपने साथ देवताओंका परिचय देकर नलके प्रति अपनी अर्थिताको जतलाना। इन्द्रका कपट न जानकर अपनेको सौभाग्यशाली समझकर नलका उनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए स्वीकृति देना। तब इन्द्रका दमयन्तीके पास दूतरूपमें जाने के लिए नलसे प्रकाशरूपमें अनुरोध करना। देवताओंका कपट जानकर स्वयम् दमयन्तीके प्रणयार्थी होने से नलकी अस्वीकृति जतानेपर इन्द्र आदि देवताओंके सामूहिक प्रयासकर अदृश्य शक्ति देकर जबर्दस्ती से नलको अपने दूतकर्म में प्रवृत्त करना।

षष्ठ सर्ग

रथमें आरूढ होकर वेगपूर्वक नलका कुण्डिनपुरमें पहुँचना। पहुँचनेके बाद ही उनकी मूर्तिका अदृश्य होना। नलका राजमन्दिरमें और अन्तःपुरमें प्रवेश करना। भ्रमसे दमयन्तीका दर्शन होना और अन्तःपुरमें नलका अनेक महिलाओंका अनेक क्रियाकलाप देखना। नलकी जितेन्द्रियताका वर्णन। स्त्रियोंके स्पर्शसे बचनेके लिए नलका चतुष्पथ (चौराहा) में जाना, वहाँपर भी उनका अनेक स्त्रियोंके सम्पर्कका वर्णन। अन्तःपुरमें माताको प्रणाम कर लौटती हुई दमयन्तीके साथ योग होने पर भी भ्रमवश नलका न पहचानना तथा दमयन्ती का भी नलको न देखना। भ्रमणक्रमसे नलका दमयन्तीके प्रासादमें पहुँचना। वहाँ पर नलका स्त्रियोंकी अनेक क्रियाओंका देखना। मनोविनोदमें विद्यमान दमयन्तीका नलका पहचानना। वहाँपर अग्नि यमराज और वरुणकी दूतियों की प्रार्थनाओंमें दमयन्तीकी अस्वीकृतिमें नलको उनकी प्राप्तिमें प्रत्याशा। दमयन्तीको इन्द्रके दूतोंसे इन्द्रसन्देशका विशेष वर्णन। इन्द्र की प्रार्थनाका स्वीकार करनेके लिए सखियोंकी भी दमयन्तीसे अभ्यर्थना दमयन्तीसे प्रीतिपूर्वक इन्द्रकी प्रणयप्रार्थनाका प्रत्याख्यान नलमें आशाका सञ्चार होना।

सप्तम सर्ग

दमयन्तीके अङ्गप्रत्यङ्गोंमें नलका दृष्टिपात। नलका मन ही मन दमयन्तीके केशोंसे आरम्भ कर नखपर्यन्त शरीरके अवयवोंका सविस्तर वर्णन कर उनके समीप प्रकटरूप होनेकी इच्छा करना।

अष्टम सर्ग

दमयन्ती और उनकी सखियोंका नलको देखकर अनेक मनोभावोंका वर्णन। उनका नलसे "आप कौन है ? और कहाँसे आये है ?" इस प्रकार प्रश्न करनेमें भी असमर्थ होकर आसन छोड़कर उठना, तब स्वयम् दमयन्तीका नलके प्रति मधुरवचनोंसे स्वागत वाक्यका भाषण। आसनपर बैठनेका अनुरोध कर "आप कौन है ? कहाँसे आये है ? और कहाँ जायेंगे ?" इत्यादि प्रश्न दमयन्तीका नलके रूपकी प्रशंसा करना। दमयन्तीका नलके कुल आदिका परिचय पूछकर उनमें नलत्वकी संभावना करना। तब आसनपर बैठकर नलका आपनेको इन्द्र आदि देवताओंका सन्देश लेकर आया हुआ दूत बतलाना। क्रमपूर्वक नलका दमयन्तीके विरहसे इन्द्र, अग्नि, यम, और वरुणकी अवस्थाका वर्णन करना और चारों देवताओंके प्रणयसन्देशका वर्णनकर एकको वरण करनेके लिए प्रार्थना करना।

नवम सर्ग

नलवर्णित इन्द आदि देवताओके प्रणयसन्देशको अनुसुना-सा कर दमयन्तीका पुन: नलके कुल और नामका प्रश्न करना उनसे अनावश्यकताका प्रतिपादनकर नलका देवताओंकी प्रणय-प्रार्थनाका उत्तर देनेके लिए दमयन्तीसे अनुरोध कर अपनेको चन्द्रवंशका अंकुर बतलाकर शिष्टलोग अपने नामका ग्रहण नही करते है" कहकर नामकीर्तनसे अपनी असमर्थता जताना तब दमयन्तीका भी परपुरुष के साथ कुलललनाके संभाषणसे अनौचित्य प्रतिपादनकर देवताओके प्रणयसन्देशके उत्तर देनेसे अपनी असमर्थता दिखाना। तब दमयन्तीकी सखीका दमयन्तीके अभिप्रायको अपने वचनसे कहना और नलकी अप्राप्तिमे दमयन्तीकी आत्महत्या करनेका इरादा जताना। तब नलका आत्महत्या करनेपर भी दमयन्तीपर तत्त-देवताओंका अधिकार होनेका वर्णन करना फिर उनका दमयन्तीसे देवताओमे किसी एकको वरण करनेके लिए अनुरोध करना। दमयन्तीका उस वाक्यको अनसुना-सा कर नलको यमदूतके समान कहना। तब सखीका नलके प्रति दमयन्तीका दृढ़ अनुरागका वर्णन करना तब भी दूतकर्ममे धुरन्धर नलका इन्द्र

आदि देवताओंकी प्रतिकूलतासे नलके साथ दमयन्तीके विवाहमे असभाव्यताका वर्णन करना। अनन्तर दमयन्तीके करुणापूर्ण विलापमे पिघलकर दूतकर्म भूलकर नलका अनेक प्रकारसे दमयन्तीको आश्वासन देना। फिर अपने दूतकर्मका स्मरण होनेसे नलका पश्चात्ताप करना, तब हसका आकर दमयन्तीको निराश न करनेके लिए अनुरोध करना। अनन्तर नलका "इन्द्र आदि देवताओमे किसी एकको वा मुझे वरण कीजिए" ऐसा अनुरोध कर विचारपूर्वक कार्य करनेकी सम्मति देना।—नलको पहचान कर दमयन्तीका प्रसन्न और लज्जित होना। उनकी सखीका नलको वरण करनेके लिए दमयन्तीके दृढ निश्चयकी सूचना। यह सुनकर लज्जित होकर नलका देवताओके साथ स्वयवरमे उपस्थितिका ज्ञापन कर जाना। अन्तमे नलका इन्द्र आदि देवताओको दमयन्तीका सब वृत्तान्त सुनाना।

इति शम्

— o —

नायकादिसिद्धान्त

नैषधीयचरितमे राजा नल धीरोदात्त नायक हैं,दमयन्ती परकीया (कन्या) नायिका हैं। ये दोनो विभाव हैं। हसादि द्वारा नल और दमयन्तीके वर्णन परक वाक्य पुष्प, चन्दन, चन्द्रोदय, वसन्तऋतु, कोकिलशब्द, भ्रमरझङ्कार आदि उद्दीपन विभाव है, परस्परनिरीक्षण आदि अनुभाव है। निर्वेद आदि व्यभिचार भा हैं। १७ सर्गतक विप्रलम्भशृङ्गारका पूर्वाराग है, अनन्तर सभोगशृङ्गार है। प्रधान रस शृङ्गार है, करुण आदि अङ्गरस हैं। स्थायी भाव रति है। वैदर्भी रीति प्रधान है कहीं-कहीं गौडी भी है, गुण प्राय प्रसाद है कहीं कहीं माधुर्य और ओज भी हैं। हस निसृष्टार्थ दूत है।

— o —

सूक्तयः

अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनाऽतिथिम् । १–३६ ।
त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् । १–५० ।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः । १–५४ ।
क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग् जनः । १–१०२ ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि । १–१३१ ।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् । २–४४ ।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् । २–४८ ।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः । २–५३ ।
स्वत एव सतां पराऽर्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता । २–६१ ।
कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते । ३–१७ ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय । ६–४८ ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन । ३–४६ ।
ह्रदे गभीरे हृदि चाऽवगाढे शंसन्ति कार्याऽवतरं हि सन्तः । ६–५३ ।
अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु । ३–७८ ।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणाऽपि सुधाकरेण । ३–८० ।
अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला, कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः ।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमर्तिः ॥ ३–६१ ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा । ३–६३ ।
आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बिसिद्ध्योः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति । ३–६६
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति । ३–११६ ।
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः । ३–१३४ ।
तदुदितः स हि यो मदनन्तरः । ४–३ ।
प्रसति कः सति नाऽऽश्रयबाधने ? ४–१६ ।
क्वसहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि दुःखिता । ४–११० ।
झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः । ४–११८ ।

साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः । ५-३ ।
कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ? ५-६ ।
यावदर्हकरणं किल साधोः प्रत्यवायघृतये न गुणाय । ५-६ ।
आश्रय स्वपरपूरिकयानां प्रायशो हि सुहृदो सहवासः । ५-१२ ।
पूर्वापुण्यविभवव्ययलब्धाः सम्पदो विपद एव विमृष्टाः ।
पात्रपाणिकमलाऽर्पणभासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः ॥ ५-१७ ।
उत्तरोत्तरशुभो हि विभूनां कोऽपि मञ्जुलतमः क्रमवादः । ५-३७ ।
धर्मं कर्यतु पुरः परमेश्वरस्तवगताऽनुगतिको न महाऽर्घः । ५-५५ ।
यौनं कापिदयवाऽस्ति निरुद्धा, सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् । ५-५७ ।
न धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः । ५-८३ ।
माघमामजनमानसवृत्तं पूरणाय बत ! जन्म न यस्य ।
तेन भूमिरतिभारवतीयं, न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥ ५-८८ ।
किं प्रहा दिवि न जाग्रति ते ते ? भास्वतस्तु कथमस्तुलयाऽऽस्ते ? ५-१०० ।
आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः । ५-१०३ ।
ह्रीगिराऽस्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वीकृतैव परवागपरास्ता । ५-१०५ ।
दुर्जया हि विषया विदुषाऽपि । ५-१०६ ।
हास्यतेव सुलभा न तु साध्य, तद्विधित्सुभिरमौपयिकेन । ५-११५ ।
शासति द्विनयनी द्रुतनिद्रा द्राङ् निमेषमियघूर्णनपूर्णा । ५-१२६ ।
स्वतः सतां ह्री परतोऽपि गुर्वी । ६-२२ ।
पलालजालैः पिहितः स्वयं हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भः । ८-२ ।
मुग्धेषु कः सत्यमृषाविवेकः ? ८-१८ ।
वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि, तदस्तु वन्दिभ्रमभूमितैव ॥ ८-३२ ।
बिम्बाऽनुबिम्बौ हि विहाय धातुर्न जातु दृष्टाऽतिसरूपसृष्टिः । ८-४६ ।
द्विपन्मुखेऽपि स्वदते स्तुतिर्या, तन्मिष्टता नेष्टमुखे त्वमेया । ८-५१ ।
विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषीकरोति । ८-५४ ।
नामाऽपि जागर्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तत्र कतमे सहन्ते ? ८-७४ ।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा, न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि । ६-५ ।

गरो गिरः पल्लवनाऽर्थलाघवे मितञ्च वचो हि वाग्मिता। ६–८।
जनः किलाचारमुचं विगायति। ६–१३।
स्वभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वराः कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा। ६–२६।
ह्रदस्य हंसावलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना। ६–२७।
अकाञ्चनेऽकिञ्चननायिकाऽङ्के किमारकूटाभरणेन न श्रियः ? ६–२८।
पृषत्किशोरी कुरुतामसङ्गतां कथं मनोवृत्तिमपि द्विपाऽधिपे ? ६–२९।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुटचति चापलात्किल। ६–३१।
निषिद्धमप्याचरणीयमापदि सती क्रिया नाऽवति यत्र सर्वथा।
घनाऽम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते॥ ६–३६।
क्व वा निधिर्निर्धनमेति किं च तं स वा कपाटं घटयन्निरस्यति ? ६–३९।
अयोऽधिकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽयसां सिद्धरसस्पृशामपि ? ६–८२।
मुखं विमुच्य श्वसितस्य धारया वृथैव नासापथधावनश्रमः। ६–४४।
............न्याय्यमुपेक्षते हि कः ? ६–४६।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः। ६–५०।
चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः। ६–५६।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः ? ६–८३।
जनाऽऽनने कः करमर्पयिष्यति ? ६–१२५।
न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः। ६–१२६।
सतां हि चेतःशुचिताऽऽत्मसाक्षिका। ६–१२९।
विचार्य कार्यं सृज मा विधान्मुधा कृताऽनुतापस्त्वयि पाणिविग्रहम्। ६–१३४।
न मोघसङ्कल्पधराः किलाऽमराः। १–१४५।
स्तवे रवेरप्सु कृतप्लवैः कृते न मुद्वती जातु भवेत्कुमुद्वती। ६–१४८।

इति।

—: ० :—

॥ श्री ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

— ० :—

प्रथमः सर्गः

मङ्गलाचरणम्

सृष्टिस्थितिप्रलयरूपदशामुपेतो यद्भ्रूविलासवशगोऽस्ति समस्तलोकः ।
आनन्दकाननपतिं गिरिजापतिं तं प्रारिप्सितं सपदि पूरयितुं नमामि ॥ १ ॥

दैवी समृद्धिमिह यत्करुणा बिभर्ति यच्चिन्तनं सततमेव सुखं पिपर्ति ।
भोगाऽपवर्गजननी परदेवता सा नित्यं कृतार्थयतु भक्तजनं प्रबोधात् ॥ २ ॥

सौजन्यधन्यबुधमल्लजदेवचन्द्रसौभाग्यभाग्यपरहेमकुमारिसूनुः ।
क्षीणाप्रवीणगुणभूषणकृष्णपूर्णचन्द्रद्वयीसहजनुर्द्विजशेखराजः ॥ ३ ॥

सोऽहं करोमि निषधाऽधिपवृत्तकाव्यव्याख्यां नितान्तसरलीकरणाशयेमाम् ।
श्रीहर्षकोविदकृतिः क्व ? मदीयमन्दसंविच्च कुत्र ? सुतरामसमानयोगः ॥ ४ ॥

छात्रोपकारपरतामभिलक्ष्य जातं जानन्तु मामकमिमं प्रगुणप्रयासम् ।
पुष्पोपलब्धिरहितेषु वनेषु जातु किं कोरकोऽपि अनुपां न मुदं करोति ? ॥ ५ ॥

हा हन्त ! वर्षनवकाद्दयिताऽनुजेन भ्रातोऽहमस्मि दुरदृष्टवशाद्वियुक्तः ।
हा ! मासषट्कसमयात्पुनरस्मि हन्त ! पूज्याऽग्रजेन च वियुज्य नितान्ततान्तः ॥६॥

"तूर्णं मदग्रजवरं किल काशिकायामानीय भेषजविधानपरो भवामि ।"
सन्मानसप्रभवमत्र शुभाऽभिलाषं हा ! हन्त !! घातुकविधिर्विफलीचकार ॥ ७ ॥

जैवातृकत्वमरतिं नितरां तनोति स्वस्यास्मृतिश्च हृदयं बहुशो दुनोति ।
कालप्रतीक्षणपरः समयं नयामि श्रीविश्वनाथचरणौ शरणं प्रयामि ॥ ८ ॥

अथ तत्र भवांश्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनप्राप्ताऽलौकिकप्रतिभाप्रकर्षो महाकविः श्रीहर्षः पुण्यश्लोकश्लोकनपरं नैषधीयचरिताऽभिधानं महाकाव्यं विधित्सुरादौ वस्तुनिर्देशरूपं मङ्गलं निर्दिशति निपीयेति—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाऽऽद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः॥ १॥

अन्वयः—यस्य क्षितिरक्षिणः कथां निपीय बुधाः सुधाम् अपि तथा न आद्रियन्ते। सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः महसां राशिः महोज्ज्वलः स नल आसीत्॥ १॥

व्याख्या—यस्य = प्रकृतस्य, क्षितिरक्षिणः = भूपतेः, कथानायकस्य नलस्येति भावः। कथाम् = उपाख्यान, निपीय = नितरामास्वाद्य, सादरं श्रुत्वेति भावः। बुधाः = विद्वांसः, सुधाम् अपि = अमृतम् अपि, तथा = तेन प्रकारेण न आद्रियन्ते = न आदरं कुर्वन्ति बुधाः सुधाम् उपेक्ष्य नलकथां बहु मन्यन्त इति भावः। सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः = शुक्लातपत्रीकृतयशोमण्डलः, महसां = तेजसां, राशिः = समूहः, रविरिवेतिभावः। महोज्ज्वलः = उत्सवदीप्यमानः, नित्यमहोत्सवशालीति भावः। सः = प्रसिद्धः, नलः = नलनामको राजा, आसीत् = अभवत्॥ १॥

अनुवादः—जिन राजा नलकी कथाको सुनकर विद्वान् (वा देवता) अमृतका भी वैसा आदर नही करते हैं। महाराज नल कीर्तिमण्डलको सफेद छत्र बनानेवाले, तेजोंके राशिस्वरूप (सूर्य के समान), उत्सवोंसे उज्ज्वल अथवा अतिशय श्रृङ्गार-रसवाले थे॥ १॥

टिप्पणी—विघ्नध्वंसके लिए वा आरब्ध कार्य निर्विघ्नपूर्वक समाप्त हो जाय इसके लिए मङ्गलका आचरण किया जाता है। मङ्गलके तीन भेद होते हैं—नति (नमस्कार), स्तुति और वस्तुनिर्देश। यहांपर पुण्यश्लोक (पवित्र कीर्तिवाले) नलरूप वस्तुका निर्देश करनेसे वस्तुनिर्देशरूप मङ्गल है। क्षितिरक्षिणः = क्षितिं रक्षतीति तच्छीलः तस्य, क्षिति—उपपदपूर्वक रक्ष धातुसे "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इस सूत्रसे णिनि प्रत्यय (उपपदसमास)। कथां= कथन कथा नाम् "कथ वाक्यप्रबन्धे" धातुसे "चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च" इस सूत्रसे अङ् और "अजाद्यतष्टाप्" इस सूत्रसे टाप् प्रत्यय। निपीय=नितरां पीत्वा, नि-उपसर्गपूर्वक "पीङ् पाने" धातुसे "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इस सूत्रसे क्त्वा प्रत्यय और उसके स्थानमें 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इस सूत्रसे ल्यप् आदेश। यहां "पा पाने" धातु नहीं लेना चाहिए क्योंकि "न ल्यपि" इस सूत्रसे

उसमें ईत्वका निषेध होता है। बुधा = बुध्यन्त इति, "बुध अवगमने" धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय। "ज्ञातृचान्द्रसुरा बुधाः" इति क्षीरस्वामी। सुधाम् = 'पीयूषममृतं सुधा" इत्यमरः। आद्रियन्ते = "आङ्— उपसर्गपूर्वक "दृङ् आदरे" इस तौदादिक धातुसे लट् + झ। सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल = सितं च तत् छत्रं, "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" इस सूत्रसे समास और उसकी "तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः" इससे कर्मधारय संज्ञा हुई है। सितच्छत्रं इव सितच्छत्रितं, "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर क्त प्रत्यय हुआ है। कीर्तेः मण्डलम् (ष० त०)। सितच्छत्रितं कीर्तिमण्डलं येन स "अनेकमन्यपदार्थे" इससे बहुव्रीहि समास। महोज्ज्वल = महः उज्ज्वलः (तृ० त०)। "क्षण उद्धर्षो महः उद्धव उत्सवः" इत्यमरः। अथवा महान् (सातिशय) उज्ज्वलः (शृङ्गार) यस्य सः (बहु०)। "शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः" इत्यमरः। आसीत् = "अस भुवि" धातुसे लङ्। इस पद्य में सुधासे भी नल-कथाकी मधुरताके आधिक्य वर्णनसे व्यतिरेक अलंकार है। व्यतिरेकका लक्षण है—

"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेकः" (सा०द०१०-५२) इसी तरह कीर्तिमण्डलमें सितच्छत्रका, तथा नलमें महोराशित्वका आरोप करनेसे दो रूपक अलंकार हुए हैं। रूपकका लक्षण है—"रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे।" (सा० द० १०-२८)। इस प्रकार व्यतिरेक और रूपकाकी निरपेक्षतया स्थित होनेसे तिल-तण्डुल न्यायसे संसृष्टि अलंकार है। उसका लक्षण है—"मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते।" (सा० द० १०-९८)। इस सर्गमें १-१४२ पद्यतक वंशस्थ छंद है, उसका लक्षण है—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" ।ISIS ISISI। १।

रसैः कथा यस्य सुधाऽवधीरिणी नलः स भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

अन्वयः—यस्य कथा रसैः सुधाऽवधीरिणी, भूजानिः सः नलः सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः गुणाद्भुतः अभूत् ॥ २ ॥

व्याख्या—यस्य = नलस्य कथा = उपाख्यानं, रसैः = स्वादैः, शृङ्गारादिरसैर्वा, सुधाऽवधीरिणी=अमृततिरस्कारिणी, भूजानिः = भूपतिः, सः=पूर्वोक्तः, नलः = नलाख्यो नृपः, सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः = स्वर्णदण्डैकशुक्लच्छत्रितदीप्यमानतेजःपङ्क्तियशोमण्डलः, अतएव गुणाद्भुतः = शौर्यदाक्षिण्यादिभिराश्चर्यभूतः, अभूत् = आसीत् ॥ २ ॥

अनुवादः—जिन (नल) का उपाख्यान, स्वाद वा शृङ्गार आदि रसोंसे अमृतको भी तिरस्कार करनेवाला है, ऐसे महाराज नल दीप्यमान प्रतापपङ्क्तिको सुवर्णदण्ड और कीर्तिमण्डलको एक सफेद छत्र बनानेवाले अतएव शौर्य और दाक्षिण्य आदि गुणोंमे आश्चर्यरूप थे।

टिप्पणी—रसैः = "रसो गन्धो रसः स्वादः" इति विश्वः। सुधाऽवधीरणी =सुधाम् अवधीरयतीति तच्छीला, सुधा + अव + धीर + णिनिः; स्त्रीत्वविवक्षामें "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इस सूत्रसे ङीप् (उपपदसमास)। भूजानिः=भूः, जाया यस्य सः (बहु०), "जायाया निङ्" इस सूत्रसे जाया शब्दका निङ् आदेश। सुवर्णदण्डैक० इत्यादिः = सुवर्णस्य दण्डः (ष० त०), सितं च तत् आतपत्रम् (क० धा०)। एकं च तत् सितातपत्रं (क० धा०), सुवर्णदण्डश्च एकसितातपत्रं च सुवर्णदण्डैकसितातपत्रं, "चार्थे द्वन्द्वः" इस सूत्रसे इतरेतरयोगद्वन्द्व। सुवर्णदण्डैकसितातपत्रे कृते सुवर्णदण्डैकसिताऽऽतपत्रिते, "सुवर्णदण्डैकसितातपत्र" शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर कर्ममें क्त प्रत्यय। प्रतापानाम् आवलिः (ष० त०)। ज्वलन्ती चाऽसौ प्रतापावलिः (क० धा०)। कीर्तेः मण्डलम् (ष० त०)। ज्वलत्प्रतापावलिश्च कीर्तिमण्डलं च (द्वन्द्वः)। सुवर्णदण्डैकसितातपत्रिते ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डले यस्य सः (बहु०)। गुणाऽद्भुतः = गुणैः अद्भुतः (तृ० त०)। अभूत् = भू + लुङ् + तिप्, "गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु" इस सूत्रसे सिच्का लुक् हुआ है। यहाँ पर व्यतिरेक, दीप्यमान प्रतापावलिमें सुवर्ण दण्डका और कीर्तिमण्डलमें एकसितातपत्रका आरोप करनेमे दो रूपक और यथासंख्य इस प्रकार इन तीन अलंकारोंका संसृष्टि अलंकार हुआ है। यथासंख्यका लक्षण है—"यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्।" सा० द० ११–७९ ॥ २ ॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ? ॥ ३ ॥

अन्वयः—अत्र युगे यत्कथा स्मृता (सती) रसक्षालनया इव जगत् पवित्रम् आतनुते। सा आविलाम् अपि स्वसेविनीम् एव मद्गिरं कथं न पवित्रयिष्यति ? ॥ ३ ॥

व्याख्या—कविः स्वविनयं प्रदर्शयति—पवित्रमिति। अत्र = अस्मिन्, युगे= कलियुग इत्यर्थः। यत्कथा = यस्य (नलस्य) कथा (उपाख्यानम्), स्मृता= चिन्तिता (सती), रसक्षालनया इव=जलधावनेन इव, जगत्=लोकं,

पवित्र = विशुद्धम्, आतनुते = करोति । सा = नलकथा, आविलाम् अपि, कलुषाम् अपि, सदोषाम् अपीति भावः, स्वसेविनीम् एव = आत्मवर्णनपराम् एव । मद्गिरं = मद्वाचं, नैषधवर्णनरूपामिति भावः । कथं = केन प्रकारेण, न पवित्रयिष्यति = पवित्रां न करिष्यति ? पवित्रां करिष्यत्येवेति भावः ॥ ३ ॥

अनुवाद—इस कलियुगमें जिन महाराज नलकी कथा जलसे प्रक्षालनके समान लोकको पवित्र कर देती है, वह (कथा) कलुष (दोषयुक्त) होनेपर भी अपनी ही सेवा करनेवाली मेरी वाणीको क्यों पवित्र नहीं करेगी ? ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अत्र = अस्मिन् इति, इदम् + त्रल् । यत्कथा = यस्य कथा (ष० त०), स्मृता = स्मृ + क्त + टाप् (कर्ममें) । रसक्षालनया = रसेन क्षालना, तया (तृ० त०) । "शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ।" इति विश्वः । णिजन्त "क्षल शौचकर्मणि" धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इससे युच् (अन) होकर टाप् प्रत्ययसे "क्षालना" शब्द बनता है । आतनुते=आङ्—उपसर्गक "तनुविस्तारे" धातुसे लट् + त । आविलाम् = "कलुषोऽनच्छ आविलः" इत्यमरः । स्वसेविनीं= स्वं सेवते तच्छीला, ताम् । स्व + सेव + णिनि + ङीप् (उपपद०) । यहाँपर जैसे जलसे प्रक्षालन करनेसे वस्तुकी पवित्रता होती है उसी तरह नलकी कथाका स्मरण करनेसे जगत्‌की पवित्रता होती है ऐसा अर्थ अभिव्यक्त होता है । कहा भी गया है—

"कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ॥"

अर्थात् कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल और राजर्षि ऋतुपर्ण इनका कीर्तन करनेसे कलिका नाश होता है । और भी—

"पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः ।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥"

अर्थात् राजा नल, युधिष्ठिर, वैदेही (सीताजी) और जनार्दन (भगवान् कृष्ण) ये सब पुण्यश्लोक अर्थात् पुण्यकीर्तिवाले हैं, इनका स्मरण करनेसे पुण्यलाभ होता है यह तात्पर्य है । यहाँपर उत्प्रेक्षा अलंकार और जिन नलकी कथा स्मरण करनेपर भी शुद्ध करती है, सेवा (वर्णन) करनेसे क्या कहना है ! इस प्रकार कैमुतिक न्यायसे अर्थापत्ति अलंकार है । उसका सोदाहरण लक्षण है—

"अर्थापत्तिः स्वयं सिध्येत्पदार्थान्तरवर्णनम् ।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम् ॥" (चन्द्रालोक)

इस प्रकार दो अलंकारोंसे संसृष्टि अलंकार है ।। ३ ।।

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।

चतुर्दशत्वं कृतवान्कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ।। ४ ।।

अन्वयः—अयं चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्रः दशाः प्रणयन् स्वयं चतुर्दशत्वं कुतः कृतवान् ? (इति) न वेद्मि ।। ४ ।।

व्याख्या—नलस्य चतुर्दशविद्याध्ययनं प्रतिपादयति—अधीतीति । अयं=नलः, चतुर्दशसु = चतुर्दशसंख्यकासु, विद्यासु = वेदादिषु, अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः= श्रवणार्थज्ञानतदर्थाऽनुष्ठानप्रसारणैः, उपाधिभिः = भेदैः, चतस्रः = चतुःसंख्यकाः, दशाः = अवस्थाः, प्रणयन् = कुर्वन्, स्वयम् = आत्मना, चतुर्दशत्वं=चतुर्दशसंख्यकत्वं, कुतः=कस्मात्, कृतवान्=विहितवान्, इति, न वेद्मि = नो जाने, चतुर्दशसंख्यकानां विद्यानां चतुरावृत्या षट्पञ्चाशत्त्वमापादनीयं, कथं केवलं चतुर्दशत्वमिति भावः, चतुरवस्थत्वं कृतवानिति विरोधपरिहारः ।। ४ ।।

अनुवादः—महाराज नलने चौदह विद्याओंमें, शब्दतः अध्ययन, अर्थका ज्ञान, शास्त्रोक्त कर्मका आचरण और प्रचारण इन भेदोंसे चार अवस्थाओंको करते हुए स्वयम् चतुर्दशत्व कैसे किया ? यह मैं नहीं जानता हूँ । चौदह विद्याओंको चार भेदोंसे गुणन करनेपर छप्पन भेद होने चाहिए परन्तु चौदह ही कैसे हुए ऐसा विरोध होनेपर उन विद्याओंको चतुर्दशत्व अर्थात् अध्ययन आदिसे चार अवस्थाओंवाली बनानेसे उसका परिहार हो जाता है ।। ४ ।।

टिप्पणी—चतुर्दशसु = चतुरधिका दश चतुर्दश, तासु, "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इससे मध्यमपदलोपी समास । विद्यासु= विदन्ति धर्माऽर्थकाममोक्षान् आभिरिति विद्या, तासु, "विद ज्ञाने" धातुसे "संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ् भृञिणः" इस सूत्रसे क्यप् प्रत्यय होकर "अजाद्यतष्टाप्" इस सूत्रसे टाप् प्रत्यय । चौदह विद्याएँ हैं जैसे कि विष्णुपुराणमें हैं—

"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ।।"

अर्थात् वेदके छः अंग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष चार वेद—ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद । मीमांसा न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण । अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः = अध्ययनम् अधीतिः, अधि = उपसर्गपूर्वक "इङ् अध्ययने" धातुसे "स्त्रियां क्तिन्" इस सूत्रसे क्तिन्प्रत्यय । बोधनं बोधः, "बुध अवगमने" धातुसे "भाव" इस सूत्रसे घञ् । अधीतिश्च बोधश्च आचरणं

च प्रचारणं च अधीतिबोधाचरणप्रचारणानि, तैः (द्वन्द्व)। यहाँपर "अधीति" पदसे शब्दतः अध्ययनका, "बोध" पदसे अर्थज्ञानका, "आचरण" पदसे शास्त्रोक्त कर्मके अनुष्ठानका और "प्रचारण" पदसे अध्यापन या लोकमें प्रचार करनेका तात्पर्य समझना चाहिए। "उपाधिभिः =उपाधिर्धर्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे।" इति विश्वः। चतस्रः=यह "दशा" इस पदका विशेषण है। "त्रिचतुरो स्त्रियां तिसृचतसृ" इस सूत्रसे स्त्रीलिङ्गमें 'चतुर्' शब्दके स्थानमें "चतसृ" आदेश हुआ है। प्रणयन् = प्रणयतीति, प्र-उपसर्गपूर्वक "णीञ् प्रापणे" धातुसे लट्के स्थानमें "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" इस सूत्रसे शतृ आदेश, लट्की अनुवृत्ति होनेपर भी फिर लट्के ग्रहणसे कहीं-कहींपर प्रथमाके सामानाधिकरण्यमें भी शतृ-शानच् आदेश ज्ञापित हैं। चतुर्दशत्वं = चतुर्दशानां भावः चतुर्दशत्वं, तत्। चतुर्दश शब्दसे 'तस्य भावस्त्वतलौ' इस सूत्रसे त्व प्रत्यय। "त्वान्तं क्लीबम्" इस लिङ्गानुशासन सूत्रसे त्व-प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्गमें रहता है। यहाँपर चौदह विद्याओंको चार भेदोंसे गुणन करनेपर छप्पन होना चाहिए, फिर चतुर्दशत्व कैसे? ऐसा विरोध होनेपर उसका परिहार—"चतुर्दशत्वम्" इसका चतस्रः दशा यासां ताश्चतुर्दशाः (बहु०), तासां भावः चतुर्दशत्वम् अर्थात् चार अवस्थावालियोंका भाव ऐसा अर्थ करनेसे उसका परिहार होता है, अतः विरोधाभास अलंकार होता है। उसका लक्षण है—

"आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते।" "चतुर्दशत्वम्" यहाँपर "त्वतलोर्गुणवचनस्य" इससे पुवद्भाव हुआ है। कुतः =कस्मात् इति "किम्" शब्दसे "पञ्चम्यास्तसिल्" इस सूत्रसे तसिल् प्रत्यय और "कु ति हो" इससे "किम्" के स्थानमें "कु" आदेश हुआ है। कृतवान् = "कृ" धातुसे "निष्ठा" इस सूत्रसे कर्ताके अर्थमें क्तवतु प्रत्यय। वेदि=विद्+लट्+सिप्॥ ४॥

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥ ५॥

अन्वय—अमुष्य रसनाग्रनर्तकी विद्या, त्रयी इव अङ्गगुणेन विस्तरं नीता (सती) नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियां जिगीषया अष्टादशताम् अगाहत॥ ५॥

व्याख्या—नलस्याऽष्टादशविद्याऽभिज्ञतां प्रतिपादयति अमुष्येति। अमुष्य = नलस्य। रसनाग्रनर्तकी = जिह्वाग्रसञ्चारिणी, विद्या=पूर्वोक्ता वेदादिविद्या सूदविद्या च रसनाग्रनर्तनधर्माऽऽदिति भावः, त्रयी इव=त्रिवेदी इव, अङ्गगुणेन = शिक्षाद्यङ्गावृत्त्या, विस्तरं=वृद्धिं, नीता=प्रापिता सती, नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्=

अष्टादशद्वीपपृथग्विजयलक्ष्मीनां, जिगीषया = जेतुमिच्छया (इव), अष्टादशताम् = अष्टादशसंख्यकत्वम्, अगाहत = अभजत ॥ ५ ॥

अनुवादः—नलकी जिह्वाके अग्रभागमें नर्तकीके समान विद्या (वेदादि-विद्या, अथवा पाकविद्या) ने त्रयी = त्रिवेदी (तीन वेदों) के समान शिक्षा आदि छः अङ्गोंकी गुणनक्रियासे वृद्धिको प्राप्त करायी जाती हुई नलकी अठारह द्वीपोंकी पृथक्-पृथक् विजय-लक्ष्मियोंको जीतनेकी इच्छासे अठारह संख्याको प्राप्त किया ॥ ५ ॥

टिप्पणी—रसनाऽग्रनर्तकी = रसनाया अग्रम् (ष० त०), नृत्यतीति नर्तकी, "नृती गात्रविक्षेपे" धातुसे "शिल्पिनि ष्वुन्" इस सूत्रसे "नृतिखनिरञ्जिभ्य एव" इसके अनुसार "ष्वुन्" प्रत्यय होकर षकारका "षः प्रत्ययस्य" इससे इत्संज्ञा होनेसे लोप होकर षित् होनेसे "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् । क्रिया-कौशलको "शिल्प" कहते हैं । रसनाऽग्रे नर्तकी (स० त०) । विद्या नलकी जिह्वाके अग्र भागमें नाचती थी अर्थात् सब विद्याएँ उनको उपस्थित थीं । त्रयी= त्रयः (ऋग्यजुःसामाख्याः अथवा पद्यगद्यगीतरूपा अथवा प्रायेण धर्माऽर्थकाम-रूपाः) अवयवा यस्याः सा, 'त्रि' शब्दसे "संख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् और उसके स्थानमें "द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा" इस सूत्रसे अयच् आदेश और श्रुतिका विशेषण होनेसे "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् । 'त्रयी' कहनेसे ऋक्, यजु, साम ही वेद हैं, अथर्वा वेद नहीं है यह नहीं समझना चाहिए । यहाँपर 'अङ्गगुणेन' इस पदके साथ सम्बन्ध करनेके लिए ऐसा प्रयोग किया है । वेदके कोई अवयव ऋग्रूप अर्थात् पद्यमय, कोई यजुरूप अर्थात् गद्यमय और कोई समरूप अर्थात् गीतरूप है ऐसा कहनेसे अथर्ववेदका भी इनमें अन्तर्भाव हो जाता है । अथवा प्रायेण मन्त्ररूप वेदके प्रतिपाद्य विषय धर्म, अर्थ, काम ही अवयव है, अतएव भगवान्ने अर्जुनको—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन" ।

कहा है । मोक्षका प्रतिपादन अधिकतर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्में है । अङ्गगुणेन = अङ्गानां गुणः, तेन (ष० त०) । वेदके छः अङ्ग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष । त्रयीको छः अङ्गोसे गुणन करनेपर अठारह संख्या होती है । विस्तरं=विस्तरणं विस्तरः, तम्, वि-उपसर्गपूर्वक "स्तॄञ् आच्छादने" धातुसे "ऋदोरप्" इससे अप् प्रत्यय । शब्दके फैलावमें विस्तर शब्द है । इतर विषयके फैलावमें पूर्वोक्त-उपसर्गयुक्त धातुसे "प्रथने वावशब्दे"

इस सूत्रसे घञ् प्रत्यय होकर "विस्तार" शब्द बनता है। अतएव अमरसिंहने कहा है—

"विस्तारो विग्रहो व्यास, स च शब्दस्य विस्तर ।"

नीता=नी+क्त+टाप्। नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रिया=द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयम्, द्वि+तयप् (अयच्)। द्विर्गता आपो यस्मिन् इति द्वीपम् (बहु०), "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इस सूत्रसे अप्के अकारके स्थानमे ईत्व। ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त 'अ' प्रत्यय। "द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीप यदन्तर्वारिणस्तटम्।" इत्यमर। नवानां द्वयम् (ष० त०)। नवद्वय च ते द्वीपा (क० धा०)। नवद्वय कहनेसे अठारह द्वीप जाने जाते हैं। इनमें सात महाद्वीप हैं जैसे कि—१ जम्बूद्वीप, २ प्लक्षद्वीप, ३ शल्मलीद्वीप, ४. कुशद्वीप, ५. क्रौञ्चद्वीप, ६ शाकद्वीपऔर ७ पुष्करद्वीप। ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार हैं। स्वर्णप्रस्थ आदि आठ जम्बूद्वीपके उपद्वीप हैं, तीन अन्य द्वीप हैं। महाकवि कालिदासने भी "अष्टादशद्वीपनिखातयूप" कहकर अठारह द्वीपोकी चर्चा की है। जयस्य श्रिय (ष० त०), नवद्वयद्वीपाना पृथग्जयश्रिय, तासाम् (ष० त०) "जिगीषया" इस कृदन्तपदके योगमे "कर्तृकर्मणो कृति" इस सूत्रसे कर्ममे षष्ठी। जिगीषया=जेतु मिच्छा जिगीषा, सन् प्रत्ययान्त "जि जये" धातुसे "अ प्रत्ययात्" इससे 'अ' प्रत्यय और टाप्। अष्टादशताम्=अष्टौ च दश च अष्टादश (द्वन्द्व), "द्व्यष्टन सख्यायामबहुव्रीह्यशीत्यो" इससे आत्व हुआ है। अष्टादशाना भाव अष्टादशता, ताम्, अष्टादशन्+तल्+टाप्। अगाहत="गाहू विलोडने" धातुसे "अनद्यतने लङ्" इस सूत्रसे लङ्। पूर्वोक्त चौदह विद्याओके साथ वेदोंके चार उपवेद— आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र इनमे भी महाराज नल पारदर्शी थे यह बात इस पद्यसे सूचित होती है। नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रिया जिगीषया अर्थात् नलसे जीते गये अठारह द्वीपोंकी पृथक् जयश्रियोको मानो जीतनेकी इच्छासे उनकी विद्याओने भी अठारह सख्याको प्राप्त किया। यहाँपर उत्प्रेक्षावाचक शब्द इव आदि न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और उपमा, इनका ससृष्टि अलकार है॥५॥

दिगीशवृन्दाऽशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभाऽवरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिकाम् ॥ ६ ॥

अन्वय — दिगीशवृन्दाऽशविभूति दिशाम् ईशिता स शास्त्राणि कामप्रसभाऽवरोधिनीं निजत्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिका द्वयाधिका दृश बभार ॥ ६ ॥

व्याख्या — नलस्य देवाशत्व प्रतिपादयति-दिगीशेति। दिगीशवृन्दाऽशविभूति

=इन्द्रादिदिक्पालमात्रोद्भवः, दिशां=प्राच्यादिकाष्ठानाम्, ईशिता = ईश्वरः, सः = नलः, शास्त्राणि = वेदादिशास्त्राणि (एव), कामप्रसभावरोधिनीं=इच्छायाः कामदेवस्य वा बलाऽवरोधकारिणीं, निजत्रिनेत्राऽवतारत्वबोधिकां=स्वत्रिनयनाविर्भावज्ञापिकां, स्वमहादेवाऽवतारत्वज्ञापिकां वा, द्वयाऽधिकां = द्वितयाऽतिरिक्तां, तृतीयामिति भावः, दृशं = नेत्रं, बभार = धृतवान् ॥ ६ ॥

अनुवाद—इन्द्र आदि दिक्पालोंके अंशसे उत्पन्न अतएव दिशाओंके स्वामी नलने स्वेच्छाचारिताको वा कामदेवको बलसे निवारण करनेवाली, अपने तीन नेत्रोंके आविर्भावका वा महादेवके अवतारत्वका बोधन करनेवाली दो से अधिक शास्त्ररूप दृष्टिको धारण किया ॥ ६ ॥

टिप्पणी—दिगीशवृन्दांशविभूतिः = दिशाम् ईशाः (ष० त०), तेषां वृन्दं, (ष० त०), "स्त्रियां तु संहतिर्वृन्द निकुरम्ब कदम्बकम् ।" इत्यमरः । दिगीशवृन्दस्य अंशा (ष० त०), तैः विभूतिः (उद्भवः) यस्य सः (व्यधिकरणबहु०) । लोकपालकोंके अंशोसे राजाकी उत्पत्ति होती है, इस बातको भगवान् मनुने भी कहा है—

इन्द्राऽनिलयमाऽर्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ मनु० ७-४ ।

दिशाम्="ईशिता" इस पदके योगमें "कर्तृकर्मणोः कृति" इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठी । ईशिता=ईष्टे इति, "ईशऐश्वर्ये" धातुसे "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्रसे तृच्प्रत्यय। नलको "दिशाम् ईशिता" कहने से आठ दिक्पाल इन्द्र आदि एक-एक दिशाके स्वामी हैं, पर नल सब दिशाओंके स्वामी हैं । अतः व्यतिरेक अलंकार व्यङ्ग्य होता है । शास्त्राणि=शिष्यते एभिरिति, "शासु अनुशिष्टौ" धातुसे "सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" इस सूत्रसे ष्ट्रन् प्रत्यय । शास्त्रका लक्षण ऐसा किया गया है-"प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च पुंसां येनोपदिश्यते । तद्धर्माश्चोपदिश्यन्ते शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः ।" अर्थात् पुरुषोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति एवम् उनके धर्म जिसमे उपदेश किये जाते हैं, उसे 'शास्त्र' कहते हैं । कामप्रसभाऽवरोधिनी=प्रसभेन अवरुणद्धि प्रसभाऽवरोधिनी, प्रसभ और अव-उपसर्गपूर्वक 'रुधिर् आवरणे' धातुसे णिनि प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप् । कामस्य प्रसभावरोधिनी ताम् (ष० त०) । स्वेच्छाचारिताको बलसे रोकनेवाली (नलपक्षमें) । कामदेवको बलसे रोकनेवाली (महादेव पक्षमे) । "प्रसभ" के बदलेमें कहींपर "प्रसर" पदका पाठ है, उसमें कामस्य प्रसरः (विस्तारः, वृद्धिर्वा), तम् अवरुणद्धीति ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिए । निज-

त्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिकाम्=अवतरणम् अवतर., अव-उपसर्गपूर्वक तृधातुसे "ऋदो रप्" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय, अवतरस्य भाव अवतरत्वम्, अवतर+त्व, त्रयाणा नेत्राणाम् अवतरत्वम् "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे उत्तरपदसमास, निज च तत् त्रिनेत्राऽवतरत्वम् (क० धा०) । बोधयतीति बोधिका, बुध+ण्वुल (अक)+टाप् । निजत्रिनेत्राऽवतरत्वस्य बोधिका, ताम् (ष० त०) । अपने तीन नेत्रोंके आविर्भावका या महादेवत्वका बोधन करनेवाली, यह पद "दृशम्" का विशेषण है । द्वयाऽधिका=द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयम्, द्वि+तयप् (अयच्) । द्वयात् अधिका, ताम् (प० त०) । यह भी "दृशम्" इसका विशेषण है, शास्त्ररूप दो से अधिक नेत्र यह तात्पर्य है । कहा भी गया है—

"अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥"

महाराज नलके शास्त्र ही दो से अधिक अर्थात् तीसरे नेत्ररूप थे यह तात्पर्य है । बभार = 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' धातुसे लिट्+तिप् । यहाँ शास्त्रोंमें दृक्‌का आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है ॥ ६ ॥

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ?
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन्दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—अमुना कृते सुकृते चतुर्भिः पदैः स्थिरीकृते (सति) के तपो न प्रपेदिरे ? यत् अधर्मोऽपि अङ्घ्रिकनिष्ठया भुवं स्पृशन् कृशः (सन्) तपस्विताम् दधौ ॥ ७ ॥

व्याख्या—अथ नलस्य स्वभावं दर्शयति—पदैरिति । अमुना = नलेन, कृते= सत्ययुगे सुकृते = धर्मे, चतुर्भिः = चतुःसंख्यकैः, पदैः = चरणैः, तपःस्पर्शादिविशेषैः । स्थिरीकृते = निश्चलीकृते (सति) । तपोज्ञानयज्ञदानरूपैः पदैरयमर्थो धर्मपक्षे योज्यः । के = जनाः, तपः = चान्द्रायणादिरूपं नियमाचरणं, न प्रपेदिरे=न प्रापुः अपि तु सर्वे एव तपश्चक्रुरित्यर्थः । यत् = यतः, अधर्मोऽपि=धर्मविरोध्यपि, किमुत अन्य इति अपिशब्दार्थः । अङ्घ्रिकनिष्ठया=चरणकनिष्ठया, भुवं=भूमिं, स्पृशन् = आस्पृशन्, कृशः = दुर्बलः (सन्) तपस्विताम् = तापसत्वं दीनत्वं च दधौ = धारयामास, नलस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मव्याप्तजनोऽमूदिति भावः ।

अनुवाद—सत्ययुगमें महाराज नलके धर्मके चार चरणों (तपस्या, ज्ञान, यज्ञ और दान) से स्थिर करनेपर किसने तपस्या नहीं की ? जो कि अधर्म भी पैरकी छोटी अङ्गुलिसे पृथ्वीका स्पर्श करता हुआ दुर्बल होकर तपस्वी (तपस्या करनेवाला वा दीन) हो गया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—कृते = कृ + क्तः, कृतम् = "युगपर्याप्तयोः कृतम्" इत्यमरः। सुकृते = "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः।" इत्यमरः।

"तपः परं कृतयुगे, त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥"

इस उक्तिके अनुसार सत्ययुगमे तपस्याकी, त्रेतामे ज्ञानकी, द्वापरमें यज्ञकी और कलियुगमे दानकी प्रधानता है, परन्तु महाराज नलने इन चारों चरणोसे धर्मको स्थिर किया, यह बात इस पद्यसे सूचित होती है। शास्त्रोमें लिखा गया है—सत्ययुगमें पूर्वोक्त तपस्या आदि चारों विषयोंकी उपस्थितिसे धर्म चतुष्पाद होता है। परन्तु अन्य युगमें धर्मके एक-एक चरणोंकी क्रमसे न्यूनता होती है, जैसे कि त्रेतामें तपस्याकी न्यूनतासे ज्ञान, यज्ञ और दानकी स्थितिसे धर्म त्रिपाद होता है। द्वापरमें तपस्या और ज्ञानकी न्यूनतासे यज्ञ और दानकी स्थितिसे धर्म द्विपाद होता है। इसी तरह कलियुगमे तपस्या, ज्ञान और यज्ञकी न्यूनतासे और एकमात्र दानकी स्थितिसे धर्म एकपात् हो जाता है। नलने अपने पराक्रमसे तपस्या आदि चारों चरणोसे धर्मको स्थिर रखखा था। स्थिरीकृते = अस्थिरं स्थिरं यथा संपद्यते तथा कृतं स्थिरीकृतम्, तस्मिन्, "कृभ्वस्तियोगे संपद्य कर्तरि च्विः" इससे च्वि प्रत्यय स्थिर + च्वि + कृ + क्त + ङि। "च्वौ च" इससे अ वर्णका ई भाव होता है। प्रपेदिरे = प्र-उपसर्गपूर्वक "पद" धातुसे लिट् + झ। अधर्मः = न धर्मः (नञ् त०)। यहांपर नञ् विरोध अर्थमें है, नञ्के छः अर्थ हैं। जैसे कि—

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

अर्थात् नञ्के सादृश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अप्रशस्तता और विरोध ये छः अर्थ होते हैं। अङ्घ्रिकनिष्ठया = अङ्घ्रेः कनिष्ठा, तया (ष० त०)। "पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्।" इत्यमरः। स्पृशन् = स्पृश + लट् (शतृ०) तपस्वितां = तपः अस्याऽस्तीति तपस्वी, तपस् शब्दसे "तपःसहस्राभ्यां विनीनी" इस सूत्रसे विनि प्रत्यय। तपस्विनो भावः तपस्विता, ताम्, तपस्विन् + तल् + टाप्। तपस्वी पदके दो अर्थ हैं, "तपस्वी शोचनीयः स्यात्" इस कोशके अनुसार शोचनीय अर्थात् दीन पुरुष और "मुनिदीनौ तपस्विनौ" इस विश्वकोशके अनुसार तपस्या करनेवाला मुनि भी। दधौ = धा + लिट् + तिप्। यहांपर "अधर्मोऽपि तपस्वितां दधौ, किमुत अन्यः" अर्थात् अधर्म भी तपस्वी हो गया, अन्यका क्या

कहना ? ऐसा कहनेसे कैमुत्य न्यायसे अर्थापत्ति अलङ्कार और अधर्म भी धार्मिक हुआ कहनेसे विरोध अलङ्कार है। इस प्रकार दोनों अलङ्कारोंकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ७ ॥

अथ श्लोकसप्तकेन महाकविनलप्रताप वर्णयति —

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ ८ ॥

अन्वय —अस्य यात्रासु बलोद्धतं स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम यत् रजः, तद् एव गत्वा सुधाम्बुधौ पतितम् (अतएव) पङ्कीभवत् (सत्) विधौ अङ्कतां दधाति ॥ ८ ॥

व्याख्या—अस्य = नलस्य, यात्रासु = विजययानेषु, बलोद्धतं = सैन्योत्क्षिप्त, स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम = ज्वलत्तेजोऽग्निधूममञ्जु, यत्, रजः = धूलिः, तद् एव = रज एव, गत्वा = व्रजित्वा, उत्क्षेपवेगादिति भावः। सुधाम्बुधौ = क्षीरसमुद्रे, पतितं = निपतितं सत्, अतएव, पङ्कीभवत् = कर्दमीभवत् सत्, विधौ—चन्द्रमसि, सुधाम्बुधिस्थित इति भावः, अङ्कताम् = कलङ्कत्वं, दधाति = धारयति ॥ ८ ॥

अनुवाद —नलकी विजययात्राओंमें सेनाओंसे उठी हुई और जलते हुए प्रतापरूप अग्निके समान मनोहर जो धूलि है वही जाकर क्षीरसमुद्रमें गिर पड़ी और वही कीचड़ होकर चन्द्रमामें कलङ्कके भावको धारण कर रही है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—बलोद्धतम्=बलैः उद्धतम् (तृ० त०), स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम= प्रताप एव अनलः "मयूरव्यंसकादयश्च" इससे रूपकसमास, स्फुरं श्चासौ प्रतापानलः (क० धा०), तस्य धूमः (ष० त०)। मञ्जोर्भावो मञ्जिमा 'मञ्जु' शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय। "कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जुमञ्जुलम्।" इत्यमरः। स्फुरत्प्रतापानलस्य धूमः (ष० त०), तस्य इव मञ्जिमा यस्य तत् "सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ" इस सूत्रमें "सप्तमी" पदसे ज्ञापित व्यधिकरण बहुव्रीहि। रजः = "पांशुर्ना न द्वयो रजः" इत्यमरः। सुधाम्बुधौ = अम्बूनि धीयन्ते यस्मिन् सः, अम्बुधिः अम्बु-उपपदपूर्वक 'धा" धातुसे "कर्मण्यधिकरणे च" इस सूत्रसे कि प्रत्यय। अम्बु + धा + कि। सुधाया अम्बुधिः तस्मिन (ष० त०) पतितं = पत + क्त (कर्ताके अर्थमें)। पङ्कीभवत्=अपङ्कः पङ्कः यथा सम्पद्यते तथा भवत्, पङ्क + च्वि + भू + लट्

(शतृ०)। अङ्कताम् = अङ्कस्य भावः अङ्कता, ताम्, अङ्क+तल्+टाप्। "कलङ्काऽङ्कौ लाञ्छनं च" इत्यमरः। दधाति="डुधाञ् धारणपोषणयोः" इस जुहोत्यादि धातुसे लट्+तिप्। यहांपर द्वितीय चरणमें रूपक और उपमा है। धूलि समुद्रमें पड़कर कीचड़ होती हुई चन्द्रमामें कलङ्करूपको धारण करती है, यहांपर उत्प्रेक्षाव्यञ्जक इव आदि शब्दोंके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, इस प्रकार तीन अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ८॥

स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्घनाऽऽशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजः शिखिनः परःशता वितेनुरङ्गारमिवाऽयशः परे॥ ९॥

अन्वयः—सङ्गरे परःशताः परे स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य निजस्य तेजः शिखिनः अङ्गारम् इव अयशः वितेनुः॥ ९॥

व्याख्या—सङ्गरे = युद्धे, परःशताः = शतात् परे, शताधिका इत्यर्थः, बहव इति भावः। परे = शत्रवः, स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य= प्रसरच्चापघोषसमन्वितनलमेघबाणमहावर्षनिर्वापितस्य, निजस्य = स्वस्य, तेजः-शिखिनः=प्रतापाऽग्नेः, अङ्गारम् इव = उल्मुकम् इव, अयशः = अकीर्तिम् पराजयजनितामिति भावः। वितेनुः = विस्तारयामासुः॥ ९॥

अनुवादः—युद्धमें सैकड़ों शत्रुओंने चमकनेवाले धनु और शब्दोंसे युक्त मेघरूप नलके बाणोंकी प्रचुर वृष्टिसे बुझाये गये अपने प्रतापरूप अग्निके अङ्गार (कोयला) के सदृश अकीर्तिको फैलाया॥ ९॥

टिप्पणी—परःशताः = शतात् परे (अनन्ताः) (प० त०), "पारस्कर-प्रभृतीनि च संज्ञायाम्" इस सूत्रसे पारस्करादिगणके आकृतिगण होनेसे सुट् आगमका निपातन हुआ है। महाराज भोज परः शब्दको निपात मानते हैं। परे = "अभिघातिपराऽरातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः।" इत्यमरः स्फुरद्धनुर्निःस्वन०= धनुश्च निःस्वनश्च धनुर्निःस्वनौ (द्वन्द्वः)। स्फुरन्तौ धनुर्निःस्वनौ यस्य सः (बहु०)। सः (नलः) एव घनः (रूपक०)। स्फुरद्धनुर्निःस्वनश्चाऽसौ तद्घनः (क० धा०) तस्य आशुगाः (प० त०)। प्रगल्भा चाऽसौ वृष्टिः (क० धा०) स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्घनाशुगानां प्रगल्भवृष्टिः (प० त०), तया व्ययितस्य (संजातव्ययस्य, निर्वापितस्येति भावः) (तृ० त०)। तेजःशिखिनः = तेज एव शिखी, तस्य (रूपक०)। अयशः = न यशः, तत् (नञ्त०)। वितेनुः= वि—उपसर्गपूर्वक "तनु विस्तारे" धातुसे लिट्+झि। यहांपर रूपक और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ९॥

अनल्पदग्धाऽरिपुराऽनलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुवः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥ १० ॥

अन्वयः—राजघः सः अनल्पदग्धाऽरिपुराऽनलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः ज्वलद् भुवो वलयं प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज ॥ १० ॥

व्याख्या—राजघः = शत्रुभूपालघातुकः, सः = नलः, अनल्पदग्धाऽरिपुराऽनलोज्ज्वलैः = बहुलभस्मीकृतशत्रुनगरवह्निप्रदीप्तैः, निजप्रतापैः = स्वतेजोभिः, ज्वलत् = दीप्तं, भुवः = भूमेः, वलयं = मण्डलं, प्रदक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिणं विधाय, जयाय = जेतुं, सृष्टया = निर्मितया, नीराजनया = आरात्रिकेण, प्रतिपक्षराजाऽभावकरणेन वा, रराज = शुशुभे, नलस्य प्रतापो भूमण्डलव्यापकोऽभूदिति भावः ॥ १० ॥

अनुवाद—शत्रु राजाओं को मारनेवाले नल प्रचुर शत्रुनगरोंको जलानेवाले और अग्निके समान उज्ज्वल अपने प्रतापोंसे प्रदीप्त भूमण्डलकी प्रदक्षिणा करके जीतनेके लिए की गयी नीराजनासे शोभित हुए ॥ १० ॥

टिप्पणी—राजघः = राजानं हन्तीति, "राजघ उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे इस पदका निपातन हुआ है। अनल्पदग्धाऽरिपुरानलोज्ज्वलैः = न अल्पानि अनल्पानि (नञ्०)। अरीणां पुराणि (ष० त०)। अनल्पानि दग्धानि अरिपुराणि यैस्ते (बहु०)। अनला इव उज्ज्वला (उपमानपू० कर्म०)। अनल्पदग्धाऽरिपुराश्च ते अनलोज्ज्वला, तैः (क० धा०)। निजप्रतापैः = निजस्य प्रतापाः, तैः (ष० त०)। ज्वलत् = ज्वलतीति, तत् ज्वल + लट् (शतृ)। प्रदक्षिणीकृत्य = अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं यथा सम्पद्यते तथा कृत्वा प्रदक्षिण + च्वि + कृ + क्त्वा (ल्यप्)। जयाय = "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इससे चतुर्थी। सृष्टया = सृज + क्त + टाप् + टा। रराज = "राजृ दीप्तौ" धातुसे लिट् + तिप् (णल्)। यहाँपर निजप्रतापोंसे नीराजनासृष्टिके सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ १० ॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः ।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥ ११ ॥

अन्वय—तेन अखिले महीतले निरीतिभावं गमिते निवारिता अतिवृष्टयः अनन्यसंश्रयाः (सत्यः) प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः न तत्यजुः नूनम् ॥ ११ ॥

व्याख्या—तेन = नलेन, अखिले = समस्ते, महीतले = भूतले, निरीतिभावम् = अतिवृष्ट्यादीतिभावराहित्यं, गमिते = प्रापिते सति निवारिता = निराकृता, अतिवृष्टयः = अतिवर्षाणि, अनन्यसंश्रयाः = अन्याश्रयस्थानरहिताः सत्यः, प्रतीप-

भूपालमृगीदृशां = शत्रुभूपतिसुन्दरीणां, दृशः = नेत्राणि, न तत्यजुः = त्यक्तवत्यः नूनम् = इव ॥ ११ ॥

अनुवादः—महाराज नलने समस्त भूतलसे अतिवृष्टि आदि ईतियोंको हटा दिया, तब निवारित अतिवृष्टियां दूसरा आश्रयस्थान न होनेसे नलके शत्रु राजाओंकी पत्नियोंके नेत्रोंको नही छोड़ती थी ऐसा मालूम होता है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—महीतले = मह्यास्तलं, तस्मिन् (प० त०)। निरीतिभावं = ईतेः भावः (प० त०)। राष्ट्रमें दुर्भिक्ष आदि उपद्रवोंकी सूचना करनेवाली ईतियां छः प्रकारकी होती हैं। जैसे कि—

"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः।
अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥"

अर्थात् अतिवृष्टि, अनावृष्टि (वृष्टिका न होना), चूहे, शलभ (टिड्डी), तोते, ज्यादा निकटवर्ती राजा इस प्रकार ईतिके छः भेद होते हैं निर्गता ईतयो यस्मिस्तत् (बहु०)। निरीतिनो भावः, तम् (प० त०)। गमिते = गम् + णिच् + क्तः। ङि। निवारिताः = नि + वृ + णिच् + क्तः + टाप् + जस्। अनन्य-संश्रयाः। अन्यस्य संश्रयः (प० त०)। अविद्यमानः अन्यसंश्रयः यासां ताः (नञ्बहु०) अनन्यसंश्रयः = "नञो स्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" इससे (नञबहु०) प्रतीपभूपालमृगीदृशां = प्रतिकूला आपो येषु ते प्रतीपाः, प्रति-उपसर्गपूर्वक "अप्" शब्दसे "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इस सूत्रसे समासान्त अप्रत्यय और 'अप्' के अकारका ईत्व हुआ है (बहु०)। भुवं पालयन्तीति भूपालाः, भू-उपपदपूर्वक "पाल रक्षणे" धातुसे "कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय "उपपदमतिङ्" इस सूत्रसे उपपदसमास। प्रतीपाश्च ते भूपालाः (क० धा०)। मृग्या इव दृशौ यासां ताः मृगीदृशः' सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ" इस सूत्रसे ज्ञापित व्यधिकरण बहुव्रीहि। प्रतीपभूपालानां मृगीदृशः, तासाम् (प० त०)। तत्यजुः = "त्यज हानौ" धातुसे लिट् + झि (उस्)। नूनम् = यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है, जैसे कि कहा गया है—

"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।
उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृशः ॥

शत्रु राजाओंकी सुन्दरियोंके अश्रुपातके वर्णनसे नलसे उनके शत्रु राजाओंकी पराजय गम्य होता है अतः पर्यायोक्त अलङ्कार है, जैसे कि काव्यप्रकाशमें उसका लक्षण है—"पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।" १०–११५।

इस प्रकारसे उत्प्रेक्षा और पर्यायोक्त इन दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ११ ॥

सिताংशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी ॥ १२ ॥

अन्वयः—तद्भटचातुरी तुरी महासिवेम्नः सहकृत्वरी रणाङ्गणे सितांशुवर्णैः दिगङ्गनाङ्गाभरणं बहु यशःपटं वयति स्म ॥ १२ ॥

व्याख्या—तद्भटचातुरी = नलयोद्धृचतुरता, तुरी = सूत्रवेष्टननलिका, महासिवेम्नः = विशालखड्गवायदण्डस्य, सहकृत्वरी = सहकारिणी (सती), रणाङ्गणे=युद्धाजिरे सितांशुवर्णैः = चन्द्रवर्णैः, शुभ्रवर्णैरित्यर्थः । तद्गुणैः = नलशौर्यादिगुणैरेव तन्तुभिः, दिगङ्गनाङ्गाभरणं = दिशानार्यवयवभूषणं बहु = प्रचुरं, यशःपटं = कीर्तिवस्त्रं, वयति स्म = निर्मितवती ॥ १२ ॥

अनुवाद—नलके योद्धाओंकी चतुरता रूप तांतीने उनके बड़े से तलवाररूप वायदण्डके सहारे युद्धके प्राङ्गणमें चन्द्रसदृश सफेद रूप नलकी शूरता आदि-गुणरूप गुणों (तन्तुओं) से दिशा रूप स्त्रियोंके अङ्गोंके भूषण-स्वरूप प्रचुर कीर्तिरूप वस्त्रको बुना ॥ १२ ॥

टिप्पणी—तद्भटचातुरी = तस्य भटाः (ष० त०), "भटा योधाश्च योद्धारः" इत्यमरः । चतुरस्य भावश्चातुरी "चतुर" शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" इस सूत्रसे भाव और कर्मके अर्थमें ष्यञ् प्रत्यय होकर 'यस्येति च' इस सूत्रसे प्रत्ययके आदिमें स्थित मूर्धन्य षकारका लोप होकर "हलस्तद्धितस्य" इससे यकारका लोप हुआ है। "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीप् प्रत्यय। तद्भटानां चातुरी (ष० त०) । महासिवेम्नः = महांश्चासौ असिः = महासिः, "सन्महत्परमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" इससे समास (क० धा०) हुआ है। महासिरेव वेमा, तस्य (रूपक०) । "पुंसि वेमा वायदण्डः" इत्यमरः । सहकृत्वरी = सह कृतवती, सह उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "सहे च" इस सूत्रसे क्वनिप् प्रत्यय और अनुबन्धका लोप होकर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इस सूत्रसे तुक् आगम और स्त्रीत्वविवक्षामें "वनो र च" इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय होकर अन्त्य 'न' के स्थानमें 'र' आदेश हुआ है। रणाङ्गणे = रणस्य अङ्गणं, तस्मिन् (ष० त०) । "अङ्गणं चत्वराजिरे" इत्यमरः । सितांशुवर्णैः = सिता अंशवो यस्य स सितांशुः (बहु०) । सितांशोरिव वर्णो येषां ते, तैः (व्यधिकरण बहु०) । तद्गुणैः = तस्य गुणाः तैः (ष० त०)

दिगङ्गनाऽङ्गाभरणं = दिश एव अङ्गनाः दिगङ्गनाः (रूपक०) तासामङ्गानि, (ष० त०) तेषाम् आभरणम् (ष० त०)। यशःपटं = यश एव पटः, तम् (रूपक०)। वयति स्म = 'वेञ् तन्तुसन्ताने" इस धातुसे "स्म" के योगमें "लट् स्मे" इस सूत्रसे भूतकाल के अर्थमें लट्। इस पद्यमें "सितांऽशुवर्णः" इसमें उपमा और अन्यत्र रूपक अलङ्कार है। इस प्रकार दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर हुआ है॥ १२॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत॥ १३॥

अन्वयः—प्रतीपभूपैः इव विरुद्धधर्मैः अपि ततो भिया भेत्तृता उज्झिता किम्? यत् स अमित्रजित्, मित्रजित्, विचारदृक् अपि चारदृक् अवर्तत॥ १३॥

व्याख्या—प्रतीपभूपैः इव = विरोधिभूपतिभिः इव, विरुद्धधर्मैः अपि = मिथोविरोधिधर्मैः अपि, ततः तस्मात् नलात् इत्यर्थः, भिया = भयेन हेतुना भेत्तृता = भेदनकारिता, पक्षान्तरे भेदज्ञापकता, व्यावर्तकता इति भावः, उज्झिता किं = परित्यक्ता किम्? यत् = यस्मात्कारणात्, सः = नलः, ओजसा = तेजसा, अमित्रजित् = मित्रजिद्भिन्नः, परं मित्रजित् = मित्रजेता, अत्र योऽमित्रजित् मित्राजिद्भिन्नः स कथं मित्रजित् (मित्रजेता इति विरोधः प्रतीयते, तत्परिहारस्तु—ओजसा = प्रतापेन, अमित्रजित्=शत्रुजेता, तथा ओजसा = तेजसा, मित्रजित् = सूर्यजेता इति। इत्थमेव सः = नलः विचारदृक् = चारदृग्भिन्नः। परं चारदृक् = चारदृष्टिः, अत्राऽपि यो विचारदृक् (चारदृग्भिन्नः) स कथं चारदृक् (चारदृक्) इति विरोधः प्रतीयते, तत्परिहारस्तु-विचारदृक् = विचारपूर्वकं द्रष्टा, चारदृक् = गुप्तचरनेत्रः, "राजानश्चारचक्षुषः" इति श्रवणादिति भावः। अवर्तत = आसीत्॥ १३॥

अनुवादः—शत्रु राजाओंके समान विरुद्ध धर्मोंने भी उनसे डरकर भेत्तृता =भेदकारिता वा व्यावर्तकता छोड़ दी है क्या? क्योंकि वे प्रतापसे अमित्रजित् (मित्रको जीतनेवालेसे भिन्न) होकर भी तेजसे मित्रजित् (मित्रोंको जीतनेवाले थे), यहाँपर विरोध प्रतीत होता है, इसका परिहार है, नल प्रतापसे अमित्रजित् अमित्र अर्थात् शत्रुओंका जीतनेवाले थे और तेजसे मित्रजित्=मित्र अर्थात् सूर्यको जीतनेवाले थे इसी तरह नल विचारदृक् अर्थात् चारदृष्टिसे भिन्न होकर भी चारदृक् अर्थात् चारदृष्टि थे यहाँपर भी विरोध प्रतीत होता है। इसका

परिहार है, नल विचारदृक्=विचारसे इन्साफको देखनेवाले और चारदृक् अर्थात् वे चारो (गुप्तचरो) से सब राष्ट्रके व्यवहारोंको देखनेवाले थे ॥ १३ ॥

टिप्पणी – प्रतीपभूपं =प्रतीपाश्च ते भूपा , तं (क० धा०) । विरुद्धधर्म= विरुद्धाश्च ते धर्मा , तं (क० धा०) । वत = तस्मात् इति, तद्+तसिल् । भिया = "भीतिर्भी साध्वस भयम् ।" इत्यमर । भेत्तृता = भिनत्तीति भेत्ता, भिद् + तृच् । भेत्तुर्भाव , भेत्तृ + तल +टाप । 'भेत्तृता' पदके दो अर्थ हैं — भेदनीति कराना और व्यावर्तकता अर्थात् दूसरेसे व्यावृत्ति कराना । अमित्रजित्= न मित्राणि अमित्रा (नञ्०) अमित्रान् (शत्रून्) जयतीति अमित्रजित् । अमित्र+जि+क्विप् (उ पद०) । मित्रजित्=मित्र जयतीति, मित्र + जि + क्विप् (उपपद०) । यहाँपर अमित्रजित् अर्थात् जो मित्रजित्से भिन्न हैं वे कैसे मित्रजित् होंगे इस प्रकार विरोध प्रतीत होता है, इसका समाधान है--ओजसा= प्रतापसे अमित्रजित् अर्थात् अमित्रों (शत्रुओ) को जीतनेवाले और ओजसा= तेजसे मित्रजित् अर्थात् मित्र (सूर्य) को जीतनेवाले । विचारदृक् विचार पश्यति, विचारदृश् + क्विन् (उपपद०) । चारदृक्=चारा एव दृशो यस्य स (बहु०) । इसी तरह नल विचारदृक् अर्थात् चारदृक्से भिन्न होकर भी चारदृक् थे यहाँ-पर भी विरोध प्रतीत होता है, इसका समाधान है महाराज नल विचारदृक् विचारको देखनेवाले थे एवम् चारदृक् अर्थात् चार (गुप्तचर) ही उनके नेत्र थे, गुप्तचरों के द्वारसे नल स्वराष्ट्र और परराष्ट्रोके सब व्यवहारोंको देखते थे यह तात्पर्य है । अवर्तत = "वृतु वर्तने" धातुके लङ् + त सूयके समान तेजवाले और गुप्तचररूप नेत्रोंवाले नलसे डरकर शत्रुओंने भेद और वरको छोडा यह भाव है । इस पद्यमे 'प्रतीपभूपैरिव' यहाँपर उपमा है और "अमित्रजित् मित्रजित्, विचारदृक् चारदृक्" इन अंशोमे विरोध अलङ्कार और 'किं' शब्दके सम्भावना-का बोधक होनेसे उत्प्रेक्षा इस प्रकार तीन अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार हुआ है ॥ १३ ॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥ १४ ॥

अन्वय —विधि तदोजस तद्यशस स्थितौ इमौ वृथा इति यदा यदा चित्ते कुरुते, तदा परिवेषकैतवात् भानो विधो अपि कुण्डलना तनोति ॥ १४ ॥

व्याख्या — विधि = ब्रह्मा, तदोजस = नलतेजस , तद्यशस = नलकीर्ते स्थितौ = विद्यमानतायाम् इमौ=भानुविधू, सूर्यचन्द्राविसर्थ । वृथा=व्यर्थप्रायौ,

निष्फलाविति भावः । इति=इत्थं, यदा यदा = यस्मिन् यस्मिन् समये, चित्ते = मनसि, कुरुते=विधत्ते, विमृशतीति भावः । तदा = तस्मिन् तस्मिन् समये, परिवेषकैतवात् =परिधिच्छलात्, भानोः=सूर्यस्य, विधोः अपि=चन्द्रमसः अपि, कुण्डलनां = वैयर्थ्यसूचकं रेखामण्डलं, तनोति = विस्तारयति ॥ १४ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजी नलके तेजकी और उनकी कीर्तिकी स्थितिमें ये (सूर्य और चन्द्र) व्यर्थ हैं ऐसा जब-जब विचार करते है तब-तब परिवेष (मण्डल) के छलसे सूर्य और चन्द्रकी कुण्डलता (घेरे) को फैला देते हैं ॥ १४ ॥

टिप्पणी—तदोजसः = तस्य ओजः, तस्य (ष० त०) । तद्यशसः = तस्य यशः, तस्य (ष० त०) । स्थितौ = स्था + क्तिन् + ङि । यदा = यस्मिन् काले, "सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा' इस सूत्रसे यद् शब्दसे दा प्रत्यय । तदा = तस्मिन् काले, पूर्वकथित सूत्रसे तद् शब्दसे दा प्रत्यय । परिवेषकैतवात् = परिवेषस्य कैतवं, तस्मात् (ष० त०), हेतुमे पञ्चमी । "परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले ।" इत्यमरः । तनोति = "तनु विस्तारे" इस धातुसे लट् + तिप् । यहाँपर प्रसिद्ध उपमानभूत सूर्य और चन्द्रकी निष्फलताका अभिधान होनेसे प्रतीप अलङ्कार है, जैसा कि साहित्यदर्पणमे उसका लक्षण है—

"प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाऽभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥" १०–११३ ।

इसी तरह यहाँपर प्रस्तुत परिवेषका निषेध कर कुण्डलनाका स्थापन करनेसे अपह्नुति भी है । इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ १४ ॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अल्पितकल्पपादपो नृपः अर्थिजनस्य ललाटे "अयं दरिद्रो भविता" इति जाग्रतीं वैधसीं लिपिं दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय मृषा न चक्रे ॥ १५ ॥

नलस्य दानशौण्डत्वं श्लोकद्वयेन प्रतिपादयति—अयमिति ।

व्याख्या—अल्पितकल्पपादपः = अल्पीकृतकल्पवृक्षः, नृपः = नैषधः, अर्थिजनस्य = याचकजनस्य, ललाटे = भाले, अयम् = एषः, जनः = नरः, दरिद्रः = निःस्वः, भविताः = भविष्यति, इति = इत्थं, जाग्रतीं = सदा स्थितां, वैधसीं = ब्रह्मसम्बन्धिनीं, लिपिं = लिखिं, वर्णावलीमिति भावः, दारिद्र्यदरिद्रतां =

दरिद्रतामात्र, प्रणीय = निर्माय, मृषा = मिथ्या, न चक्रे = न कृतवान्, एतेन याचितपदार्थस्य दातु कल्पपादपान्नलस्योत्कर्षातिशयो द्योत्यते ॥ १५ ॥

अनुवाद—कल्पवृक्षको भी मात करनेवाले नलने याचकके लिलारमें "यह दरिद्र होगा" ऐसी विद्यमान ब्रह्माकी लिपिको उस याचककी दरिद्रताका दारिद्र्य करके झूठा नहीं बनाया ॥ १५ ॥

टिप्पणी—अल्पितकल्पपादप = अल्प कृत अल्पित, अल्प शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर क्त प्रत्यय। कल्प (सङ्कल्पितार्थ) पूरक पादप कल्पपादप, "शाकपार्थिवादीना सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्" इस वार्तिकसे मध्यमपदलोपी समास। अल्पित कल्पपादपो येन स० (बहु०)। अर्थिजनस्य=असन्निहित अर्थ अस्याऽस्तीति अर्थी, 'अर्थ' शब्दसे "अर्थाच्चाऽसन्निहिते" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय। "वनीयको याचनका मार्गणो याचकार्थिनौ।" इत्यमर। अर्थी चाऽसो जन, तस्य (क० धा०)। दरिद्र =दरिद्रातीति, "दरिद्रा दुर्गतौ" इस धातुसे पचाद्यच्। भविता = "भू सत्तायाम्" इस धातुसे "अनद्यतने लुट्" इससे लुट् + तिप। जाग्रती = जागर्तीति जाग्रती, ता, "जागृ निद्राक्षये" इस धातुसे लट्के स्थानमे शतृ आदेश और स्त्रीत्वविवक्षा मे टित् होनेसे "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप प्रत्यय। वैधसी = वेधस इय वैधसी, ताम्, "वेधस्" शब्दसे "तस्येदम्" इससे अण प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप्। दारिद्र्यदरिद्रता = दरिद्रस्य भाव कर्म वा दारिद्र्य, दरिद्र + ष्यञ्। दरिद्रस्य भावो दरिद्रता, दरिद्र + तल् + टाप्। दारिद्र्यस्य दरिद्रता, ताम् (ष० त०)। प्रणीय = प्र + नी + क्त्वा (ल्यप्)। मृषा=यह अव्यय है। चक्रे=कृ + लिट् + त। इस पद्यमे नलकी उत्कृष्ट दानशीलता प्रतीत होती है। इस पद्यमे "अल्पितकल्पपादप" इस पदसे उपमान कल्पपादपसे उपमेय नलके आधिक्य वर्णन करनेमे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥१५॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुग द्विफालबद्धाश्चिकुरा शिर स्थितम् ॥ १६ ॥

अन्वय — विभज्य मेरु यत् अर्थिसात् न कृत, उत्सर्गजलव्ययै सिन्धु, यत् मरु न कृत, तत् तेन द्विफालबद्धा चिकुरा शिर स्थित निजायशोयुगम् अमानि ॥ १६ ॥

व्याख्या विभज्य = विभाग कृत्वा, खण्डशो विधायेति भाव। मेरु =

सुमेरुपर्वतः, यत् = यस्मात्कारणात्, अर्थिसात् = याचकाऽधीनः, कृतः = नो विहितः, एवं च उत्सर्गजलव्ययैः = दानसलिलोपयोगैः, सिन्धुः = समुद्रः । यत् = यस्मात्कारणात्, मरुः = धन्वा, निर्जलदेश इति भावः, न कृतः = नो विहितः । तत्=तस्मात् कारणद्वयात्, तेन = नलेन, द्विभागनद्धाः=द्विफालबद्धा, चिकुराः= केशाः उद्देश्यवाचकं पदमेतत् । शिरःस्थितं = स्वमस्तकस्थं, निजाऽयशोयुगं = स्वकीयाऽकीर्तियुग्मं, विधेयवाचकं पदमेतत् । अमानि = मतं, विचारितमिति भावः ॥ १६ ॥

अनुवादः —विभाग करके (खण्ड-खण्ड बनाकर) सुमेरुपर्वतको याचकजनोंको नहीं दिया और न तो दान करनेके समयमें जलका व्यय करके समुद्रको मरु-स्थल बनाया इस कारणसे महाराज नलने दो भागोंमें बाँधे गये अपने केशोंको अपने शिरमें स्थित अपने दो अकीर्तिरूप समझा ॥ १६ ॥

टिप्पणी—विभज्य = वि+भज्+क्त्वा (ल्यप्) । मेरुः = "मेरुः सुमेरु-र्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः ।" इत्यमरः । उक्त कर्ममें प्रथमा । अर्थिसात्=अर्थ्य-धीनः, "अर्थिन् शब्दसे "तदधीनवचने" इस सूत्रसे "साति" प्रत्यय । उत्सर्गजल-व्ययैः = उत्सर्गस्य जलं (ष० त०), तस्य व्ययाः तैः (ष० त०) । मरुः = "समानौ मरुधन्वानौ" इत्यमरः । द्विफालबद्धाः=द्वयोः फालयोः बद्धाः, "तद्धि-तार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे उत्तरपदसमास । चिकुराः="चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरोरुहः ।" इत्यमरः ।" यह उद्देश्यवाचक पद है । शिरः-स्थितं – शिरसि स्थितम् (स० त०)—निजाऽयशोयुगं = न यशसी, (नञ्०) अयशसोर्युगम् (ष० त०) । निजं च तत् अयशोयुगम् (क० धा०), यह विधेय-वाचक पद है । अमानि = मन्धातु से कर्ममें लुङ् । उद्देश्य वाचक "चिकुराः" के बहुवचनान्त होनेपर भी विधेयवाचक पद "निजाऽयशोयुगम्" इसके एकवच-नान्त होनेपर विधेयकी प्रधानतासे क्रियापदमें एकवचन हुआ है । इस पदमें मेरु और मरु इन दोनों अप्रस्तुत पदोंकी कर्मतासे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अल-ङ्कार है । जैसा कि उसका लक्षण है—

"पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माऽभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।" सा०द०१०-६६ ।

केशोंमें कृष्णताकी समतासे अयशका रूपण करनेमें रूपक अलङ्कार है, इस प्रकार तुल्ययोगिता और रूपककी परस्परमें अनपेक्षतया स्थिति होने संसृष्टि अलङ्कार है ॥ १६ ॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
दधौ पटीयान्समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥ १७ ॥

अन्वय —पटीयान् दिनेश्वरश्री अयं देव अजस्रम् अभ्यासम् उपेयुषा कविना बुधेन च समं मुदा एव समयं नयन् दिने दिने उदयं दधौ ॥ १७ ॥

नलस्य विद्वज्जनसङ्गतिं प्रतिपादयति—अजस्रमिति ।

व्याख्या—पटीयान् = कार्यकुशल, दिनेश्वरश्री = सूर्यसमतेजा, अयं वर्त्तमान, देव = राजा, नल इत्यर्थः । अजस्रं = निरन्तरम्, अभ्यास = समीपम्, उपेयुषा = प्राप्तवता, कविना = काव्यकर्त्रा शुक्रेण च, बुधेन = पण्डितेन, चन्द्रपुत्रग्रहेण च, समं = सह, मुदा एव = आनन्देन एव, समय = काल, नयन् = यापयन्, दिने दिने = प्रतिदिनम्, उदयम् उन्नतिम् उदयपर्वतसम्बन्ध च, दधौ = धृतवान् ॥ १७ ॥

अनुवाद —कार्यकुशल और सूर्यके समान तेजवाले ये महाराज नल जैसे सूर्य निरन्तर समीपमे रहनेवाले कवि (शुक्र) के तथा चन्द्रके पुत्र ग्रहके साथ हर्षके साथ समयको बिताते हुए प्रतिदिन उदयाचलको प्राप्त करते हैं उसी प्रकार निरन्तर निकट रहनेवाले कवि (काव्यकर्ता) और बुध (विद्वान्) के साथ हर्षसे समयको बिताते हुए प्रतिदिन उन्नतिको प्राप्त करते थे ॥ १७ ॥

टिप्पणी—पटीयान् = अतिशयेन पटु, पटु+ईयसुन् । दिनेश्वरश्री = दिनस्य ईश्वर (ष० त०), तस्य इव श्रीयस्य स (व्यधिकरण–बहु०) । अभ्यास 'सदेशाभ्याससविधसमर्यादसवेशवत् । इत्यमर । उपेयुषा=उपेयायेति उपेयिवान्, तेन, "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" इस सूत्रसे उप-उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे भूतमात्रमे लिट, उसके स्थानमें क्वसु प्रत्यय और इट् आगम । कविना = 'उशना भार्गव कवि" इति, "सङ्ख्यावान्पण्डित कवि" इति चाऽमर । बुधेन = "रौहिणेयो बुध सौम्य" इति 'सन्सुधी कोविदो बुध" इति चाऽमर । "समम्" पदके साथ योग होनेसे दोनो पदोसे "सहयुक्तेऽप्रधाने" इस सूत्रसे तृतीया । नयन् = नयतीति, नी+लट् (शतृ) । दधौ = धा+लिट्+तिप् । इस पद्यमें "दिनेश्वर श्री" इस पदमे उपमा तथा "कविना" और "बुधेन" इन दोनों पदोमें श्लेष होनेसे दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ १७ ॥

अधोविधानात्कमलप्रवालयोः शिरःसु दानादखिलक्ष्माभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥ १८ ॥

अन्वयः—कमलप्रवालयोः अधोविधानात् अखिलक्षमाभुजां शिरःसु धानात् इदम् ऊर्ध्वं पुरा भवति इति वेधसा अस्य पदम् ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं किम् ?॥१८॥

व्याख्या—कमलप्रवालयोः = कमलपल्लवयोः, अधोविधानात् = तिरस्करणात्, अरुणतास्निग्धतामृदुत्वाऽतिशयैरिति शेषः। तथा अखिलक्षमाभुजां = सकलभूपालानां, शिरःसु = मस्तकेषु धानात् = स्थापनात्, "दानात्" इति पाठान्तरेऽपि स एवार्थः। इदं = पदम्, ऊर्ध्वम् = उपरिवर्ति, पुरा भवति = भविष्यति इति = हेतोः, वेधसा = ब्रह्मणा, अस्य = नलस्य, पद = चरणम्, ऊर्ध्वरेखया = उच्चरेखया, अङ्कित किं = चिह्नितं किम् ? ॥ १८ ॥

अनुवादः—कमल और पल्लवको तिरस्कार करनेसे और संपूर्ण राजाओंके मस्तकोंमें स्थापन करनेसे, यह चरण उच्च स्थानमे रहेगा इस हेतुसे ब्रह्माजीने इनके चरणको ऊर्ध्वरेखासे अङ्कित किया है क्या ? ऐसा मालूम पडता है ॥१८॥

टिप्पणी—कमलप्रवालयोः = कमलं च प्रवालश्च, तयोः (द्वन्द्वः)। अखिलक्षमाभुजां=क्षमां भुञ्जन्तीति क्षमाभुजः, क्षमा+भुज्+क्विप् (उपपद०)। "गौरिला कुम्भिनी क्षमा" इत्यमरः। अखिलाश्च ते क्षमाभुजः, तेषाम् (क० धा०)। धानात् = धा+ल्युट्+ङसि। पुरा भवति = भू धातुसे "पुरा" पदके योगमें "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्रसे भविष्यत् कालमें लट् ऊर्ध्वरेखया = ऊर्ध्वा चाऽसौ रेखा, तया (क० धा०)। सौन्दर्य और शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न नलका चरण है यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १८ ॥

जगज्जय तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवाञ्शैशवशेषवानयम्।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथाऽऽलिङ्गदथाऽस्य यौवनम् ॥ १९।

अन्वयः—शैशवशेषवान् अय जगज्जयं, तेन च कोशम् अक्षयं प्रणीतवान्। अयं रतीशस्य सखा ऋतुः यथा वनं, तथा यौवनम् अस्य वपुः आलिङ्गत् ॥१९॥

अथ नलस्य तारुण्योपगमं क्रमेण वर्णयति—जगज्जयमिति।

व्याख्या—शैशवशेषवान् = बाल्याऽवशेषयुक्तः, षोडषवर्षदेशीय इति भावः। अयं = नलः, जगज्जयं=लोकविजयं, प्रणीतवान् = कृतवान्,तेन च = जगज्जयेन च, कोशं = भाण्डारगृहम्, अक्षयं=क्षयरहितं, परिपूर्णमिति भावः, प्रणीतवान् = कृतवान्। अथ=अनन्तरं, शैशवाऽपगमानन्तरमिति भावः। रतीशस्य = रतिपतेः कामदेवस्येति भावः, सखा = सहचरः, मित्रमित्यर्थः। ऋतुः = वसन्तः, यथा = येन प्रकारेण, वनं = काननम्, आलिङ्गति, तथा = तेन प्रकारेण, यौवनं = तारुण्यम्, अस्य = नलस्य, वपुः = शरीरम्, आलिङ्गत् = आलिङ्गितवत्, आश्रयदित्यर्थः। नलस्य यौवनप्रादुर्भावो जात इति भावः ॥ १९ ॥

अनुवाद—बाल्यावस्थाका कुछ अवशेष रहनेपर ही नलने जगत् को जीत लिया उससे अपने कोपको अक्षय (परिपूर्ण) बना डाला। जैसे कामदेवका सहकारी (मित्र) ऋतु (वसन्त) वनको आश्रय करता है, वैसे ही बाल्यावस्थाके बीतनेपर यौवनने उनके शरीर का आश्रय लिया, अर्थात् नल युवा हो गये ॥ १९ ॥

टिप्पणी—शैशवशेषवान् = शिशोर्भाव, शैशवम् शिशु शब्दसे "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" इस सूत्रसे अण् "शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्" इत्यमरः। जगज्जय = जगतां जय, तम् (ष० त०)। प्रणीतवान् = प्र+नी+क्तवतु। कोपम् = यह उद्देश्यवाचक है। अक्षयम् = अविद्यमानः क्षयो यस्य तम् (नञ्-बहु०)। यह विधेयवाचक है। रतीशस्य = रतेः ईशः, तस्य (ष० त०)। यौवन = यूनः भावः युवन्-शब्दसे "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय और "अन्" इससे अन का प्रकृतिभाव होनेसे टिलोप नहीं हुआ। "तारुण्यं यौवनं समे।" इत्यमरः। आलिङ्गत् = आङ्+लिगि+लङ्+तिप्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १९ ॥

अथ नलशरीरवर्णनमुपक्रमते—

> अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे।
> तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥ २० ॥

अन्वय—तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अधारि। तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे क्व ? शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः तदास्यदास्ये अपि अधिकारितां न गतः ॥२०॥

व्याख्या—तदङ्घ्रिणा = नलचरणेन, पद्मेषु = कमलेषु, घृणा = जुगुप्सा अधारि = धृता, नलचरणापेक्षया कमलानां निकृष्टत्वादिति भावः। तच्छयच्छायलवः अपि = नलपाणिकान्तिलेशः अपि। पल्लवे = किसलये क्व = कुत्र, नलपाणितः कमलानां हीनत्वादिति भावः। शारदः = शरदभ्युदितः, पार्विकशर्वरीश्वरः = पूर्णिमाचन्द्रः, षोडशकलासम्पूर्ण इति भावः। तदास्यदास्ये अपि = नलमुखदासभावे अपि, अधिकारिता = योग्यता, न गतः = न प्राप्तः, शारदपूर्णचन्द्रोऽपि नलमुखतो हीन आसीदिति भावः ॥ २० ॥

अनुवाद—नलके चरणने कमलोंमें घृणा की। नलके पाणिकी कान्तिका लेश भी पल्लवमें कहाँ था ? शरत् ऋतुकी पूर्णिमाके चन्द्र उनके मुखके दास होनेके लिए भी अधिकारी (योग्य) नहीं थे ॥ २० ॥

टिप्पणी—तदङ्घ्रिणा=तस्य अङ्घ्रिः, तेन (ष० त०), 'पादः पदङ्घ्रि-

शरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। अघारि = घृ + लुङ् (कर्ममें)। तच्छयच्छायलवः = तस्य शयः तच्छयः (ष० त०) 'पञ्चशाखः शयः पाणिः" इत्यमरः। तच्छयस्य छाया तच्छयच्छायम् (ष० त०), "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इस सूत्रसे विकल्पसे नपुंसकलिङ्ग हुआ है। "छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः।" इत्यमरः। शारदः = शरदि भवः, शरद्-शब्दसे "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण्। पार्विकशर्वरीश्वरः = पर्वणि भवःपार्विकः, पर्वन्-शब्दसे "कालाट्ठञ्" इससे ठञ्। शर्वर्या ईश्वरः (ष० त०)। पार्विकश्चाऽसौ शर्वरीश्वरः (क० धा०)। तदास्यदास्ये = तस्य आस्यम् (ष० त०)। दासस्य भावो दास्यम्, दास + ष्यञ्। तदास्यस्य दास्यं, तस्मिन् (ष० त०)। अधिकारिताम् = अधिकरोतीति तच्छीलः अधिकारी, अधि + कृ + णिनिः, अधिकारिणो भावः अधिकारिता, ताम् अधिकारिन् + तल् + टाप्। इस पद्यमें नलके अङ्घ्रि आदिका कमल आदिमें घृणाका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलंकार है। उसका लक्षण है—

"सिद्धत्वेऽध्यवसायस्याऽतिशयोक्तिर्निगद्यते"। १०-६६॥

उसके पांच भेद इस प्रकार हैं

"भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ।

पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः" (६७)॥ २०॥

किमस्य लोम्नां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न लेखाभिरजीगणद् गुणान्?।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः?॥ २१॥

अन्वयः—विधिः रोम्णां कपटेन कोटिभिः लेखाभिः अस्य गुणान् किं न अजीगणत्? जगत्कृता रोमकूपौघमिषात् दूषणशून्यबिन्दवश्च किं न कृता?॥२१॥

व्याख्या—विधिः = ब्रह्मा, रोम्णां = लोम्नां, कपटेन = व्याजेन, कोटिभिः = सार्धत्रिकोटिसंख्याभिः, लेखाभिः = रेखाभिः, अस्य = नलस्य, गुणान् = शौर्यौदार्यसौन्दर्यादीन्, किं न अजीगणत् = किं न गणितवान्, अजीगणत् इति भावः। तथैव जगत्कृता = लोकसृजा, ब्रह्मणेति भावः, अस्य रोमकूपौघमिषात् = लोमकूपसमूहच्छलात्, दूषणशून्यबिन्दवः—दोषाऽभावपृषताः, किं न कृताः = किं नो विहिताः, कृता एवेति भावः, नलस्य गुणा अतिप्रचुरा दोषाणां सुतरामभाव इति भावः॥ २१॥

अनुवादः—ब्रह्माजीने रोओंके बहानेसे करोड़ों रेखाओंसे क्या नलके गुणोंको

नहीं गिना ? उसी तरह लोककी सृष्टि करनेवाले उन्होंने लोमकूपोंके बहानेसे नलके दोषोंके अभावसूचक शून्यबिन्दुओंको क्या नहीं किया ? ॥ २१ ॥

टिप्पणी—रोम्णा = "तनूरुहं रोम लोम" इत्यमरः । अजीगणत् = "गण संख्याने" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लुङ्का रूप है, "ई च गणः" इससे ईत्व हुआ है। जगत्कृता = जगत् करोतीति जगत्कृत्, तेन, जगत्+कृ+क्विप्+टा (उपपद०)। रोमकूपौघमिषात् = रोम्णां कूपाः (ष० त०), तेषामोघ (ष० त०), तस्य मिषं, तस्मात् (ष० त०)। दूषणशून्यबिन्दवः = दूषणानां शून्यानि (ष० त०) तत्सूचकाः बिन्दवः (मध्यमपदलोपी स०)। इस पद्यमें दो अपह्नुतियाँ और दो अर्थापत्तियाँ इनकी संसृष्टि है ॥ २१ ॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमुष्य दोर्भ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता गृहीता ध्रुवम् । तत्र उरःश्रिया च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता गृहीता ध्रुवम् ॥ २२ ॥

व्याख्या—अमुष्य = नलस्य, दोर्भ्यां = बाहुभ्याम्, अरिदुर्गलुण्ठने = शत्रुदुर्गमस्थलबलात्कारग्रहणे, अर्गलदीर्घपीनता = विष्कम्भायतपुष्टता, गृहीता ध्रुवम् = उपात्ता किम् ? तत्र=अरिदुर्गलुण्ठने, उरःश्रिया च= वक्षःस्थलसम्पत्त्या च; गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता = पुरद्वारप्रकाशमानकपाटादुर्धर्षता तिर्यक्प्रसरणशीलता च, गृहीता ध्रुवम् = उपात्ता किमु ॥ २२ ॥

अनुवाद—नलकी बाहुओंने शत्रुओंके किलोंका बलात्कार से ग्रहण करनेमें अर्गलाके समान लम्बाई और मुटाईको ग्रहण कर लिया है ऐसा मालूम पड़ता है। उसमें वक्षःस्थलकी शोभाने शहरके द्वारमें प्रकाशमान कपाट (किवाड़) के समान दुर्धर्षता और तिरछी विस्तृतताको ग्रहण कर लिया है ऐसा प्रतीत होता है ॥ २२ ॥

टिप्पणी—दोर्भ्यां = "भुजबाहू प्रवेष्टो दोः" इत्यमरः । अरिदुर्गलुण्ठने = दुःखेन गम्यन्ते इति दुर्गाणि, दुर्-उपसर्गपूर्वक गम् धातुसे 'सुदुरोरधिकरणे' इस सूत्रसे ड प्रत्यय । पर्वत आदि दुर्गम स्थानोंको "दुर्ग" कहते है। ऐसे दुर्गोंके छः भेद होते हैं, जैसा कि भगवान् मनुने कहा है—

"धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥" ७–७० ।

अर्थात् मरुदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग और पर्वतदुर्ग राजा इनमें

एक दुर्गका आश्रय करके नगरमें रहे। अरीणां दुर्गाणि (ष० त०)। तेषां लुण्ठनं, तस्मिन् (ष० त०)। "लुठि स्तेये" धातुसे ल्युट् प्रत्यय होकर "लुण्ठन" पद बनता है। अर्गलदीर्घपीनता = दीर्घं च तत्पीनम् (क० धा०)। तस्य भावः, दीर्घपीन + तल् + टाप्। अर्गलस्य दीर्घपीनता (ष० त०)। "तद्विष्कम्भो गलं न ना।" इत्यमरः। गृहीता = ग्रह + क्त + टाप्। ध्रुवम् = यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है। उरःश्रिया = उरसः श्रीः, तया (ष० त०)। गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता = स्फुरच्च तत्कपाटम् (क० धा०)। गोपुरे स्फुरत्कपाटम् (स० त०)। "पुरद्वारं तु गोपुरम्" इत्यमरः। दुःखेन धर्षितु शक्यं दुर्धर्षं, दुर् + धृष् + खल्। तिरःप्रसरतीति तच्छीलं तिरःप्रसारि, तिरस् + प्र + सृ + णिनि दुर्धर्षं च तत् तिरःप्रसारि (क० धा०), तस्य भावः, दुर्धर्षतिरः प्रसारिन् + तल् + टाप्। गोपुरस्फुरत्कपाटस्य दुर्धर्षतिरःप्रसारिता (ष० त०)। इस पद्यमें दो उत्प्रेक्षाओंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ २२ ॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः निजांऽशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराऽचरे ॥ २३ ॥

अन्वयः—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः निजांऽशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः तन्मुखस्य प्रतिमा अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे चराऽचरे न ॥ २३ ॥

व्याख्या—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः = आत्मक्रीडालवमन्दहास्यविजितचन्द्रस्य, निजांऽशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः = स्वभागनेत्रभर्त्सितकमलश्रियः, तन्मुखस्य = नलाननस्य, प्रतिमा = उपमा, अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे = चन्द्रपद्मजेतृरुचिरपदार्थरहिते, चराऽचरे = जङ्गमस्थावरात्मके जगति, न = न अवर्तत ॥ २३ ॥

अनुवादः—अपनी क्रीडाके लेशभूत मन्दहास्यसे चन्द्रको जीतनेवाले और अपने अंशभूत नेत्रोंसे कमलोंकी शोभाकी भर्त्सना करनेवाले नलमुखकी उपमा चन्द्र और कमलको जीतनेवाले सुन्दर पदार्थसे रहित चराऽचर (जगत्) में नहीं थी ॥ २३ ॥

टिप्पणी—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः = स्वस्य केलिः (ष० त०)। तस्याः लेशः (ष० त०)। स्वकेलिलेशश्च तत् स्मितम् (क० धा०)। "ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम्" साहित्यदर्पण-(३-२२१) की ऐसी उक्तिके अनुसार जिस हास्यमें नेत्र कुछ विकसित होते हैं और ओष्ठ हिलता है उसे "स्मित" कहते हैं। निर्जित इन्दुः येन तत् (बहु०)। स्वकेलिलेशस्मितेन

निर्जितेन्दु, तस्य (तृ० त०)। यह और आगेका दूसरा पद ये दोनो पद "तन्मुखस्य" इस पदके विशेषण हैं। निजाशदृक्तर्जितपद्मसम्पद = निजश्चासौ अश (क० धा०)। स चासौ दृक् (क० धा०)। पद्मस्य सम्पत (ष० त०) तर्जिता पद्मसपत येन (बहु०)। निजाशदृशा तर्जितपद्मसम्पत् तस्य (तृ० त०)। तन्मुखस्य=तस्य मुख, तस्य (ष० त०)। अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे = द्वौ अवयवौ यस्या सा द्वयी, द्वि शब्दसे "सख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् प्रत्यय होकर उसके स्थानमे "द्वित्रिभ्या तयस्यायज्वा" इससे अयच आदेश होकर स्त्रीत्वविवक्षामे "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् प्रत्यय। तयोद्वयी (ष० त०)। जयतीति तच्छील जित्वर, जि-धातुसे 'इण्नशजिसर्तिभ्य क्वरप्" इस सूत्रसे क्वरप्। तद्द्वय्या जित्वरम (ष० त०)। अन्यत् सुन्दर सुन्दराऽन्तरम्, "मयूरव्यसकादयश्च" इस सूत्रसे समास हुआ है। तद्द्वयीजित्वर च तत सुन्दराऽन्तरम् (क० धा०)। अविद्यमान तद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तर यस्मिन्, तस्मिन् (नञ् बहु०)। चराचरे = चराश्च अचराश्च चराऽचर, तस्मिन्, "सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति" इस परिभाषासे एकवद्भाव हुआ है। इस पद्यमे व्यतिरेक अलकार, और चन्द्र तथा पद्मकी विजयकी विशेषणगतिसे नलके मुखमे उपमाऽभावकी हेतुतास पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते" (सा० द० १०-६१)

इस प्रकार दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ २३ ॥

भङ्ग्यन्तरेण तमेवाऽर्थं पुनरप्याह—

> सरोरुह तस्य दृशैव निर्जित, जिता स्मितेनैव विधोरपि श्रिय.।
> कुत पर भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥ २४ ॥

अन्वय —तस्य दृशा एव सरोरुह तर्जितम्। (तस्य) स्मितेन म विधो अपि श्रिय जिता। (आभ्याम्) पर भव्य कुत ? अहो! तदाननस्य उपमितौ महीयसी दरिद्रता ॥ २४ ॥

व्याख्या—तस्य = नलमुखस्य, दृशा एव = नेत्रेण एव, सरोरुह = कमल, तर्जित = भर्त्सितम्। तस्य स्मितेन एव = मन्दहास्येन एव, विधो अपि = चन्द्रमस अपि, श्रिय = शोभा, जिता = निर्जिता (आभ्या = सरोरुहविधुभ्याम्) परम् = अन्यत्, भव्य =सुन्दर वस्तु, कुत =कस्मात्, उपलभ्येतेति शेष। अहो= आश्चर्यम्। तदाननस्य=नलमुखस्य, उपमितौ = तुलनाया, महीयसी= अतिमहती

दरिद्रता = वचनसम्पत्तेरभावः। कवीनामिति शेषः, सर्वथा निरुपमं नलमुखमिति भावः।। २४ ॥

अनुवाद।—नलके मुखमण्डलमें वर्तमान नेत्रने ही कमलकी भर्त्सना की और मन्दहास्यसे ही चन्द्रमाकी शोभाओंको जीत लिया। इन दोनों (कमल और चन्द्र से अन्य सुन्दर पदार्थ कहाँ है ? आश्चर्य है कि नलके मुखकी उपमामें बड़ी दरिद्रता है ।। २४ ॥

टिप्पणी--सरोरुहं = सरसि रोहतीति, सरस्–उपपदपूर्वक रुह् धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय (उपपद०)। विधोः = " विधुः सुधांऽशुः शुभ्रांऽशुः" इत्यमरः। भव्यं = भवतीति, भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा" इस सूत्र से निपातन हुआ है। कुतः = कस्मात् इति, किम् + तसिल्। तदाननस्य = तस्य आननं, तस्य (ष० त०)। महीयसी = अतिशयेन महती, महत् शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे ईयसुन् प्रत्यय और स्त्रीत्व विवक्षामें ङीप् दरिद्रता = दरिद्रस्य भावः, दरिद्र + तल् + टाप्। इस पद्यमें व्यतिरेक तथा सरोरुह और विधुके विजयरूप वाक्यार्थमें मुखकी उपमाकी दरिद्रताके हेतु होनेसे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। दोनोंकी संसृष्टि है ॥ २४ ॥

स्ववालभारस्य तदुत्तमाऽङ्गजैः समं चमर्येव तुलाऽभिलाषिणः।
अनागसे शंसति वालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

अन्वयः—चमरी एव तदुत्तमाऽङ्गजैः समं तुलाभिलाषिणः स्ववालभारस्य अनागसे पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् वालचापलं शंसति ॥ २५ ॥

व्याख्या--चमरी एव = चमरमृगी एव, तदुत्तमाऽङ्गजैः समं = नलकेशैः सह, तुलाऽभिलाषिणः = साम्यकामिनः, स्ववालभारस्य = आत्मकेशकलापस्य, अनागसे = अपराधाऽभावाय, पुनः पुनः = भूयो भूयः, पुच्छविलोलनच्छलात् = लाङ्गूलसञ्चालनव्याजात्, वालचापलं = रोमचाञ्चल्यं यद्वा, वालचापलं = शिशुचाञ्चल्यं, शंसति = सूचयति। यथा माता महापुरुषैः समं संघर्षशीलस्य स्वपुत्रस्याऽपराधाऽभावप्रतिपादनाय "एतेन मतिपूर्वकं नैतदाचरितम् वालत्वान्मूर्खत्वादेव इत्थमाचरितमि"ति कथयति तथैव चमर्यपि नलकेशैः समं साम्यं वाञ्छतो निजवालभारस्याऽपराधाऽभावप्रतिपादनार्थं पुच्छविलोलनच्छलात् इदं चापलं वालत्वेन कृतमिति सूचयतीति भावः।

अनुवादः—चमरी मृगी ही नलके केशोंके साथ बराबरीकी इच्छा करनेवाले

अपने केशकलापकी निरपराधता-प्रकाशनके लिए वार वार पूँछ हिलानेके बहानेसे रोओंकी चपलता वा यह बालकको चपलता है ऐसी सूचना करती है ॥ २५ ॥

टिप्पणी तदुत्तमाऽङ्गजं = उत्तमं च तद् अङ्गम् (क० धा०)। "उत्तमाऽङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमरः । तस्य उत्तमाऽङ्गम् (ष० त०)। तदुत्तमाऽङ्गे जाता, तं, तदुत्तमाङ्ग-उपपदपूर्वक "जनी प्रदुर्भावे" धातुसे "सप्तम्यां जनेर्डः" इससे ड प्रत्यय (उपपद०) "समम्" पदके योगमें तृतीया। तुलाऽभिलाषिण = तुलाम् अभिलषतीति तच्छील, तस्य तुला+अभि+लष्+णिनि + ङस् (उपपद०)। स्ववालभारस्य = स्वस्य वाला (प० त०), 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः ।" इत्यमरः। स्ववालानां भार, तस्य (ष० त०) अनागसे = न आगः, अनागः, तस्मै 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इससे चतुर्थी। पुच्छविलोलनच्छलात् = पुच्छस्य विलोलन (ष० त०), तस्य छल, तस्मात् (ष० त०)। बालचापल = बालानां चापलम् एव बालस्य चापलं तद् (ष० त०)। शसति = शसु स्तुतौ" धातुसे लट्। इस पद्यमें श्लेष और कैतवापह्नुति दो अलंकारोंका सङ्कर है ।२५।

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया ।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥ २६ ॥

अन्वय --तस्य महीभृत मन्मथश्रिया तं प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जगत्त्रयीभवां नतभ्रुवां द्विधा मन्मथविभ्रम अभवत् ॥ २६ ॥

व्याख्या--तस्य = पूर्वोक्तस्य, महीभृत = राज्ञ नलस्येति भाव । मन्मथश्रिया = कामसदृशशोभया तं प्रति = नलं प्रति निजस्य = स्वस्य, चित्तस्य = मनस, इच्छया च = स्पृहया च तत्र = तस्मिन् नृपे=राजनि, नले इति भाव । जगत्त्रयीभुवां = लोकत्रितयोत्पन्नाना, नतभ्रुवां = सुन्दरीणां, द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, मन्मथविभ्रम = कामभ्रान्ति, कामविलासश्च । अभवत् = अभूत् । लोकत्रितयसुन्दरीणां कामसदृशे नले अयं मन्मथ इति भ्रमो मन्मथविलासश्चाऽभवदिति भाव ॥ २८ ॥

अनुवाद --राजा नलकी कामदेवके समान शोभासे और उनके प्रति अपने चित्तकी इच्छासे उनके विषयमें तीन लोकोंमें विद्यमान स्त्रियोंमें दो प्रकारोंसे कामविभ्रम (ये कामदेव हैं ऐसी भ्रान्ति और कटाक्ष आदि कामविलास भी) हो गया ॥ २६ ॥

टिप्पणी--महीभृतः = महीं बिभर्तीति महीभृत्, तस्य मही + भृ + क्विप् + ङस् (उपपद०)। मन्मथश्रिया = मन्मथस्य श्रीः, तया (ष० त०)। तं = "प्रति" के योगमें "अभितःपरितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि" इस वार्तिकसे द्वितीया। तत्र = तस्मिन्निति तद् + त्रल्। नृपे = नॄन् पातीति नृपः तस्मिन्, नृ + पा + कः (उपपद०) जगत्त्रयीभुवां = जगतां त्रयी (ष० त०), तस्यां भवन्तीति जगत्त्रयीभुवः, तासाम्, जगत्त्रयी + भू + क्विप्। नतभ्रुवां = नते भ्रुवौ यासां ता नतभ्रुवः, तासाम् (बहु०)। द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् द्वि-शब्दसे "सङ्ख्याया विधार्थे धा" इस सूत्रसे धा प्रत्यय (अव्यय) मन्मथविभ्रमः = मन्मथस्य विभ्रमः (ष० त०)। "भ्रान्तिर्मिथ्यामतिभ्रमः" इति—

"स्त्रीणां विलासबिब्बोकविभ्रमा ललितं तथा।
हेला लीलेत्यमी भावाः क्रियाः शृङ्गारभावजाः॥"

इत्यमरः। अभवत् = भू + लङ् + तिप्। यहाँपर तीन भुवनोंका स्त्रियोंमें वैसे दो मन्मथविभ्रमोंके न होनेपर भी वैसे सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और "मन्मथविभ्रम" पदमें श्लेष अलंकार है इस प्रकारसे दो अलंकारोंकी परम्परामें निरपेक्ष स्थिति होनेसे संसृष्टि अलंकार है॥ २६॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनाऽपि लोचनैः॥ २७॥

अन्वयः--त्रिदशीभिः निमीलनभ्रंशजुषा दृशा तं भृशं निपीय यः अर्जितः। अमूः अधुना अपि निमेषनिःस्वैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते॥ २७॥

व्याख्या--त्रिदशीभिः = देवीभिः, निमीलनभ्रंशजुषा = मुद्रणनिवृत्तिसेविन्या, निमेषव्यापारशून्यया इति भावः। एतादृश्या दृशा = दृष्ट्या, तं = नलं भृशम् = अत्यर्थं, निपीय = पानं कृत्वा, प्रणयाऽतिशयेन दृष्ट्वेति भावः। यः = अभ्यासभरः, अर्जितः = उपार्जितः। अमूः = त्रिदश्यः, देव्य इत्यर्थः। अधुना अपि = इदानीम् अपि, निमेषनिःस्वैः = निमेषव्यापाररहितैः, लोचनैः = नेत्रैः, तम्=पूर्वोपार्जितम्, अभ्यासभरम्=अनुशीलनोत्कर्षं, विवृण्वते=प्रकटयन्ति। २७।

अनुवादः--देवियोंने निर्निमेष दृष्टिसे उनको देखकर जो अतिशय अभ्यासको अर्जित किया था वे लोग अभी भी निमेषरहित दृष्टियोंसे उसको अभिव्यक्त कर रही है॥ २७॥

टिप्पणी—त्रिदशीभिः = तिस्रो (बाल्यकौमारयौवनाख्या) दशा येषां ते त्रिदशाः (बहु०)। त्रिदशानां स्त्रियः त्रिदश्यः, ताभिः "पुंयोगादाख्यायाम्"

इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय वा त्रिदशजातो भवास्त्रिदश्य, ताभिः "जातेरस्त्रीविषया-दयोपधात्" इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय। निमीलनभ्रंशजुषा = निमीलनस्य भ्रंश (ष० त०), तं जुषत इति निमीलनभ्रंशजुट्, तया, निमीलभ्रंश + जुष् + क्विप् + टा (उपपद०)। निपीय = नि + पा + क्त्वा (ल्यप्)। अर्जित = "अर्ज अर्जने" धातुसे कर्ममें क्तप्रत्यय। निस्वानि स्वैः = निर्गतं स्वं (धनम्) येभ्य तानि (बहु०)। निमेषेषु निःस्वानि, तैः (स० त०)। अभ्यासभरम् = अभ्यासस्य भरः, तम् (ष० त०)। "अथाऽतिशयो भरः" इत्यमरः। विवृण्वते = वि — उपसर्गपूर्वक 'वृञ् वरणे" धातुसे लट् + झ। इस पद्यमें देवियों की नलको देखनेकी अभ्यासवासनासे निर्निमेषताकी उत्प्रेक्षा है, वह इव आदि शब्दोंका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २७ ॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाऽफलम्।

इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदाऽऽत्मनः ॥ २८ ॥

अन्वयः—चक्षुःश्रवसां प्रियाः अदः नः दृशोः द्वयं तदाकर्णि (सत्) फलाढ्य-जीवितं तदवीक्षि (सत्) अफलं च इति नले आत्मनः हृदा तत् स्तुवन्ति स्म निन्दन्ति स्म च ॥ २८ ॥

व्याख्या—चक्षुःश्रवसां=सर्पाणां, प्रियाः = वल्लभाः सर्प्य इत्यर्थः। अदः = इदं, नः = अस्माकं, दृशोः = नेत्रयोः, द्वयं = द्वितयं, दृग्द्वयमित्यर्थः। तदाकर्णि = नलश्रवणशीलं सत्, फलाढ्यजीवितं=सफलजीवितं, वर्तत इति शेषः। एवं च तदवीक्षि = नलाऽवेक्षणरहितं सत्, अफलं च = निष्फलं च, इति = अस्माद्धेतोः, नले = नैषधविषये, आत्मनः = स्वस्य, तत् = दृशोर्द्वयं, स्तुवन्ति स्म = प्रशंसन्ति स्म, नलाकर्णित्वेनेति शेषः। निन्दन्ति स्म च = जुगुप्सन्ते च नलाऽवीक्षित्वे-नेति शेषः ॥ २८ ॥

अनुवाद—सर्पोंकी स्त्रियाँ ये हमारी दो आँखें नलके गुणोंको सुनाती हैं, इसलिए इनका जीवन सफल है, नलको देखनेसे ये निष्फल भी हैं इस प्रकारसे वे (सर्पोंकी स्त्रियाँ) नलके विषयमें अपनी आँखोंकी स्तुति और निन्दा भी करती हैं ॥ २८ ॥

टिप्पणी—चक्षुःश्रवसः = चक्षुषी एव श्रवसी येषां ते चक्षुःश्रवसः, तेषाम् (बहु०), सर्पके चक्षु (नेत्र) ही कान हैं, इसलिए उन्हें "चक्षुःश्रवा" कहा गया है। परन्तु जब वे चक्षुसे देखते हैं तब सुनते नहीं, जब सुनते हैं तो देखते नहीं, इसी बातको लेकर उनकी नलके विषयमें स्तुति और निन्दाका प्रकाशन

किया गया है। "कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवा, काकोदरः फणी।" इत्यमरः। नः = अस्मद् + आम् (नस्) "वहुवचनस्य वस्नसौ" इससे नस् आदेश। द्वयं = द्वि + तयप् (अयच्)। तदाकर्णि = तम् आकर्णयतीति, तद् + अम् + आङ् + कर्ण + णिनि + सु। फलाढ्यजीवितं = फलेन आढ्यम् (तृ० त०), तादृशं जीवितं यस्य तत् (बहु०)। तदवीक्षि = वीक्षते तच्छीलं वीक्षि, वि + ईक्ष + णिनिः (उपपद०) न वीक्षि अवीक्षि (नञ्०)। तस्य अवीक्षि (ष० त०)। अफलम् = अविद्यमानं फलं यस्य तत् (नञ् बहु०)। नले = विषयमें सप्तमी। आत्मनः = आत्मन् + शस् (कर्म)। स्तुवन्ति स्म = "ष्टुञ् स्तुतौ" धातुमे "स्म" के योगमें "लट् स्मे" इससे भूतकालमें लट्। निन्दन्ति स्म = "णिदि कुत्सायाम्" धातुसे 'स्म' के योग में पहलेके समान लट्। इस पद्यमें यथासंख्य और वैसी स्तुति और निन्दाके सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति इस प्रकार इन दोनों अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ २८ ॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं नेत्रनिमीलनेष्वपि।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अजस्रभावनाबलात् नेत्रनिमीलनेषु अपि अमुं विलोकयन्तीभिः मर्त्याभिः अमुष्य दर्शने निमेषनिर्मितः विघ्नलेशः अपि न अलम्भि ॥ २९ ॥

व्याख्या—अजस्रभावनाबलात्=निरन्तरचिन्तनशक्तेः, नेत्रनिमीलनेषु अपि= नयनमुद्रणेषु अपि, अमु = नलं, विलोकयन्तीभिः = पश्यन्तीभिः, मनसेति शेषः। तादृशीभिः मर्त्याभिः = मानुषीभिः स्त्रीभिः, अमुष्य = नलस्य, दर्शने=विलोकने, निमेषनिर्मितः=नेत्रनिमीलनरचितः, विघ्नलेशः अपि=अन्तरायलवः अपि, न अलम्भि = नो लब्धः ॥ २९ ॥

अनुवादः—निरन्तर चिन्तनकी शक्तिसे आँखोंको मूँदनेपर भी नलको देखने वाली मर्त्यलोककी स्त्रियोने नलको देखनेमें निमेषसे उत्पन्न विघ्नका लेश भी नही पाया ॥ २९ ॥

टिप्पणी—अजस्रभावनाबलात्=भावनाया बलम् (ष० त०)। अजस्रं (यथा तथा) भावनाबलं, तस्मात् (सुप्सुपा०)। हेतुमे पञ्चमी। नेत्रनिमीलनेषु= नेत्रयो निमीलनानि, तेषु (ष० त०)। विलोकयन्तीभिः=वि + लोक + णिच् + लट् (शतृ) + ङीप्। मर्त्याभिः = मर्त्य शब्दके योपध होनेसे "जातेरस्त्री०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् न होकर सामान्य स्त्रीत्वमे टाप् प्रत्यय। दर्शने=दृश् + ल्युट् + ङि निमेषनिर्मितः=निमेषेण निर्मितः (तृ० त०)। विघ्नलेशः = विघ्नस्य लेशः

(ष० त०) । "विघ्नोऽन्तराय प्रत्यूह" इत्यमर । अलम्भि="डुलभष् प्राप्तौ" धातुसे कर्ममें लुङ्, "विभाषा चिण्णमुलो" इस सूत्रसे नुम् हुआ है । इस पद्यमे मनुष्य स्त्रियोकी सब अवस्थाओमे नलदर्शनका सम्बन्ध न होनेपर भी उसका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ २९ ॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं, जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ॥ ३० ॥

अन्वय —का निशि स्वप्नगतं तं न ददर्श । का च गोत्रस्खलिते तं न जगाद । का च रते तदात्मताध्यातधवा (सती) स्वमनोभवोद्भवं न चकार ॥३०॥

व्याख्या—का = स्त्री, निशि = रात्रौ, स्वप्नगतं = स्वापप्राप्तं, तं = नलं, न ददर्श = नो दृष्टवती, अपि तु सर्वा अपि ददर्शेति भाव । का च = स्त्री, गोत्रस्खलिते = नामविपर्यासे, तं = नलं, न जगाद = नो बभाषे, अपि तु सर्वा एव जगाद इति भाव । का च = स्त्री रते =सुरतकेलौ, तदात्मताध्यातधवा = नलरूपचिन्तितभर्तृका सती स्वमनोभवोद्भवं = निजचित्तकामोत्पत्तिं, न चकार =न कृतवती, अपि तु सर्वा एव चकारेति भाव ॥ ३० ॥

अनुवाद —किस स्त्रीने रातमे स्वप्नमे उन्हे नही देखा ? किस स्त्रीने नामके उच्चारणकी भ्रान्तिसे उनका नाम नहीं लिया ? किस स्त्रीने रतिक्रीडामें नलके रूपमे अपने पतिकी चिन्ता कर अपने चित्तमे कामदेवको प्रकट नही किया ।

टिप्पणी—स्वप्नगतं = स्वप्नं गत , तम् (द्वि० त०) । ददर्श = दृश्+ लिट्+तिप् । गोत्रस्खलिते = गोत्रस्य स्खलितं, तस्मिन् (ष० त०) । "गोत्र नाम्न्यचले कुले" इत्यमर । तदात्मताध्यातधवा = तस्य (नलस्य) आत्मा (स्वरूपम्) यस्य स तदात्मा (व्यधिकरण बहु०) । तदात्मनोभावस्तदात्मता, तदात्मन्+तल्+टाप् । ध्यात धव यया सा (बहु०) । "धव प्रिय पतिर्भर्ता" इत्यमर । तदात्मतया ध्यातधवा (तृ० त०) स्वमनोभवोद्भवं = स्वस्य मनोभव (ष० त०) । तस्य उद्भव , तम् (ष० त०) चकार = कृ+लिट्+ तिप् । इस पद्यमे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ३० ॥

श्रियाऽस्य योग्याऽहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृत ।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमस कृत ॥ ३१ ॥

अन्वय —भैमी विहाय कया सुरूपया तम् आलोक्य 'श्रिया अहम् अस्य योग्या' इति स्वम् ईक्षितुं करे धृत दर्पण अपदर्पया (सत्या) श्वासमलीमस न कृत ? ॥ ३१ ॥

व्याख्या—भैमीं = दमयन्तीं, विहाय = त्यक्त्वा, कया, सुरूपया = सुन्दर्या, तं = नलम्, आलोक्य, श्रिया = शोभया, अहम्, अस्य = नलस्य, योग्या = अनुरूपा, इति = एवं, विचार्येति शेषः स्वम् = आत्मानम्, ईक्षितुं = द्रष्टुं, करे = हस्ते, धृतः = गृहीतः, दर्पणः = आदर्शः, अपदर्पया = गताऽभिमानया सत्या, श्वासमलीमसः = निःश्वासमलिनः, न कृतः = नो विहितः, भैमीं विहाय सर्वया निःश्वासवातेन दर्पणो मलिनीकृत इति भावः ॥ ३१ ॥

अनुवाद:—दमयन्तीको छोड़कर किस सुन्दरीने नलको देखकर "शोभासे मैं इनके अनुरूप हूँ" ऐसा विचार कर अपने रूपको देखनेके लिए हाथमें लिये हुए दर्पणको दर्पहीन होकर निःश्वास वायुसे मलिन नहीं बनाया ? ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—भैमीं = भीमस्य अपत्यं स्त्री भैमी, ताम् भीम + अण् + ङीप् । विहाय = वि + हा + क्त्वा (ल्यप्) । सुरूपया = शोभनं रूपं यस्याः सा सुरूपा तया (बहु०) । आलोक्य = आङ् + लोक् + क्त्वा (ल्यप्) । योग्या = योगाय प्रभवतीति, योग शब्दसे "योगाद्यच्च" इति सूत्रसे यत् प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें "अजाद्यतष्टाप्" इस सूत्रसे टाप् प्रत्यय । ईक्षितुम् = ईक्ष् + तुमुन् । धृतः = धृङ् + क्तः । दर्पणः = "दर्पणे मुकुरादर्शौ" इत्यमरः । अपदर्पया = अपगतः दर्पः यस्याः सा तया (बहु०) । श्वासमलीमसः = श्वासैः मलीमसः (तृ० त०) । "मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम् ।" इत्यमरः । कृतः = कृ + क्तः (कर्ममें) । इस पद्यमें भी अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनो नलाऽवरुद्धं वयसैव वेशितः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—यथा भोगभोजिना वयसा एव उह्यमानः मदनः अनलाऽवरुद्धं वैरोचनिजस्य पत्तनं प्रसह्य वेशितः खलु । तथा भोगभोजिना वयसा एव उह्यमानः मदनः नलाऽवरुद्धं विदर्भजाया मनः प्रसह्य वेशितः खलु ॥ ३२ ॥

"आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः" इति नियमेन नले भैम्याः पूर्वरागं प्रस्तौति —यथेति ।

व्याख्या—यथा = येन प्रकारेण, भोगभोजिना = सर्पशरीरभोक्त्रा, वयसा एव = पक्षिणा एव, गरुडेनेत्यर्थः । उह्यमानः = प्राप्यमाणः, मदनः = कामः प्रद्युम्न इत्यर्थः । अनलाऽवरुद्धम् = अग्निपरिवृतं, वैरोचनिजस्य = बाणासुरस्य, पत्तनं = नगरं, शोणितपुरमिति भावः । प्रसह्य = बलेन, वेशितः = प्रवेशितः,

खलु = निश्चयेन । तथा=तेन प्रकारेण, भोगभोजिना = सुखाऽनुभाविना, वयसा एव = अवस्थया एव, तारुण्येन एवेत्यर्थ =ऊह्यमान । वितर्क्यमाण , मदन = काम , नलाऽवरुद्ध, नैषधसम्बद्ध, विदर्भजाया = वैदर्भ्या , दमयन्त्या इति भाव । मन = चित्त, प्रसह्य = बलेन । वेशित = प्रवेशित , खलु = निश्चयेन । नलस्य गुणगणश्रवणोत्तर दमयन्त्या मनसि यौवनेनैव नलविषयक कामावेश प्रापित इति भाव ॥ ३२ ॥

अनुवादः—जैसे सर्पके शरीरको खानेवाले पक्षी गरुडने ही अग्निसे परिवेष्टित बाणाऽसुरके नगर (शोणितपुर) मे प्रद्युम्न (कामदेव) को बलसे प्रवेश कराया वैसे ही सुखका अनुभव करनेवाली अवस्था (जवानी) मे ही सखीजनो से तर्कित कामदेवको नलकी चिन्ता करनेवाली दमयन्तीके मनमें बलसे प्रवेश कराया ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—इस पद्यमे "आदौ वाच्य स्त्रिया राग पुस पश्चात्तदिङ्गितै ।" अलङ्कारशास्त्रके इस नियमके अनुसार नलमे दमयन्तीके पूर्वरागको पहले प्रस्तुत किया है । भोगभोजिना = भोगम् (सर्पशरीरम्) भुनक्तीति भोगभोजी, तेन, भोग + भुज् + णिनि (उपपद०) । "अहे शरीर भोग स्यात्" इति "भोग सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययो ।" इति चाऽमर । वयसा = "खगबाल्यादिनोर्वय " इत्यमर । ऊह्यमान = ऊह्यत इति, 'वह प्रापणे" धातुसे कर्ममे लट् (शानच्) । अनलाऽवरुद्धम् = अनलेन अवरुद्धम्, तत् (तृ० त०) । वैरोचनिजस्य = विरोचनस्य (प्रह्लादपुत्रस्य) अपत्य पुमान् वैरोचनि (बलि), विरोचन + इञ् । वैरोचने जात वैरोचनिज , तस्य । "पञ्चम्यामजातौ" इस सूत्रसे वैरोचनि = उपपदपूर्वक जन् धातुसे ड प्रत्यय (उपपद०) । पत्तन = "पू स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तन पुटभेदनम् ।" इत्यमर । यह कर्म है । प्रसह्य = प्र + सह् + क्त्वा (ल्यप्) । वेशित = विश् + णिच् + क्त । ऊह्यमान = ऊह्यत इति, "ऊह् वितर्के" इस धातुसे कर्ममे लट (शानच्) । नलाऽवरुद्ध = नलेन अवरुद्ध तत् (तृ० त०) । विदर्भजाया = विदर्भेषु जायत इति विदर्भजा, तस्या, विदर्भ + जन् + ड + टाप् + ङस् । (उपपद०) । इस पद्यमे "वयोह्यमान" "मनोनल ०" यहाँपर शब्दश्लेष और अन्यत्र "भोगभोजिना" "वयसा" यहाँपर अर्थश्लेष है । श्लिष्ट विशेषणवाली यह उपमा वयोरूप द्वयक दो पदोंका अभेदाऽध्यवसायमूलक अतिशयोक्तिसे अनुप्राणित है अत सङ्कर अलङ्कार है ।

पौराणिक कथा—उषाकी सखी चित्रलेखाने बाणाऽसुरकी कुमारी उषासे स्वप्नमें देखे गये अनिरुद्धको योगबलसे लाकर उषासे समागम कराया। बाणाऽसुरने यह वृत्तान्त जानकर अनिरुद्धको बन्दी बनाया। नारदसे इस बातको जानकर कृष्ण, बलराम और प्रद्युम्नने गरुडपर सवार होकर शोणितपुरमें प्रवेश कर बाणाऽसुरको संग्राममें जीतकर अनिरुद्धको छुड़ाया—यह कथा श्रीमद्भागवत महापुराणमें है ॥ ३२ ॥

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन्बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—सा भीमनरेन्द्रनन्दना निजरूपसम्पदाम् अनुरूपे तस्मिन् नृपे बहुशः श्रुतिगते विशिष्य मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः दिदेश ॥ ३३ ॥

सम्प्रति दमयन्त्याश्चित्तासङ्गाख्यां द्वितीयावस्थां प्रतिपादयति - नृप इति।

व्याख्या—सा = पूर्वोक्ता, भीमनरेन्द्रनन्दना = भीमभूपतनया, दमयन्तीत्यर्थः, निजरूपसम्पदां=स्वसौन्दर्यसम्पत्तीनाम्, अनुरूपे=योग्ये, तस्मिन् = पूर्वोक्ते, नृपे= राजनि, नल इत्यर्थः। बहुशः = अनेकवारं, श्रुतिं = श्रवणगोचरं, गते = प्राप्ते सति। विशिष्य = अतिशयेन, मनोभवाज्ञैकवशंवदं = कामदेवादेशैकाधीनं, मनः = चित्तं, दिदेश = अर्पितवती, नलं प्रति चित्तं निदधाविति भावः ॥ ३३ ॥

अनुवाद—दमयन्तीने अपनी रूपसम्पत्तियोंके योग्य नलके बारम्बार कर्णगोचर होनेपर विशेषतया कामदेवकी आज्ञाके एकमात्र अधीन अपने मनको उनमें लगाया ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—भीमनरेन्द्रनन्दना = नन्दयतीति नन्दना, "टुनदि समृद्धौ" धातुसे णिच् होकर "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" इस सूत्रसे ल्यु (अन) प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें टाप्। भीमश्चाऽसौ नरेन्द्रः (क० धा०)। भीमनरेन्द्रस्य नन्दना (ष० त०)। निजरूपसम्पदां = रूपं च सम्पदश्च (द्वन्द्वः)। निजाश्च ता रूपसम्पदः तासाम् (क० धा०)। अनुरूपे = रूपस्य योग्यम् अनुरूपम् "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे योग्यता-रूप यथाके अर्थमें समास होकर, अनुरूपम् अस्याऽस्ति इति "अर्शआदिभ्योऽच्" इससे अच् प्रत्यय। नृपे = नॄन् पातीति नृपः, तस्मिन्, नृ + पा + कः (उपपद०)। बहुशः = बहून् वारान्, बहु शब्दसे "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" इस सूत्रसे शस् प्रत्यय। यह पद अव्यय है। विशिष्य = वि—उपसर्गपूर्वक "शिष्लृ विशेषणे" धातुसे क्त्वाके स्थानमें ल्यप् आदेश। मनोभवाज्ञैकवशंवदं = मनोभवस्य आज्ञा (ष० त०)। वशं वदतीति

वशंवद वश-उपपद पूर्वक वद धातुसे "प्रियवशे वदः खच्" इससे खच् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इस सूत्रसे मुम् आगम हुआ है (उपपद०)। एकं च तद् वशंवदम् (क० धा०)। मनोभवाज्ञाया एकवशंवद, तत् (ष० त०)। इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे छेकाऽनुप्रास और वृत्त्यनुप्रासका एक आश्रयमे अनुप्रवेशरूप सङ्कर अलङ्कार है ॥ १३ ॥

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने साऽवसरेषु वन्दिनाम् ।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाऽजनि शृण्वती नलम् ॥ १४ ॥

अन्वय – सा दिने दिने वन्दिनाम् अवसरेषु पितुः उपासनाम् एत्य रज्यते स्म । तेषु भूपतीन् प्रति पठत्सु नलं शृण्वती अलं विनिद्ररोमा अजनि ॥ १४ ॥

अथ दमयन्त्याः श्रवणाऽनुरागं श्लोकचतुष्टयेन प्रतिपादयति–उपासनामिति ।

व्याख्या—सा = दमयन्ती, दिने दिने = प्रतिदिनम्, वन्दिनां = स्तुतिपाठकानाम्, अवसरेषु = प्रसङ्गेषु स्तुतिपाठस्येति शेषः । पितुः = जनकस्य, भीमभूपालस्येति भावः, उपासनां = सेवाम्, एत्य = प्राप्य, रज्यते स्म = अनुरक्ता बभूव । तेषु = वन्दिषु, भूपतीन् = राज्ञः, प्रति पठत्सु = वदत्सु, स्तुतिकर्मत्वेनेति शेषः । नलं = नैषधं, शृण्वती = आकर्णयन्ती सती, अलम् = अत्यर्थं, विनिद्ररोमा = रोमाञ्चयुक्ता, अजनि = जाता, दमयन्ती नलगुणाकर्णनाऽनन्तरं साऽतिशयं सञ्जातपुलकाऽभूदिति भावः । एतेन भैम्या वन्दिमुखेभ्यो नायकगुणगणाकर्णनं वर्णितम् ।

अनुवाद —दमयन्ती प्रतिदिन स्तुतिपाठकोंके स्तुतिपाठके अवसरोंमे पिताकी सेवाके लिए उपस्थित होकर नलके प्रति अनुरक्त होती थी, जब वे राजाओंका स्तुतिपाठ करते थे उस समय नलके गुणोंको सुननेपर दमयन्ती अतिशय रोमाञ्चयुक्त हो जाती थी ॥ १४ ॥

टिप्पणी —दिने दिने = वीप्सामें द्विरुक्ति । वन्दिना = वन्दन्ते (स्तुवन्ति) इति वन्दिनः, तेषां "वदि अभिवादनस्तुत्योः" इस धातुसे ग्रह्यादिगणमे पठित होनेसे णिनि । "वन्दिनः स्तुतिपाठकाः" इत्यमरः । अवसरेषु = "प्रसङ्गः स्यादवसरः" इत्यमरः । उपासनाम् = उपासनम् उपासना, ताम् उप उपसर्गपूर्वक "आस्" धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इससे युच और टाप । एत्य = आङ् + इण + क्त्वा (ल्यप्) रज्यते स्म = "रञ्ज रागे" धातुसे लट्, "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" इस सूत्रसे नकारका लोप । 'स्म' का योग होनेसे "लट् स्मे" इस सूत्रसे भूतार्थमें लट । भूपतीन् = भुवः पतयः, तान् (ष० त०)। "प्रति" के

योगमें "अभितः-परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि" इससे द्वितीया। पठत्सु = पठन्तीति पठन्तः, तेषु, पठ+लट् (शतृ)+सुप्। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इससे सप्तमी। शृण्वती = शृणोतीति, श्रु+लट् (शतृ)+ङीप्। अलं = "अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्।" इत्यमरः। विनिद्ररोमा = विगता निद्रा येभ्यस्तानि विनिद्राणि (बहु०)। विनिद्राणि रोमाणि यस्याः सा (बहु०)। अजनि = "जनी प्रादुर्भावे" धातुसे लुङ् "दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्" इससे 'च्लि' के स्थानमे चिण्। "जनिवध्योश्च" इससे वृद्धिका निषेध। इस पद्यमें विनिद्ररोमत्व (रोमाञ्च)-रूप सात्त्विक भावके उदयसे भावोदय अलङ्कार है॥ ३४॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथः सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयताऽनया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया॥ ३५॥

अन्वयः—तन्व्या अनया मिथः कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखात् नलनामनि तृणे अपि श्रुते द्रुतम् अन्यत् विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया अभूयत। ३५॥

व्याख्या—तन्व्या = कृशशरीरया, अनया = दमयन्त्या, मिथः = रहसि परस्परं वा, कथाप्रसङ्गेषु = वार्तालापाऽवसरेषु, सखीमुखात् = वयस्याऽऽननात्, नलनामनि = नलनामधेये, तृणे अपि = अर्जुने अपि, श्रुते = आकर्णिते, द्रुतं = शीघ्रम्, अन्यत्=अपरं, कार्यं कथान्तरं वा, विधूय = परित्यज्य, मुदा = हर्षेण, तदाकर्णनसज्जकर्णया = नलश्रवणतत्परश्रोत्रया, अभूयत् = भूतम्॥ ३५॥

अनुवादः—कृश शरीरवाली दमयन्तीने परस्परमें वार्तालापके अवसरोंमें सखीके मुखसे "नल" नामवाले तृण (खश-खश) के सुननेपर भी झटपट सब काम छोड़कर हर्षसे नलके श्रवणमे कर्णोंको तत्पर बनाया॥ ३५॥

टिप्पणी—तन्व्या = "तनु" शब्दसे "वोतो गुणवचनात्" इस सूत्रसे विकल्पसे ङीप्। कथाप्रसङ्गेषु=कथायाः प्रसङ्गाः, तेषु (ष० त०)। सखीमुखात् = सख्या मुखं, तस्मात् (ष० त०)। नलनामनि = नलं नाम यस्य तत् नलनाम, तस्मिन् (बहु०) "नलः पोटगले राज्ञि" इति विश्वः। तृणे = "तृणमर्जुनम्" इत्यमरः। श्रुते = श्रु+क्त+ङि। द्रुतं = "लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्" इत्यमरः। अनयत् = "अन्य" शब्दसे अम्में "अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः" इस सूत्रसे अद्ड् आदेश। विधूय = वि+धू+क्त्वा (ल्यप्)। तदाकर्णनसज्जकर्णया = तस्य आकर्णनम् (ष० त०)। सज्जौ कर्णौ यस्याः सा सज्जकर्णा (बहु०)। तदाकर्णने सज्जकर्णा, तया (स० त०)। अभूयत = "भू सत्तायाम्" धातुसे

भावमे लट् "सार्वधातुके यक्" इससे यक । इस पद्यमे औत्सुक्य और हृष ये दो व्यभिचारिभाव नलविषयक रति भावके अङ्ग हुए हैं, इस कारणसे भावसन्धि अलकार है ॥ ३५ ॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।
जनेन यून स्तुवता तदास्पदे निदर्शन नैषधमभ्यषेचयत् ॥ ३६ ॥

अन्वय —"परासो अनिमेषलोचनात् स्मरात् बिभेमि, तद्भिन्नम् उदाहर" इति सा यून स्तुवता जनेन तदास्पदे निदर्शन नैषधम् अभ्यषेचयत् ॥ ३६ ॥

व्याख्या— परासो =मृतात्, अत एव अनिमेषलोचनात्=निमेषरहितनेत्रात्, देवाश्चेति गम्यते, स्मरात् = कामात्, बिभेमि = भीता भवामि, अत: तद्भिन्न= स्मरभिन्न जनम्, उदाहर=वद, इति = इत्थ, सा = दमयन्ती, यून: = तरुणान् जनान्, स्तुवता=प्रशसता, जनेन=सखीजनेन, तदास्पदे=स्मरस्थाने, निदर्शन= दृष्टान्तभूत, नैषध = नलम्, अभ्यषेचयत् = अभिषेचितवती, दमयन्ती स्मर- स्थाने परमसुन्दरनरत्वेन नल स्थापयामासेति भाव ॥ ३६ ॥

अनुवाद —"मरे हुए अत एव निमेषहीन नेत्रोंवाले कामदेवसे मैं डर जाती हूँ, इसलिए कामदेवसे भिन्न पुरुषका उदाहरण दो" ऐसा कहकर दमयन्तीने सुन्दर तरुणोकी तारीफ करनेवाली सखीके द्वारा कामदेवके स्थानमे दृष्टान्तभूत नलको स्थापित किया ।। ३ ॥

टिप्पणी—परासो =परागता असवो यस्मात्स परासु , तस्मात् (बहु०)। अनिमेषलोचनात्=अविद्यमानो निमेषो ययोस्ते अनिमेषे (नञ् बहु०)। अनिमेषे लोचने यस्य, तस्मात् (बहु०) । स्मरात्="काम• पञ्चशर स्मर" इत्यमर । "भीत्रार्थाना भयहेतु" इससे अपादान सज्ञा होनेसे पञ्चमी । बिभेमि = "ञिभी भये" इस धातुसे लट्+मिप् । तद्भिन्न = तस्मात् भिन्न , तत् (प० त०)। उदाहर = उद्+आङ्-उपसर्गपूर्वक "हृञ् हरणे" धातुसे लोट+सिप् । यून: = युवन्+शस्, 'श्वयुवमघोनामतद्धिते" इस सूत्रसे सम्प्रसारण, 'वय स्यस्तरुणो युवा" इत्यमर । स्तुवता=स्तौति इति स्तुवन्, तेन "ष्टुञ् स्तुतौ" इस धातुसे लटके स्थानमे शतृ+टा । तदास्पदे=तस्य आस्पद, तस्मिन् (प० त०)। "आस्पदम्" इसमे 'आस्पद प्रतिष्ठायाम्" इस सूत्रसे सुट्का निपातन । निदर्शन= नि+दृश्+ल्युट । नैषध = निषधानामय नैषध , तम् 'तस्यदम्" इससे अण् प्रत्यय और 'तद्धितेष्वचामादे" इससे आदि वृद्धि । यहाँपर निषधाना राजा ऐसा विग्रह करेंगे तो ॥ आदिमे होनेसे ' जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्" इस सूत्रको बाधित

कर 'कुरुनादिभ्यो ण्यः" इससे ण्य प्रत्यय होकर "नैषध्यः" ऐसा रूप बनेगा। अभ्यषेचयत्=अभि-उपसर्गपूर्वक णिजन्त "षिच क्षरणे" धातुसे लङ् + तिप् "प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि" इससे षत्व हुआ है। इस पद्यमें अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ३६ ॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान्मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः।
निपीय तत्कीर्तिकथामयाऽनया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अनया निषधागता दूतद्विजवन्दिचारणाः मिषेण नलस्य गुणान् पृष्टाः अथ तत्कीर्तिकथां निपीय चिराय विमनायमानया तस्थे ॥ ३७ ॥

व्याख्या—अनया = दमयन्त्या, निषधागता = निषधेभ्यः आयाताः, दूतद्विजवन्दिचारणाः = सन्देशहरब्राह्मणस्तुतिपाठकनटाः, मिषेण = व्याजेन, नलस्य = नैषध्यस्य, गुणान् = सौन्दर्यशौर्यादीन्, पृष्टाः = अनुयुक्ताः, अथ = अनन्तरं, तत्कीर्तिकथां = नलयशोवर्णनं, निपीय = पानं कृत्वा, प्रणयाऽतिशयेन श्रुत्वेति भावः। चिराय = बहुकालपर्यन्तं, विमनायमानया = अन्तर्मनायमानया सत्या, तस्थे = स्थितम् ॥ ३७ ॥

अनुवादः—दमयन्तीने निषध देशसे आये हुए दूत, ब्राह्मण, स्तुतिपाठक और नटोंसे किसी बहानेसे नलके गुणोंको पूछा, तब नलकी कीर्ति-कथाका पान कर वे बहुत समयतक अनमनी-सी हो जाती थी ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—अनया = अनुक्त कर्तरि तृतीया। निषधागता = निषधेभ्य आगताः (प० त०)। दूतद्विजवन्दिचारणाः = दूताश्च द्विजाश्च वन्दिनश्चचारणाश्च (द्वन्द्वः)। यह गौणकर्म है "स्यात्सन्देशहरो दूतः" इति "भरता इत्यपि नटाश्चारणाश्च कुशीलवाः।" इत्यप्यमरः। पृष्टाः = प्रच्छ् + क्तः। कर्ममें क्त प्रत्यय। तत्कीर्तिकथां = तस्य कीर्तिः (ष० त०), तस्याः कथा, ताम् (ष० त०)। निपीय = नि + पा + क्त्वा (ल्यप्)। चिराय = "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः।" इत्यमरः। यह अव्यय है। विमनायमानया = विगतं मनो यस्याः सा (बहु०) "दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्यात्" इत्यमरः। विमना इव आचरतीति विमनायमाना, तया। विमनस् शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय 'स' का लोप, "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" इससे दीर्घत्व और ङित् होनेसे "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" इससे आत्मनेपद होकर लट्के स्थानमें शानच् + टाप् + टा। तस्थे = स्था धातुसे भावमें लिट्। इस पद्यमें चिन्ता नामक व्यभिचारि भावका उदय होनेसे भावोदय अलङ्कार है ॥ ३७ ॥

प्रिय प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियो लिखाऽधिलीलागृहभित्ति कावपि ।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥ ३८ ॥

अन्वय.—"अधिलीलागृहभित्ति कौ अपि त्रिजगज्जयिश्रियो प्रियं प्रियां च लिख" इति सा कारुतरेण लेखितं नलस्य स्वस्य च सख्यम् ईक्षते स्म ॥ ३८ ॥

अथ दमयन्त्या कान्तप्रतिकृतिदर्शनरूपं विनोदोपायमुपस्थापयति-प्रियमिति।

व्याख्या—अधिलीलागृहभित्ति = विलासभवनकुड्ये, कौ अपि = कौ चिद्, अनिर्दिष्टनामधेयो, त्रिजगज्जयिश्रियौ = लोकत्रयविजयिशोभौ, प्रियं = नायकं, प्रियां = नायिकां च, लिख = चित्रीकुरु, इति = इत्थम्, आदिश्येति शेषः । सा= दमयन्ती, कारुतरेण = कुशलचित्रकरेण, लेखितं = चित्रितं, नलस्य = नैषधस्य स्वस्य च = आत्मनश्च, सख्यं = सखित्वं, चित्ररूपे सहस्थितिमिति भावः । ईक्षते स्म = अद्राक्षीत् ॥ ३८ ॥

अनुवाद—"विलास भवनकी दीवारपर तीन लोकोंको जीतनेवाली शोभा- वाले किन्हीं नायिका और नायकको लिखो" इस प्रकार आज्ञा देकर दमयन्ती कुशल चित्रकारसे लिखे गये चित्रमें नल और अपनी सहस्थितिको देखती थी ।

टिप्पणी—अधिलीलागृहभित्ति = लीलाया गृहं (ष० त०), तस्य भित्तिः (ष० त०) "भित्तिः स्त्री कुड्यम्" इत्यमरः । लीलागृहभित्तौ इति अधिलीला- गृहभित्ति, "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव० । कौ = का च कश्च कौ, तौ, "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष । त्रिजगज्जयिश्रियौ= त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत्, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे समास, उसकी "संख्यापूर्वो द्विगुः" इस सूत्रसे द्विगुसंज्ञा । त्रिजगद् जयतीति तच्छीला त्रिजगज्जयिनी, त्रिजगत् उपपदपूर्वक "जि जये" धातुसे "जिदृक्षिवि- श्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय । त्रिजगज्जयिनी श्रीर्ययोस्तौ, तौ (बहु०) । प्रियं = प्रीणातीति प्रियः, तं, "प्रीञ् तर्पणे" धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय । लिख = "लिख अक्षरविन्यासे" धातुसे विधि अथवा लोट्+सिप् । कारुतरेण = करोतीति कारुः, कृ धातुसे "कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्" इस उणादिसूत्रसे उण् प्रत्यय, "कारुः शिल्पी" इत्यमरः । अतिशयेन कारुः कारुतरः (तरप् प्रत्यय) तेन, लेखितं, लिख+ णिच्+क्त । सख्यं = सख्युर्भावः, तत् "सख्युर्यः इस सूत्रसे सखि शब्दसे य प्रत्यय । ईक्षते स्म = ईक्ष + लट्+त, "स्मे लट्" इस सूत्रसे 'स्म'के योगमें भूत अर्थमें लट् ॥ ३८ ॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति ?
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनाऽतिथिम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—स्वपती सा मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं क्व निशि न पश्यति स्म ? सुप्तिः अदृष्टवैभवात् अदृष्टम् अपि अर्थं जनदर्शनाऽतिथिं करोति ॥ ३९ ॥

व्याख्या—स्वपती = निद्राती, सा = दमयन्ती, मनोरथेन = अभिलाषेण, स्वपतीकृतम् = निजनाथीकृतं, नलं = नैषधं, क्व = कुत्र, निशि = रात्रौ, न पश्यति स्म = नो दृष्टवती, सर्वस्यां रात्रावपि ददर्शेति भावः। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति। सुप्तिः = स्वप्नः, अदृष्टवैभवात् = धर्माऽधर्मप्रभावात् अदृष्टम् अपि = अविलोकितम् अपि, अर्थं = पदार्थं, जनदर्शनाऽतिथिं = लोकविलोकनगोचरं, करोति = विदधाति, स्वप्नरूपेण दर्शयतीति भावः ॥ ३९ ॥

अनुवादः—सोती हुई वे (दमयन्ती) अभिलाषसे अपने पति बनाये गये नलको किस रातमें नहीं देखती थीं। स्वप्न धर्म और अधर्मके प्रभावसे नहीं देखे गये पदार्थको भी जनोंका दर्शनगोचर बनाता है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—स्वपति = "ञि ष्वप शये" धातुसे लट्के स्थानमें शतृ आदेश और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप्। स्वपतीकृतं = स्वस्य पतिः (ष० त०)। अस्वपतिः स्वपतिर्यथासपद्यते तथा कृतः स्वपतीकृतः, तम्। स्वपति+च्वि+कृ+क्तः। क्व कस्यामिति, "किमोऽत्" इस सूत्रसे "किम्" शब्दसे अत् और "क्वाऽति" इससे 'किम्'के स्थानमें क्व आदेश। पश्यति स्म = दृश (पश्य)+लट्+तिप्, 'स्म' के योगमें भूतकालमें लट्। सुप्तिः = स्वप्नं, "ञिष्वप शये" धातुसे "स्त्रियां क्तिन्" इससे क्तिन् और सम्प्रसारण अदृष्टवैभवात् = न दृष्टम् अदृष्टम् (नञ०) धर्म और अधर्म। अदृष्टस्य वैभवं, तस्मात् (ष० त०)। अदृष्टं = न दृष्टः, तम् (नञ्०)। अर्थम् = "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु।" इत्यमरः। जनदर्शनाऽतिथिं = जनानां दर्शनम् (ष० त०), तस्य अतिथिः, तम् (ष० त०)। करोति = कृ+लट्+तिप्। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाऽप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः ॥ ४० ॥

अन्वयः निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् हृदः अपि संगोप्य कदाऽपि अवीक्षितः अस्या महत् रहस्यं स महीपतिः अदर्शि ॥ ४० ॥

व्याख्या—निद्रया = स्वापेन, निमीलितात् = मुद्रितात्, अक्षियुगात्=नेत्र-

युगलात्, बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बहिरिन्द्रियाऽव्यापारनिमीलितात्, हृद अपि = मनस अपि, सगोप्य=सम्यग् गोपयित्वा, कदाऽपि = कस्मिन्नपि काले, अवीक्षित = अदृष्ट, अस्या = दमयन्त्या, महत् = महत्वपूर्णं, रहस्य = गोपनीय वस्तु, स = पूर्वोक्त, महीपति = राजा नल इत्यर्थ । अदर्शि = दर्शित ॥४०॥

अनुवाद--नींदसे मूँदे गये दो नेत्रसे बाह्य इन्द्रियके व्यापारभावसे निष्क्रिय अन्त करण (मन) से भी छिपाकर कभी भी नही देखे गये इन (दमयन्ती) के अत्यन्त गोपनीय महाराज नलको निद्राने दमयन्तीको दिखाया ॥४०॥

टिप्पणी--निमीलितात् = नि + मील + क्त (कर्ममे)। अक्षियुगात् = अक्ष्णो युग, तस्मात् (ष० त०)। बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बहिर्भवानि बाह्यानि, बहिस् शब्दसे "बहिषष्टिलोपो यञ्च" इस सूत्रसे यञ् प्रत्यय और 'टि' (इस्) का लोप हुआ है। बाह्यानि च तानि इन्द्रियाणि (क० धा०)। मुनेर्भावो मौनम्, 'मुनि' शब्दसे "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय। बाह्येन्द्रियाणा मौनम् (ष० त०), तेन मुद्रित, तस्मात् (तृ० त०)। हृद = "चित्त तु चेतो हृदय स्वान्त हृन्मानस मन ।" इत्यमर। सगोप्य = सम्-उपसर्गपूर्वक "गुपू रक्षणे" धातुमे 'क्त्वा' के स्थानमे ल्यप्। अवीक्षित = न वीक्षित (नञ्०)। रहस्य = रहसि भव, रहस् शब्दसे "तत्र भव" इस सूत्रसे यत्। महीपति = मह्या पति (ष० त०)। अदर्शि = दृश् + णिच् + लुङ् ॥ ४० ॥

अहो ! अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यभिप्रपेदे प्रति ता स्मरार्दिताम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसा भरा विभावरीभिर्बिभराम्बभूविरे ॥ ४१ ॥

अन्वय --अहो ! स्मरार्दिता ता प्रति हिमागमे अपि अहोभि महिमा अभिप्रपेदे, तपर्तुपूर्तौ अपि विभावरीभि मेदसा भरा बिभराम्बभूविरे ॥ ४१ ॥

व्याख्या --अहो = आश्चर्यम्, स्मरार्दिता = कामपीडिता, ता प्रति=दमयन्ती प्रति, हिमागमे अपि। हेमन्ते अपि = अहोभि = दिनै, महिमा=महत्त्व, दैर्घ्यमिति भाव। अभिप्रपेदे = अतिशयेन प्राप्त, तपर्तुपूर्तौ अपि = ग्रीष्मर्तुपूरणे अपि, विभावरीभि = रात्रिभि, मेदसा = वसाना, भरा = अतिशया, दैर्घ्यरूपा इति भाव। बिभराम्बभूविरे = धृता। हेमन्ते दिनानि ह्रस्वानि, ग्रीष्मे रात्रयो ह्रस्वा भवन्ति पर नलवियोगपीडिताया दमयन्त्या कृते हेमन्ते दिनानि दीर्घाणि, ग्रीष्मर्तौ रात्रयो दीर्घरूपा प्रतीयन्ते स्मेति भाव ॥ ४१ ॥

अनुवाद --आश्चर्य है ! कामदेवसे पीडित दमयन्तीके लिए हेमन्त ऋतुमे

भी दिन लम्बेसे प्रतीत होते थे, ग्रीष्म ऋतुमे भी रात्रियोंसे दीर्घताका धारण किया जाता था ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—अहो="अहो हीति विस्मये" इत्यमरः। ओकाराऽन्त निपात है, इसलिए "अहो अहोभिः" यहांपर "ओत्" इस सूत्रसे 'अहो' पदको प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव होनेसे पूर्वरूप नही हुआ। स्मरार्दितां = स्मरेण अर्दिता, ताम् (तृ० त०)। तां = "प्रति" इस पदके योगमें "अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि" इससे द्वितीया हुई है। हिमाऽऽगमे = हिमस्य आगमः, तस्मिन् (प० त०)। अहोभिः = "घस्रो दिनाऽह्नी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ।" इत्यमरः। महिमा = महतः भावः, महत्-शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय, यह पुलिङ्गी शब्द है। अतिप्रपेदे = अति + प्र + पद + लिट् + त (कर्ममें)। तपर्तुपूर्तौ = तपश्चाऽसौ ऋतुः तपर्तुः (क० धा०), "आद्गुणः" इससे "उरण् रपरः" इसके सहकारमें अर् गुण। "निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमस्तपः।" इत्यमरः। तपर्तोः पूर्तिः, तस्याम् (ष० त०)। विभावरीभिः="विभावरीतमस्विन्यौ रजनी यामिनी तमी।" इत्यमरः। मेदसां = "मेदस्तु वपा वसा" इत्यमरः। "मेद" पदसे चरवीका बोध होता है। विभरांम्बभूविरे = "डुभृञ् धारणपोषणयोः" इस धातुसे कर्ममें लिट् + झ, "भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च" इससे श्लुवद्भाव होनेसे द्वित्व हुआ है। इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमे दो विरोधाभास है, निरपेक्षतासे उनकी स्थिति होनेसे संसृष्टि अलंकार है। इस पद्यसे दमयन्तीकी निरन्तर चिन्ता और रातमें जागरण प्रतीत होता है ॥ ४१ ॥

साम्प्रतं नलस्यापि दमयन्त्यामनुरागं सूचयति—

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद् गुणोत्करम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—नलः अपि कदाचित् लोकात् स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः अन्तर्घटनागुणश्रियं श्रयन्तं युवधैर्यलोपिनम् अस्या गुणोत्करम् अशृणोत ॥ ४२ ॥

व्याख्या—नलः अपि = नैषधः अपि, कदाचित् = जातुचित्, लोकात = जनात्, स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = आत्मसौन्दर्ययशःसमूहमुक्तामालायाः, अन्तर्घटनागुणश्रियम् = अभ्यन्तरगुम्फनसूत्रशोभां, श्रयन्तम् = आश्रयन्तं, युवधैर्यलोपिनं = तरुणधीरत्वनाशकम्, अस्याः = दमयन्त्याः, गुणोत्करं = सौन्दर्यसौशील्यादिगुणसमूहम्, अशृणोत् = श्रुतवान् ॥ ४२ ॥

अनुवाद—नलने भी किसी समय लोगोंसे अपने सौन्दर्यके यशःसमूहरूप हारके भीतर गुम्फनके लिए सूत्रकी शोभा करनेवाले और युवकोंके धैर्यको हटानेवाले दमयन्तीके गुणगणको सुना ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—लोकात् = हेतुमें पञ्चमी 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमर । स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = स्वस्य कान्तिः (ष० त०) कीर्तीनां व्रजः (ष० त०) । स्वकान्तेः कीर्तिव्रजः (ष० त०) । मौक्तिकानां स्रक् (ष० त०) । स्वकान्तिकीर्तिव्रज एव मौक्तिकस्रक् (रूपक०), तस्याः । अन्तर्घटनागुणश्रियम् = अन्तः घटना (सुप्सुपा०) । अन्तर्घटनायाः गुणः (ष० त०), तस्य श्रीः, ताम् (ष० त०) । श्रयन्तं = श्रयतीति श्रयन्, तम्, श्रि + लट् + शतृ + अम् । युवधैर्यलोपिनं = यूनां धैर्यम् (ष० त०) । युवधैर्यं लुम्पतीति युवधैर्यलोपी, तम् । युवधैर्य + लुप + णिनि (उपपद०) । गुणोत्करं = गुणानाम् उत्करः, तम् (ष० त०) । अशृणोत् = "श्रु श्रवणे" धातुसे लङ् + तिप् । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ४२ ॥

तमेव लब्ध्वाऽवसरं ततः स्मरः शरीरशोभाजयजातमत्सरः ।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—ततः शरीरशोभाजयजातमत्सरः स्मरः तम् एव अवसरं लब्ध्वा मूर्तया निजया अमोघशक्त्या इव तया नैषधं विनिर्जेतुम् इयेष ॥ ४३ ॥

अथ नलस्य दमयन्त्या रागादयं वर्णयति-तमेवेति ।

व्याख्या-ततः = अनन्तरं, नलकर्तृकदमयन्तीगुणश्रवणाऽनन्तरमिति भावः । शरीरशोभाजयजातमत्सरः = स्वदेहसौन्दर्यविजयोत्पन्नविद्वेषः, स्मरः = कामः, तम् एव = नलकृतदमयन्तीगुणश्रवणात्मकम् एव, अवसरं = प्रभङ्गं, लब्ध्वा = प्राप्य मूर्तया = मूर्तिमत्या, निजया = स्वकीयया अमोघशक्त्या इव = अकुण्ठसामर्थ्येन इव, तया = दमयन्त्या, करणभतयेति भावः । नैषधं = नलं, विनिर्जेतुं = पराभवितुम्, इयेष=ऐच्छत्, शत्रवो रन्ध्राऽऽवेषणपरायणा भवन्तीति भावः ॥४३॥

अनुवाद—तब अपने शरीरके सौन्दर्यका जीतनेसे विद्वेषसे युक्त कामदेवने उसी अवसरको पाकर मूर्तिमती अपनी सफल शक्तिके समान दमयन्तीके द्वारा ही नलको जीतनेकी इच्छा की ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—शरीरशोभाजयजातमत्सरः = शरीरस्य शोभा (ष० त०) । तस्या जयः (ष० त०) । जातः मत्सरः यस्य सः । (बहु०) । शरीरशोभाजयेन जातमत्सरः (हेतुमें तृतीया और तृ० त०) । लब्ध्वा = लभ् + क्त्वा । अमोघ-

शक्त्या = अमोघा चाऽसौ शक्तिः तया (क० धा०) । नैषधं = निषध + अण् । विनिर्जेतुम् = वि + निर् + जि + तुमुन् । इयेष = "इषु इच्छायाम्" धातुसे लिट् + तिप् । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

अकारि तेन श्रवणाऽतिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रयः ।

तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—तेन क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रयः गुणः श्रवणाऽतिथिः अकारि, तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः गुणः श्रवणाऽतिथिः अकारि ॥ ४४ ।

व्याख्या -- तेन = पूर्वोक्तेन, क्षमाभुजा = राज्ञा, नलेनेत्यर्थः । भीमनृपात्मजाऽऽश्रयः = दमयन्तीनिष्ठः, गुणः = सौन्दर्यवैदुष्याऽऽदिः, श्रवणाऽतिथिः = श्रोत्रेन्द्रियागन्तुकः, कर्णविषय इति भावः । अकारि = कृतः, नलेन दमयन्त्या गुणगणः श्रुतः इति भावः । ततः तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा = नलोन्नतधीरताविनाशार्थं सयोजितबाणेन, स्मरेण च = कामदेवेन च, स्वात्मशरासनाश्रयः = निजदृढधनुर्निष्ठः गुणः = मौर्वी, श्रवणाऽतिथिः = श्रोत्रेन्द्रियागन्तुकः, अकारि = कृतः, कामदेवेन नलविजयार्थं स्वचापारोपितो गुण आकर्णं कृष्ट इति भावः ॥ ४४ ॥

अनुवादः—महाराज नलने दमयन्तीमें रहनेवाले सौन्दर्य और वैदुष्य आदि गुणोंको अपने कानोंका अतिथि बनाया अर्थात् दमयन्तीके गुणोंको सुना । नलके उन्नत धैर्यका नाश करनेके लिए धनुमें बाणका सन्धान करनेवाले कामदेवने अपने दृढ़ धनुमें चढ़ायी गयी प्रत्यञ्चाको कानोंतक खीचा ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—क्षमाभुजा = क्षमां भुनक्तीति क्षमाभुक्, तेन, क्षमा + भुज् + क्विप् । भीमनृपात्मजाश्रयः = भीमश्चाऽसौ नृपः (क० धा०), तस्य आत्मजा (ष० त०)। भीमनृपात्मजा आश्रयः यस्य सः (बहु०) । श्रवणाऽतिथिः = श्रवणयोः अतिथिः (ष० त०)। अकारि = कृ + लुङ् (कर्ममें) । तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा = उच्चं च तत् धैर्यम् (क० धा०) । उच्चधैर्यस्य व्ययः (ष० त०) । तस्य उच्चधैर्यव्ययः (ष० त०) । संहितः इषुः येन सः (बहु०) । तदुच्चधैर्यव्ययाय संहितेषुः, तेन (च० त०) । स्वात्मशरासनाश्रयः = आत्मनः शरासनम् (ष० त०) । शोभनम् आत्मशरासनम् "कुगतिप्रादयः" इससे गतिसमास । स्वात्मशरासनम् आश्रयः यस्य सः (बहु०) । गुणः = "मौर्वीज्या शिञ्जिनी गुणः" इत्यमरः । श्रवणातिथिः = श्रवणयोः अतिथिः (ष० त०) । अकारि = कृ + लुङ् + त (कर्ममें) । इस पद्यमें "अकारि"

इस एक स्त्रियाके साथ नल और स्मर इन दोनों प्रस्तुतोंकी कर्तृतासे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है और "स्वात्मशासनाशय" इस पदमें स्व और आत्मन् शब्दके प्रयोगसे पहले पुनरुक्ति प्रतीत होती है, बादमें सु-(शोभन) आत्मशासन ऐसे अर्थकी प्रतीति होनेसे 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार है, उसका लक्षण है—

80738

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥ १० २ (सा० द०) ।

इस प्रकार दो अलकारोंकी समृष्टि है ॥ ४४ ॥

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥ ४५ ॥

अन्वय —साहसी स्मरः धीरस्य अमुष्य जयाय तदा ज्यां विशिखैः सनाथयन् त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि यशांसि संशये निमज्जयामास खलु ॥४५ ॥

व्याख्या—साहसी = साहसकरः, स्मरः = कामदेवः, धीरस्य = धैर्ययुक्तस्य, अमुष्य = नलस्य, जयाय = विजयाय, तदा = तस्मिन् समये, ज्यां = मौर्वीं, विशिखैः = बाणैः, सनाथयन् = सनाथां कुर्वन्, संयोजयन्नित्यर्थः । त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि = त्रिभुवनजयोपार्जितानि अपि, यशांसि = कीर्तीः, संशये = सन्देहे, निमज्जयामास = स्थापयामास, खलु = निश्चयेन, त्रिभुवनविजेताऽपि कामः नलविजयार्थं प्रवर्तमानः सन् "सोऽयं कामः नलविजये समर्थो भवेन्नवेति संशयपात्रं बभूवे" ति भावः ॥ ४५ ॥

अनुवाद—साहसी कामदेवने धैर्यशाली नलको जीतनेके लिए उस समय प्रत्यञ्चामें बाणोंको चढ़ाकर तीन लोकोंको जीतकर उपार्जित अपने यशको संशयमें डाल दिया ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—साहसी साहसम् अस्यास्तीति, साहस शब्दसे "अत इनिठनौ" इससे इनि-प्रत्यय । "न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति" इस न्यायसे विलम्ब नहीं करता हुआ यह तात्पर्य है । जयाय = क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इससे चतुर्थी । सनाथयन् = नाथेन सहिता सनाथा (तुल्ययोग बहु०) । सनाथां कुर्वन्, "तत्करोति तदाचष्टे" इस सूत्रसे णिच् प्रत्यय होकर लट्के स्थानमें शतृ आदेश । त्रिलोकीविजयार्जितानि = त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इससे समास, "संख्यापूर्वो द्विगुः" इससे उसकी द्विगुसंज्ञा और "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः" इससे स्त्रीलिङ्ग

होनेसे "द्विगोः" इस सूत्रसे ङीप् । त्रिलोक्या विजयः (ष० त०) । तेन अर्जितानि, तानि (तृ० त०) । निमज्जयामास = नि-उपसर्गपूर्वक "टुमस्जो शुद्धौ" इस धातुसे णिच् होकर लिट् + तिप् । कामदेवके उक्त संशयसे सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका प्रतिपादन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ४५ ॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।

अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः दैवयोगात्कामस्य नलविजयोद्यमः सफल इति प्रतिपादयति—अनेनेति । अनेन भैमी घटयिष्यतः विधेः अवन्ध्येच्छतया तत् तथा व्यलासि । यत् पौष्पैः अपि अनङ्गमार्गणैः अस्य तादृक् तत् धैर्यकञ्चुकम् अभेदि ॥ ४६ ॥

व्याख्या--अनेन = नलेन सह, भैमी = दमयन्ती, घटयिष्यतः = संयोजयिष्यतः, विधेः = ब्रह्मणः; अवन्ध्येच्छतया = अमोघाऽभिलाषत्वेन, तत्, तथा=तेन प्रकारेण, व्यलासि = विलसितम् । यत् पौष्पैः अपि = पुष्पमयैः अपि, न तु कठिनैरिति भावः । अनङ्गमार्गणैः = अनङ्गबाणैः न तु अङ्गबाणैः, अस्य = नलस्य, तादृक् = अतिकठोरम्, तत् = प्रसिद्धं, धैर्यकञ्चुकं = धीरत्वकवचम्, अभेदि = भिन्नम् । विधेरभिलापसाफल्येनाऽनङ्गस्य कुसुमरूपैरपि बाणैर्नलस्य धैर्यकवचं भिन्नमिति भावः ॥ ४६ ॥

अनुवादः—नलके साथ दमयन्तीका संयोग करानेवाले ब्रह्माजीकी इच्छाके अमोघ होनेसे ऐसा हुआ कि कामदेवके वैसे पुष्पमय बाणोंसे भी नलका धैर्यरूप कवच भिन्न हो गया ॥ ४६ ॥

टिप्पणी – अनेन = "सह युक्तेऽप्रधाने" इस सूत्रसे सहका योग गम्यमान होनेपर भी तृतीया । भैमी = भीमस्य अपत्यं स्त्री भैमी, ताम्, भीम + अण् + ङीप् + अम् घटयिष्यतः = घट + णिच् + लृट् + (शतृ) + ङस् । अवन्ध्येच्छतया = न वन्ध्या (नञ् तत्पु०), अवन्ध्या इच्छा यस्य सः (बहु०) । अवन्ध्येच्छस्य भावः अवन्ध्येच्छता, तया (अवन्ध्येच्छ + तल् + टाप् + टा) । व्यलासि = वि + लस + लुङ् (भावमें) । पौष्पैः = पुष्पाणाम् इमे, तैः (पुष्प + अण् + भिस्) । अनङ्गमार्गणैः = अविद्यमानानि अङ्गानि यस्य सः अनङ्गः (नञ् बहु०) "कन्दर्पोदर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः ।" इत्यमरः । अनङ्गस्य मार्गणाः, तैः (ष० त०) । तादृक् = तदिव दृश्यते इति, तद्-उपपदपूर्वक दृश् धातुसे "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय और "आ सर्वनाम्नः" इस सूत्रसे आत्व । धैर्यकञ्चुकं=धैर्यम् एव कञ्चुकम्, "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्रसे

रूपकसमास । "कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री" इत्यमरः । अभेदि = भिदिर् विदारणे इस धातुसे कर्ममें लुङ् । इस पद्यमें पुष्पमय बाणोंसे कञ्चुकके भेदमें विरोधकी प्रतीति होती है, विधिकी अवश्य इच्छासे उसका परिहार होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है । धैर्यमें कञ्चुकका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है । इस प्रकार रूपक और विरोधाभासका अङ्गाऽङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।

स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अहो ! अन्यत् किम् ? यदस्त्रतापितः पितामहः अद्यापि वारिजम् आश्रयति । स नलः आत्मनः तनुच्छायतया तं स्मरं लङ्घितुं न शशाक (इति) शङ्के ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अहो = आश्चर्यम्, अन्यत् = अपरं, किं = किम् उच्यते, यदस्त्रतापितः = यस्य (स्मरस्य) आयुधसन्तापितः पितामहः = ब्रह्मा अद्यापि = इदानीम् अपि, वारिजं = कमलम्, आश्रयति = अवलम्बते, कामसन्तापाऽपनयार्थं कमलासनमधिवसतीति भावः । सः पूर्वोक्तः, नलः, आत्मनः = स्वस्य, तनुच्छायतया = शरीरकान्तिमत्त्वेन अथवा शरीरच्छायात्वेन, तं = पूर्वोक्तं, स्मरं = कामदेवं, लङ्घितुम् = अतिक्रमितुं, न शशाक न समर्थो बभूव, इति, शङ्के=शङ्कां, करोमि, स्वसदृशः आत्मच्छाया वा लङ्घितुं न शक्यत इति भावः ॥ ४७ ॥

अनुवाद—आश्चर्य है। और क्या कहना है ? जिस कामदेवके अस्त्रसे तापित ब्रह्माजी आज भी कमलका आश्रय ले रहे हैं। महाराज नल अपने शरीरकी कान्तिके सदृश होनेसे वा अपने शरीरकी छाया होनेसे कामदेवको लङ्घन करनेके लिए समर्थ नहीं हुए मैं ऐसा समझता हूँ ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—यदस्त्रतापितः = यस्य (स्मरस्य) अस्त्राणि (ष० त०), तैः तापितः (तृ० त०)। पितामहः = पितुः पिता, "पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः" इससे निपातन, "मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्" इस वार्तिकसे पितृ शब्दसे डामहच् प्रत्यय । वारिजं = वारिणि जातं तत्, वारि + जन + ड + अम् । आश्रयति = आङ् + श्रिञ + लट् + तिप् । तनुच्छायतया = तनोः इव छाया (कान्तिः) यस्य सः (व्यधिकरण बहु०) । *अथवा आत्मनः छाया आत्मच्छायं, "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इससे विकल्पसे नपुंसकलिङ्गता । "छाया त्वनातपे कान्तौ" इति वैजयन्ती । तनुच्छायस्य भावः, तत्ता तया तनुच्छाय + तल् + टाप् + टा । लङ्घितुं = लघि + तुमुन् । शशाक = शक + लिट् + तिप् ।

शङ्के = शकि + लट् + त । इस पद्यमें अर्थापत्ति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति इन तीनों अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ४७ ॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयःकृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—तन्वी सा त्रपासरिद्दुर्गम् अपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं यत् विवेश तत् वयःकृतेन नवोपहारेण उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं किम् ? ॥ ४८ ॥

व्याख्या—तन्वी = कृशाऽङ्गी, सा=दमयन्ती, त्रपासरिद्दुर्गम् अपि = लज्जा-नदीदुर्गमस्थलम् अपि, प्रतीर्य = प्रकर्षेण तीर्त्वा, नलस्य = नैषधस्य, हृदयं=मनः, यत्, विवेश = प्रविष्टवती, तत् = नलहृदयप्रवेशनं, वयःकृतेन = यौवनविहितेन, नवोपहारेण = नूतनोपायनरूपेण, उरोभुवा = वक्षःस्थलोत्पन्नेन; कुम्भयुगेन = कलशयुग्मेन, कुचयुगलरूपेणेति शेषः, जृम्भितं किम् = विलसितं किमु ॥ ४८ ॥

अनुवादः—कृशाऽङ्गी दमयन्तीने लज्जारूप नदी दुर्गको भी पार कर नलके हृदयमें जो प्रवेश किया वह यौवनसे किये गये उपहाररूप छातीमें उत्पन्न दो कुचकलशोंने विलास किया है क्या ? ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—त्रपासरिद्दुर्गं = त्रपा एव सरित् (रूपक०), "मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा" इत्यमरः । त्रपासरित् एव दुर्गं, तत् (रूपक०) । प्रतीर्य = प्र + तॄ + क्त्वा (ल्यप्) । विवेश = "विश प्रवेशने" धातुसे लिट् + तिप् । वयः-(क० धा०) । उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा ।" इत्यमरः । उरोभुवा = उरसि भवतीति, तेन, उरस् + भू + क्विप (उपपद०) । कुम्भयुगेन = कुम्भयोः युगं, तेन (ष० त०) । जृम्भितं = "जृभि गात्रविनामे" इस धातुसे क्त प्रत्यय (भावमे) । इस पद्यमें अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और रूपक इनकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा ।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥ ४९ ॥

अन्वयः—निजाम् अधीरतां जनाय अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतं, तत् जागरदुःखसाक्षिणी शशाङ्ककोमला निशा शय्या च अबोधि ॥ ४९ ॥

अधुना नलस्य जागराऽवस्थां प्रतिपादयति—अपह्नुवानस्येति ।

व्याख्या—निजां = स्वकीयाम्, अधीरताम् = अधैर्यं, चपलतामिति भावः । जनाय = लोकाय, अपह्नुवानस्य = अपलपतः, अस्य=नलस्य, मनोभुवा = काम

देवेन, यत् = जागरप्रलापादिकं, कृतं = विहितं, तत्, जागरदुःखसाक्षिणी = अनिद्रापीडायाः साक्षाद्द्रष्ट्री, शशाङ्ककोमला = चन्द्रमृदुला, शीतलेति भाव । निशा = रात्रिः, शशाङ्ककोमला, शय्या च = शयनीयं च, अबोधि = ज्ञातवती। निशा शय्या च नलजागरदुःखसाक्षिणीति भाव ॥ ४९ ॥

अनुवाद —अपनी अधीरताको लोकसे छिपानेवाले राजा नलका कामदेवने जो किया, उसको उनके जागरणके दुःखकी साक्षिणी चन्द्रसे कोमल (शीतल) रात और चन्द्रके समान कोमल शय्या भी जानती थी ॥ ४९ ॥

टिप्पणी —अधीरता = न धीरता, ताम् (नञ् त०) । अनाय = "अपह्नुवानस्य" इस ह्नुङ् धातुके योगमें 'श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमान:' इस सूत्रसे सम्प्रदानसंज्ञा होनेसे चतुर्थी । अपह्नुवानस्य = अपह्नुत इति अपह्नुवान , तस्य, अप-उपसर्गपूर्वक "ह्नुङ् अपनयने" इस धातुसे लट्के स्थानमें शानच् आदेश । मनोभुवा = मनसि भवतीति मनोभू , तेन, मनस् + भू + क्विप् + टा । जागर-दुःखसाक्षिणी = जागरण जागर "जागृ निद्राक्षये" धातुसे घञ् प्रत्यय । जागरे दुःखम् (स० त०) । साक्षाद्द्रष्ट्री साक्षिणी, "साक्षात्" शब्दसे "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" इससे इनि प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इस सूत्रसे ङीप् । जागरदुःखस्य साक्षिणी (ष० त०) । शशाङ्ककोमला = शशः अङ्कः यस्य स शशाङ्कः (बहु०) । शशाङ्केन कोमला (तृ० त०), यह विग्रह निशाके विशेषणमें है । शशाङ्क इव कोमला, "उपमानानि सामान्यवचनैः" इससे समास । यह विग्रह शय्याके विशेषणमें है । शय्या = शेते अस्याम् इति, "शीङ् स्वप्ने" धातुसे "संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः" इस सूत्रसे क्यप् प्रत्यय और "अयङ् यि क्ङिति" इससे अयङ् आदेश । अबोधि = बुध् + लुङ् + त (कर्तामें) । यहाँ तुल्ययोगिता और उपमा अलङ्कार है ॥ ४९ ॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥ ५०॥

अन्वय —प्रभुः सः भृशं स्मरोपतप्तः अपि विदर्भराजं तनयां न अयाचत । मानिनः असून् शर्म च त्यजन्ति वरम्, तु एकम् अयाचितव्रतं न त्यजन्ति ॥५०॥

व्याख्या--प्रभुः = समर्थः, सः = नलः, भृशम्=अत्यर्थं, स्मरोपतप्तः अपि = कामसन्तप्तः अपि, विदर्भराजं = भीमनृपं, तनयां=पुत्रीं, तत्पुत्रीं दमयन्तीमिति भाव , न अयाचत = नो याचितवान् । तथा हि–मानिनः = अभिमानिनः , मनस्विन इत्यर्थः । असून्=प्राणान्, शर्म च=सुखं च, त्यजन्ति=जहति, वरं=प्राणसुख-

त्यागोऽपि मनाक् प्रियः, तु = किन्तु, एकम् = अद्वितीयम्, अयाचितव्रतम् = अयाचनानियमं तु, न त्यजन्ति = नो जहति, मनस्विनां प्राणादित्यागदुःखादपि याचनादुखं दुःसहं भवतीति भावः ॥ ५० ॥

अनुवादः—समर्थ महाराज नलने अतिशय कामपीडित होकर भी विदर्भराज भीमसे उनकी पुत्री दमयन्तीको नहीं मांगा। क्योंकि मनस्वी पुरुष प्राणोंको और सुखको भी छोड़ देते हैं, यह त्याग भी कुछ उत्कर्ष ही है परन्तु एक अयाचित व्रतको नही छोड़ते है ॥ ५० ॥

टिप्पणी—स्मरोपतप्तः = स्मरेण उपतप्तः (तृ० त०)। विदर्भराजं = विदर्भाणां राजा विदर्भराजः, तम् (ष० त०)। "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासाऽन्त टच् प्रत्यय। "अयाचत" इस "याच्" धातुका "अकथितं च" इससे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया। यह गौण कर्म है। तनयाम् = यह मुख्य कर्म है। अयाचत = "याचृ याच्ञायाम्" धातुसे लङ् + त। मानिनः = मान + इनि + जस्। असून् = "पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः" इत्यमरः। वरं = "देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक् प्रिये।" इत्यमरः। अयाचितव्रतं = याचनं याचितम्, 'याच्' धातुसे "नपुंसके भावे क्तः" इससे क्त प्रत्यय। न याचितम् (नञ् तत्पु०)। अयाचितं च तद्व्रतम् (क० धा०)। त्यजन्ति + त्यज् + लट् + झि। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार और तुल्ययोगिताका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ५० ॥

मृषाविषादाऽभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याऽधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अयं क्वचित् मृषाविषादाऽभिनयात् वियोगजां निःश्वासततिं जुगोप। विलेपनस्य अधिकचन्द्रभागताविभावनात् पाण्डुतां च अपललाप ॥ ५१ ॥

व्याख्या—अयं = नलः, क्वचित् = कुत्रचित् विषये मृषाविषादाऽभिनयात् = मिथ्याखेदप्रकाशनात्, वियोगजां = भैमीविरहोत्पन्नां, निःश्वासततिं = निःश्वासपरम्परां, जुगोप = गोपितवान्, संववारेत्यर्थः। विलेपनस्य = चन्दनादिलेपनद्रव्यस्य, अधिकचन्द्रभागताविभावनात् = अतिरिक्तकर्पूरांऽशताज्ञापनात्, पाण्डुतां च = शरीरपाण्डिमानं च, अपललाप = अपलपितवान् ॥ ५१ ॥

अनुवादः—नलने किसी विषयमें मिथ्याखेदको प्रकाशित करके दमयन्तीके वियोगसे उत्पन्न निःश्वासपरम्पराको छिपाया। चन्दन आदि लेपनद्रव्यमें ज्यादा कर्पूरका भाग पड़ गया है ऐसा कहकर शरीरकी पाण्डुताको छिपाया ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—मृषाविषादाऽभिनयात् = मृषा चाऽसौ विषाद (क० धा०)। 'मृषा' यह अव्यय है। मृषाविषादस्य अभिनयः, तस्मात् (ष० त०)। "विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" इस सूत्रसे हेतुमें पञ्चमी। वियोगजा = वियोगात् जाता, ताम्, वियोग उपपदपूर्वक 'जन्' धातुसे "पञ्चम्यामजातौ" इस सूत्र से ड प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें टाप्। निश्वासततिं = निश्वासानां ततिः, ताम् (ष० त०)। जुगोप = "गुपू रक्षणे" धातुसे लिट् + तिप्। अधिकचन्द्रभागताविभावनात् = चन्द्रस्य भागः (ष० त०)। "घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका।" इत्यमरः। अधिकश्चाऽसौ चन्द्रभागः (क० धा०), तस्य भावः तत्ता अधिकचन्द्रभाग + तल् + टाप्। अधिकचन्द्रभागतायाः विभावनं, तस्मात् (ष० त०), पहलेके सूत्रसे हेतुमें पञ्चमी। पाण्डुता = पाण्डोर्भावः, ता, पाण्डु + तल् + टाप् + अम्। "हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः" इत्यमरः। अपललाप = अप-उपसर्गपूर्वक "लप व्यक्तायां वाचि" धातुसे लिट् + तिप्। "अपलापस्तु निह्नवः" इत्यमरः। इस पद्यमें व्याजोक्ति अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः।" सा० द० १०–१२०।

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवाऽऽलपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चमसूर्च्छनासु च॥ ५२॥

अन्वयः—अयम् अलीकवीक्षितां प्रियां यत् बभाषे, वैणिकैः पञ्चममूर्च्छनासु आलपितासु समाजे एव च यत् मुमूर्च्छ, तत् अनेन निह्नोतुं शशाक॥ ५२॥

व्याख्या—नलस्य प्रलापाख्यां कामदशां प्रतिपादयति—शशाकेति। अयं= नलः, अलीकवीक्षिता = मिथ्याऽवलोकिता, प्रिया = वल्लभा, दमयन्तीमित्यर्थः। यत् बभाषे = भाषितवान्, निरन्तरध्यानवशात्पुरः सम्प्राप्तां विदित्वेति शेषः। वैणिकैः = वीणावादकैः, पञ्चममूर्च्छनासु = पञ्चमस्वरमूर्च्छासु, आलपितासु=पुनः पुनर्गीतासु सतीषु समाजे एव च = सभास्थितजनसमूहे एव च, यत् = यस्मात्कारणात्, मुमूर्च्छ = मूर्च्छां प्राप, स्फुटता न प्राप्नेति भावः। तत् = भाषणम्, अनेन= प्रकारेण, निह्नोतुं = गोपायितुं, शशाक = समर्थो बभूव॥ ५२॥

अनुवाद—इन्होंने भ्रमसे देखी गयी प्रिया (दमयन्ती) को जो कहा, वीन बजानेवालों के पञ्चम स्वरकी मूर्च्छनाओंके आलाप करनेपर जनसमूहमें ही जिससे स्फुट नहीं हुआ इस कारणसे उसे छिपानेके लिए नल समर्थ हुए॥ ५२॥

टिप्पणी—अलीकवीक्षिताम् = अलीकम् (यथा तथा) वीक्षिता, ताम् (सुप्सुपा०) बभाषे = भाष + लिट् + त। वैणिकैः = वीणावादनं शिल्पं (क्रिया-

कौशलम्) येषां ते वैणिकाः, तैः, "शिल्पम्" इस सूत्रसे ठञ् । पञ्चममूर्च्छनासु= पञ्चमस्य मूर्च्छनाः, तासु (ष० त०) । तन्त्री (तार) और कण्ठसे उत्पन्न होनेवाले शुद्ध स्वर सात प्रकारके होते हैं, जैसे कि—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद । स्वरोंके आरोह और अवरोहके क्रमको "मूर्छना" कहते हैं । मूर्च्छनाके इक्कीस भेद होते हैं । आलपितासु=आङ्+ लप्+क्त+टाप्+सुप् । यत् = यद्-शब्दका प्रतिरूपक अव्यय । मुमूर्च्छ= "मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः" इस धातुसे लिट्+तिप् । निह्नोतु = नि, उपसर्ग-पूर्वक "ह्नुङ् अपनयने" धातुसे "समानकर्तृकेषु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन् प्रत्यय । शशाक = "शक्लृ मर्षणे" धातुसे लिट्+तिप् । इस पद्यमें "मूर्च्छं"···· "मूर्च्छं" इस प्रकारसे व्यञ्जनसमुदायका एक वार अनेक प्रकारसे समता होनेसे छेकाऽनुप्रास अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

"छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ।" सा० द० १०–४ ॥ ५२ ॥

अवाप साऽपत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः ।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥ ५३ ॥

अन्वयः—जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः स भूपतिः तत्र असंवरे शम्बर-वैरिविक्रमे क्रमेण स्फुटताम्, उपेयुषि साऽपत्रपताम् अवाप ॥ ५३ ॥

व्याख्या—जितेन्द्रियाणां=वशीकृत-हृषीकाणां जनानां, धुरि=अग्रे, कीर्तित-स्थितिः=स्तुतमर्यादः, सः=पूर्वोक्तः, भूपतिः=राजा, नल, इत्यर्थः । तत्र= तस्मिन्, समान इति शेषः । असंवरे = निरोद्धुम् अशक्ये, शम्बरवैरिविक्रमे = मदनपराक्रमे, मदननानाविधविकार इति भावः, क्रमेण=परिपाट्या, स्फुटतां= व्यक्तताम्, उपेयुषि = प्राप्तवति सति, साऽपत्रपताम्=अन्येभ्यो लज्जितताम्, अवाप=प्राप, जनसमाजे कामविकारे व्यक्ते सति नलो लज्जितो बभूवेति भावः।५३।

अनुवादः—जितेन्द्रियोंके अग्रभागमें वर्णित मर्यादावाले महाराज नल समाज-में कामविकारके रोकनेमें अशक्य होकर क्रमसे व्यक्त हो जानेपर अन्य लोगोंके सम्मुख लज्जित हुए ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—जितेन्द्रियाणां = जितानि इन्द्रियाणि यैस्ते, तेषाम् (बहु०) । कीर्तितस्थितिः = कीर्तिता स्थितिः येषां ते (बहु०) । "संस्था तु मर्यादा धारणा स्थितिः" इत्यमरः । भूपतिः = भुवः पतिः (ष० त०), तत्र = तस्मिन्निति, तद्+त्रल् । असंवरे = संवरणं संवरः, सम्-उपसर्गपूर्वक "वृञ वरणे" धातुसे "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय । अविद्यमानः संवरो यस्य सः,

तस्मिन् (नञ् बहु०)। शम्बरवैरिविक्रमे = शम्बरस्य वैरी (ष० त०), "शम्बरारिर्मनसिजः" इत्यमरः । शम्बरवैरिणः विक्रमः, तस्मिन् (ष० त०)। स्फुटता = स्फुट + तल् + टाप् । उपयुषि = उप उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" इस सूत्रसे क्वसु प्रत्यय + ङि । साऽपत्रपताम् = अपगत लज्जा अपत्रपा, "लज्जा साऽपत्रपाऽन्यत" इत्यमरः । अपत्रपया सहित सापत्रप, "तेन सहेति तुल्ययोगे" इससे तुल्ययोगबहुव्रीहि, "वोपसर्जनस्य" इस सूत्रसे 'सह' के स्थानमें विकल्पसे 'स' भाव । साऽपत्रपस्य भावः सापत्रपता, ताम्, साऽपत्रप + तल् + टाप् + अम् । अवाप = अव-उपसर्गपूर्वक "आप्लृ व्याप्तौ" धातुसे लिट् + तिप् । इस पद्यमे प्रथमचरणमें 'प'कारका बार बार साम्य होनेसे वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥" सा० द० १०-५

पूर्वार्द्धमें अन्त्याऽनुप्रास है । उसका लक्षण है—

"व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्याऽनुप्रास एव तत् ॥" १०-७ ।

उत्तरार्द्धमे "वरे स्वरः" "क्रमे क्रमे" इस प्रकार व्यञ्जनसमुदायका अनेक प्रकारसे साम्य होनेसे छेकानुप्रास है, इस प्रकार वृत्त्यनुप्रास, अन्त्याऽनुप्रास और छेकाऽनुप्रास इन अलंकारोंकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाऽभवन्गुणा विवेकप्रभवा न चापलम् ।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥ ४४ ॥

अन्वय —अमी विवेकप्रभवाः गुणाः नलं चापलं रोद्धुम् अलं न अभवन् किल । यत् स स्मरः रत्याम् अनिरुद्धम् एव सृजति, ईदृशः अयं सर्गनिसर्गः ।

व्याख्या—विवेकादयो गुणा नलचापलं निवारयितुं कथं न समर्था जाता इत्यत्राऽऽह—अलं नलमिति । अमी=एते, विवेकप्रभवाः = पृथगात्मतोत्पन्नाः, गुणाः =धैर्यादय इत्यर्थः । नलं=नैषधं, नलादिति भावः, चापलं चाञ्चल्यं, कामजनितमिति शेषः । रोद्धुं = निवारयितुम्, अलं=समर्थाः, न अभवन् = नो जाताः, किल= निश्चयेन । अत्र हेतुमुपपादयति—स्मर इति । यत् =यस्मात्कारणात्, सः = प्रसिद्धः, स्मरः = कामदेवः, रत्याम्=अनुरागे सति, अथवा रतिनामस्वप्रियायाम्, अनिरुद्धम् एव=अनिवारितम् एव, चापलम् एव, पुत्रमिति शेषः ।

पक्षान्तरे—अनिरुद्धनामकं पुत्रम् एव, सृजति = करोति, ईदृशः = एतादृशः, अयम् = एषः, सर्गनिसर्गः = सृष्टिस्वभावः, कामः रतौ = अनुरागे सति पुरुषं चपलमेव करोति अथवा कामः रतौ = स्वप्रियायाम्, अनिरुद्धम् एव = अनिरुद्धनामकं पुत्रम् एव उत्पादयति, एतादृशः सृष्टिस्वभाव इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अनुवादः—ये विवेकसे उत्पन्न धैर्य आदि गुण नलकी कामचञ्चलताको रोकनेके लिए समर्थ नहीं हुए। जो कि कामदेव अनुराग उत्पन्न होनेपर मनुष्यको चञ्चल ही कर देता है अथवा कामदेव प्रद्युम्न रति (पत्नी) अनिरुद्ध (पुत्र) को उत्पन्न करते हैं। ऐसा यह सृष्टिका स्वभाव है ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—विवेकप्रभवाः = विवेकः प्रभवः येषां ते (बहु०)। "विवेकः पृथगात्मता" इत्यमरः। नलम् = अधिकरण वा सम्बन्धकी विवक्षा न करके "अकथितं च" इस सूत्रसे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया। चापलं = चपलस्य भावः चापलं, तत् "चपल" शब्दसे युवादिगणमें पठित होनेसे "हायनान्तयुवादिभ्यो ऽण्" इस सूत्रसे अण्, ब्राह्मणादिगणमें पठित होनेसे ष्यञ् प्रत्यय होकर "चापल्यम्" ऐसा रूप भी बनता है। यह मुख्य कर्म है। रोद्धुम् = "अलम्" इस पदका योग होनेसे "पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु" इससे तुमुन् प्रत्यय। अलम् = "अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्।" इत्यमरः। अभवन् = भू + लङ् + झि। रत्याम् = रम् + क्तिन् + ङि। अनिरुद्धम् = न निरुद्धम् तद् (नञ् त०)। अथवा अनिरुद्धम् = प्रद्युम्नपुत्रम्। सृजति = सृज् + लट् + तिप्। सर्गनिसर्गः = सर्गस्य निसर्गः (ष० त०)। "सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाऽध्यायसृष्टिषु।" इति "स्वरूपं च स्वभावश्च निसर्गश्च" इत्यप्यमरः। इस पद्यमें उत्तरार्धस्थित सामान्यसे पूर्वार्द्धस्थित विशेष अर्थका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है उसका लक्षण है—

"सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यं च कारणेनेदं, कार्येण च समर्थ्यते ॥
साधर्म्येणेतरेणाऽर्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।" सा० द० १०-८० ॥ ५४ ॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदाऽऽसितुं संसदि यत्नवानपि।
क्षणं तदाऽऽरामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—स यत्नवान् अपि संसदि यदा अनङ्गचिह्नं विना आसितुं नो शशाक, तदा क्षणम् आरामविहारकैतवात् निर्जनं देशं निषेवितुं इयेष ॥ ५५ ॥

अथ नलस्याऽभीष्टपूर्त्तिसहाय हंससमागमहेतुकोपवनविहारं प्रस्तौति अनङ्गेति।

व्याख्या—सः = नलः, यत्नवान् अपि = प्रयत्नसम्पन्नः अपि, अनङ्गचिह्नं-

गूहन इति शेष । ससदि=सभायां, यदा = यस्मिन् समये अनङ्गविह्नं विना = स्तम्भादिकामलक्षणं विना, आसितुम् = उपवेष्टुं, नो शशाक=न समर्थो बभूव । तदा = तस्मिन् समये, क्षणं = कञ्चित्कालं यावत्, आरामविहारकैतवात्=उपवन क्रीडाच्छलात् निर्जनं = जनरहितं, देशं = स्थानं, निषेवितुम् = आश्रयितुम्, इयेष = इष्टवान्, लज्जापरिहारार्थमिति शेष ॥ ५५ ॥

अनुवाद —नल प्रयत्न करनेपर भी सभामें जब काम लक्षणके बिना रहनेको समर्थ नहीं हुए, तब कुछ समय तक बगीचेमें क्रीडाके बहानेसे उन्होंने निर्जन स्थानका आश्रय लेनेके लिए इच्छा की ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—यत्नवान्=यत्न यस्याऽस्तीति यत्नवान्, "यत्न" शब्दसे "तद-स्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्" इस सूत्रसे मतुप्, 'म' कारके स्थानमें "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य" इससे वकार आदेश । ससदि= 'समज्या परिषद्गोष्ठी सभा समितिसंसद ।" इत्यमर । अनङ्गविह्नं विना = अविद्यमानानि अङ्गानि यस्य स अनङ्ग (नञ् बहु०) । अनङ्गस्य विह्नं, तत् (ष० त०), "विना" इस पदके योगमें "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इससे तृतीया, पञ्चमी और द्वितीया होती है, यहाँपर द्वितीया । आसितुम्=आस+तुमुन् । शशाक=शक+ लिट्+तिप् । क्षणं=' कालाऽध्वनोरत्य-न्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया "निर्व्यापार-स्थितौ कालविशेषोत्सवयो क्षण." इत्यमर । "आरामविहारकैतवात्=आरामस्य विहार (ष० त०), "आराम स्यादुपवनम्" इत्यमर । आरामविहारस्य कैतव, तस्मात् (ष० त०) ' कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे ।" इत्यमर । निर्जन = निर्गता जना यस्मात्, तम् (बहु०) । निषेवितुं =नि+सेव+तुमुन् । "परिनिविभ्य सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्" इससे मूर्धन्य षकार । इयेष= इष्+लिट्+तिप् । यहाँपर वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतन सम वयस्यै स्वरहस्यवेदिभि ।
पुरोपकण्ठोपवन किलेक्षिताऽऽदिदेश यानाय निदेशकारिण ॥ ५६ ॥

अन्वय —अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतन स्वरहस्यवेदिभि वयस्यै सम पुरोप कण्ठोपवनम् ईक्षिता (सन्) यानाय निदेशकारिण आदिदेश किल ॥ ५६ ॥

व्याख्या—अथ=अनन्तरं निर्जनदेशनिषेवणेच्छानन्तरमिति भाव । श्रिया= स्वशरीरकान्त्या हेतुना, भर्त्सितमत्स्यकेतन = तिरस्कृतकाम , नल इति भाव । स्वरहस्यवेदिभि =आत्मगोपनीयवार्ताभिज्ञ , वयस्यै =तुल्यवयस्कै मित्रै , सम = सह, पुरोपकण्ठोपवन=नगरनिकटारामम्, ईक्षिता = अवलोकिता सन् यानाय =

यानम्, वाहनमानेतुं, गमनाय वा, निदेशकारिणः = आज्ञाकारिणो जनान्, आदिदेश = आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

अनुवादः—तब शरीरकी शोभासे कामदेवको तिरस्कृत करनेवाले नलने अपने रहस्यके जानकार मित्रोंके साथ शहरके निकटस्थ बगीचेको देखनेके लिए वाहन लानेके लिए कर्मचारियोंको आज्ञा दी ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—श्रिया = "हेतौ" इससे तृतीया। भर्त्सितमत्स्यकेतनः = मत्स्यः केतनं (चिह्नम्) यस्य सः (बहु०)। "भर्त्सितमत्स्यलाञ्छनः" "भर्त्सितमीनकेतनः" ऐसे पाठान्तरोंमें भी अर्थमें भेद नहीं है। "मदनो मन्मथो मारः प्रद्युम्नो मीनकेतनः" इत्यमरः। स्वरहस्यवेदिभिः = रहसि (एकान्ते) भवं रहस्यम्, रहस्+यत्। स्वरहस्यं विदन्तीति तच्छीलाः, तैः, स्वरहस्य+विद+णिनिः+भिस् (उपद०)। वयस्यैः = वयसा तुल्या वयस्याः, तैः "वयस्" शब्दसे "नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्रसे यत् प्रत्यय। "समम्" इस पदके योगमें तृतीया। पुरोपकण्ठोपवनं = पुरस्य उपकण्ठः (प० त०), "उपकण्ठाऽन्तिकाऽभ्यर्णाऽभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्।" इत्यमरः। पुरोपकण्ठे उपवनं, तत् (स० त०) "ईक्षिता" इस तृन् प्रत्ययान्तपदके योगमे "कर्तृकर्मणोः कृति" इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठीकी प्राप्ति थी, पर "न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे निषेध हुआ है। ईक्षिता= ईक्षत इति; ईक्ष+तृन्। यानाय = "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इस सूत्रसे चतुर्थी। निदेशकारिणः निदेशं कुर्वन्तीति तच्छीलाः, तान् निदेश+कृ+णिनिः (उपपद०)। आदिदेश=आङ्+दिश+लिट्+तिप्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाऽधिकम्।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—ततः अमी तस्य विभूषित सितं जवे अपि माने अपि पौरुषाऽधिकम् अजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम अश्वम् उपाहरन् ॥ ५७ ॥

व्याख्या—ततः आदेशनाऽनन्तरम्, अमी निदेशकारिणो जनाः, तस्य = नलस्य विभूषितम् = अलङ्कृतं, सितं = श्वेतवर्णं, जवे अपि = वेगे अपि, माने अपि = प्रमाणे अपि, पौरुषाऽधिक = पुरुषप्रमाणाऽतिरिक्तम् एवं च अजस्रचञ्चलैः = निरन्तरचपलैः, खुराञ्चलैः = शफाऽग्रभागैः, क्षोदितमन्दुरोदरं = विदारितवाजिशालामध्यम्, अश्व = हयम्, उपाहरन् = उपानीतवन्तः ॥ ५७ ॥

अनुवादः—तब आज्ञाकारी भृत्य अलङ्कृत, सफेद वेग और प्रमाणमें भी

पुरुषके प्रमाणसे अधिक तथा निरन्तर चलनेवाले खुरोंके अग्रभागोंसे घुडशालके मध्यभागको विदारित करनेवाले घोडेको नलके पास ले आये ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—विभूषित = वि + भूष + क्त (कर्ममें)। पौरुषाऽधिक=पुरुषस्य भावः पौरुष, पुरुष + अण्, युवादिगणमें पठित होनेसे अण्। जवके पक्षमें यह व्युत्पत्ति है। मानके पक्षमें—पुरुष प्रमाणमस्य पौरुष, "पुरुषहस्तिभ्यामण् च" इससे अण्। पौरुषात् अधिक, तम् (पं० त०)। अजस्रचञ्चलं = अजस्र (यथा तथा) चञ्चला, तं (सुप्सुपा०)। खुराऽञ्चलं = खुराणाम् अञ्चला, तैः (ष० त०), क्षोदितमन्दुरोदर = मन्दुराया उदरम् (ष० त०)। "वाजि-शाला तु मन्दुरा।" इत्यमर। क्षोदित मन्दुरोदर येन स, तम् (बहु०)। उपाहरन् = उप-उपसर्गपूर्वक "हृञ् हरणे" धातुसे लङ् + झि। इस पद्यमें वृत्त्यनुप्रास और छेकाऽनुप्रासकी संसृष्टि अलकार है ॥ ५७ ॥

अथाऽन्तरेणाऽवटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहः सहोदरैः ।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केशरकेशरश्मिभिः ॥ ५८ ॥

अन्वय—अथ निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः निगालगात् देवमणेः आन्तरेण अवटुगामिना अध्वना उत्थितैः इव केशरकेशरश्मिभिः विराजितम् ("तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह" इति चतुःषष्टितमश्लोकस्थं पदं सम्बन्धः)॥५८॥

अथ अश्ववर्णनप्रसङ्गे सप्तभिः कुलकमाह अथेति।

व्याख्या—अथ = अश्वोपहाराऽनन्तर, निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः = चन्द्र-किरणसदृशैः, शुक्लैरिति भावः। निगालगात् = गलोद्देशस्थात्, देवमणेः = देव-मणिनामकदक्षिणावर्तात्, आन्तरेण=कण्ठमध्यवर्तिना, अवटुगामिना=कृकाटिका-पर्यन्तगतेन अध्वना=मार्गेण, उत्थितैः इव=उद्गतैः इव, स्थितैरिति शेषः। तादृशैः केशरकेशरश्मिभिः=केशररूपचिकुरकिरणैः, विराजित=शोभितम् (तं=तादृशं, हयम्=अश्वं, क्षितिपाकशासनः = भूमहेन्द्रः, सः = नलः, आरुरोह = आरूढवान्, इति चतुःषष्टितमश्लोकस्थं पदं सम्बन्धः, एवं परत्राऽपि) ॥ ५८ ॥

अनुवादः—तब घोडेको लानेके अनन्तर, (सफेद) गलेके निकटवर्ती देवमणि-नामक दक्षिण आवर्तसे कण्ठके बीचमें रहनेवाले कृकाटिका तक गये हुये मार्गसे उठे हुएके समान चन्द्रकिरणोंके सदृश केशररूप केशोंकी किरणोंसे शोभित (उस घोडेपर ऊपर नल सवार हुए) ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः = निशीथ (अर्धरात्र) अस्या अस्तीति निशीथिनी (रात्रि), निशीथ शब्दसे "अत इनिठनौ" इस सूत्रसे

इनि प्रत्यय और तदन्तसे स्त्रीत्वविवक्षामें "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इस सूत्रसे ङीप्, निशीथ+इनि+ङीप्। "अर्धरात्र निशीथौ द्वौ" इति "निशा निशीथिनी रात्रि स्त्रियामा क्षणदा क्षपा।" इत्यमरः। निशीथिन्या नाथः (ष० त०), तस्य महांसि (ष० त०) "महश्चोत्सवतेजसोः" इत्यमरः। सह (समानम्) उदरं येषां ते सहोदराः (बहु०)। "वोपसर्जनस्य" इसके "स" भावकी विकल्पतासे एक पक्षमें न होनेसे यह रूप होता है। प्रायः सहोदर भाइयोंमें तुल्यरूपता होती है इसलिए यहाँपर 'सहोदर' शब्दका सदृश अर्थ लक्षित होता है। निशीथिनीनाथमहसां सहोदराः तैः (ष० त०)। महस् और मह अकारान्त भी शब्द देखा जाता है। निगालगात् = निगालं गच्छतीति, निगालगः तस्मात् निगाल+गम+ड+ङसिः, देवमणेः = "देवमणिः शिवेश्वस्य कण्ठावर्ते च कौस्तुभे।" इति विश्वः। आन्तरेण=अन्तरे भवः आन्तरः, तेन, अन्तर+अण्+टा। अवटुगामिना=अवटुं गच्छतीति तच्छीलः, तेन अवटु+गम्+णिनिः+टा। "अवटुर्घाटा कृकाटिका" इत्यमरः। उत्थितैः=उद्+स्था+क्तः+भिस्। केशरकेशररश्मिभिः = केशरा एव केशाः। (रूपक०)। घोड़ेके स्कन्धके बालोंको 'केशर' कहते हैं। त एव रश्मयः, तैः (रू० क०)। विराजितं = वि+राज्+क्तः। इस पद्यमें द्वितीय चरणमें उपमा, तृतीय चरणमें उत्प्रेक्षा और चतुर्थ चरणमें रूपक इस प्रकार इन तीनों अलंकारोंकी निरपेक्ष रूपसे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है॥ ५८॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाऽणिमाङ्कितैः॥ ५९॥

अन्वयः – रयप्रकर्षाध्ययनार्थम् आगतैः अणिमाङ्कितैः जनस्य चेतोभिः इव अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः रेणुभिः चरणेषु उपास्यमानम् इव (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह)॥ ५९॥

व्याख्या—रयप्रकर्षाध्ययनार्थं = वेगाऽतिशयपठनार्थम्, आगतैः = आयातैः, अणिमाङ्कितैः=अणुभावचिह्नितैः, जनस्य = लोकस्य चेतोभिः इव=मनोभिः इव "अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याऽणुत्वमिहेष्यते।" इति नैयायिकसिद्धान्ते मनसो णुपरिमाणत्वं स्वीकृतम्। अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = निरन्तरधरातलविदारणोत्थितैः रेणुभिः=धूलिभिः, चरणेषु उपास्यमानम् इव = सेव्यमानम् इव (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह)। यथा शिष्यो गुरुचरणयोरुपास्ते तथैवाऽणुपरिमाणैर्जनमनोभिश्चरणेषूपास्यमानमिव तं हयं राजाऽऽरूढवानिति भावः॥ ५९॥

अनुवाद—वेगके उत्कर्षके अध्ययनके लिए आये हुए अणुपरिमाणवाले लोगोंके मनोंके तुल्य, लगातार जमीनको विदारण करनेसे उत्पन्न धूलियोंसे चरणोंमें सेवित (उस घोड़ेके ऊपर राजाने आरोहण किया ॥ ५६ ॥

टिप्पणी रयप्रकर्षाऽध्ययनाऽथम् = रयस्य प्रकर्षः (ष० त०) "रहस्तरसी तु रयः स्यदः जवः" इत्यमर । रयप्रकर्षस्य अध्ययनम् (ष० त०) । रयप्रकर्षाऽध्ययनाय इदं "चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः" इस सूत्रसे 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्" इस वर्तिकके सहकारसे चतुर्थी तत्पुरुष, यह "आगतैः" इसका क्रिया विशेषण है । आगतैः = आङ+गम्+क्त +भिस्, अणिमाङ्कितैः = अणोर्भावः अणिमा, "अणु" शब्दसे 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् । अणिम्ना अङ्कितानि, तैः (तृ० त०) । जनस्य= "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे जातिमें एकवचन । अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = भूम्याः तटम् (ष० त०) । 'भूमि' शब्दसे 'कृदिकारादक्तिनः' इस गणसूत्रसे ङीष् । भूमीतटस्य कुट्टनम् (ष० त०) अजस्रं (यथा तथा) । भूमितटकुट्टनम् (सुप्सुपा० । अजस्रभूमीतटकुट्टनेन उद्गताः, तैः (तृ० त०) । उपास्यमानम् = उपास्यत इति, उप+आस+लट् कर्ममें) +यक्+शानच्+अम । जैसे अध्ययनके लिए शिष्य गुरुचरणोंमें उपासना करते हैं वैसे ही अतिशय वेगके अध्ययनके लिए आये हुए अणुपरिमाण मनुष्योंके मनोंके समान धूलियोंसे चरणोंमें उपासना किये गये घोड़े पर राजा आरूढ हुए यह भाव है; नलका अश्व मनके समान वेगवाला है यह अर्थ व्यङ्ग्य हो ता है। इस पद्यमें चित्तोंमें शिष्यव्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

> "समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
> व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥" सा० द० १०-७८ ।

"चेतोभिरिव" यहाँपर उत्प्रेक्षा है, इन दोनोंका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

> "अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
> सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः ॥" सा० द० १०-१२८

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा, वेद किलाऽयमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥ ६० ॥

अन्वयः—चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पान् वक्तुम् उत्सुकम् इव, अयं

स्वयं हयस्य आशयं वेद किल, "गिरा अलम्" इति मौनम् आस्थितं च (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥ ६० ॥

व्याख्या—चलाचलप्रोथतया = अतिचञ्चलनासिकत्वेन, महीभृते = राज्ञे, नलायेत्यर्थः । स्ववेगदर्पान् = आत्मजवगर्वान्, वक्तुं=प्रतिपादयितुम् = उत्सुकम्, इव =उत्कण्ठितम् इव, तर्हि किमर्थं स्ववेगदर्पो न प्रतिपादित इत्याशङ्क्याह—अलमिति । अयं = महीभृत्, नल इत्यर्थः । स्वयम् = आत्मना एव, हयस्य = अश्वस्य, आशयम् = अभिप्रायं, वेद = जानाति, किल=निश्चयेन, अतः गिरा = वाण्या, वेगदर्पप्रकाशनकारिण्येति शेषः । अलं = पर्याप्तं. राज्ञः स्वयमभिज्ञत्वाद् गिरा साध्यं नाऽस्तीति भावः । इति = अनेन कारणेन, मौनं = तूष्णीकत्वम् आस्थितं च = आश्रितं च (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥६०॥

अनुवादः—अत्यन्त चञ्चल नाक होनेसे राजाको अपने वेगके दर्पको कहनेमें उत्कण्ठितके समान परन्तु ये (राजा) स्वयम् घोड़ेका अभिप्राय जानते हैं, वाणीसे क्या ? इस कारण मौनको धारण करनेवाले (घोड़ेके ऊपर राजा आरूढ़ हुए) ॥ ६० ॥

टिप्पणी—चलाचलप्रोथतया = चलनशीलं चलाचलं, 'चल' धातुसे "चरिचलिपतिवदीनां वा द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्येति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे अच् प्रत्यय. विकल्पसे द्वित्व और आक् आगम । "चलनं कम्पनं कम्प्रं चलं लोलं चलाचलम् ।" इत्यमरः । चलाचलं प्रोथं यस्य सः (बहु०) । "घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्" इत्यमरः । चलाचलप्रोथस्य भावश्चलाचलाचलप्रोथता, तया, चलाचलप्रोथ + तल् + टाप् + टा । महीभृते=महीं बिभर्तीति महीभृत्, तस्मै, मही + भृ + क्विप् + ङे । "क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' इससे सम्प्रदान-संज्ञा होकर चतुर्थी । स्ववेगदर्पान्=स्वस्य वेगः (ष० त०) तस्य दर्पाः, तान् (ष० त०) । वक्तुं=वच + तुमुन् । आशयम् = "अभिप्रायश्छन्दः आशयः" इत्यमरः वेद="विद् ज्ञाने" धातुसे लट् "विदो लटो वा" इस सूत्रसे तिप्के स्थानमें णल् । गिरा="गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका" इससे तृतीया । मौनं = मुनेर्भावो मौनम् तत्, मुनि + अण् + अम् । आस्थितम् = आङ् + स्था + क्तः + अम् । इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे वाच्या उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमें प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो उत्प्रेक्षाओंकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलंकार है । नलकी अश्वशास्त्रमें अभिज्ञता महाभारतके वनपर्वमें उल्लिखित है ॥ ६० ॥

महारयस्याऽध्वनि चक्रवर्तिन पराऽनपेक्षोद्वहनाद्यश सितम् ।
रदाऽवदाताऽशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवे ॥ ६१ ॥

अन्वय —अध्वनि महारयस्य चक्रवर्तिन पराऽनपेक्षोद्वहनात् यश सित रदाऽवदाताऽशुमिषात् अनीदृशा रवे अवता बलम् अन्त हसन्तम् (त हय क्षितिपाकशासन स आरुरोह) ॥ ६१ ॥

व्याख्या —अध्वनि = मार्गे, महारयस्य = बृहत्स्य दनस्य, अयुतयोधिनो वा, चक्रवर्तिन = सार्वभौमस्य, नलस्येति भाव । पराऽनपेक्षोद्वहनात् = अन्याऽश्वाऽपेक्षाऽभावेन वहनात्, एकाकित्वेन धारणादिति भाव । यश सित = कीर्तिशुभ्र, रदाऽवदाताऽशुमिषात् = दन्तोज्ज्वलकिरणच्छलात्, अनीदृशाम् = अनेतादृशाना, पराऽनपेक्षोद्वहनाऽसमर्थानामिति भाव । रवे = सूर्यस्य, अर्वताम् = अश्वाना, सप्तसङ्ख्यकानामिति भाव । बल = शक्तिम्, अन्त = अन्त करणे, हसन्तम् = उपहसन्तम् इव स्थितम् (त हय क्षितिपाकशासन स आरुरोह) ॥ ६१ ॥

अनुवाद —मार्गमे बडे रथवाले अथवा दश हजार धनुर्धारियोसे युद्ध करनेवाले चक्रवर्ती महाराज नलको दूसरे घोडोंकी अपेक्षा न रखकर ढोनेसे कीर्तिसे शुभ्र, दाँतोकी उज्ज्वल किरणोंके बहानेसे अन्य घोडोकी अपेक्षाके बिना ढोनेमें असमर्थ सूर्यके (सात) घोडोंके बलको मन ही मन उपहास करते हुए (उस घोडेके ऊपर महाराज नलने आरोहण किया) ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—महारयस्य = महान् रथो यस्य स महारथ, तस्य (बहु०), "आन्महत समानाधिकरणजातीययो" इस सूत्रसे "महत्" शब्दका आत्व । महारथ शब्दका लक्षण है—

"एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेय स महारथ ॥"

चक्रवर्तिन = चक्रे (राजमण्डले) मुख्यत्वेन वर्तते तच्छील चक्रवर्ती, तस्य, चक्र + वृत् + णिनि + ङस् । "चक्रवर्ती सार्वभौम" इत्यमर । 'पराऽनपेक्षोद्वहनात् — न अपेक्षा अनपेक्षा' (नञ्त०)। परेषाम् अनपेक्षा (ष० त०)। पराऽनपेक्षया उद्वहन, तस्मात् (तृ० त०)। यश सित = यशसा सित, तम् (तृ० त०)। रदाऽवदाताशुमिषात् = अवदाताश्च ते अशव (क० धा०), "अवदात सितो गौरोऽवलक्षो धवलोऽर्जुन ।" इत्यमर । रदानाम् अवदाताऽशव (ष० त०)। रदाऽवदाताऽशूना मिष, तस्मात् (ष० त०)। अनीदृशा = न ईदृश तेषाम्, (नञ्०)। अर्वताम् = "अर्वणस्त्रसावनञ" इस सूत्रसे "तृ"

अन्तादेश। "वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः।" इत्यमरः। सूर्यके सात घोड़े हैं, जैसे कि—

"जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जित रमः।
मनोजवो जितक्रोधो वाजिनः सप्त कीर्तिताः॥"
(भविष्योत्तरपुराण, आदित्यहृदयस्तोत्र)।

"हरितः सूर्यस्य" निघण्टुकी इस उक्तिके अनुसार सूर्यके घोड़ोंका वर्ण हरा है। वलम् = "हसे हसने" धातु अकर्मक है, अतः, "वलम्" इस पदके अनन्तर "उद्दिश्य" इस पदका ऊह करना चाहिए। सूर्यके घोड़ोंके वलको उद्देश्य करके भीतर हँसनेवाले ऐसा अर्थ करना चाहिए। हसन्तं=हस + लट् + शतृ + अम्। इस पद्यमें अपह्नुतिके साथ "हसन्तम्" इस पदमें "इव" के गम्यमान होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है और सूर्यके घोड़ोसे नलके घोडेका उत्कर्ष प्रतीत होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है, इस प्रकार इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ६१॥

सिततित्वषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च।
स्फुटां चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम्॥ ६२॥

अन्वयः— सितत्विषः चञ्चलताम् उपेयुषः पुच्छस्य केसरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः स्फुटां निजवाजिराजताम् अनिह्नुवानम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह)॥ ६२॥

व्याख्या — सितत्विषः=शुक्लकान्तियुक्तस्य, चञ्चलतां=चपलताम्, उपेयुषः= प्राप्तवतः, पुच्छस्य = लाङ्गूलस्य, केसरस्य च = ग्रीवावालसमूहस्य च, मिषेण= छलेन, चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः = चलत्प्रकीर्णकयुगललक्षणैः, स्फुटां = प्रसिद्धां, निजवाजिराजताम् = स्वहयराजताम्, अनिह्नुवानम् = अनिषेधन्तं, प्रकटयन्त-मिति भावः। (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह)॥ ६२॥

अनुवादः—सफेद कान्तिवाले, चञ्चल भावको प्राप्त करनेवाले, पूँछ और कन्धेके बालोंके छलसे चलते हुए दो चँवरोंके चिह्नोंसे प्रसिद्ध अपने अश्वराजत्व-को प्रकट करते हुए (उस घोड़ेपर राजा नलने आरोहण किया)॥ ६२॥

टिप्पणी - सितत्विषः=सिता त्विट् यस्य, तस्य (बहु०)। चञ्चलतां = चञ्चल + तल् + टाप् + अम्। उपेयुषः=उप + इण् + क्वसुः + ङस्। चलच्चामर-युग्मचिह्नकैः=चलत इति चलती। चल् + लट् (शतृ) + औ। चलती च ते चामरे (क० धा०), "चामरं तु प्रकीर्णकम्" इत्यमरः। चलच्चामरयोर्युग्मम्

(ष० त०) चिह्नानि एव चिह्नकानि, स्वार्थमें क प्रत्यय। चलच्चामरयुग्मयोश्चिह्नकानि, तैं (ष० त०)। निजवाजिराजता=वाजिनां राजा वाजिराज (ष० त०), "राजाऽह सखिभ्यष्टच्" इससे समासान्त टच्। वाजिराजस्य भावो वाजिराजता, वाजिराज+तल्+टाप्। निजा चाऽसौ वाजिराजता, ताम् (क० धा०)। अनिह्नुवानं = निह्नुत इति निह्नुवानः नि+ह्नुङ्+लट् (शानच्), न निह्नुवानः, तम् (नञ्०) इस पद्यमें अपह्नुति और उत्प्रेक्षा इन दोनोंकी संसृष्टि है॥ ६२ ॥

अपि द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे मुखाऽनुयक्तायतवल्गुवल्गया।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥ ६३ ॥

अन्वय—रयस्मये प्रसभं जितस्य गरुत्मतः द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे अपि मुखाऽनुयक्तायतवल्गुवल्गया प्रतिमल्लताम् उपेयिवांसम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥ ६३ ॥

व्याख्या—रयस्मये = वेगाहङ्कारे, प्रसभं = बलात्कारेण, जितस्य=पराजितस्य गरुत्मतः = गरुडस्य, द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे अपि= सर्पभक्षणपुरुषार्थेऽपि, मुखाऽनुयक्तायतवल्गुवल्गया = आननलग्नदीर्घमनोहररज्ज्वा, प्रतिमल्लतां = प्रतिद्वन्द्विताम् उपेयिवांसं=प्राप्तवन्तम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥६३॥

अनुवाद —वेगके अहङ्कारमें बलपूर्वक जीते गये गरुडके सर्पभक्षणरूप पुरुषार्थमें भी मुखमें लगी हुई लम्बी और सुन्दर लगामसे प्रतिद्वन्द्विभावको प्राप्त करनेवाले (उस घोड़ेपर राजा नलने आरोहण किया) ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—रयस्मये = रयस्य स्मयः तस्मिन् (ष० त०)। "दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः।" इत्यमर। प्रसभम् = यह क्रियाविशेषण है। गरुत्मतः = गरुतः सन्ति यस्य स गरुत्मान् तस्य (गरुत्+मतुप्+ङस्)। यवादिगणमें 'गरुत्' शब्दका पाठ होनेसे "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इस सूत्रसे वत्व नहीं हुआ। यह शब्द योगरूढ है, "गरुत्मान्गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वरः।" इत्यमर। द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे = द्वे जिह्वे येषां ते द्विजिह्वाः (बहु०)। "द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ" इत्यमरः। द्विजिह्वानाम् अभ्यवहारः (ष० त०), स एव पौरुषं, तस्मिन् (रूपक०)। मुखाऽनुयक्तायतवल्गुवल्गया=मुखे अनुषक्ता (स० त०)। आयता चाऽसौ वल्गुः (क० धा०)। आयतवल्गुश्चाऽसौ वल्गा (क० धा०)। मुखाऽनुषक्ता चाऽसौ आयतवल्गुवल्गा, तया (क० धा०)। प्रतिमल्लता= प्रतिकूलो मल्लः प्रतिमल्लः, "कुगतिप्रादयः" इस सूत्रसे समास। प्रतिमल्लस्य

भावः प्रतिमल्लता, ताम्। प्रतिमल्ल+तल्+टाप्+अम्। उपेयिवांसम्= उप+इण्+क्वसुः+अम्। इस पद्यमें गरुडके जयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति और "प्रतिमल्लताम् उपेयिवांसम्" यहांपर सादृश्यका आक्षेप होनेसे उपमा इस प्रकार दो अलंकारोंकी निरपेक्षतया स्थित होनेसे संसृष्टि है॥ ६३॥

स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम्।
जिताऽखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः॥ ६४॥

अन्वयः—जिताऽखिलक्ष्माभृत् अनल्पलोचनः क्षितिपाकशासनः सः सिन्धुजं शीतमहःसहोदरम् उच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्त तं हयम् आरुरोह॥ ६४॥

व्याख्या—जिताऽखिलक्ष्माभृत् = वशीकृतसकलभूभृत्, अनल्पलोचनः = विशालनयनः, क्षितिपाकशासनः = महीमहेन्द्रः, सः = नलः, सिन्धुजं = सिन्धुदेशोत्पन्नं समुद्रोत्पन्नं वा, शीतमहःसहोदर, चन्द्रसहोदरं चन्द्रसदृशं शुक्लवर्णमित्यर्थो वा, एवं च उच्चैःश्रवसः = इन्द्रहयस्य, श्रियं = शोभां, हरन्तं = गृह्णन्तं, तं = पूर्वोक्तं, हयम् = अश्वम्, आरुरोह = आरूढवान्॥ ६४॥

अनुवादः—सम्पूर्ण राजाओंको जीतनेवाले, दीर्घ नेत्रोंवाले, पृथ्वीके इन्द्र महाराज नल सिन्धुदेशमें वा समुद्रमें उत्पन्न चन्द्रमाके सदृश (श्वेत वर्णवाले) और इन्द्रके अश्व उच्चैःश्रवाकी शोभाको हरण करनेवाले ऐसे घोड़ेपर आरूढ़ हुए।

टिप्पणी—जिताऽखिलक्ष्माभृत् = क्ष्मां बिभ्रतीति क्ष्माभृतः क्ष्मा+भृ+क्विप्+जस् (उपपद०)। जिताः अखिलाः क्ष्माभृतः (राजानः) येन, सः (बहु०) अनल्पलोचनः = न अल्पे अनल्पे (नञ्०)। अनल्पे लोचने यस्य सः (बहु०)। क्षितिपाकशासनः = शास्तीति शासनः, "शासु अनुशिष्टौ" धातुसे 'कृत्यल्युटो बहुलम्" इस सूत्रमें बहुलग्रहण करनेके सामर्थ्यसे कर्तामें ल्युट्। पाकस्य (दैत्यभेदस्य) शासनः (ष० त०)। "इन्द्रो मरुत्वान्मघवा बिडौजाः पाकशासनः।" इत्यमरः। क्षितौ पाकशासनः (स० त०)। पूर्वोक्त दो पदोंसे इन्द्र और नलका उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य होता है। इन्द्रके पक्षमें "जिताऽखिलक्ष्माभृत्" इस पदमें विद्यमान "क्ष्माभृत्" पदसे पर्वतरूप अर्थ भी व्यङ्ग्य होता है। इन्द्रने सब पर्वतोंके पक्षोंको काट दिया था। "अनल्पलोचनः" इस पदमें इन्द्रके पक्षमें न अल्पानि अनल्पानि (नञ्०), प्रचुराणि इत्यर्थः, अनल्पानि लोचनानि यस्य सः (बहु०। अनल्पलोचन अर्थात् हजार नेत्रोंवाले इन्द्र यह अर्थ है। सिन्धुजं=सिन्धौ देशे जायते इति सिन्धुजः, तम्, ',सप्तम्यां जनेर्डः"इस सूत्रसे सिन्धु उपपदपूर्वक जन

धातुसे ड प्रत्यय। उच्चैःश्रवाका भी यह पद विशेषण हो सकता है। उस पक्षमें सिन्धौ (समुद्रे) जायत इति। शीतमह सहोदर = शीत मह (कान्ति) यस्य स शीतमहा (बहु०), शीतमहस सहोदर, तम् (ष० त०)। चन्द्रमा और इन्द्रका घोड़ा दोनों ही समुद्रसे उत्पन्न हैं, इसलिए वे सहोदर भाई हो गये हैं, यह तात्पर्य है। हरन्त = हृञ् + लट् (शतृ) + अम्। आरुरोह = आङ् + रुह् + लिट् + तिप्। इस पद्यमें श्लेष, उपमा और "श्रिय हरन्तम्" इस अंशमें अन्यकी श्री (शोभा) को अन्य कैसे हरण करेगा इस प्रकार सादृश्यका बोधन करनेसे निदर्शना अलङ्कार है अत ससृष्टि है। अट्ठावनवें श्लोकसे चौसठवें श्लोकतक कुल सात श्लोकोंमें परस्पर सम्बन्ध होनेसे कुलक हो गया है, जैसे कि—

छन्दोबद्धपद पद्य, तेनैकेन च मुक्तकम्।
द्वाभ्या तु युग्मक, सन्दानितक त्रिभिरिष्यते॥
कलापक चतुर्भिश्च, पञ्चभि कुलक मतम्॥ सा० द० ६-३०२

अर्थात् छन्दोबद्ध पदवालोंको "पद्य" कहते हैं। दूसरे पद्यसे असम्बद्ध एक पद्यको "मुक्तक", दो पद्योंमें परस्पर सम्बन्ध होनेसे "युग्मक" और तीन पद्योंमें "सन्दानितक" कहते हैं। सन्दानितकको ही कोई विशेषक और कोई "तिलक" भी कहते हैं। चार श्लोकोंमें परस्पर सम्बन्ध रहनेसे "कलापक" और पाँच श्लोकोंमें वा उनसे अधिक श्लोकोंमें परस्पर सम्बन्ध रहनेसे "कुलक" कहते हैं॥ ६४॥

निजा मयूखा इव तीक्ष्णदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्।
समश्ववारा जवनाश्वयायिन प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः॥६५॥

अन्वय —प्रकाशरूपा निजा मयूखा स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कज जवनाश्वयायिन तीक्ष्णदीधितिम् इव प्रकाशरूपा निजा अश्ववारा स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कज जवनाश्वयायिन त मनुजेशम् अन्वयु॥ ६५॥

व्याख्या—प्रकाशरूपा = द्योतस्वरूपा, निजा = स्वकीया, मयूखा = किरणा, स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपल्लव = विकसितरक्तकमलचिह्नितकरकमल, जवनाश्वयायिन = वेगयुक्तसप्तहयगामिन, तीक्ष्णदीधितिम् इव = सूर्यम् इव, प्रकाशरूपा = प्रसिद्धसौन्दर्या, निजा = आत्मीया, अश्ववारा = हयारोहा, स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कज = व्यक्तरेखारूपकमलचिह्नितकरकमल, जवनाश्वयायिन = वेगवद्धयगामिन, त = पूर्वोक्त, मनुजेश = नरपति, नलमित्यर्थ। अन्वयु = अनुगतवन्त॥ ६७॥

अनुवाद:—प्रकाशस्वरूपवाले अपने किरणसमूह जैसे विकसित रक्तकमलोंसे चिह्नित करकमलवाले तथा वेगवाले सात घोड़ोंसे गमन करनेवाले सूर्यका अनुगमन करते हैं उसी प्रकार प्रसिद्ध सौन्दर्यवाल नलके घुड़सवारोंने स्पष्ट रेखारूप कमलोंसे चिह्नित करकमलोंवाले तथा वेगवाले घोड़ेसे यात्रा करनेवाले राजा नलका अनुगमन किया ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—प्रकाशरूपा: = प्रकाश: रूपं येषां ते (वहु०) । "प्रकाशो द्योत आतप:" इत्यमरः । स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपल्लवं = स्फुटे च ते अरविन्दे (क० धा०), ताभ्याम् अङ्कितम् (तृ० त०), पाणिः पङ्कजम् इव, पाणिपल्लवम्, "उपमितं व्याघ्रादिभिः, सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास । स्फटाऽरविन्दाऽङ्कितं पाणिपङ्कजं यस्य, तम् (वहु०) । मनुजेश पक्षमे—स्फुटानि च तानि अरविन्दानि (क० धा०) । और अंश पहलेके समान । जवनाऽश्वयायिनं = जवशीलाः जवनाः, "जु" यह सौत्र (सूत्रपठित) धातु गति और वेग अर्थमें है, उससे "जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः" इस सूत्रसे युच् प्रत्यय, "जवनस्तु जवाऽधिकः" इत्यमरः । जवनाश्च ते अश्वाः (क० धा०), तैः यातीति तच्छीलः, तम्, जवनाऽश्व + या + णिनिः + तम् (उपपद०) । मनुजेशपक्षमें—जवशीलः जवनः, स चाऽसौ अश्वः (क० धा०) । और पहलेके तुल्य । तीक्ष्णदीधिति = तीक्ष्णा दीधितिर्यस्य, तम् (वहु०) । "भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम् ।" इत्यमरः । प्रकाशरूपा:=प्रकाशं रूपं येषां ते (वहु०) । अश्ववाराः=अश्वान् वृण्वत इति, अश्व-उपपदपूर्वक "वृञ् वरणे" धातुसे 'कर्मण्यण्' इस सूत्रसे अण् (उपपद०) । इसी 'अश्ववार' शब्दका अपभ्रंश हिन्दी भाषाका 'सवार' शब्द है । मनुजेशम् = मनो जाता मनुजाः, मनु + जन् + डः (उपपद०) । मनुजानाम् ईशः, तम् (ष० त०) । अन्वयुः = अनु-उपसर्गपूर्वक "या प्रापणे" धातुसे लङ्के 'झि' के स्थानमें "लङः शाकटायनस्यैव" इस सूत्रसे विकल्पसे जुस् आदेश । एक पक्षमें "अन्वयान्" ऐसा रूप भी वनता है । इस पद्यमें पूर्णोपमा अलङ्कार है ॥ ६५ ॥

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिःष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—वाहवाहोचितवेषपेशलः स नलः महारयं हयम् अलङ्कृत्य चलन् प्रमोदनिष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभिः नगरालयैः लोकैः व्यलोकि ॥ ६६ ॥

व्याख्या—वाहवाहोचितवेषपेशलः=अश्वारोहणयोग्यनेपथ्यसुन्दरः, सः=पूर्वोक्तः

LIBRARY ACC. No. College

नल = नैषध, महारयम् = अतिशयवेगवन्तम्, हयम् = अश्वम्, अलङ्कृत्य = भूषयित्वा, चलन् = गच्छन्, भूषणीभूय गच्छन्निति भाव, प्रमोदनिष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभि = हर्षनिश्चलतरनेत्रलोमभिः, नगराऽऽलयै = पुरनिवासिभि, लोकै = जनै, व्यलोकि = विलोकित, विस्मयहर्षाभ्यामिति शेषः ॥ ६६ ॥

अनुवाद—घुड़सवारीके योग्य वेशसे सुन्दर और बड़े वेगवाले घोड़ेको अलङ्कृत कर चलते हुए नलको हर्षसे निश्चेष्ट नेत्रलोमवाले नगरवासी लोगोंने देखा ॥ ६६ ॥

80738

टिप्पणी—वाहवाहोचितवेषपेशल = उह्यते अनेन इति वाह, "वह प्रापणे" धातुसे "हलश्च" इस सूत्रसे करणमें घञ्। "वाजिवाहाऽर्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तय।" इत्यमर। वहन वाह, "वह" धातुसे "भावे" सूत्रसे भावमें घञ्। वाहस्य वाह (ष० त०) तस्मिन् उचित (स० त०)। वाहवाहोचितश्चाऽसौ वेष (क० धा०), तेन पेशल (तृ० त०)। "चारौ दक्षे च पेशल" इत्यमर। महारय = महान् रयो यस्य स महारय, तम् (बहु०)। अलङ्कृत्य = अलं + कृ + क्त्वा (ल्यप्)। चलन् = चल + लट् (शतृ)। प्रमोदनिष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभि = निर्गत स्पन्दो येभ्यस्तानि निष्पन्दानि (बहु०)। अतिशयेन निष्पन्दानि निष्पन्दतराणि, 'निष्पन्द' शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे तरप् प्रत्यय। अक्ष्णो पक्ष्माणि (ष० त०)। निष्पन्दतराणि अक्षिपक्ष्माणि येषां ते निष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्माण (बहु०)। प्रमोदेन निष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्माण, तैः (तृ० त०)। नगराऽऽलयै = नगा सन्ति अस्मिन्निति नगरम्, 'नग' शब्दसे "नगपांसुपाण्डुभ्यश्च" इससे र प्रत्यय। नगरम् आलयो येषां ते, तैः (बहु०)। व्यलोकि = वि उपसर्गपूर्वक "लोकृ दर्शने" धातुसे लुङ् + त (कर्ममें) इस पद्यमें वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है ॥ ६६ ॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन वाजिना।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत्पुरुहूतपौरुषः ॥ ६७ ॥

अन्वय—अथ क्षणदापतिप्रभ, पुरुहूतपौरुष एष प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन वाजिना क्षणात् ताभि, जनदृष्टिवृष्टिभि सह एव पुर. बहि अभूत् ॥ ६७ ॥

व्याख्या—अथ = लोकविलोकनाऽनन्तर, क्षणदापतिप्रभ = चन्द्रसदृश, सुन्दर इत्यर्थ, पुरुहूतपौरुष = इन्द्रसमपुरुषार्थयुक्त, एष = अयं, नल इत्यर्थ। प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन = वायुशिक्षणीयवेगेन, वाजिना = अश्वेन, क्षणात् = अल्प-

कालात्, ताभिः = पूर्वोक्ताभिः, जनदृष्टिवृष्टिभिः लोकदृष्टिपातैः, सह एव = समम् एव, पुरः = नगरात्, बहिः = बहिर्गतः, अभूत् = अवर्तिष्ट ॥ ६७ ॥

अनुवादः—अनन्तर चन्द्रमाके सदृश कान्तिसे सम्पन्न, इन्द्रके समान पराक्रमी नल वायुसे पढनेके योग्य वेगवाले घोड़ेपर आरूढ होकर अल्प क्षणमें ही जनोंके दृष्टिपातोंके साथ ही शहरसे बाहर हो गये ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—क्षणदापतिप्रभः=क्षणं ददातीति क्षणदा, क्षण-उपदपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे "आतोऽनुपसर्गे कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय और टाप् । (उपपद०) । "निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा ।" इत्यमरः । क्षणदायाः पतिः (ष० त०) । क्षणदापतेरिव प्रभा (कान्तिः) यस्य सः (व्यधिकरणबहु०) । पुरुहूतपौरुष. = पुरुभिः (बहुभिः) हूतः (आकारितः), इति पुरुहूतः (तृ० त०) "पुरुहूतः पुरन्दरः" इत्यमरः । प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन = अध्येयः जवः यस्य सः (बहु०) प्रभञ्जनेन अध्येयजवः, तेन (तृ० त०) । वाजिना = बहिर्भवन क्रियामें "साधकतमं करणम्" इस सूत्रसे करणसंज्ञा होकर तृतीया । जनदृष्टिवृष्टिभिः = दृष्टीनां वृष्टयः (ष०, त०) । जनानां दृष्टिवृष्टयः, ताभिः (ष० त०) । "सह" पदके योगमे तृतीया । पुरः="अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या" इस सूत्रमें पञ्चमी समासका विधान होनेसे पञ्चमी । अभूत् = भू + लुङ् + तिप् । इस पद्यमे "क्षणदापतिप्रभः" "पुरुहूतपौरुषः" इन दो स्थलोमे उपमा और अश्ववेगका प्रभञ्जनसे अध्येयजवत्वका सम्बन्ध न होकर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति इन दो अलङ्कारोकी संसृष्टि है ॥ ६७ ॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।
मृषामृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥ ६८ ॥

अन्वयः— ततः "प्रतीच्छ प्रहर" इति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे नलस्य नासीरगते सादिबले कुतूहलात् मृषामृधं वितेनतुः ॥ ६८ ॥

व्याख्या—ततः = पुराद्व [illegible]मनाऽन्तरं, प्रतीच्छ = गृहाण, मच्छस्त्रप्रहारं स्वाऽङ्गे स्वीकुर्विति भावः, प्रहर = मयि प्रहारं कुरु, इति = एवं, भाषिणी = भाषमाणे, परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = अन्योन्यप्रसारिततोमराग्रे, नलस्य = नैषध्यस्य, नासीरगते = सेनामुखप्राप्ते, सादिबले = तुरङ्गसैन्ये, कुतूहलात् = कौतुकात्, मृषामृधं = मिथ्यायुद्धं, युद्धनाटकमित्यर्थः, वितेनतुः चक्रतुः ॥ ६८ ॥

अनुवादः—नगरसे बाहर निकलनेके अनन्तर ' मेरा शस्त्रप्रहार ले लो, प्रहार करो" ऐसा भाषण करते हुए परस्पर पल्लवके समान तोमरको उठाते हुए नलके

सेनामुखमें स्थित नलके घुड़सवारोंकी दो सेनाओंने कुतूहलसे मिथ्या युद्धका अभिनय किया ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—प्रतीच्छ=प्रति+इष्+लोट+सिप्। प्रहर=प्र+हृ+लोट+सिप्। भाषिणी = भाषेते तच्छीले, भाष+णिनि+औ। परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = "परस्परम्" यहाँपर पर शब्दसे वीप्सामें द्वित्व होकर "कस्कादिषु च" इससे सत्व हुआ है। परस्परम् उल्लासितानि (सुप्सुपा०)। शल्यानि पल्लवानि इव (उपमित०) "शल्य तोमरम्" इत्यमर परस्परोल्लासितानि शल्यपल्लवानि याभ्यां ते (बहु०)। नासीरगते = नासीरं गते (द्वि० त०), "सेनामुखं तु नासीरम्" इत्यमर। सादिबलें = अवश्यं सीदन्तीति सादिन, "षद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु" धातुसे "आवश्यकाऽधमर्ण्ययोर्णिनि" इससे णिनि। "अश्वारोहास्तु सादिन" इत्यमर। सादिनां बलें (ष० त०)। मृषामृध = "मृधमास्कन्दनं संख्यम्" इत्यमर। वितेनतु = वि-उपसर्गपूर्वक "तनु विस्तारे" धातुसे लिट्+तस (अतुस्) एत्व और अभ्यास लोप। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ६८ ॥

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥ ६९ ॥

अन्वय—इयं धरा अस्माकं प्रयातुं कियत्पदम्, तत् अम्भोधि अपि स्थलायताम् इति इव निजवेगदर्पितै वाहै पयोधिरोधक्षमं रज उत्थितम् ॥ ६९ ॥

व्याख्या—इयम् = एषा, धरा = भू, अस्माकं = तावताम् अश्वानाम्, प्रयातु = प्रस्थातुं, कियत्पदं = किंपरिमाणं स्थानं, भवेदिति शेष। न किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थ। तत् = तस्मात्, कारणात्, अम्भोधि अपि = समुद्र अपि, स्थलायतां = स्थलवत् आचरतु, भूरेव भवतु इति भाव। इति इव = इति मत्वा इव, निजवेगदर्पितैं = स्वजवदर्पयुक्तै, वाहै = अश्वै, पयोधिरोधक्षमं = समुद्राच्छादनसमर्थं, रज = धूलि, उत्थितम् = उत्थापितम् "उद्धतम् उद्धृतम्" इति पाठान्तरयोरपि अयमेवार्थ ॥ ६९ ॥

अनुवाद—'यह पृथ्वी हम लोगोंके प्रस्थानके लिए कितने पगोंके लिए होगी? इस कारण समुद्र भी स्थल हो जाय मानों ऐसा विचार कर अपने वेगसे दर्प करनेवाले घोड़ोंने समुद्रको आच्छादन करनेके लिए पर्याप्त धूल उड़ा दी ॥६९॥

टिप्पणी—प्रयातु=प्र+या+तुमुन्। कियत्पदं=कियन्ति पदानि यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०)। अम्भोधि = अम्भांसि धीयन्ते अत्र इति

अम्भस+धा+किः। स्थलायतां = स्थलवत् आचरतु "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इससे क्यङ्, स्थल+क्यङ्+लोट्—त। निजवेगदर्पितैः = दर्पः संजातो येषां ते दर्पिताः, "दर्प" शब्दसे "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच्प्रत्यय। निजश्चाऽसौ वेगः (क० धा०), तेन दर्पिताः, तैः (तृ० त०)। पयोधिरोधक्षमं= पयांसि धीयन्ते अस्मिन् पयोधिः, पयस्+धा+किः। पयोधे रोधः (ष० त०), तस्मिन् क्षमम् (स० त०)। रजः = "पांशुर्ना न द्वयोरजः" इत्यमरः। उत्थि-तम्=उद्+स्था+क्तः, यहाँ णिचका अर्थ अन्तर्भावित है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। ६९॥

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताऽऽननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभः कृतक्रमैः॥ ७०॥

अन्वयः—"यत् खं हरेः एककेन पदा अक्रामि, तस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे अपि हरीणां नः त्रपा" इति नम्रिताऽऽननैः अर्धनभः कृतक्रमैः तैः न्यवर्ति॥७०॥

व्याख्या—यत्, खम् = आकाशं, हरेः = विष्णोः, एककेन = एकाकिना, असहायेन एकेनेति भावः, पदा=पादेन, अक्रामि=अलङ्घि, तस्य = खस्य चतुर्भिः= चतुःसंख्यकैः, पदैः=पादैः, क्रमणे अपि=लङ्घने कृते अपि, हरीणां=वाजिनां, विष्णूनां चेति गम्यते, नः = अस्माकं, त्रपा=लज्जा, एकस्य हरेः एकाकिना पदेन यत् खं लङ्घितं, तस्य बहूनां हरीणाम् (अश्वानां, विष्णूनां वा) चतुर्भिः पदैर्लङ्घने लज्जेति भावः। इति=अस्मात् कारणात् इव, नम्रिताऽऽननैः=अवनतीकृतमुखैः, तथा अर्द्धनभःकृतक्रमैः=अर्द्धाकाशविहितपादविक्षेपैः, तैः=हरिभिः, न्यवर्ति= निवृत्तम्। एतेन प्लुतगतिरुक्ता तत्र गगनलङ्घनस्य संभवादिति भावः॥ ७०॥

अनुवादः—"जिस आकाशका विष्णुके एक चरणने लङ्घन किया था उस-(आकाश) का चार चरणोंमें लङ्घन करनेपर भी हरि (घोड़े अथवा बहुतसे हरि) हम लोगोंको लज्जा है" मानों इस कारणसे नम्र मुख करनेवाले तथा आधे आकाशमें चरणविक्षेप करनेवाले वे लौट गये।

टिप्पणी—खं= "नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खम्॥" इत्यमरः। एककेन=एक एव एककः, तेन 'एक' शब्दसे "एकादाकिनिच्चाऽसहाये" इस सूत्रमें चकारका पाठ होनेसे कन् प्रत्यय। पदा="पाद" शब्दकी टा विभक्तिमें "पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु" इस सूत्रमें पद् आदेश। अक्रामि = क्रम+लुङ् (कर्ममें) + त। यहाँपर "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमेः" इस सूत्रसे वृद्धि-निषेध होनेसे यह प्रयोग "च्युतसंस्कृति"

दोषसे युक्त है, "अक्रमि" होना इष्ट है। क्रमणे = क्रम + ल्युट् + ङि। हरीणा= "यमाऽनिलेन्द्रचन्द्राऽर्कविष्णुसिंहाऽशुवाजिषु। शुकाऽहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु।" इत्यमर। न "अस्माकम्" के स्थानमें "बहुवचनस्य वस्नसौ" इस सूत्रसे नस् आदेश। नम्रिताऽऽननं = नम्र कृत नम्रितम्, 'नम्र' श०इसे णिच प्रत्यय कर क्तप्रत्यय। नम्रितम् आननं यैः, तैः (बहु०)। अर्धनभ कृतक्रमं = अर्धं नभस अर्धनभ "अर्धं नपुंसकम्" इससे समास। कृत क्रमो यैस्ते कृतक्रमा (बहु०)। अर्धनभसि कृतक्रमा, तैः (स० त०)। न्यवर्ति=नि-उपसर्गपूर्वक "वृतु वर्तने" धातुसे भावमें लुङ्। इस पद्यमें "इति" के आगे 'इव" पदका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ७० ॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवा।
विहारदेश समवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि॥ ७१ ॥

अन्वय - तस्य नृपस्य चमूचरा सैन्धवा सादिन जिनोक्तिषु श्राद्धतया इव त विहारदेशम् अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि मण्डलीम् अपि अकारयन्॥ ७१ ॥

व्याख्या - तस्य=पूर्वोक्तस्य, नृपस्य = राज्ञ नलस्येत्यर्थ। चमूचरा, = सेनाचरा, सैन्धवा = सिन्धुदेशोत्पन्ना, सादिन = अश्वारोहा, जिनोक्तिषु = बुद्धवचनेषु, श्राद्धतया इव =श्रद्धालुतया इव, त = प्रसिद्ध, विहारदेश = सञ्चार-भूमिम्, बौद्धमठ च, अवाप्य=प्राप्य, तुरङ्गान् = अश्वान्, भूरि = बहुल, मण्डलीम् अपि=मण्डलाकार च, मण्डलासन च, अकारयन् = कारितवन्त बौद्धा अपि स्वकर्माऽनुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्तीति प्रसिद्धि॥ ७१ ॥

अनुवाद —जैसे बौद्ध बुद्धके वचनमें श्रद्धालु होकर बौद्धमठमें मण्डलासन कराते हैं वैसे ही राजा नलके सैन्यमें रहनेवाले सिन्धु देशवाले घुड़सवारोंने विहारभूमि पहुँचकर घोड़ोंको मण्डलाकार रूपमें भ्रमण कराया॥ ७१ ॥

टिप्पणी—नृपस्य=नृ + पा + क (उपपद०)। चमूचरा = चम्वा चर-न्तीति, चमू-उपपदपूर्वक "चर" धातुसे "चरेष्ट" इस सूत्रसे ट प्रत्यय। सैन्धवा = सिन्धौ भवा, "सिन्धु" शब्दसे "तत्र भव" इस सूत्रसे अण्। "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्।" इत्यमर। जिनोक्तिषु = जिनस्य उक्तय, तासु, (ष० त०) "समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिन।" इत्यमर। श्राद्धतया = श्रद्धा अस्ति येषा ते श्रद्धा "श्रद्धा" शब्दसे "प्रज्ञाश्रद्धा-ऽर्चाभ्यो ण" इस सूत्रसे ण प्रत्यय। श्रद्धाना भाव श्राद्धता, तया, श्राद्ध + तल् + टाप् + टा। विहारदेश = विहारश्चाऽसौ देश, तम (क० धा०)।

"विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये।" इति विश्वः। अवाप्य=अव+आप्+क्त्वा (ल्यप्)। तुरङ्गमान्="हृक्रोरन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे विकल्पसे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया, एक पक्षमें "तुरङ्गमैः" ऐसा भी रूप बनता है। मण्डलीम् = "मण्डल" शब्दसे "षिद्गौरादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीप्। अकारयन् ='कृ' धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लङ्+झि। नल सत्ययुगमें हुए परन्तु बुद्धदेव कलियुगके प्रथम चरणमें हुए इसलिए नलके समयमे बौद्धोंके विहारकी चर्चा अनुचित प्रतीत होती है, पर नलसे पूर्वकल्पके बुद्धकी विवक्षा करनेसे दोषपरिहार समझना चाहिए। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ७१ ॥

द्विषद्भिरेवाऽस्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाऽब्धिरकारि गोष्पदम्।
इतीव धारामवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अस्य द्विषद्भिः एव च दिशः विलङ्घिताः, अस्य यशोभिः एव अब्धिः गोष्पदम् अकारि; इति इव तुरंगमैः धाराम् अवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रिया स्थली अमण्डि ॥ ७२ ॥

व्याख्या—अस्य = नलस्य, द्विषद्भिः एव = शत्रुभिः एव, पलायमानैरिति शेषः। दिशः = ककुभः, विलङ्घिताः = अतिक्रान्ताः, अस्य = नलस्य, यशोभिः एव = कीर्तिभिः एव, अब्धिः = समुद्रः, गोष्पदं = गोखुरप्रमाणः, अकारि = कृतः इति = एव विचार्य, इव, अन्यसामान्यं कर्म उत्कर्षाय न भवेदिति विमृश्य इवेति भावः। तुरंगमैः = अश्वैः, धाराम्=आस्कन्दितादिगतिम्। अवधीर्य = अनादृत्य, मण्डलीक्रियाश्रिया=मण्डलीकरणशोभया, मण्डलगत्यैव इति भावः। स्थली = अकृत्रिमा भूमिः, अमण्डि = मण्डिता, भूषितेति भावः ॥ ७२ ॥

अनुवादः—नलके शत्रुओंने ही दिशाओंको लङ्घन किया है इनकी कीर्तियोंने ही समुद्रको गायके खुरके समान बना डाला है, मानो ऐसा विचार कर घोड़ोंने आस्कन्दित आदि गतियोंका अनादर करके मण्डलीकरणकी शोभासे भूमिको अलङ्कृत कर दिया ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—द्विषद्भिः = द्विषन्तीति द्विषन्तः, तैः, "द्विष अप्रीतौ" धातुसे लट्के स्थानमें शतृ आदेश। "रिपौ वैरिसपत्नाऽरिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः।" इत्यमरः। अब्धिः=आपः धीयन्ते अत्र, अप्+धा+किः, "समुद्रोऽब्धिरकूपारः" इत्यमरः। गोष्पदं = गावः पद्यन्ते अस्मिन्स्थले तत्, गोभिः सेवितं गोष्पदं, "गोष्पदं सेविताऽसेवितप्रमाणेषु" इस सूत्रसे सुट् और 'स' के स्थानमें "ष"। अकारि = "कृत"

धातुसे लुङ्+त (कर्ममें), धाराम् = जातिमें एकवचन। आस्कन्दित आदि पाँचों गतियोंको यह तात्पर्य है जैसे कि—

"आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्।"

"गतयोऽमूः पञ्चधारा" इत्यमर। अवधीर्य = अव-अधि-उपसर्गपूर्वक "ईर प्रेरणे" धातुसे 'क्त्वा' के स्थानमें ल्यप् आदेश। "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्" इससे पररूप। मण्डलीक्रियाश्रिया = मण्डल्या क्रिया (ष० त०), तस्या श्री, तया (ष० त०)। स्थली = अकृत्रिम अर्थमें "जानपदकुण्डगोणस्थल०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् प्रत्यय। कृत्रिम भूमिके लिए "स्थला" ऐसा प्रयोग होता है। अमण्डि = "मडि भूषायाम्" धातुसे णिच् होकर लुङ् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा इन दोनों अलकारोंका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर है ॥ ७२ ॥

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।

मरुत्किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—नलः निजातपत्रस्य तलस्थले हयेन याः भ्रमीः चारु अचीकरत्, तासु मरुत् अद्य अपि वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् वितत्य किं न शिक्षते ? ॥ ७३ ॥

व्याख्या—नलः = नैषध्यः, निजाऽऽतपत्रस्य = स्वच्छत्रस्य, तलस्थले=अधःप्रदेशे, हयेन = अश्वेन, याः, भ्रमीः = मण्डलगतीः, चारु = मनोहरं यथा तथा अचीकरत् = कारितवान्, तासु = भ्रमीषु विषये, मरुत् = वायुः, अद्य अपि= अधुना अपि, वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् = वातसमूहमयमण्डलगतीः, वितत्य = विस्तीर्य, किं न शिक्षते = किमर्थं न जिज्ञासते, शिक्षितश्चेन्मरुत् तथा गतिं कुर्यादिति भावः। नलो वायोरप्यसभाविता गतीः अश्वेन कारयामासेति तात्पर्यम् ॥ ७३ ॥

अनुवादः—नलने अपने छत्रके अधोभागमें घोड़ेसे जिन मण्डलगतियोंको मनोहरतासे कराया, उनमें वायु अभी भी वायुओंकी मण्डलगतियोंको फैलाकर क्यों नहीं सीखना चाहता है ? ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—निजातपत्रस्य = आतपात् त्रायते इति आतपत्रम्, आतप+त्रैं (त्रा)+क (उपपद०)। निजं च तत् आतपत्रं, तस्य (क० धा०)। तलस्थले = तलं च तत् स्थलं तस्मिन् (क० धा०)। हयेन="हृक्रोरन्यतरस्याम्" इससे कर्तृसंज्ञके वैकल्पिक होनेसे तृतीया। भ्रमी = "भ्रमु अनवस्थाने" धातुसे "इक् कृष्यादिभ्यः" इससे इक्। चारु=यह क्रियाविशेषण है। अचीकरत् = णिजन्त 'कृ' धातुसे लुङ्+तिप्। "णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्" इससे

यङ् और द्वित्व आदि । वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्=वातानां समूहो, वात्या, "वात" शब्दसे "पाशादिभ्यो यः" इस सूत्रसे य प्रत्यय और टाप् । वात्यास्वरूपा वात्यामयाः, 'वात्या' शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे स्वरूप अर्थमें मयट् । पुनः पुनः क्रमणानि चङ्क्रमाः, "क्रमु पादविक्षेपे" धातुसे "धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्" इस सूत्रसे यङ्, द्वित्व होकर घञ्, ह्रस्व अकारका लोप और *"यस्य हलः" इससे यकारका लोप । चक्रस्य चङ्क्रमाः* (ष० त०) । वात्यामयाश्च ते चङ्क्रमाः, तान् (क० धा०) । वितत्य = वि + तन् + क्त्वा (ल्यप्) । शिक्षते = शक धातुसे "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" इस सूत्रसे सन् प्रत्यय और शिक्षेर्जिज्ञासायाम्" इससे आत्मनेपद लट् + त । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७३ ॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात्क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाऽम्भसां निधिम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—ततः हरिः सुषुप्सया विलासकाऽननं प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायम् अम्भसां निधिम् इव स क्षोणिपतिः धृतीच्छया गत्वा प्रवालरागच्छुरित घनच्छायं विलासकाननं क्षणात् विवेश ॥ ७४ ॥

व्याख्या—ततः = अनन्तरं, हरिः = विष्णुः, सुषुप्सया = स्वप्तुम् इच्छया, विलासकाऽननं = सर्पप्राणनं, प्रवालरागच्छुरितं = विद्रुमाऽऽरुण्यरूपितं घनच्छाय = मेघकान्तिम्, अम्भसां = जलानां, निधिम् इव = शेवधिम् इव; समुद्रम् इवेत्यर्थः । सः = पूर्वोक्तः, क्षोणिपतिः = भूपतिः, नल इति भावः । धृतीच्छया= सन्तोषकाङ्क्षया, गत्वा = गमनं कृत्वा; प्रवालरागच्छुरितं = पल्लवारुण्यराञ्जतं, घनच्छायं = सान्द्राऽनातपं, विलासकाननं = क्रीडावनं, क्षणात् = अल्पकालात्, *विवेश = प्रविष्टः ॥ ७४ ॥*

अनुवादः—तब जैसे भगवान् विष्णु सोनेकी इच्छासे सर्पोंके स्थानभूत, मूँगोंके वर्णसे रञ्जित, मेघकी समान कान्तिसे युक्त समुद्रमें प्रवेश करते हैं वैसे ही राजा नलने दिल बहलानेकी इच्छासे जाकर पल्लवोंके वर्णसे अनुरञ्जित, गाढ छायासे सम्पन्न क्रीडावनमें थोड़े ही समयमें प्रवेश किया ॥ ७४ ॥

टिप्पणी सुषुप्सया = स्वप्तुम् = इच्छा सुषुप्सा, तया "ञिष्वप् शये" धातुसे सन् प्रत्यय, द्वित्व होकर सदन्तसे "अ प्रत्ययात्" इससे अ प्रत्यय और टाप्–टा । विलासकाऽननं = 'व' और 'व' में अभेद होनेसे विले आसते इति बिलासकाः, (सर्पाः), विल-उपपदपूर्वक आस धातुसे "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्रसे ण्वुल् (अक्)

प्रत्यय । विलासकानाम् अननम् (आननम्), तत् (ष० त०) । प्रवालराग-च्छुरित = प्रवालाना राग, (ष० त०), "प्रवालो वल्लकादण्डे विद्रुमे नव-पल्लवे ।' इत्यमरः । प्रवालरागेण छुरित, तम् (तृ० त०) । घनच्छाय= घनस्य (मेघस्य) इव छाया यस्य, तम् (व्यधिकरणबहु०) । क्षोणिपति =क्षोणे पतिः (ष० त०) । धृतोच्छ्या=धृते इच्छा, तया (ष० त०) । गत्वा = गम् धातुसे "समानकर्तृकयो पूर्वकाले" इस सूत्रसे क्त्वा । घनच्छाय = घना छाया यस्य, तत् (बहु०) । 'छाया त्वनातपे कान्तौ' इति विश्व । विलासकानन= विलासस्य कानन, तत् (ष० त०) । विवेश = "विश प्रवेशने" धातुसे लिट् + तिप् । इस पद्यमे पूर्णोपमा अलङ्कार है ॥ ७४ ॥

वनाऽन्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे ।
न्यवर्तत दृष्टिप्रकरे पुरौकसामनुव्रजद्वन्धुसमाजबन्धुभिः ॥ ७५ ॥

अन्वय — अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभि, पुरौकसा दृष्टिप्रकरै वनान्तपर्यन्त सस्पृहम् उपेत्य क्रमेण तस्मिन् अवतीर्णदृक्पथे (सति) न्यवर्तत ॥ ७५ ॥

व्याख्या — अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभि = अनुगच्छद्बान्धवसङ्घसदृशं स्नेहा-न्वितैः शेष । पुरौकसा = नगरवासिना, दृष्टिप्रकरै = नेत्रसमूहै (कर्तृभि), वनान्तपर्यन्त = काननोपान्तसीमाम्, उदकप्रान्तपर्यन्त च, सस्पृह = साऽभिलाष यथा तथा, उपेत्य=गत्वा क्रमेण = समयपरिपाट्या, तस्मिन् = नले, अवतीर्ण-दृक्पथे = अतिक्रान्तनेत्रविषये सति, न्यवर्तत = निवृत्तम् । यथा जना प्रवासोन्मुख जन जलाशय यावदनुगम्य "ओदकान्तमनुव्रजेत्" इति शास्त्रेण निवर्तन्ते तथैव बन्धुसदृशानि नागरिकाणा नेत्राणि अपि गच्छन्त नल काननोपान्तसीमा यावद् गत्वा, तस्मिन्नतिक्रान्तनेत्रमार्गे सति न्यवर्तन्त इति भाव ॥ ७५ ॥

अनुवाद —पीछे जानेवाले बान्धवसमाजोंके सदृश नगरवासियोंके नेत्र उपवन की सीमातक जाकर क्रमसे नलके दृष्टिसे ओट हो जानेपर लौट गये ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभि = अनुव्रजन्त, अनुव्रजन्त, अनु + व्रज + लट् (शतृ) + जस् । बन्धूना समाजा (ष० त०) । अनुव्रजन्तश्च ते बन्धुसमाजा (क० धा०) । अनुव्रजद्बन्धुसमाजाना बन्धव तैः (ष० त०) । यहाँपर पिछले 'बन्धु' शब्दका अर्थ सदृश है । पुरौकसा = पुरम् ओक येषा ते पुरौकस, तेषाम् (बहु०) । दृष्टिप्रकरै = दृष्टीना प्रकरा, तैः (ष० त०) । वनान्तपर्यन्त = वनस्य अन्त (ष० त०) । 'वन' का अर्थ यहाँपर 'अटव्यरण्य विपिन गहन काननं वनम् ।' इत्यमर, इस कोशके अनुसार वन और "वने

सलिलकानने" इत्यमरः इस कोशके अनुसार जल अर्थ भी होता है। वनाऽन्तस्य-पर्यन्तम् (ष० त०)। सस्पृहं = स्पृहया सहितं यथा तथा (तुल्ययोगबहु०)। उपेत्य = उप + इण् + क्त्वा (ल्यप्)। अवतीर्णदृक्पथे = दृशोः पन्था दृक्पथः (ष० त०), "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अ प्रत्यय। अवतीर्णःदृक्पथः येन तस्मिन् (बहु०)। भावलक्षणमें सप्तमी। न्यवर्ति = नि + वृत् + लुङ् + त (भावमे लुङ्)। जैसे प्रवासमें जानेके लिए उद्यत जनको बन्धु-गण जलाशयतक उसको पहुँचाकर लौट जाते हैं वैसे ही बगीचेमे जाते हुए नलके दृष्टिपथसे लौट होनेपर पुरवासियोंके नेत्र लौट पड़े यह तात्पर्य है। इस पद्यमें चतुर्थ चरणमें उपमा अलङ्कार है ।। ७५ ।।

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखस्याऽङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननरामणीयकम् ।। ७६ ।।

अन्वयः– ततः स जनाऽधिपः मञ्जुले प्रसूने फले च सम्मुखस्याऽङ्गुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमानं काननरामणीयकं व्यलोकयत् ।। ७६ ।।

व्याख्या—ततः = अनन्तरं, सः = पूर्वोक्तः, जनाऽधिपः = नरेशः, नल इत्यर्थः। मञ्जुले = मनोहरे, प्रसूने = पुष्पे, मञ्जुले फले च=सस्ये च, सम्मुख-स्याऽङ्गुलिना = अभिमुखस्थकरशाखेन, वनपालपाणिना = उद्यानरक्षकहस्तेन, निवेद्यमानं = ज्ञाप्यमान, प्रदर्श्यमानमिति भावः। काननरामणीयकं = वनसौन्दर्यं व्यलोकयत् = अपश्यत् ।। ७६ ।

अनुवादः--तब राजा नलने सुन्दर फूल और फलमें उद्यानरक्षकसे उँग-लियोंको सम्मुख कर दिखलायी गयी वनकी सुन्दरताको देखा ।। ७६ ।।

टिप्पणी—जनाऽधिपः=जनानाम् अधिपः (ष० त०)। संमुखस्थाङ्गुलिना= सम्मुखं तिष्ठन्तीति सम्मुखस्थाः, सम्मुख + स्था + कः (उपपदं०)। सम्मुखस्था अङ्गुलयः यस्य सः तेन (बहु०)। "अङ्गुल्यः करशाखा स्युः" इत्यमरः। वनपालपाणिन = वनं पालयतीति वनपालः, वन-उपपदपूर्वक "पाल रक्षणे धातुसे "कर्मण्यम्" इस सूत्रसे अण् (उपपद०)। वनपालस्य पाणिः, तेन (ष० त०)। निवेद्यमानः = निवेद्यत इति, तत्, नि + विद + णिच् + लट् (कर्ममें) + यक् + शानच् + अम्। काननरामणीयकं = रमणीयस्य भावो राम-णीयकम्, रमणीयशब्दसे "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय। "कामनीयकम्" ऐसे पाठमें भी कमनीयस्य भावः ऐसा विग्रह और पूर्व सूत्रसे वुञ्। अर्थ भी वही है। काननस्य रामणीयकं, तत् (ष० त०)। यहाँ

पर "रामणीयकम्" इस गुणवाचकपदके साथ 'कानन' पदका समास 'पूरणगुण-सुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन" इस सूत्रसे निषिद्ध था परन्तु "तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्" इत्यादि निर्देशसे वह निषेध अनित्य है, अत समास हुआ। व्यलोकयत्=वि+लोक्+णिच्+लङ्+तिप्। इस पद्यमें मञ्जुलत्वरूप एक गुणके साथ प्रसून और फल इन पदार्थोंका अभिसम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥" सा० द० १०-६६।

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः॥ ७७॥

अन्वयः—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समाधाय स्थितैः वने शाखिभिः महर्षिवार्द्धकात् तदातिथ्यम् अशिक्षि॥ ७७॥

व्याख्या—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते = पक्षिपातोत्पन्नवायुकम्पिते, महर्षिपक्षे—बाल्याद्यवस्थाऽपगमोत्पन्नवातदोषकम्पिते, पल्लवे करे=किसलये एव पाणौ, महर्षिपक्षे—पल्लवे = किसलये इव कोमल इति भावः, करे = पाणौ, फलानि= सस्यानि, पुष्पाणि च=कुसुमानि च, समाधाय = निधाय, स्थितैः = तिष्ठद्भिः, वने = उपवने, शाखिभिः = वृक्षैः, वेदशाखाऽध्यायिभिश्च, महर्षिवार्द्धकात् = वृद्धमहर्षिसङ्घात्, तदातिथ्यं = नलाऽतिथिसत्कारः, अशिक्षि = शिक्षितम्, नो चेत्कथमिदमाचरितमिति भावः॥ ७॥

अनुवादः—बाल्य आदि अवस्थाके बीतनेसे उत्पन्न वात दोषसे कम्पित पल्लवके समान हाथमें फलों और फूलोंको लेकर रहनेवाले वेदशाखाका अध्ययन करनेवाले बूढ़े महर्षियोंके समान वनमें पक्षियोंके उड़नेसे उत्पन्न हवासे हिलते हुए पल्लवरूप हाथमें फलों और फूलोंको लेकर रहनेवाले वृक्षोंने बूढ़े महर्षियोंसे राजाके आतिथ्यको सीखा॥ ७७॥

टिप्पणी—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते = वयसः अतिपातः (ष० त०), "खगबाल्यादिनोर्वयः" इत्यमरः। वयोऽतिपातेन उद्गतः (तृ० त०), स चाऽसौ वातः (क० धा०) तेन वेपितः, तस्मिन् (तृ० त०)। महर्षिपक्षमें "पल्लवे" यहाँपर पल्लव सदृशमें लक्षणा है। वृक्षपक्षमें "पल्लवे एव करे" इस प्रकार व्यस्तरूपक है। समाधाय = सम्+आङ्+धा+क्त्वा (ल्यप्)। शाखिभिः = शाखा (महर्षि-पक्षमें वेदशाखा) सन्ति येषां ते, तैः "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस

सूत्रसे इनि प्रत्यय। महर्षिवार्द्धकात् = महान्तश्च ते ऋषयः महर्षयः, 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः'' इस सूत्रसे समास और "आन्महतः समानाधिकरणजातीययो." इससे आत्व और अर् गुण। वृद्धानां समूहो वार्द्धकम्. 'वृद्ध' शब्दसे "वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्'' इस वार्तिकसे वुञ् प्रत्यय। महर्षीणां वार्द्धक, तस्मात् (ष० त०), सामर्थ्यसे वृत्ति के अन्तर्गत 'वृद्ध' शब्दका अन्वय होकर "शिवभागवत" पदके समान समास हुआ है। "आख्यातोपयोगे" इससे अपादानसंज्ञा होकर पञ्चमी। तदातिथ्यम्=अतिथये इदम् आतिथ्यम्='अतिथि' शब्दसे ''अतिथेर्ञ्यः'' इस सूत्रसे ञ्य प्रत्यय। तस्य आतिथ्यम् (ष० त०)। अशिक्षि = "शिक्ष विद्योपादाने" धातुसे कर्ममें लुङ्+त। इस पद्यमें "पल्लवे करे" यहाँपर व्यस्तरूपक, श्लेष और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ७७ ॥

विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवान्मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितम् ।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—कौतुकी स तत्र विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवात् मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितम् आशासु चरिष्णु दुर्यशः दधानं केतकं ददर्श ॥ ७८ ॥

व्याख्या—कौतुकी = कुतूहली, आरामदर्शन इति शेषः। सः = नलः, उपवने, विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवात् = विकसिदलपङ्क्तिस्थितभ्रमरच्छलात्, मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितं=शिवपरिहारोपार्जितम् आशासु=दिशासु, चरिष्णु = संचरणशीलं दुर्यशः = अपकीर्ति, दधानं = धारयत्, केतकं = केतकी कुसुमं, ददर्श = दृष्टवान् ॥ ७८ ॥

अनुवादः—उपवन देखनेके लिए कुतूहल रखनेवाले नलने वहाँपर विकसित पत्तोंकी पङ्क्तिमें स्थित भ्रमरके छलसे शिवजीके छोडनेसे उपार्जित तथा दिशाओंमें सञ्चरणशील अपकीर्तिको धारण करते हुए केतकी पुष्पको देखा ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—कौतुकी = कौतुकम् अस्याऽस्तीति, 'अतइनिठनौ'' इस सूत्रसे इनि प्रत्यय, कौतुक+इनिः। विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवात् = पत्त्राणाम् आलिः (ष० त०)। विनिद्रा चाऽसौ पत्त्राऽऽलिः (क० धा०)। विनिद्रपत्त्राल्गितः (द्वि० त०)। ते च ते अलयः (क० धा०)। विनिद्रपत्त्राऽऽलिगतालीनां कैतवं, तस्मात् (ष० त०)। मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितं = मृगः अङ्कः यस्य सः (बहु०)। चूडाया मणिः (ष० त० । मृगाङ्कः चूडामणिः यस्य सः (बहु०), शिव इत्यर्थः। मृगाऽङ्कचूडामणिना वर्जनम् (तृ० त०)। तेन

र्जितम् (तृ० त०) तत् । चरिष्णु = चरणशील तत्, 'चर' धातुसे "अलङ्कृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच्" इससे इष्णुच् । दुयश = दुष्ट यश, तत् "कुगतिप्रादय" इस सूत्रसे समास । कैतक = केतकया विकार (पुष्पम्) इति कैतक, तत् । 'केतकी' शब्दसे "तस्य विकार" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय, उसका "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इससे लुक और "लुक् तद्धितलुकि" इससे स्त्रीप्रत्ययका लुक् । ददर्श = दृश् + लिट् + तिप् ।

पूर्वकालमे ब्रह्मा और विष्णुके श्रेष्ठत्वके विषयमे विवाद होनेपर शिवलिङ्ग प्रकट हुआ और "इसका ऊर्ध्वभाग और अधोभाग जो देख सके वह श्रेष्ठ है" ऐसी आकाशवाणी के होनेपर ब्रह्मा ऊपर और विष्णु नीचे गये । विष्णु शिवलिङ्गका पार न पाकर लौट गये, परन्तु ब्रह्माजीने पार न पाकर भी मैंने पार पाया कहकर केतकी पुष्पको साक्षी बनाया । तब मिथ्याभाषणके कारण शिवजीने केतकी का वर्जन किया, अतएव "न केतक्या सदाशिवम्" ऐसे निषेधवचन का उद्गम हुआ, ऐसी पौराणिक प्रसिद्धि है । इस पद्यमे "अलिकैतवात्" इस पदमे अलित्वका अपह्नव कर उसमे दुर्यशस्त्वका स्थापन करनेसे कैतवापह्नुति अलङ्कार और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है । उन दोनोकी संसृष्टि है ॥ ७८ ॥

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत् ।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥ ७९ ॥

अन्वय —(हे केतक !) यत् (त्वम्) स्मरेण वियोगभाजा हृदि कण्टकैः कटुः कर्णिशरः (सन्) निधीयसे, ततो दुराकर्षतया तदन्तकृत् (सन्) मन्मथदेहदाहिना विगीयसे ॥ ७९ ॥

व्याख्या —अथ नल कामोद्दीपकत्वात्त्रिभि केतकमुपालभते वियोगभाजामिति । (हे केतक !) यत् = यस्मात्कारणात् (त्वम्), स्मरेण = कामदेवेन, वियोगभाजा = विरहिणा जनाना, हृदि = वक्ष स्थले, कण्टकैः = निजतीक्ष्णावयवैः, कटु = तीक्ष्ण, कर्णिशर = प्रतिलोमशल्यवद्बाण सन्, निधीयसे = निक्षिप्यसे, तत = तस्मात्कारणात्, दुराकर्षतया = दुरुद्धारतया, तदन्तकृत् = वियोगिनाशकारी सन्, मन्मथदेहदाहिना = स्मरहरेण विगीयसे = निन्द्यसे, अतएव परिह्रियसेऽपीति शेष ॥ ७९ ॥

अनुवाद हे केतकीपुष्प ! जो तुम कामदेवसे वियोगियोंके हृदयमें काँटोंसे तीक्ष्ण और नुकीला बाणवाला होकर रक्खे जाते हो, दुःखसे निकाला जानेवाला होकर वियोगियोंका प्राण लेनेसे महादेव तुम्हारी निन्दा करते हैं ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—वियोगभाजां = वियोगं भजन्तीति वियोगभाजः-तेषाम् वियोग-उपपदपूर्वक भज धातुसे "भजो ण्विः" इस सूत्रसे ण्विप्रत्यय (उपपद०)। कर्णिशरः = कर्ण इव कर्णः, सः अस्याऽस्तीति कर्णी, कर्ण + इनिः। कर्णी चाऽसौ शरः (क० धा०)। निधीयसे = नि-उपसर्गपूर्वक धा धातुसे कर्ममें लट्। दुराकर्षतया=दुःखेन आक्रष्टुं शक्यः दुराकर्षः, दुर् + आङ् + कृष् + खल् (उपपद०)। तस्य भावः तत्ता, तया, दुराकर्ष + तल् + टाप् + टा। तदन्तकृत् = तेषाम् अन्तः (ष० त०)। तदन्तं करोतीति, तदन्त + कृ + क्विप् (उपपद०)। विगीयसे = वि-उपसर्गपूर्वक गै धातुसे लट् (कर्ममें) थास् (से)। द्रव्य कामदेवके समान द्रव्यका साधन भी असह्य होता है, वह भी हिंसाशील हो तो क्या कहना है? यह तात्पर्य है। शिवजीसे की गयी कामनिन्दामें कामदेवसे की गयी वियोगि-हिंसाकी कारणताकी उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और केतकी पुष्पमें कर्णिशरत्वका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार, इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है।७९।

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ।
स्फुटं च पत्त्रैः करपत्त्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते॥ ८०॥

अन्वयः—त्वदग्रसूचीसचिवः स मनोभवः कामिनोः दुर्यशःपटौ सीव्यति। च करपत्त्रमूर्तिभिः पत्त्रैः वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते॥ ८०॥

व्याख्या—(हे केतक !) त्वदग्रसूचीसचिवः = त्वन्मूलसीवनीसहकारी, सः = प्रसिद्धः, मनोभवः = कामदेवः, कामिनोः = तरुणदम्पत्योः, दुर्यशःपटौ = अपकीर्तिवस्त्रे, सीव्यति = योजयति, कण्टकस्यूतं करोतीति भावः। च = किञ्च, करपत्त्रमूर्तिभिः = क्रकचाकारैः, पत्त्रैः = दलैः, वियोगिहृद्दारुणि = विरहिवक्षः-काष्ठे, दारुणायते = भीषणवत् आचरति॥ ८०॥

अनुवादः—(हे केतकीपुष्प !) तुम्हारी नोकरूप सुईकी सहायतासे कामदेव तरुण दम्पतियोंके अपकीर्तिरूप वस्त्रको सीता है और आरेके समान आकारवाले पत्तोंसे वियोगियोंके वक्षःस्थलरूप काष्ठमें भयङ्कर आचरण करता है।८०।

टिप्पणी—त्वदग्रसूचीसचिवः = तव अग्राणि त्वदग्राणि (ष० त०), युष्मद् शब्दके स्थानमें "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इस सूत्रसे उत्तरपदके परे रहते "त्वत्" आदेश हुआ है। त्वदग्राणि एव एव सूच्यः (रूपकम्)। त्वग्रसूच्यः एव सचिवा यस्य सः (बहु०)। मनोभवः=मनसि भवतीति, मनस् + भू + अच्। कामिनोः = कामिनी च कामी च कामिनौ, तयोः "पुमान् स्त्रिया" इस सूत्रसे एकशेष। दुर्यशःपटौ = दुष्टे यशसी (गति०), ते एव पटौ, तौ (रूपक०)। सीव्यति=

पितु तन्तुसन्ताने" धातुसे लट्+तिप् । "हलि च" इससे दीर्घ । करपत्र-मूर्तिभिः = करपत्रस्य इव मूर्तिर्येषां तानि करपत्रमूर्तीनि, तैः (व्यधिकरण-बहु०) । "क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्" इत्यमरः । वियोगिहृद्दारुणि=वियोगिनः हृत् (ष० त०) । वियोगिहृत् एव दारु, तस्मिन् (रूपक०) । "काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधं इध्ममेधः समित्स्त्रियाम् ।" दारुणायते=दारुणवत् आचरति, 'दारुण' शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इससे क्यङ्+लट्+त । इस पद्यमें रूपक और उपमा का संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ८० ॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन् ।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन केतकम् ॥ ८१ ॥

अन्वय —(हे केतक !) "प्रसूनधन्वा धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि तव परागैः धूलिहस्तयन् भीमजापरं मां शरसात् करोति", इति तेन क्रुधा केतकम् आक्रुश्यत ॥ ८१ ॥

व्याख्या—(हे केतक !) प्रसूनधन्वा = पुष्पचापः, काम इति भावः । धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि = कार्मुक (पुष्प) मकरन्दार्द्रपाणिः सन् अपि, तव=केतकीपुष्पस्य, परागैः = रजोभिः, धूलिहस्तयन् = धूलिहस्तम् आत्मानं कुर्वन्, अन्यथा धनुः स्रस्तमस्थादिति भावः, भीमजापरं = दमयन्त्यासक्तं, मां = नलं, शरसात् = शराधीनं, करोति = विदधाति, इति=इत्थं, श्लोकत्रयोक्त्या इति भावः । तेन= नलेन, क्रुधा = क्रोधेन, केतकं = केतकीपुष्पम्, आक्रुश्यत = आक्रुष्टं, निन्दित-मिति भावः ॥ ८१ ॥

अनुवाद —("हे केतकीपुष्प !) पुष्परूप धनुको लेनेवाला कामदेव पुष्प-रूप धनुके मकरन्द (रस) से आर्द्रपाणि होकर भी तेरे परागसे हाथको धूलि-युक्त करता हुआ दमयन्तीमें आसक्त मुझको बाणका लक्ष्य बनता है" इस प्रकारसे (तीन श्लोकोंकी उक्तिसे) नलने केतकीपुष्पकी निन्दा की ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—प्रसूनधन्वा = प्रसूनं धन्व यस्य सः (बहु०) । "धनुश्चापौ धन्व शरासनकोदण्डकार्मुकम् ।" इत्यमरः । अथवा प्रसूनं धनुः यस्य सः (बहु०), "धनुषश्च" इस सूत्रसे विकल्पसे अनङ् । "पुष्पधन्वा रतिपतिः" इत्यमरः । धनु-र्मधुस्विन्नकरः=धनुषः मधु (ष० त०), "मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि" इत्यमरः । स्विन्नः करः यस्य सः (बहु०) । धनुर्मधुना स्विन्नकरः (तृ० त०) । परागैः= "परागः सुमनोरजः" इत्यमरः । धूलिहस्तयन्=धूलियुक्तो हस्तः धूलिहस्तः, "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे मध्यमपद-

लोपी समास । धूलिहस्तं कुर्वन् धूलिहस्तयन्, "धूलिहस्त" शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर लट्के स्थानमें शतृ आदेश । भीमजापरं = भीमाज्जाता भीमजा, भीम+जन्+टाप् । भीमजायां परः, तम् (स० त०) । शरसात्=शराऽधीनम्, "शर" शब्दसे "तदधीनवचने" इस सूत्रसे साति प्रत्यय । करोति =कृ+लट्+तिप् । क्रुधा="कोपक्रोधाऽमर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ" इत्यमरः । आक्रुश्यत=आङ्–उपसर्गपूर्वक "क्रुश आह्वाने रोदने च" धातुसे कर्ममें लङ्+त । इस पद्यमें कामका धनु (फूल) के रससे आर्द्र हाथ होनेका, केतकी के रजवाला हाथ होनेका और नलकर्तृक कामनिन्दाका भी सम्बन्ध न होनेपर भी तत्तत्सम्बन्धकी उक्ति होनेसे तीन अतिशयोक्ति अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ८१ ॥

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये घटानिवाऽपश्यदलं तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥ ८२ ॥

अन्वयः—स दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये अलं तपस्यतः धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटान् इव फलानि अपश्यत् ॥ ८२ ॥

व्याख्या—सः=नलः, दोहदधूपिनि = फलवर्द्धकदोहदधूपयुक्ते, दाडिमे = करके, द्रुमे=वृक्षे, विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये = दमयन्तीपयोधरोन्नततालाभाय, अलम् = अत्यर्थं, तपस्यतः = तपश्चरतः अतः धूमस्य = दोहदधूमस्य, धयान् = पातॄन्, पानकारिण इत्यर्थः, अधोमुखान् = अवनतवदनान्, घटान् इव=कुम्भान् इव, फलानि = दाडिमफलानि, अपश्यत् = दृष्टवान्, उन्नतिलाभार्थमन्येऽपि अधोमुखत्वेन धूमं पीत्वा तपश्चरन्तीति भावः ॥ ८२ ॥

अनुवादः—नलने (फलादिवर्द्धक) दोहदधूपवाले अनारके पेड़में दमयन्तीके पयोधरोंकी ऊँचाई पानेके लिए अत्यन्त तपस्या करते हुए और धूमको पीनेवाले अधोमुख घटोंके समान फलोंको देखा ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—दोहदधूपिनि=दोहदश्चासौ धूपः (क० धा०) । वृक्ष, गुल्म और लताओंमें फूल और फल उत्पन्न होनेके समयसे पूर्व ही फूल और फलोंके उत्पादनके लिए जिस द्रव्यका उपयोग किया जाता है उसे "दोहद" कहते हैं । जैसे कि—

"तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् ।
पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ।" (शब्दार्णव) ।

दोहदधूपः अस्याऽस्तीति दोहदधूपी, तस्मिन् (दोहदधूप+इनि+ङि) । दाडिमे="समौ करकदाडिमौ" इत्यमरः । विदर्भसुभ्रूस्तवतुङ्गताऽऽप्तये=शोभने

भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः (बहु०), विदर्भेषु सुभ्रूः, दमयन्तीत्यर्थः (स० त०), विदर्भसुभ्रुवः स्तनौ (ष० त०)। तुङ्गस्य भावः तुङ्गता, तुङ्ग+तल्+टाप्। विदर्भसुभ्रूस्तनयोः तुङ्गता (ष० त०), तस्या आप्तिः, तस्मै (ष० त०), "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इस वार्तिकसे चतुर्थी। तपस्यतः = तपश्चरतीति तपस्यन्, तस्य, "तपस्" शब्दसे "कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः" इस सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय और "तपसः परस्मैपदं च" इससे परस्मैपद होकर लट् (शतृ)+ङस्। धयान् = धयन्तीति धयाः, तान् "धेट् पाने" धातुसे "पाघ्राध्माधेट्दृशः शः" इस सूत्रसे श प्रत्यय। अधोमुखान् = अधो मुखं येषां ते, तान् (बहु०)। अपश्यत् = दृश (पश्य)+लङ्+तिप्। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।८२।

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम्।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगाम् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—असौ वियोगिनीं प्रियस्मृतेः स्पष्टम् उदीतकण्टकां फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगां दाडिमीम् ऐक्षत ॥ ८३ ॥

व्याख्या—असौ = नलः, वियोगिनीं = पक्षियोगिनीं, विरहिणीं च। प्रियस्मृतेः=प्रीतिकरणदोहदादिस्मरणात्, नायकस्मरणाच्च। स्पष्टं = व्यक्तम्, उदीतकण्टकाम् = उत्पन्नतीक्ष्णाऽग्रावयवाम्, उत्पन्नरोमाञ्चां च, फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकाऽऽस्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगां = दाडिमीफलस्यस्फुटितरक्तहृदयप्रविशत्कीरमुखकामपलाशबाणां, दाडिमी-दाडिमवृक्षं, कामिनायिकां च, ऐक्षत = अपश्यत् ॥ ८३ ॥

अनुवाद.—जिसपर तोता बैठा था, प्रियके स्मरणसे रोमाञ्चसे युक्त वियोगिनी स्त्रीके समान कण्टकयुक्त नायिकाके फलसदृश स्तनोंके भीतर अनुरागयुक्त विदीर्ण हृदयमें प्रविष्ट कामदेवके पलाशपुष्परूप बाणके सदृश जिसके विदीर्ण लाल फलमें प्रविष्ट तोतेकी चोंच दिखाई पड़ती थी ऐसी दाडिमी (अनार के पेड़) को राजा नलने देखा ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—वियोगिनी = वियोगः अस्याः अस्तीति वियोगिनी, ताम्, वियोग+इनि+ङीप्। दाडिमी (दाडिम) वृक्ष में यह व्युत्पत्ति है। विना (पक्षिणा) योगिनी (संयुक्ता) (तृ० त०) विरहिणी स्त्रीमें यह व्युत्पत्ति है। प्रियस्मृतेः = प्रियस्य (कान्तस्य, प्रीतिकारकदोहदादेर्वा) स्मृतिः, तस्याः (ष० त०)। उदीतकण्टकाम् = उदीयन्ते स्म इति उदीताः, उद् उपसर्गपूर्वक "ईङ् गतौ" इस दिवादि धातुसे कर्ताके अर्थमें क्त प्रत्यय। उदीताः कण्टकाः (रोमाञ्चाः, तीक्ष्णा-

ऽग्रावयवा: वा) यस्या: सा उदीतकण्टका, ताम् (बहु०)। फलस्तनस्थान-विदर्णरागिहृद्विशच्छुकाऽऽस्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगां = फलानि एव स्तनौ (रूपक०), तौ एव स्थानम् (रूपक०)। तस्मिन् विदीर्णम्(स० त०) । दाडिमी (अनार) के पक्षमें पकनेसे विदीर्ण, नायिकाके पक्षमें विरहके तापसे विदीर्ण। राग: अस्याऽस्तीति रागि (राग+इनि)। दाडिमी फलके पक्षमें राग (लाल वर्ण) वाला, नायिकाके पक्षमें अनुरागवाला। फलस्तनस्थानविदीर्णरागि च तत् हृत् (क० धा०)। दाडिमी पक्षमें हृत् = मध्य भाग, नायिका पक्षमें-हृदय प्रदेश। शुकस्य आस्यम् (ष० त०)। किंशुकम् एव आशुग: (रूपक०)। स्मरस्य किंशुकाऽऽशुग: (ष० त०)। विशति इति विशत्, विश्+लट् (शतृ) विशच्च तत् शुकास्यम् (क० धा०)। अनारका बीज खानेके लिए घुसता हुआ यह तात्पर्य है। फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृदि विशच्छुकास्यम् (स० त०) स्मरस्य किंशुगाऽऽशुग: (ष० त०)। फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यम् एव स्मरकिंशुकाऽऽशुग: यस्या: सा, ताम् (बहु०)। इस पद्यमें श्लिष्ट एकदेश-विवर्ति रूपक अलङ्कार है ॥ ८३ ॥

स्मराऽर्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाऽशनात्।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥ ८४ ॥

अन्वय:--स: स्मराऽर्द्धचन्द्रेपुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि क्रशीयसाम् अध्वजुषां पलाऽशनात् स्फुटं पलाशे अन्वितं वृन्तं कालखण्डजं खण्डम् आलोकत् ॥ ८४ ॥

व्याख्या—नल: नैषध:, स्मरार्धचन्द्रेपुनिभे = कामाऽर्धचन्द्राकारवाणसदृशे, वियोगिहृत्खण्डिनि = विरहिहृदयच्छेदिनि, क्रशीयसां = कृशतराणाम्, अध्वजुषां =पान्थानां, पलाशनात् = मांसभक्षणात्, स्फुटे = प्रकटम् एव, पलाशे = अन्वर्थके पलाशे, किंशुकपुष्पे। अन्वितं = सम्बद्धं, वृन्तं = प्रसवबन्धनं तदेव कालखण्डजं खण्डं = यकृत्खण्डम्, कृष्णवर्णत्वादिति भाव:। आलोकत=दृष्टवान् ॥८४।

अनुवाद:--नलने कामदेवके अर्धचन्द्राकार बाणके सदृश, विरही जनोंके हृदयको खण्डित करनेवाले और प्रिया वियोगसे अत्यन्त दुर्बल पथिकोंके पल-(मांस) को भक्षण करनेसे अन्वर्थ पलाशकी कलीमें सम्बद्ध प्रसवबन्धनको कलेजेके टुकड़ेके समान देखा ॥ ८४ ॥

टिप्पणी--स्मराऽर्धचन्द्रेपुनिभे = अर्धं चन्द्रस्य अर्धचन्द्र:, "अर्धं नपुंसकम्" इससे समास:। अर्धचन्द्राकार इषु: अर्धचन्द्रेषु: (मध्यमपदलोपी समास)। स्मरस्य अर्धचन्द्रेषु: (ष० त०) स्मराऽर्धचन्द्रेषुणा सदृशं स्मराऽर्धचन्द्रेपुनिभम्

तस्मिन् (तृ० त०) । नित्यसमास होनेसे अस्वपद विग्रह । "स्युरुत्तरपदेत्वमी । निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादय ।" इत्यमरः । यह "पलाशे" इस पदका विशेषण है । वियोगिहृत्खण्डिनि = वियोग अस्ति येषा ते वियोगिन , वियोग + इनि । वियोगिना हृत (ष० त०) । तत्खण्डयतीति वियोगिहृत्खण्डि, तस्मिन्, वियोगिहृत् + खडि + णिनि + ङि । यह भी "पलाश" का विशेषण है । क्रशीयसाम्=अतिशयेन कृशा क्रशीयास , तेषाम्, "कृश" शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे ईयसुन् प्रत्यय और "र ऋतो हलादेर्लघो " इस सूत्रसे 'ऋ' के स्थानमे "र" आदेश । अध्वजुषाम् = अध्वान जुषन्ते इति अध्वजुष , तेषाम्, "अध्वन्" उपपदपूर्वक "जुषी प्रीतिसेवनयो " धातुसे क्विप् (उपद०) । पलाऽशनात् = पलस्य अशन, तस्मात् (ष० त०) । "पलमुन्मानमांसयो " इति हैम । अन्वितम्=अनु + इण + क्त । वृन्त = "वृन्त प्रसवबन्धनम्" इत्यमर । कालखण्डज = कालखण्डात् जात, तत्, कालखण्ड + जन् + ड । "कालखण्डयकृती तु समे इमे" इत्यमर । हिन्दी मे कालखण्डको "कलेजा" कहते हैं । आलोक्त = आङ्-उपसर्गपूर्वक "लोकृ दर्शने" धातुसे लङ् + त । इस पद्यमे "स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे" यहाँपर उपमा और "कालखण्डज खण्डम्" यहाँपर इव आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इस प्रकार दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ ८४ ॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दराऽऽदराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥ ८५ ॥

अन्वय —गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरैः करम्बिताङ्गी स्मितशोभिकुड्मला दरकम्पिनी नवा लता नृपेण दराऽऽदराभ्या दशा पपे ॥ ८५ ॥

व्याख्या—गन्धवहेन=वायुना, चन्दनाद्यनुलिप्तेन पुरुषेण च, चुम्बिता = स्पृष्टा, कृतमुखसयोगा च, मकरन्दशीकरै =पुष्परसकणै , करम्बिताऽङ्गी=मिश्रिताऽवयवा, कस्यचित्पुरुषस्य स्पर्शेन स्वेदयुक्ताऽङ्गी च । स्मितशोभिकुड्मला = विकासरम्यमुकुला, मधुरहासमनोहरदशनमुकुला च, दरकम्पिनी = वातस्पर्शात् ईषत्कम्पिनी, पुरुषस्पर्शात्सात्त्विककम्पयुक्ता च, नवा = नूतना, लता = वल्ली, लतासदृशी कान्ता च, नृपेण=नलेन, दराऽऽदराभ्या = भयतृष्णाभ्याम्, उपलक्षितेन सता, कामोद्दीपनाद्भय प्रियासादृश्यात् आदरश्चेति भाव । दृशा = नेत्रेण करणेन, पपे = पीता, सालसया अवलोकितेति भाव ॥ ८५ ॥

अनुवाद —चन्दन आदिसे अनुलिप्त किसी पुरुषसे चुम्बित, पुरुषके स्पर्शसे

स्वेदयुक्त शरीरवाली, मन्द हास्यसे मुकुलके समान दन्तोंवाली और पुरुषके स्पर्श से कुछ कम्पसे युक्त किसी नायिकाकी समान वायुसे स्पृष्ट, पुष्परसोंसे मिश्रित अवयवोंवाली मन्दहास्योंके समान कोंपलोंसे शोभित होनेवाली और हवासे कुछ हिलनेवाली नयी लताको राजा नलने भय और आदरके साथ नेत्रोंसे पान किया (इच्छापूर्वक देख लिया) ।। ८५ ।।

टिप्पणी — गन्धवहेन = गन्धं वहतीति गन्धवहः, तेन गन्ध + वह + अच् (उपपद०) । "पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहाऽनिलाऽऽशुगाः ।" इत्यमरः । समासोक्ति अलङ्कार होनेसे प्रस्तुत गन्धवह आदि शब्दोंसे अप्रस्तुत नायक आदि अर्थ भी प्रतीत होते है । चुम्बिता = चुबि + क्त (कर्ममें) + टाप् । मकरन्दशीकरैः = मकरन्दस्य शीकराः, तैः (ष० त०) । "मकरन्दः पुष्परसः" इति "शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः," इति चाऽमरः । करम्बिताऽङ्गी = करम्बितानि अङ्गानि यस्या सा (बहु०), "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इससे ङीष् । "करम्बितं मिश्रिते स्यात् खचिते च" इति त्रिकाण्डशेषः । स्मितशोभिकुड्मला= स्मितवत् शोभन्ते इति स्मितशोभिनः, स्मित + शुभ् = णिनिः (उपपद०) स्मितशोभिनः कुड्मलाः यस्याः सा (बहु०), कुडमल शब्दका अप्रस्तुत अर्थ दन्त है । दरकम्पिनी = दरम् (ईषत्) कम्पते तच्छीला दर + कपि + णिनि + ङीप् । प्रस्तुत लताके पक्षमे हवासे कुछ हिलनेवाली और अप्रस्तुत नायिकापक्षमें नायकके स्पर्शसे सात्त्विक कम्पवाली ऐसा तात्पर्य होता है । दराऽऽदराभ्यां=दरं च आदरश्च दराऽऽदरौ, ताभ्याम् (द्वन्द्वः) । "इत्थंभूतलक्षणे" इससे तृतीया । "दरोऽस्त्री शखभीगतेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्" इति वैजयन्ती । उद्दीपक होनेसे डर और प्रिया दमयन्तीके सादृश्यसे आदरसे युक्त राजाने लालसापूर्वक लताको देखा यह तात्पर्य है । पपे = पा + लिट् (कर्मणि) । इस पद्यमे श्लिष्ट विशेषणसाम्यसे, लिङ्गसाम्यसे और कार्यसाम्यसे भी प्रस्तुत लतामें अप्रस्तुत नायिकाके व्यवहारसाम्यसे समासोक्ति अलङ्कार है ।। ८५ ।।

विचिन्वतीः पान्यपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बराऽरेर्बलिदीपिका इव ।। ८६ ।।

अन्वयः - सः अलिकज्जलच्छलात् पान्थपतङ्गहिंसनैः अपुण्यकर्माणि विचिन्वतीः शम्बराऽरेः बलिदीपिका इव चम्पककोरकाऽऽवलीः व्यलोकयत् ।। ८६ ।।

व्याख्या — सः नलः, अलिकज्जलच्छलात्=भ्रमराऽञ्जनकैतवात्, पान्थपतङ्गहिंसनैः = पथिकपक्षिवधैः, अपुण्यकर्माणि = पापक्रियाः, विचिन्वतीः=संगृह्णतीः,

हिंसापापकारिणीरित्यर्थः । शम्बरारेः = कामदेवस्य, बलिदीपिका इव = पूजा-प्रदीपान् इव, चम्पककोरकाऽऽवली = चम्पकपुष्पकलिकाश्रेणी, व्यलोकयत् = अपश्यत् ॥ ८६ ॥

अनुवाद—नलने भ्रमररूप कज्जलके छलसे पान्थरूप पक्षियोंके वधसे पाप कर्मोंको इकट्ठा करती हुई, कामदेवकी पूजाके प्रदीपोंके समान चम्पक पुष्पोंकी कलियोंको देखा ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—अलिकज्जलच्छलात् = अलयः कज्जलानि इव अलिकज्जलानि, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास । अलिकज्जलानां छल, तस्मात् (ष० त०) । पान्थपतङ्गहिंसनैः = पन्थानं नित्यं गच्छन्तीति पान्थाः, पथिन् शब्दसे "पन्थो ण नित्यम्" इस सूत्रसे ण प्रत्यय, पन्थ आदेश और आदि वृद्धि, "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि ।" इत्यमरः । पान्था एव पतङ्गाः (रूपक०) । "पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च" इत्यमरः । पान्थपतङ्गानां हिंसनानि तैः (ष० त०) । अपुण्यकर्माणि = पुण्यानि च तानि कर्माणि (क० धा०) । न पुण्यकर्माणि, तानि (नञ०) । विचिन्वती = विचिन्वन्तीति विचिन्वन्त्यः ता वि + चिञ् + लट् (शतृ) + ङीप् = शस् । शम्बरारेः = शम्बरस्य अरिः, तस्य (ष० त०) । "शम्बरारिर्मनसिजः । इत्यमरः । बलिदीपिका = बलेः दीपिकाः, ताः (ष० त०) । चम्पककोरकाऽऽवली = कोरकाणाम् आवल्यः (ष० त०) । चम्पकानां कोरकावल्यः, ताः (ष० त०) । व्यलोकयत् = वि + लोक + णिच् + लङ् + तिप् । इस पद्यमें रूपक कैतवाऽपह्नुति, उत्प्रेक्षा और उपमा इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८६ ॥

अमन्यताऽसौ कुसुमेषु गर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुराऽरये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

अन्वय—असौ कुसुमेषुगर्भजं वियोगिनाम् अन्धङ्करणं परागं पुरा स्मरेण पुराऽरये मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं तदङ्गभस्म इव अमन्यत ॥ ८७ ॥

व्याख्या—असौ = नलः, कुसुमेषुगर्भजं = पुष्परूपबाणाऽभ्यन्तरजातं, "कुसुमेषु गर्भगम्" इति पाठान्तरे कुसुमेषु पुष्पेषु गर्भगम् = अन्तःस्थितमित्यर्थः । वियोगिनां = विरहिणाम्, अन्धङ्करणं नेत्रोपघातकं, परागं = सुमनोरजः, पुरा= पूर्वं, स्मरेण = कामदेवेन, पुराऽरये = शिवाय, मुक्तेषु = निक्षिप्तेषु, शरेषु = बाणेषु, सङ्गतं = ससक्तं, तदङ्गभस्म इव = पुरारिवपुर्भसितम् इव, अमन्यत = उत्प्रेक्षितवान् ॥ ८७ ॥

अनुवाद—राजाने फूलोंके भीतर रहे हुए, विरहियोंको अन्धा करानेवाले

परागको पूर्वकालमें कामदेवसे महादेवको लक्ष्य कर छोड़े हुए पुष्परूप बाणोंमें लगा हुआ महादेव के अङ्गमें संसक्त भस्मके समान जाना ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—कुसुमेषुगर्भजं = कुसुमानि एव इषवः (रूपक०) गर्भे जातः गर्भजः, गर्भ + जन् + ड (उपपद०) कुसुमेषूणां गर्भजः, तम् (ष० त०)। अन्धङ्करणम् = अनन्धान् अन्धान् कुर्वन्ति अनेन इति, अन्ध-उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नाऽन्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन्" इस सूत्रसे ख्युन् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इस सूत्रसे मुम्। पुराऽरये= पुराणाम् अरिः, तस्मै (ष० त०)। तदङ्गभस्म = तस्य अङ्गं (ष० त०), तस्मिन् भस्म (स० त०) इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम्।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—दूनः नलः वने पिकान् भृङ्गहुङ्कृतैः वियोगिनां दशाम् उदञ्चत्करुणं शृण्वति अनास्थया सूनकरप्रसारिणी स्थलपद्मिनी ददर्श ॥ ८८ ॥

व्याख्या—दूनः = उपतप्तः, दमयन्तीविरहेणेति शेषः। नलः = नैषधः, वने = उपवने श्रोतरि, पिकात् = कोकिलात् वक्तुः, सकाशात्, भृङ्गहुङ्कृतैः = भ्रमरहुङ्कारैः, वियोगिनां = विरहिणां, दशाम् = अवस्थां, दुःखाऽवस्थामित्यर्थः। उदञ्चत्करुणम् = उद्यत्कृपम्, विकसद्वृक्षविशेषं च यथा तथा, शृण्वति = आकर्णयति सति, अनास्थया = श्रोतुम् अनिच्छया, सूनकरप्रसारिणीं = पुष्परूपहस्तविस्तारिणी, निवारयन्तीम् इव स्थिताम् इति भावः। स्थलपद्मिनी = स्थलकमलिनी, ददर्श = दृष्टवान्। यथा कस्मिंश्चिज्जने कस्माच्चिज्जनात् विरहिजनानां दुखपूर्णावस्थां श्रवणद्योतकहुङ्कारशब्देन शृण्वति काचित्सहृदया हस्तं प्रसार्य निषेधति तथैव उपवने श्रोतरि कोकिलाद्वक्तुः भृङ्गहुङ्कारैः वियोगिनां दशां साऽनुकम्प शृण्वति सति अनिच्छया पुष्परूपहस्तप्रसारिणी स्थलकमलिनी नलो ददर्शेति भावः ॥ ८८ ॥

अनुवादः—दमयन्तीके विरहसे संतप्त नलने सुननेवाले उपवनके वक्ता कोकिलसे भौंरोंके हुङ्कारोंसे वियोगियोंकी दुर्दशाको करुणापूर्वक सुननेपर अनिच्छासे पुष्परूप हाथको फैलाकर (निषेध करनेवालीके समान) स्थलकमलिनीको देखा ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—दूनः = "टुदु उपतापे" धातुसे कर्ताके अर्थमें क्त प्रत्यय और "ल्वादिभ्यः" इससे "त" के स्थानमें 'न' कार और "दुग्वोर्दीर्घश्च" इससे दीर्घत्व। भृङ्गहुङ्कृतैः = भृङ्गाणां हुङ्कृतानि तैः (ष० त०)। उदञ्चत्करुणं = उदञ्चन्ती

(उद्यती) करुणा यस्मिन् (कर्मणि) तद् यथा तथा (बहु०)। दूसरे पक्षमें उदञ्चन्त (विकसन्त) करुणा (वृक्षविशेषा) यस्मिंस्तद् यथा तथा (बहु०)। जैसे करुणवृक्ष विकसित होते हैं उस तरह। "करुणस्तु रसे वृक्षे, कृपायां करुणा मता।" इति विश्व। शृण्वति॥ श्रु + लट् (शतृ) + ङि। अनास्थया= न आस्था, तया (नञ्०)। सूनकरप्रसारिणी = सूनम् एव कर (रूपक०)। सूनकर प्रसारयतीति तच्छीला, ताम् सूनकर + प्र + सृ + णिच् + णिनि + ङीप + अम्। ददर्श= दृश् + लिट + तिप्। इस पद्यमें स्थलपद्मिनी और नलमें कार्यसे स्त्री और पुरुषके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार, रूपक और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इनमें अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ८८॥

रसालसाल समदृश्यताऽमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम्॥ ८९॥

अन्वयः—अमुना स्फुरद्द्विरेफाऽऽरवरोषहुङ्कृति समीरलोलैं मुकुलैं वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् इव रसालसाल समदृश्यत॥ ८९॥

व्याख्या—अमुना = नलेन, स्फुरद्द्विरेफाऽऽरवरोषहुङ्कृतिः = सचलद्भ्रमरझङ्कारकोपहुङ्कार, समीरलोलैं = वायुचञ्चलैं, मुकुलैं =कुड्मलैः, अङ्गुलिमिरिवेति भाव। वियोगिने=विरहिणे, जनाय=लोकाय, तर्जनाभियं = भर्त्सनाभयं, दित्सन् इव = दातुम् इच्छन् इव, रसालसाल = आम्रवृक्ष, समदृश्यत = सम्यग् दृष्ट॥ ८९॥

अनुवाद—नलने घूमते हुए भौंरोके झङ्काररूप क्रोधका हुङ्कारवाला और वायुसे चञ्चल उँगलियोंके समान मुकुलोसे विशोगी जनको भर्त्सनके भयको देनेकी इच्छा करते हुएके समान आमके पेड़को देखा॥ ८९॥

टिप्पणी—स्फुरद्द्विरेफाऽऽरवरोषहुङ्कृति =द्वौ रेफौ येषा ते द्विरेफा (बहु०), द्विरेफ शब्द लक्षितलक्षणासे भ्रमरमें दो रेफ होनेसे उसका लक्षक है। "द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमराऽलय।" इत्यमर। स्फुरन्तश्च ते द्विरेफा (क०धा०)। तेषाम् आरव (ष० त०)। रोषस्य हुङ्कृति (ष० त०)। स्फुरद्द्विरेफारव एव रोषहुङ्कृति यस्य॥ (बहु०)। समीरलोलै =समीरेण लोला, तै (तृ० त०)। तर्जनाभियं = तर्जनाया भी, ता (ष० त०), "भीत्रार्थाना भयहेतु" इससे पञ्चमी होकर 'भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्" इससे समास। दित्सन्= दातुम् इच्छन्, सन्प्रत्ययाऽन्त 'दा' धातुसे द्वित्व, लटके स्थानमें शतृ आदेश, "सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस्" इससे इस्, "अत्र लोपोऽभ्यासस्य"

इससे अभ्यासका लोप, "सः स्यार्धधातुके" इससे सकारके स्थानमें तकार आदेश। रसालसालः = रसालश्चाऽसौ सालः (क० धा०)। समदृश्यत=सं=दृश + लङ् (कर्ममें) + त। इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षा, इनका अङ्गाऽङ्गिभावसे सङ्कर है ॥ ८९ ॥

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च।

इतीव पान्थं शपतः पिकान्द्विजान्सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥ ९० ॥

अन्वयः—रे ! त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि, पुनः पुनः मूर्च्छ च; मृत्युम् ऋच्छ च" इति पान्थ शपत इव लोहितेक्षणान् पिकान् द्विजान् स सखेदम् ऐक्षिष्ट ॥ ९० ॥

व्याख्या—रे = हे दीन !, त्वं, दिने दिने = प्रतिदिनम्, अधिकं = भृशं, तनुः = कृशः, एधि = भव, पुनः पुनः = भूयो भूयः, मूर्च्छ च = मूर्च्छां प्राप्नुहि च, किं बहुना—मृत्युं = मरणम्, ऋच्छ च = गच्छ च, इति = इत्थं, पान्थं = पथिकं, शपत इव = आक्रोशत इव, लोहितेक्षणान् = रक्तदृष्टीन्, कोकिलपक्षे स्वभावतः ब्राह्मण पक्षे रोषात इति बोद्धव्यम्। द्विजान् = पक्षिणः, कोकिलान्, पक्षान्तरे ब्राह्मणान्, सः = नलः, सखेद = विषादपूर्वकम्, ऐक्षिष्ट = दृष्टवान्, स्याऽपि उक्तशङ्कयेति भावः ॥ ९० ॥

अनुवादः—"रे पान्थ ! तुम प्रतिदिन अधिक कृश बनो, फिर फिर मूच्छित हो जाओ, मृत्युको भी प्राप्त करो" इस प्रकारसे पथिकको शाप देते हुएके समान लाल नेत्रोंवाले पक्षियों (कोयलों) को क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले ब्राह्मणोके समान नलने खेदके साथ देखा ॥ ९० ॥

टिप्पणी—अधिकम् = यह क्रियाविशेषण है। एधि = "अस भुवि" धातुसे लोट्के 'हि' के स्थानमे "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इससे "धि" आदेश, "ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इससे एत्व और श्नसोरल्लोपः इससे अकारका लोप। मूर्च्छ = 'मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोः" धातुसे लोट्+सिप्। ऋच्छ = ऋच्छ+लाट्+सिप्। पान्थम् = पथिन् (पन्थ)+ण+अम्। यहाँपर ज्ञीप्स्यमानत्व (ज्ञापनमे इष्टत्व) के न होनेसे "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" इस सूत्रसे सम्प्रदानके न हानेसे द्वितीया। शपतः=शपन्तीति शपन्तः, तान् "शप अ क्रोशे" धातुसे लट् (शतृ)+शस्। उपालम्भ न होनेसे आत्मनेपद नही हुआ। लोहितेक्षणान्=लोहिते ईक्षणे येषां, तान् (बहु०)। कोकिल स्वभावसे ही और ब्राह्मण कोपसे लाल नेत्रोंवाले है यह तात्पर्य है। द्विजान् = द्विर्जायन्ते इति द्विजाः, तान्। "अन्येष्वपि दृश्यते"

इससे ड प्रत्यय। सखेद =खेदेन सहित यथा तथा (तुल्ययोग बहु०)। ऐक्षिष्ट= ईक्ष + लुङ + त। इस पद्यमे 'शपत इव' यहाँपर उत्प्रेक्षा अलकार है और "द्विज" पदसे ब्राह्मण अर्थका भी बोध होनेसे उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है अत (उत्प्रेक्षा) अलकारसे अलकार ध्वनि है ॥ ९० ॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखर निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा।
स धूमकेतु विपदे वियोगिनामुदीतमाशङ्कितवानशङ्कत ॥ ९१ ॥

अन्वय —अलिस्रजा उच्चशेखर चाम्पेय कुड्मलम् अधीरया दृशा निपीय आशङ्कितवान् स वियोगिना विपदे उदीत धूमकेतुम् अशङ्कत ॥ ९१ ॥

व्याख्या—अलिस्रजा = भ्रमरपङ्क्त्या, उच्चशेखरम् = उन्नतशिरोभूषण, भ्रमरमालिनाऽङ्कमिति भाव। चाम्पेय = चम्पकविकार, कुड्मल = मुकुलम्, अधीरया = धैर्यरहितया दृशा = दृष्ट्या, निपीय = सादर दृष्ट्वा आशङ्कितवान् = भीत किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवानिति भाव। स = नल, वियोगिना = विरहिणा, विपद = विनाशसूचनाय, उदीतम् =उदित धूमकेतुम् = अशुभसूचक तारापुञ्जम, अशङ्कत शङ्कितवान् ॥ ९१ ॥

अनुवाद —भ्रमरोकी पङ्क्तियोसे ऊँचे शिरोभूषणवाली चम्पाकी कलीको अधीर दृष्टिसे देखकर अनिष्टकी आशङ्का करनेवाले नलने उसमे वियोगियोके विनाशके लिए उठे हुए धूमकेतु होनेकी शङ्का की ॥ ९१ ॥

टिप्पणी अलिस्रजा = अलीना स्रक् तया (ष० त०)। उच्चशेखरम् = उच्च शेखरो यस्य, तम (बहु०), चाम्पय = चम्पाया अपत्य पुमान् चाम्पेय, तम् "स्त्रीभ्यो ढक्" इससे ढक् (एय) प्रत्यय और 'किति च" इससे आदि-वृद्धि। यहाँपर मल्लिनाथजीने "न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत्" ऐसी उक्ति होनेसे भौरोमे चम्पाकी कली कैसे उन्नत हुयी ऐसी आशङ्का कर भौरा उसे छूकर मर जाता है, इतनेसे ऐसी प्रसिद्धि हो गयी, अथवा चाम्पेय कहनेसे यहाँ-पर नागकेसर लेना चाहिए इस प्रकार उसका परिहार किया है। "अथ चाम्पे-यश्चम्पको हेमपुष्पक" इति "एतस्य कलिका गन्धफली स्यात्" इति "चाम्पय केशरो नाग कसर काञ्चनाह्वय।' इति चाऽमर। अधीरया = न धीरा, तया (नञ)। निपीय = नि + पा + क्त्वा ल्यप्)। आशङ्कितवान् आङ + शकि + क्तवतु + सु। विपदे = तादर्थ्यमे चतुर्थी। धूमकेतु = धूमप्रधान केतु, तम् (मध्यमपदलापी स०)। "अग्न्युत्पातौ धूमकेतु" इत्यमर। अशङ्कत = शकि + लङ् + त। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलकार है ॥ ९१ ॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेशरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—स गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेशरं मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणम् इव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

व्याख्या—सः = नल-, गलत्परागं = निर्यद्रजस्कं, भ्रमिभङ्गिभिः = भ्रमणप्रकारैः, उपलक्षितं, पतत् = भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि = सक्तभ्रमरकुलं; नागकेशरं = कुसुमविशेष, मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं = स्मरशरकर्षणलुठद्दीप्यमानं स्फुलिङ्गं, शाणम् इव = निकषम् इव, व्यलोकयत् = अपश्यत् ॥ ९२ ॥

अनुवादः—नलने गिरते हुए परागवाले, घूमकर आती हुई भ्रमरपङ्क्तिसे सम्बद्ध, गिरे हुए नागकेशरके फूलको कामदेवके वाणसंघर्षणसे निकलते हुए जलते हुए स्फुलिङ्गसे युक्त कसौटीके समान देखा ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—गलत्परागं = गलन्तः परागा यस्मात्, तत् (बहु०) । भ्रमिभङ्गिभिः = भ्रमेः भङ्गिमः, ताभिः (तृ० त०) । पतत् = पततीति, पत्+लट् (शतृ) । प्रसक्तभृङ्गाऽऽवलि = भृङ्गाणाम् आवलिः (ष० त०) । प्रसक्ता भृङ्गावलिः यस्मिन्, तत् (बहु०) । नागकेसरं=नागकेसरस्य विकारः (पुष्पम्) नागकेसरं, "तस्य विकारः" इससे अण् प्रत्यय, "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इससे उसका लुक् । मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं=मारस्य नाराचाः (ष० त०), तेषां निघर्षणं (ष० त०), तस्मात् स्खलन्तः (ष० त०) । मारनाराचनिघर्षणस्खलन्तः ज्वलन्तः कणाः यस्य: सः, तम् (बहु०) । शाणम् = "शाणस्तु निकषः कषः ।" इत्यमरः । व्यलोकयत् = वि —लोकृ+णिच्+लङ्+तिप् । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ९२ ॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात्स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—सुगन्धि तदङ्गम् उद्दिश्य गुणस्पृशः कुसुमात् पातुकाः स्वनन्तीः शिलमुखालीः, अवलोक्य स्मरः स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् लज्जितः (अभवत्) ॥ ९३ ॥

व्याख्या—सुगन्धि = मनोहरगन्धं, तदङ्गं = नलाऽङ्गम्, उद्दिश्य = लक्ष्यीकृत्य, गुणस्पृशः गन्धादिस्पृशः, मौर्वीस्पृशश्च, कुसुमात् = पुष्पात्, पातुकाः = धावन्तीः, स्वनन्तीः = ध्वनन्तीः, शिलीमुखाली भ्रमरपङ्क्तीः, वाणपङ्क्तीश्च, अवलोक्य = दृष्ट्वा, स्मरः = कामदेवः, स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् = स्वपुष्पधनुर्विषमनिःसृतबाणभ्रान्तेः, लज्जितः = व्रीडितः, अभवदितिशेषः ॥ ९३ ॥

अनुवादः—सुगन्धसे युक्त नलके अङ्गको उद्देश्य करके गुण (गन्ध आदि वा मौर्वी) को स्पर्श करनेवाले, पुङ्खसे दौड़नेवाले, शब्द करते हुए भ्रमरसमूहोंको देखकर कामदेव अपने धनुसे निशानेसे चूके हुए बाणके भ्रमसे लज्जितके तुल्य हुए ॥ ९३ ॥

टिप्पणी—सुगन्धि = शोभन गन्ध यस्य, तत् (बहु०) "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्य" इस सूत्रसे समासान्त इ प्रत्यय। तदङ्ग = तस्य अङ्ग, तत् (ष० त०)। उद्दिश्य = उद्+दिश् = क्त्वा (ल्यप्)। गुणस्पृश = गुण (गन्धादि मौर्वी च) स्पृशन्तीति, ता, गुण-उपपदपूर्वक स्पृश धातुसे "स्पृशोऽनुदके क्विन्" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय (उपपद०), यह पद 'शिलीमुखाली' इसका विशेषण है। पातुका = पतन्तीति, ता पत् धातुसे "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्" इस सूत्रसे उकञ्+शस्। स्वनन्ती = स्वनन्तीति स्वनन्त्य, ता, स्वन+लट (शतृ)+ङीप्+शस्। शिलीमुखाली = शिलीमुखानाम् (अलीना बाणाना वा) आल्य, ता (ष० त०)। "अलिबाणौ शिलीमुखौ" इत्यमर। अवलोक्य=अव+लोक+क्त्वा (ल्यप्)। स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् = स्वस्य चाप (ष० त०)। दुर्निर्गताश्च ते मार्गणा (बाणा), (क० धा०)। स्वचापात् दुर्निर्गतमार्गणा (ष० त०)। तेषा भ्रम, तस्मात् (ष० त०)। इस पद्यमे श्लेष, भ्रमरोम बाणके भ्रान्तिमान्, "लज्जित" यहाँपर उत्प्रेक्षावाचक इव आदि शब्दो के न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, इस प्रकार इन अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकै क्षत समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपम ददर्श मालूरफल पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

अन्वय —स मरुल्ललत्पल्लवकण्टकै क्षत समुच्चरच्चन्दनसारसौरभ वारनारीकुचसञ्चितोपम पचेलिम मालूरफल ददर्श ॥ ९४ ॥

व्याख्या—स = नल, मरुल्लत्पल्लवकण्टकै =वायुचलितकिसलयतीक्ष्णाऽग्राऽवयवै, अन्यत्र विलसद्विटनखैरिति गम्यते। क्षत=विलिखितम्, समुच्चरच्चन्दनसारसौरभ =प्रसपच्छ्रीखण्डसारसौगन्ध्यम्, अत एव वारनारीकुचसञ्चितोपम = वेश्यापयोधरसम्पादितसादृश्य, पचेलिम = स्वत पक्व, मालूरफल = बिल्वफल, ददर्श = विलोकयामास ॥ ९४ ॥

अनुवाद —नलने वायुसे चलते हुए पल्लवोंके काँटोंसे विद्ध, फैलते हुए चन्दनके समान सौरभसे युक्त, वेश्याके पयोधरके सदृश पके हुए बेलफलको देखा ॥९४॥

टिप्पणी—मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः = ललन्ति च तानि पल्लवानि (क० धा०)। मरुता ललत्पल्लवानि (तृ० त०)। तेषां कण्टकाः, तैः (ष० त०)। यहाँपर दूसरा अर्थ मरुत्‌रूप विलासीके नखोंसे क्षत ऐसा व्यङ्ग्य होता है। समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं = चन्दनस्य सारः (ष० त०), तस्य सौरभम् (ष० त०)। समुच्चरत् चन्दनसारसौरभं यस्य, तत् (बहु०)। वेश्याका पयोधर भी चन्दन आदिके सौरभसे सम्पन्न होता है। वारनारीकुचसञ्चितोपमं= वारस्य (नरसमूहस्य) नारी वारनारी (ष० त०), "वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा" इत्यमरः। तस्याः कुचः (ष० त०), सञ्चिता उपमा यस्य तत् (बहु०)। वारनारीकुचेन सञ्चितोपमं, तत् (तृ० त०)। पचेलिमं=स्वयमेव पच्यत इति, पच् धातुसे "केलिमर उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे कर्मकर्तामें केलिमर प्रत्यय। मालूरफलं = मालूरस्य फलम् (ष० त०), तत्। "बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि।" इत्यमरः। ददर्श = दृश् + लिट् + तिप्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ९४ ॥

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स पाटलायाः स्तवकं प्रकम्पितः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—स युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरं पाटलायाः स्तवकं भिया अन्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य प्रकम्पितः ॥ ९५ ॥

व्याख्या—सः = नलः, युवद्वयीचित्तेत्यादिः = तरुणमिथुनमानसब्रुडनसमर्थपुष्पपूर्णगर्भकुहरं पाटलायाः = पाटलवृक्षस्य, स्तवकं=गुच्छं, भिया = भयेन, अन्धया = मूढया, धिया = बुद्धया, स्मरेषुधीकृत्य = "इदं कामतूणीरम्" इति विभ्रम्य, प्रकम्पितः = चकम्पे ॥ ९५ ॥

अनुवादः—नल युवती और युवकजनोंको आकर्षण करनेमें समर्थ पुष्पोंसे पूर्ण भीतरी भागवाले पाटल पुष्पोंके गुच्छेको भयसे मूढ बुद्धिसे "यह कामदेवका तरकश है" ऐसा विचार कर कम्पित हुए ॥ ९५ ॥

टिप्पणी—युवद्वयीचित्तेत्यादिः=युवतिश्च युवा च युवानौ, "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष, यूनोर्द्वयी (ष० त०)। युवद्वय्याः चित्ते (ष० त०)। नि + मस्ज + णिच् + ल्युट्=निमज्जनम्। युवद्वयीचित्तयोः निमज्जनं (ष०त०), तस्मिन् उचितानि (स० त), तानि च तानि प्रसूनानि (क० धा०) शून्यात् इतरत् (प० त०। अशून्यं पूर्णमित्यर्थः। गर्भस्य गह्वरम्। ष० त०)। युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनैः शून्येतरत् (तृ० त०), तत् गर्भगह्वरं यस्य, तम् (बहु०)।

स्तबक = "याद् गुच्छकस्तु स्तबक" इत्यमर। भिया = "भीतिर्भी साध्वस भयम्" इत्यमर। स्मरेषुधीकृत्य = स्मरस्य इषुधि (ष० त०)। तूणोपासङ्ग-तूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयो। तूण्याम्" इत्यमर। अस्मरेषुधि यथा स्मरेषुधि सम्पद्यते तथा कृत्वा, स्मरेषुधि + च्वि + कृ + क्त्वा (ल्यप्)। प्रकम्पित = प्र + कपि + क्त (कर्तामे)। इस पद्यमे पाटलके स्तबकमे नलको कामदेव तूणीर (तरकश) का भ्रम होनेसे भ्रान्तिमान् अलङ्कार है जैसे कि—

"सम्यादतस्मिंतद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थित।" सा० द० १०–३६॥

मुनिद्रुम कोरकित शितिद्युतिवनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुत।

तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षित कलाकलाप किल वैधव वमन्॥ ९६॥

अन्वय. – अमुना वने कोरकित शितिद्युति मुनिद्रुम तमिस्रपक्षत्रुटिकूट भक्षित वैधव कलाकलाप वमन् सिंहिकासुत अमन्यत किल॥ ९६॥

व्याख्या — अमुना = नलेन, वने = उपवने, कोरकित = सजातकोरक, शितिद्युति = कृष्णकान्ति पत्रेषु इति शेष। मुनिद्रुम = अगस्त्यवृक्ष, तमिस्र-पक्षत्रुटिकूटभक्षित = कृष्णपक्षक्षयव्याजगिलित, वैधव = चान्द्रमस, कलाकलाप = कलासमूह, वमन् = उद्गिरन्, सिंहिकासुत = राहु, अमन्यत = ज्ञात, किल = निश्चयेन॥ ९६॥

अनुवाद — नलने वनमें कलियोसे युक्त, काली कान्तिवाले अगस्त्यके वृक्ष को कृष्णपक्षके बहानेसे खाये गये चन्द्रमाके कलासमूहको वमन करता हुआ राहु समझा॥ ९६॥

टिप्पणी — कोरकित = कोरका सजाता अस्य, 'कोरक' शब्दसे "तदस्य सजात तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच्। अगस्त्यवृक्षकी कलियाँ चन्द्रकी कलाओं के समान सफेद होती हैं। शितिद्युत = शिति द्युति यस्य स (बहु०)। अगस्त्यके पत्ते काले होते हैं। "शिती धवलमेचकौ", इत्यमर। तमिस्रपक्षत्रुटि-कूटभक्षित = तमिस्रस्य पक्ष (ष० त०), तस्य त्रुटि (ष० त०) तस्या कूटम् (व्याज) (ष० त०), तेन भक्षित, तम् (तृ० त०)। वैधव = विधो अय वैधव, तम्, विधु + अण् + अम्। "विधु सुधांशु शुभ्रांशु" इत्यमर। कला-कलाप = कलाना कलाप, तम् (ष० त०)। वमन् = वमतीति, "टुवम् उद्-गिरणे" धातुसे लट्के स्थानमे शतृ आदेश। सिंहिकासुत = सिंहिकाया सुत (ष० त०) अमन्यत = मन् + लङ् + त (कमम)। इस पद्यमे कतवाऽपह्नुति और उत्प्रेक्षामे अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ९६॥

पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदाऽऽवृतेर्वीरुधि नद्धविभ्रमाः ।
मिलन्निमीलं विदधुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः नभस्वतः वीरुधि नद्धविभ्रमाः कुसुमेषु केलयः विलोकिताः (सत्यः) तं मिलन्निमीलं विदधुः ॥ ९७ ॥

व्याख्या—पुरः = अग्रे, हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदाऽऽवृतेः = बलाकृष्टहिमशुक्लपत्राऽऽवरणस्य, नभस्वतः=वायोः, वीरुधि = लतायां, नद्धविभ्रमाः = अनुबद्धभ्रमणाः, कुसुमेषु = पुष्पेषु, केलयः = कम्पनादिक्रीडाः, कुसुमेषु केलयः= कामक्रीडाश्च, विलोकिताः = दृष्टाः सत्यः, तं=नलं, मिलन्निमीलं=निमीलितनेत्रं, विदधुः = चक्रुः । वायोर्लतायां कम्पनव्यापारस्य कामोद्दीपकत्वात् अथवा वायोर्लतायां कम्पनं समागमक्रियां ज्ञात्वा नलो निमीलितनयनो बभूवेति भावः ॥ ९७ ॥

अनुवाद—सामने बलसे बरफसे सफेद पत्ररूप वस्त्रको खींचनेवाले वायुकी लतामें सम्बद्ध भ्रमण वा विलाससे युक्त फूलोंमें कम्पन आदि क्रीडा वा कामक्रीड़ाओंको देखकर नलने आँखोंको मूँद लिया ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—हठाऽऽक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः = हठेन आक्षिप्ता (तृ० त०)। तुषारेण पाण्डराः (तृ० त०), "हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः" इत्यमरः । तुषारपाण्डराश्च ते छदाः (क० धा०) । "पत्त्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान् ।" इत्यमरः । तुषारपाण्डरच्छदानाम् आवृतिः (ष० त०) । हठाक्षिप्ता तुषारपाण्डरच्छदावृतिः येन, तस्य (बहु०) । वीरुधि = वीरुत् शब्दका "लता प्रतानिनी वीरुत्" इस उक्तिके अनुसार फैली हुई लता ऐसा अर्थ न कर सामान्य लता ऐसा अर्थ करना चाहिए । नद्धविभ्रमाः = नद्धा विभ्रमाः (भ्रमणानि विलासा वा) यासां ताः (बहु०) । कुसुमेषु यहाँपर विषयमें सप्तमी । अथवा कुसुमेषुकेलयः = कुसुमानि इषवः (बाणाः) यस्य सः कुसुमेषुः (बहु०), "शम्बराऽरिर्मनसिजः कुसुमेषुरनन्यजः ।" इत्यमरः । कुसुमेषोः केलयः (ष० त०) । मिलन्निमीलं = मिलन् निमीलः यस्य, तम् (बहु०) । विदधुः= वि+धा+लिट्+झि (उस्) । इस पद्यमें कार्य और श्लिष्टविशेषणसाम्यसे प्रस्तुत नभस्वान्‌में अप्रस्तुत नायकके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलंकार है । लतामें वायुके पत्ररूप वस्त्रके हटानेसे समागमरूप व्यवहारकी प्रतीति होनेसे "नेक्षेताऽर्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनाम्, (याज्ञवल्क्य० १–१३५) इस वचनके अनुसार नलने आँखोंको मूँद लिया यह तात्पर्य है ॥९७॥

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम् ।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान् ॥ ९८ ॥

अन्वयः—द्रुमा यदुत्सङ्गतले विशालता गता, ता धात्री फलगौरवेण अतिमात्रनामितै शिरोभि वन्दमानान् तान् स कथ न अभिनन्दति स्म ? ॥ ९८ ॥

व्याख्या—द्रुमा = वृक्षा, यदुत्सङ्गतले = यदुपरिदेशे, यदङ्कतले च, विशालता = विवृद्धि, गता = प्राप्ता ता=धात्री भुव च, फलगौरवेण=फलभारेण, धर्मातिशयेन च हेतुना, अतिमात्रनामितै = अतिशयप्रह्लीकृतै, शिरोभि =अग्रभागै, उत्तमाङ्गैश्च, वन्दमानान् = स्पृशत, अभिवादयमानाश्च, तान् द्रुमान्, स = नल, कथ = केन प्रकारेण न अभिनन्दति स्म = अस्तौषीत्, अभिनन्द एवेति भाव । द्रुमाणा क्षत्राऽनुरूपफलसम्पत्तिमपश्यता मातृभक्ति च को नाम नाऽभिनन्दतीति भाव ॥ ९८ ॥

अनुवादः—पेड़ जिस (धरती) के गोदमें विशाल हो गये उन (माता) को फलोंके भारसे अत्यन्त झुके हुए शिरों (अग्र भागों) से अभिवादन करते हुए उन (पेड़ों) को नल कैसे अभिनन्दन नहीं करते थे ? ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—यदुत्सङ्गतले = उत्सङ्गस्य तलम् (ष० त०), यस्या उत्सङ्गतल तस्मिन् (ष० त०) । विशालता=विशालस्य भावो विशालता ताम् विशाल+तल+टाप्+अम् । धात्री=धयन्ति याम् इति धात्री, ताम्, "धेट पाने" धातुसे "ध्र कर्मणि ष्ट्रन्" इस सूत्रसे ष्ट्रन् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें षित् होनेसे "षिद्गौरादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीप् । "धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु ।" इत्यमर. । इसका यहाँपर "उपमाता" ऐसा अर्थ भी ध्वनित होता है । फलगौरवेण = फलाना गौरव, तेन (ष० त०) । अतिमात्रनामितै = अतिमात्र नामितानि, तै (सुप्सुपा०) । वन्दमानान् = वन्दन्त इति वन्दमाना, ताम्, वदि+लट् (शानच्)+शस् । अभिनन्दति = अभि+नदि+लट्+तिप् । इस पद्यमें कार्यसे और विशेषणसाम्यसे भी प्रस्तुत द्रुमोंमें अप्रस्तुत पुरुषोंके व्यवहारकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ९८ ॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनाऽनिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः ।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽदत्त न कौमुदीमुदः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—वनाऽनिलै हिमित, पुष्परसै सुधीकृत, केतकरेणुभि सित विनिर्मितम् अहर्मह (एव) कौमुदी वियोगिने तस्मै नृपाय मुद न अदत्त ॥ ९९ ॥

व्याख्या—वनाऽनिलै =उद्यानवातै, हिमित=हिम (शीतल) कृतम्

पुष्परसैः=कुसुमरसैः, मकरन्दैरित्यर्थः, उपवनवाताऽऽनीतैरिति शेषः। सुधीकृतम्= अमृतीकृतं, तथा केतकरेणुभिः = केतकीपुष्परजोभिः, सितं = शुक्लं, विनिर्मितं= कृतम्, इत्थं च—अहर्महः = दिनतेजः आतप एव, कौमुदी = चन्द्रिका, वियोगिने = विरहिणे, तस्मै = पूर्वोक्ताय, नृपाय = नरेशाय, नलायेति भावः। मुदः= हर्षान् न अधत्त=न कृतवती, प्रत्युत उद्दीपनमेव चकारेति भावः ॥ ९९ ॥

अनुवादः--उद्यानकी हवाओंसे ठण्डा किया गया, फूलोंके रसोंसे अमृतके समान किया गया, केतकी पुष्पोंके परागोंसे सफेद बनाया गया प्रकाश ही चाँदनीने वियोगी नलको हर्षप्रदान नहीं किया ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—वनाऽनिलैः = वनस्य अनिलाः, तैः (ष० त०)। हिमितं=हिमं कृतम्, "हिम" शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर कर्ममें क्त प्रत्यय। पुष्परसैः = पुष्पाणां रसाः, तैः (ष० त०)। सुधीकृतम् = असुधा सुधा यथा संपद्यते तथा कृतम्, सुधा+च्वि+कृ+क्तः। केतकरेणुभिः =केतक्या विकाराः (पुष्पाणि) केतकानि, केतकी शब्दसे "तस्य विकारः" इससे अण् प्रत्यय और उसका "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इससे लुप्। केतकानां रेणवः, तैः (ष० त०) विनिर्मितं=वि+निर्+मा+क्तः। अहर्महः = अह्नः महः (ष० त०) "रोऽसुपि" इस सूत्रसे रेफ आदेश। अधत्त = धा+लङ्+त। इस पद्यमें अहर्महमे कौमुदीका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है ॥ ९९ ॥

वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांऽशुमाननम्।
पिकेन रोषाऽरुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी ॥ १०० ॥

अन्वयः—वियोगभाजः अपि नृपस्य तत् आननम् एव साक्षात् अमृतांऽशुं पश्यता (अत एव) रोषाऽरुणचक्षुषा पिकेन कुहूरुता चन्द्रवैरिणी मुहुः आहूयत ॥ १०० ॥

व्याख्या--वियोगभाजः अपि =वियोगिनः अपि, नृपस्य=राज्ञः, नलस्येत्यर्थः। तत्, आननम् एव=मुखम् एव, साक्षात्=प्रत्यक्षम्, अमृतांऽशुं=चन्द्रं, पश्यता = विलोकयता, अत एव रोषाऽरुणचक्षुषा = कोपरक्तनयनेन, वियोगेऽप्ययं चन्द्रतां न मुञ्चतीति रोषहेतुर्बोद्धव्यः। पिकेन = कोकिलेन, कुहूरुता = कुहूशब्देन, अमावास्यावाचकशब्देन वा, चन्द्रवैरिणी = कुहूः, अमावास्या इति भावः। मुहुः = वारं वारम्, आहूयत = आहूता (किम्) ॥ १०० ॥

अनुवादः--वियोगी होनेपर भी नलके मुखको ही प्रत्यक्ष चन्द्र देखते हुए

और क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले कोयलने कुहू (स्वाभाविक या अमवास्यावाचक) शब्दसे चन्द्रकी वैरिणी अमावास्याको बारबार बुलाया ॥ १०० ॥

टिप्पणी—वियोगभाज = वियोग भजतीति वियोगभाक्, तस्य (वियोग + भज + ण्वि + ङस्)। साक्षात्="साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययो "इत्यमर । अमृतांशुम्= अमृतम् इव अंशु यस्य स , तम् (बहु०)। पश्यता = पश्यतीति पश्यन्, तेन, दृश् + (पश्य) + लट (शतृ) + टा। रोषाऽरुणचक्षुषा = अरुणे चक्षुषी यस्य स (बहु०)। रोषात् (इव) अरुणचक्षु , तेन (प० त०), कुहूरुता=कुहूश्चासौ रुत् कुहूरुत् तया (क० धा०)। "कुहू स्यात्कोकिलाऽऽलापनष्टेन्दुकलयोरपि ।" इति विश्व । चन्द्रवैरिणी = चन्द्रस्य वैरिणी (प० त०)। आहूयत = आङ् + ह्वेञ् + लङ + त (कर्ममें)। इस पद्यमे रूपक और "आहूयत" यहाँपर उत्प्रेक्षा वाचक इव आदि शब्दों के न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, अत दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १०० ॥

अशोकमर्थाऽन्वितनामताऽऽशयागताञ्छरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान् ।
अमन्यताऽवन्तमिवैष पल्लवै प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥ १०१ ॥

अन्वय —एष पल्लवै प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् अशोकम् अर्थाऽन्वित नामताशया शरण्य गतान् गृहशोचिन अध्वगान् अवन्तम् इव अमन्यत ॥१०१॥

व्याख्या—एष = नल , पल्लवै = किसलयै , प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालक = गृहीतमदनदीप्यमानायुधक्षारकम्, अशोकम् = अशोकवृक्ष वञ्जुलाऽपरनामधेयम्, अर्थाऽन्वितनामताऽऽशया = अन्वर्थाभिधानताऽभिलाषेण, अयमशोक , अतएव शोकरहितोऽस्ति अत अस्मानपि शोकरहित करिष्यतीत्याशयेति भाव । शरण्यम् = शरणसाधु तम् आश्रयमित्यर्थ । गतान् = प्राप्तान्, गृहशोचिन = गृहम् (पत्नीम्) उद्दिश्य शोक कुर्वत , अध्वगान् = पान्थान्, अवन्तम् इव = रक्षन्तम् इव शरणागताना रक्षणे महाफलमरक्षणे च महादोष भावयित्वेति शेष । अमन्यत = ज्ञातवान् ॥ १०१ ॥

अनुवाद —नलने पल्लवोसे कामदेवके जलते हुए अस्त्रोकी नयी कलियोको लेनेवाले अशोक वृक्षको उसके नामकी अन्वर्थता (यह अशोक = शोकरहित है, अत हम लोगोको भी शोकरहित करेगा) ऐसी आशामे रक्षा करनेमें निपुण विचार कर गये हुए, पत्नीका शोक करनेवाले पथिकोंकी मानों रक्षा कर रहा है ऐसा समझा ॥ १०१ ॥

टिप्पणी--प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकं = ज्वलन्ति च तानि अस्त्राणि ज्वलदस्त्राणि (क० धा०), तेषां जालकानि (ष० त०), "क्षारको जालकं क्लीबे" इत्यमरः। कामस्य ज्वलदस्त्रजालकानि (ष० त०)। प्रतीष्टानि कामज्वलदस्त्रजालकानि येन, तम् (बहु०)। अशोकम् = अविद्यमानः शोकः यस्य सः, तम् (नञ्बहु०)। "वञ्जुलोऽशोके" इत्यमरः। अर्थाऽन्वितनामताऽऽशया = नाम्नो भावो नामता, नाम + तल् + टाप्। अर्थेन अन्विता (तृ० त०)। अर्थाऽन्विता चाऽसौ नामता (क० धा०), तस्या आशा तया (ष० त०)। शरण्यं = शरणे साधुः शरण्यः, तम्, "तत्र साधुः" इससे यत्। "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः। गृहशोचिनः = गृहं शोचन्तीति गृहशोचिनः, तान्, गृह + शुच् + णिनि (उपपद०) + शस्। "गृहं गृहाश्च पुंभूम्नि कलत्रेऽपि च सद्मनि।" इति मेदिनी। अत एव--"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।" अर्थात् गृहको गृह नहीं कहते है, पत्नीको "गृह" कहते हैं ऐसी लोकोक्ति है। अध्वगान् = अध्वान गच्छन्तीति अध्वगाः; तान्, अध्वन्-उपपदपूर्वक 'गम्' धातुसे "अन्ताऽत्यन्ताऽध्वदूरपारसर्वाऽनन्तेषु डः" इस सूत्रसे ड प्रत्यय (उपपद०)। "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि।" इत्यमरः। अवन्तम् = अवतीति अवन्, तम्--अव + लट् (शतृ) + अम्। अमन्यत = मन + लङ् + त। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ १०१॥

विलासवापीतटवीचिवादनात्पिकाऽलिगीतेः शिखिलास्यलाघवात्।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध तं, क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः॥१०२॥

अन्वयः--विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकाऽलिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् वने अपि तं तौर्यत्रिकम् आरराध, भाग्यभाक् जनः क्व भोगम् न आप्नोति॥१०२॥

व्याख्या--विलासवापीतटवीचिवादनात् = विहारदीर्घिकातीरतरङ्गनादात्, पिकाऽलिगीतेः = कोकिलभ्रमरगानात्, शिखिलास्यलाघवात्=मयूरनृत्यनैपुण्यात्, वने अपि = उपवने अपि, तं = नलम्, तौर्यत्रिकं = नृत्यगीतवाद्यत्रयम्, आरराध = आराधयामास, तथा हि-- भाग्यभाक् = भाग्यवान्, जनः=लोकः, क्व = कुत्र, स्थाने गृहे वनेऽपि वा इति शेषः, भोगं = सुखं, न आप्नोति = न प्राप्नोति, सर्वत्रैव सुखं प्राप्नोतीति भावः॥ १०२॥

अनुवादः--विहारकी बावलीके किनारेमें तरङ्गोंके शब्दसे (वादनसे), कोयल और भौरोंके गानेसे, मयूरोंके नृत्यकी निपुणतासे उपवनमें भी महाराज नलकी नृत्य, गीत और वाद्य इन तीनोंने सेवा की। भाग्यवान् जन कहाँ सुखको प्राप्त नही करते हैं ?॥ १०२॥

टिप्पणी—विलासवापीतटवीचिवादनात् = विलासस्य वापी, "वापी तु दीर्घिका" इत्यमरः। विलासवाप्या तटम् (ष० त०), वीचीना वादनम् (ष० त०)। विलासवापीतटे वीचिवादनं तस्मात् (स० त०), सर्वत्र हेतुमें पञ्चमी। पिकाऽलिगीते = पिकाश्च अलयश्च पिकालय (द्वन्द्व), तेषां गीतिः, तस्मात् (ष० त०) शिखिलास्यलाघवात् = शिखिना लास्यम् (ष० त०), "ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्तने।" इत्यमरः। शिखिलास्यस्य लाघवं तस्मात् (ष० त०)। तौर्यत्रिक = "तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्।" इत्यमरः। आरराध = आङ्+राध+लिट्+तिप्। भाग्यभाक् = भाग्यं भजतीति भाग्यभाक्, भाग्य+भज्+ण्वि (उप०)। भोग = भुज्यते इति भोगः, तम्, भुज+घञ् (कर्ममें)+अम्। आप्नोति = आप्+लट्+श्नु+तिप्। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है॥ १०२॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन्।
स्वराऽमृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृता॥ १०३॥

अन्वय—जनेन तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ताः पटवः शुकाः तम् अस्तुवन्, तथैव (तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ताः) तत्पौरुषगायनीकृताः शारिकाः स्वराऽमृतेन उपजगुश्च॥ १०३॥

व्याख्या—जनेन = सेवकजनेन, तदर्थं = नलप्रीत्यर्थम्, अध्याप्य = स्तुतिं पाठयित्वा, तद्वने = तस्मिन् उपवने, विमुक्ताः = विसृष्टाः, पटवः = व्यक्तगिरः, शुकाः = कीराः, तं = नलम्, अस्तुवन् = स्तुतवन्तः, तथैव = तेन प्रकारेणैव, शुकवत् एव (तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ताः) तत्पौरुषगायनीकृताः = नलपराक्रमगायनीकृताः, शारिकाः = शुकवध्वः, स्वराऽमृतेन=मधुरस्वरेणेति भावः। उपजगुश्च = उपगानं कृतवत्यश्च, तुष्टुवुश्चेति भावः॥ १०३॥

अनुवाद—सेवकजनसे नलकी प्रीतिके लिए उस वनमें छोड़े गये स्पष्ट शब्दवाले तोतोंने नलकी स्तुति की, उसी तरह नलके पराक्रमकी गायिका बनायी गयी शारिकाओं (मैनाओं) ने मीठी आवाजसे गान किया॥ १०३॥

टिप्पणी—तदर्थं = तस्मै इदम् (च० त०, क्रियाविशेषण)। अध्याप्य = अधि+आङ्+इङ्+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। तद्वने = तच्च तद्वनं, तस्मिन् (क० धा०)। विमुक्ताः = वि+मुच्+क्त+(कर्ममें) टाप्+जस्। अस्तुवन् = "ष्टुञ् स्तुतौ" धातुसे लङ्+झि। तत्पौरुषगायनीकृता, पुरुषस्य भावः

पौरुषम्, पुरुष + अण् । गायन्तीति गायनयः, "गै शब्दे" धातुसे "ण्युट् च" इससे ण्युट् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें टित्वात् "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् । अगायनयः गायनयः यथा संपद्यन्ते तथा कृताः, गायनी + च्वि + कृ + क्त + टाप् । तत्पौरुषस्य गायनीकृताः (ष० त०) । शारिकाः = "सारिकाः" ऐसा भी रूप होता है । स्वराऽमृतेन = स्वरः अमृतम् इव स्वराऽमृतं, तेन "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इस सूत्रसे समास । उपजगुः = उप + गै + लिट् + झि (उस्) । इस पद्यमें "स्वराऽमृतेन" यहांपर उपमा अलंकार है ॥ १०३ ॥

इतीष्टगन्धाऽऽढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दताऽऽमोदभरं बहिः परं विदर्भसुभ्रूविरहेण नाऽऽन्तरम् ॥ १०४ ॥

अन्वयः– इति इष्टगन्धाऽऽढ्य वनम् अटन् असौ पिकोपगीतः अपि शुकस्तुतः अपि च परं बहिः आमोदभरम् अविन्दत; विदर्भसुभ्रूविरहेण आन्तरम् आमोदभरं न अविन्दत ॥ १०४ ॥

व्याख्या—इति = इत्थम्, इष्टगन्धाऽऽढ्यम्=अभीष्टसौरभसम्पन्नं, वनम् = उपवनम्, अटन्=गच्छन, असौ = नलः, पिकोपगीतः अपि=कोकिलगीतिविषयीकृतः अपि, शुकस्तुतः अपि च = कीरस्तुतिविषयीकृतः अपि च, परं = केवलं, बहिः = बाह्यम्, आमोदभरं = सौरभ्याऽतिरेकम्, अविन्दत = अलभत, विदर्भसुभ्रूविरहेण = दमयन्तीवियोगेन, आन्तरम् = अन्तश्चरं, मानसमिति भावः, आमोदभरम = आनन्दाऽतिरेकमिति भावः, न अविन्दत = न अलभत, प्रत्युत दुःखमेवाऽनुभूतवानिति भावः ॥ १०४ ॥

अनुवादः—इस प्रकारसे अभीष्ट सौरभसे सम्पन्न उपवनमें भ्रमण करते हुए नलने कोयलके गानेमें और तोतेकी स्तुतिसे भी केवल बाहरी हर्षविशेषका अनुभव किया, परन्तु दमयन्तीके वियोगसे भीतरी हर्षविशेषका अनुभव नहीं किया ॥ १०४ ॥

टिप्पणी—इष्टगन्धाऽऽढ्यम् = इष्टश्चाऽसौ गन्धः (क० धा०), तेन आढ्यं, तत् (तृ० त०) वनम् = अकर्मक "अट" धातुके योगमें "अकर्मक धातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्" इससे कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया । अटन् = अटतीति, अट + लट् (शतृ) + सु । पिकोपगीतः = पिकैः उपगीतः (तृ० त०) । शुकस्तुतः = शुकैः स्तुतः (तृ० त०) । आमोदभरम् = आमोदस्य भरः, तम् (ष० त०) "आमोदो गन्धहर्षयोः" इति विश्वः । अविन्दत = "विद्लृ लाभे" धातुसे लङ् + त । विदर्भसुभ्रूविरहेण = शोभने भ्रूवौ

यस्या सा सुभ्रूः (बहु०) विदर्भाणां सुभ्रूः (ष० त०), तस्या विरह , तेन (ष० त०)। "हेतौ" इस सूत्रसे तृतीया। आन्तरम् = अन्तरे भव आन्तर, तम्, अन्तर+अण्। इस पद्यमें आनन्द हेतु सुरभि वन आदिके होनेपर भी उसका फलरूप आनन्दके न होनेसे और "विदर्भसुभ्रूविरहेण" इस पदसे निमित्तकी उक्ति होनेसे उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।" सा० द० १०-६७ ॥१०४॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमाऽऽलवालाऽम्बुनिवेशशङ्कया।

व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्राऽनुसरन्निव स्मरः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—स निजकेतनं मीनं द्रुमाऽऽलवालाम्बुनिवेशशङ्कया करे दधत् सर्वर्तुघने अत्र वने मित्रं मधुम् अनुसरन् स्मरः इव व्यतर्कि ॥ १०५ ॥

व्याख्या—सः = नलः, निजकेतनं = स्वलाञ्छनं, मीनं = मत्स्यं, द्रुमाऽऽलवालाऽम्बुनिवेशशङ्कया = वृक्षाऽऽवापजलप्रवेशभीत्या, करेण = हस्तेन, दधत् = धारयन् मत्स्यरेखाव्याजेन दधान इति भावः। सर्वर्तुघने = सकलर्तुसङ्कुले, अत्र=अस्मिन्, वने=उपवने, मित्रं=सखायं, मधुं=वसन्तम्, अनुसरन्=अन्विष्यन्, स्मरः इव = कामदेव इव, व्यतर्कि = वितर्कितः, लोकैरिति शेषः ॥ १०५ ॥

अनुवाद—नलको अपने चिह्न मत्स्यको वृक्षोंके आलवालके जलमें घुसनेके भयसे हाथसे धारण करते हुए सब ऋतुओंसे परिपूर्ण इस उपवनमें अपने मित्र वसन्त ऋतुओंको ढूंढनेवाले कामदेवके समान लोगोंने तर्कना की ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—निजकेतनं = निजं च तत् केतनं तत् (क० धा०)। द्रुमाऽऽलवालाऽम्बुनिवेशशङ्कया = द्रुमाणाम् आलवालानि (ष० त०)। "स्यादालवालमावालमावापः" इत्यमरः। द्रुमालवालानाम् अम्बु (ष० त०), तस्मिन् निवेशः (स० त०)। तस्य शङ्का (ष० त०), तया, दधत्=दधानीति, 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातुसे लटके स्थानमें शतृ आदेश, "उभे अभ्यस्तम्" इससे अभ्यस्त संज्ञा होकर "नाऽभ्यस्ताच्छतुः" इससे नुम्‌का निषेध हुआ है। सर्वर्तुघने=सर्वे च ते ऋतवः (क० धा०), तैः घनं, तस्मिन् (तृ० त०)। अनुसरन्, अनुसरतीति, अनु+सृ+लट् (शतृ०)। व्यतर्कि = वि+तर्क+लुङ्+त (कर्मणि)। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०५ ॥

लताऽबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः।

असेवताऽमुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनाऽनिलः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—लताऽबलालास्यकलागुरुः तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनः वनाऽनिलः अमुम् असेवत ॥ १०६ ॥

व्याख्या—लताऽबलालास्यकलागुरुः = वल्लीवधूनृत्यविद्याशिक्षकः, एतेन मान्द्योक्तिः प्रतीयते । तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः = वृक्षपुष्पसौरभसमूहचोरः, एतेन सौरभ्यं प्रतीयते । एवं च मधुगन्धवारिणि=मकरन्दगन्धोदके, प्रणीतलीलाप्लवनः = कृतविलासाऽवगाहनः, अनेन शैत्यं व्यज्यते । तादृशः वनाऽनिलः= उपवनवातः, अमुं = नलम्, असेवत = सेवितवान् ॥ १०६ ॥

अनुवादः—लतारूप स्त्रियोंको नृत्यविद्या सिखानेवाला, वृक्षोंके फूलोंके सौरभको चुरानेवाला तथा मकरन्दके सौरभसे पूर्ण जलमें विलासके साथ तैरने वाले वनके वायुने नलकी सेवा की ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—लताऽबलालास्यकलागुरुः = लता एव अबलाः (रूपक०) । लास्यस्य कलाः (ष० त०) । लताऽबलानां लास्यकलाः (ष० त०), तासु गुरुः (स० त०) । "लतारूप स्त्रियोंकी लास्य कलाओमें गुरु" इस विशेषणसे वायुके मन्दतागुणकी प्रतीति होती है । तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः = तरूणां प्रसूनानि (ष त०), तेषां गन्धाः (ष० त०), तेषाम् उत्कराः (ष० त०) । पश्यतः हरः पश्यतोहरः, "षष्ठी चाऽनादरे" इस सूत्रसे षष्ठी और "वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु" इस वार्तिकसे अलुक् समास । "पश्यतो यो हरत्यर्थं स चोरः पश्यतोहरः ।" इति हलायुधः । तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां पश्यतोहरः (ष० त०) । "वृक्षोके फूलोके सौरभको चुरानेवाला" इस विशेषणसे वायुके सौरभकी प्रतीति होती है । मधुगन्धवारिणि=गन्धपूर्णं वारि गन्धवारि (मध्यपदलोपी स०) । मधु एव गन्धवारि, तस्मिन् (रूपक०) । प्रणीतलीलाप्लवनः=लीलया प्लवनं (तृ० त०), प्रणीतं लीलाप्लवनं येन सः (बहु०) । "मकरन्दके गन्धसे पूर्ण जलमे विलाससे अवगाहन करनेवाला" इस विशेषणसे वायुकी शीतलताकी प्रतीति होती है । वनाऽनिलः=वने अनिलः (स० त०) । असेवत = सेव+लङ्+त । इस पद्यमें कार्यसे और श्लिष्ट विशेषणसाम्यसे भी प्रस्तुत वनाऽनिल में अप्रस्तुत सेवकके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है और रूपक अलङ्कार भी है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १०६ ॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाऽधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसत्पयोनिधिवने तडागो दवृशेऽवनीभुजा ॥ १०७ ॥

अन्वय—अथ मन्थनात् भयेन चिरात् संञ्चित चिरत्नरत्नाऽधिक स्वम् आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् अपां निधि इव तडाग अवनीभुजा ददृशे ॥

व्याख्या—अथ=वनाऽवलोकनाऽनन्तर, मन्थनात्=मथनात्, भयेन=भीत्या, धनाऽर्थं पुनर्मथिष्यतीति भिया इति भाव । चिरात् = बहुकालात्, संञ्चित = सञ्चित, चिरत्नरत्नाऽधिक = चिरन्तनश्रेष्ठवस्तुप्रचुर, स्व = धनम्, आदाय = गृहीत्वा, तस्मिन् = पूर्वोक्ते, वने = उपवने, निलीय = तिरोहितीभूय, निवसन् = वसमान, अपांनिधि = समुद्र (इव), तडाग = पद्माकर, सरोविशेष इति भाव, अवनीभुजा = राज्ञा, नलेनेत्यर्थ । ददृशे = दृष्ट ॥ १०७ ॥

अनुवाद—तब फिर मन्थन होनेके डरसे बहुत समयसे सञ्चित प्राचीन श्रेष्ठ वस्तुओंसे प्रचुर धन लेकर उस उपवनमें छिपकर रहते हुए समुद्रके समान तालाबको राजा नलने देखा ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—मन्थनात्=मन्थ + ल्युट् + ङसि । "भीत्राऽर्थानां भयहेतु" इससे अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी । संञ्चितम्=सम् + चिञ् + क्त + अम् । चिरत्न-रत्नाऽधिक=चिराद् भवानि चिरत्नानि, 'चिर' शब्दसे "चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्य" इस वार्तिकसे त्न प्रत्यय । चिरत्नानि च तानि रत्नानि (क० धा०), "रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि" इत्यमर । चिरत्नरत्नैं (ऐरावतादिभि) अधिक, तम् (तृ० त०) । आदाय = आङ् + दा + क्त्वा (ल्यप्) । निलीय = नि + ली + क्त्वा (ल्यप्), निवसन् = नि + वस + लट (शतृ) + सु । तडाग = "पद्माकरस्तडागोऽस्त्री कासार सरसी सर ।" इत्यमर । अवनीभुजा = अवनी भुनक्तीति अवनीभुक्, तेन, अवनी + भुज + क्विप् (उपपद०) + टा । ददृशे = दृश् + लिट् (कर्ममें) + त । इस पद्यमें प्रस्तुत अपांनिधिमें अप्रस्तुत धनी पुरुषके व्यवहारका समारोप करनेसे समासोक्ति और "अपांनिधि" यहाँपर "इव" आदि शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ १०७ ॥

पयोनिलीनाऽभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलाऽर्धरुद्धस्य तटाऽन्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् बभार य ॥१०८॥

अन्वय—य जलाऽर्धरुद्धस्य तटाऽन्तभूमिद मृणालजालस्य निभाद् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् पयोनिलीनाऽभ्रमुकामुकावलीरदान् बभार ॥ १०८ ॥

व्याख्या—अथ श्लोकनवकेन तडागस्य पयोधिधर्मत्व प्रतिपादयति-पयोनिली नेत्यादिभि । य =तडाग, जलाऽर्धरुद्धस्य=सलिलाऽर्धच्छन्नस्य, तटाऽन्तभूमिद =

तीरान्तभूमिनिर्गतस्य, मृणालजालस्य = बिसवृन्दस्य, निभात् = व्याजात्, अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् = शेषाऽहिलाङ्गूलतुल्यवर्णान्, शुक्लवर्णानिति भावः। पयोनिलीनाऽभ्रमुकाऽऽवलीरदान् = जलमग्नैरावतश्रेणीदन्तान्, बभार = धारयामास, समुद्रे त्वेक एवैरावतः, अत्र त्वसङ्ख्या एवैरावता इति भावः ॥ १०८ ॥

अनुवादः—जो तालाब जलसे अर्ध आच्छादित तीरके समीपकी जमीनसे निकले हुए मृणालसमूहके बहानेसे शेषनागके पुच्छके समान कान्तिवाले, जलमें छिपे हुए ऐरावतोंके दाँतोंको धारण करता था ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—जलार्धरुद्धस्य = अर्धं (यथा तथा) रुद्धम् (सुप्सुपा०) जलेन अर्धरुद्ध, तस्य (तृ० त०)। तटाऽन्तभूमिदः = तटस्य अन्तः (ष० त०), तस्मिन् भूः (स० त०), तां भिनत्तीति, तस्य, तटाऽन्त + भू + भिद् + क्विप् (उपपद०)। मृणालजालस्य = मृणालानां जालं, तस्य (ष० त०)। निभात् = "निभो व्याजसदृशयोः" इति विश्वः अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् = अनन्तश्चाऽसौ उरगः (क० धा०), 'शेषोऽनन्त' इत्यमरः। अनन्तोरगस्य पुच्छम् (ष० त०), समाना छविः येषां ते सच्छवयः (बहु०) "समानस्यच्छन्दस्य-मूर्धप्रभृत्युदर्केषु "समानस्य" इसका योगविभाग होनेसे "समान" के स्थानमें "स" आदेश। अनन्तोरगपुच्छेन सच्छवयः, तान् (तृ० त०)। पयोनिलीनाऽभ्रमुकावलीरदान् = पयसि निलीनाः (स० त० । अभ्रमोः कामुकाः (ष० त० , "कर्मणिनिषेधः" इस वार्तिकसे "नलोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे विधीयमान षष्ठी का निषेध नहीं हुआ। तेषाम् आवल्यः (ष० त०)। "पयोनिलीनाश्च ता अभ्रमुकमुकावल्यः (क० धा०), तासां रदाः, तान् (ष० त०)। "ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाऽभ्रमुवल्लभाः।" इति।

"करिण्योऽभ्रमुकपिलापिङ्गलाऽनुपमाः क्रमात्।
ताम्रकर्णी शुभ्रदन्ती चाङ्गना चाऽञ्जनावती ॥" इति चाऽमरः।

बभार = भृञ् + लिट् + तिप्। इस पद्यमें उपमा और कैतवाऽपह्नुति इन दोनों का अङ्गाऽङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १०८ ॥

तटाऽन्तविश्रान्ततुरंगमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनेन यः।
बभौ चलद्वीचिकशाऽन्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—यः तटाऽन्तविश्रान्ततुरगमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनेन चलद्वीचिकशाऽन्तशातनैः उच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् इव बभौ ॥ १०९ ॥

व्याख्या—यः = तडागः, तटाऽन्तविश्रान्ततुरगमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बोदय-

चुम्बनेन=तीरप्रान्तस्थितमलाऽश्वश्रेणीप्रकटगतिबिम्बोत्पत्तिसम्बन्धेन, वीचिकशाऽन्तशातनं = तरङ्गाऽश्वताडनीप्रान्तताडनं, चलत्=स्फुरत्, उच्चैःश्रवसाम्= उच्चैःश्रवो नामकमहेन्द्राऽश्वानां, सहस्रं = दशशती, बाहुल्यमिति भावः। श्रयन् इव = प्राप्नुवन् इव, बभौ = शुशुभे ॥ १०९ ॥

अनुवाद —जो तालाब तीरके प्रान्तमें विश्राम करते हुए घोड़ोंके प्रतिबिम्बोंके सम्बन्धसे तरङ्गरूप चाबुकोंके प्रहारोंसे चलते हुए हजारों उच्चैःश्रवाओं को धारण करते हुएके समान शोभित होता था ॥ १०९ ॥

टिप्पणी – तटाऽन्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनेन = तटस्य अन्तः (ष० त०) तस्मिन् विश्रान्ता (स० त०)। तुरङ्गमाणां छटा (ष० त०)। तटान्तविश्रान्ताश्च ता तुरङ्गमच्छटा (क० धा०), अनुबिम्बस्य उदय (ष० त०)। तस्य चुम्बनम् (ष० त०)। स्फुटम् (यथा तथा) अनुबिम्बोदय, चुम्बनम् (सुप्सुपा०)। तटाऽन्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटायाः स्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनं, तेन (ष० त०)। वीचिकशाऽन्तशातनं वीचय एव कशाः (रूपक०)। "अश्वादेस्ताडनी कशा" इत्यमरः। वीचिकशानाम् अन्ताः (ष० त०), तैः शातनानि, तैः (तृ० त०)। चलत् = चल + लट् + (शतृ)। श्रयन् = श्रयतीति "श्रिञ् सेवायाम्" धातुसे लट्के स्थानमें शतृ आदेश। बभौ="भा दीप्तौ" धातुसे लिट् + त। इस पद्यमें "वीचिकशा" इस अंशमें रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, उत्प्रेक्षासे जलके घोड़ोंकी इन्द्रके अश्व उच्चैःश्रवासे समता व्यङ्ग्य होती है इस प्रकारसे अलङ्कारसे वस्तुध्वनि है ॥ १०९ ॥

सिताऽम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद्बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम्।
समं समच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहुलं वहन् बहु ॥ ११० ॥

अन्वयः य अलिश्यामलितोदरश्रियां सिताऽम्बुजानां निवहस्य छलात् समं समच्छायकलङ्कसङ्कुलं बहुलं सुधांशोः कुलं वहन् बहु बभौ ॥ ११० ॥

व्याख्या--यः = तडागः, अलिश्यामलितोदरश्रियां = भ्रमरश्यामीकृतमध्यशोभानां, सिताऽम्बुजानां=श्वेतकमलानां पुण्डरीकाणामित्यर्थः, निवहस्य=समूहस्य छलात् = कैतवात्, समं समच्छायकलङ्कसङ्कुलं = तिमिरवर्णलाञ्छनव्याप्तं, बहुलं = प्रचुरं, सुधांशोः =चन्द्रमसः, कुलं=समूहं वहन् = धारयन् समम्, बहु = अधिकं बभौ=शुशुभे ॥ ११० ॥

अनुवाद —जो तालाब मध्यमें भौंरोंसे श्यामवर्णवाली शोभासे सम्पन्न श्वेत-

कमलोंके छलसे श्यामवर्णवाले कलङ्कोंसे व्याप्त बहुतसे चन्द्रोंको धारण करता हुआ अधिक शोभित था ॥ ११० ॥

टिप्पणी—अलिश्यामलितोदरश्रियाम् = श्यामला कृता श्यामलिता, अलिभिः श्यामलिता (तृ० त०)। उदरस्य श्रीः (ष० त०)। अलिश्यामलिता उदरश्रीः येषां तानि अलिश्यामलितोदरश्रीणि, तेषाम् (बहु०), "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य" इससे पुंवद्भाव। सिताऽम्बुजानां=सितानि च तानि अम्बुजानि, तेषाम् (क० धा०)। तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं = तमसा समा (तृ० त०), सा छाया (कान्तिः) येषां ते तमः समच्छायाः (बहु०), ते च ते कलङ्काः (क० धा०), तैः सङ्कुलं, तत् (तृ० त०)। सुधांऽशोः = सुधा (युक्ता) अंशवः यस्य स सुधांऽशुः, तस्य (बहु०)। वहन् = वह + लट् (शतृ) + सु। बहु = क्रियाविशेषण है बभौ=भा + लिट् + तिप् (णल्)। इस पद्यमें उपमा और कैतवाऽपह्नुति इन दोनोंमें अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥११०॥

रथाऽङ्गभाजा कमलाऽनुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृणालशेषाऽहिभुवाऽन्वयायि यः ॥ १११ ॥

अन्वयः—रथाऽङ्गभाजा कमलाऽनुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन मृणालशेषाऽहिभुवा शार्ङ्गिणा सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् यः (अपांनिधिः) यथा अन्वयायि (तथैव) रथाङ्गभाजा कमलाऽनुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन मृणालशेषाऽहिभुवा सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् यः अन्वयायि ॥ १११ ॥

व्याख्या—रथाङ्गभाजा = सुदर्शनचक्रधारिणा, कमलाऽनुषङ्गिणा = कमलासंसर्गवता, शिलीमुखस्तोमसखेन = भ्रमरसमूहसदृशेन, कृष्णवर्णेनेत्यर्थः। मृणालशेषाऽहिभूवा=बिससदृशशेषनागाऽऽधारेण, सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् = कमलिनीगुल्मसमूहच्छलात् कमलिनीगुल्मसमूहोऽपि शेषनागसदृशो भवतीति भावः। शार्ङ्गिणा = विष्णुना, यः=अपांनिधिः = समुद्रः, (यथा = येन प्रकारेण) अन्वयायि = अनुगतः। (तथैव) रथाऽङ्गभाजा = चक्रवाकयुक्तेन कमलाऽनुषङ्गिणा= कमलसंसर्गयुक्तेन, शिलीमुखस्तोमसखेन=अलिकुलसहचरेण, सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात्=कमलिनीगुच्छसमूहच्छलात्, मृणालशेषाऽहिभुवा=शेषसदृशबिसाधारेण, सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन =कमलिनीगुच्छसमूहेन, सरोजिनीस्तम्बकदम्बे एव मृणालानि भवन्तीति भावः। यः = अपांनिधिः, तडागः, अन्वयायि=अनुगतः ॥१११॥

अनुवादः—चक्र (सुदर्शन चक्र) को धारण करनेवाले, कमला (लक्ष्मी) के संसर्गसे युक्त, भ्रमरसमूहके सदृश (कृष्णवर्णवाले), मृणालसदृश (श्वेतवर्ण)

शेषनागके ऊपर शयन करनेवाले विष्णुसे जैसे समुद्र अधिष्ठित होता है, उसी तरह जो तालाब रथाङ्गों (चक्रवाकों) से युक्त, कमलोंके संसर्गसे युक्त, भ्रमरों के भ्रमणका स्थान, शेषनागके सदृश (सफेद) मृणालोंका आधारभूत कमलिनीगुच्छोंसे अनुगत था ॥ १११ ॥

टिप्पणी--रथाऽङ्गभाजा=रथस्य अङ्ग (ष० त०), चक्रमित्यर्थ । रथाऽङ्ग भजतीति रथाऽङ्गभाक् तेन, रथाऽङ्ग+भज्+ण्वि (उपपद०)। सुदर्शन चक्रको लेनेवाले यह तात्पर्य है, "शाङ्गिणा" इसका विशेषण । दूसरा अर्थ--रथाऽङ्ग पदका चक्ररूप अर्थ भी होता है "चक्रवाक" (चकवा) शब्द का एकदेश चक्र है "नामैकदेशे नामग्रहणम्" अर्थात् नामके एक देश (अवयव) मे भी नामका ग्रहण होता है इस न्यायसे 'चक्र' का अर्थ चक्रवाक और उसका पर्याय "रथाङ्ग" भी चक्रवाक (चकवा) का वाचक हुआ है। "कोकश्चक्र-श्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामक ।" इत्यमर । रथाङ्गाम् भजतीति रथाङ्गभाक्, तेन, चक्रवाकसे युक्त यह अर्थ हुआ । यह "सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन" इसका विशेषण है। कमलाऽनुषङ्गिणा = अनुषङ्ग अस्य अस्तीति अनुषङ्गी, अनुषङ्ग + इनि । कमलया अनुषङ्गी, तेन (तृ० त०) लक्ष्मीसे युक्त यह पद "शाङ्गिणा" इसका विशेषण है। शिलीमुखस्तोमसखेन= शिलीमुखाना स्तोम· (ष० त०) तस्य सखा (सदृश) तेन (ष० त०), इस प्रकार यह "शाङ्गिणा" इसका विशेषण है । दूसरे पक्षमे--कमलै अनुषङ्गी, तेन, "सरोजिनीस्तम्बक-दम्बेन" इसका विशेषण है । मृणालशेषाऽहिभुवा = शेषश्चाऽसौ अहि (क० धा०) । मृणालम इव शेषाऽहि "उपमानानि सामान्यवचनै" इससे समास । "मृणालशेषाऽहि भू (शयनाधार) यस्य स" तेन (बहु०) । मृणालके समान सफेद शेषनाग मे सोनेवाले, इस अर्थमे "शाङ्गिणा" का विशे-षण है । दूसरे पक्षमे--मृणालशेषाऽहिभुवा = मृणालशेषाऽहि इव "उपमित व्याघ्रादिभि· सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास । मृणालऽशेषाऽहे भू (आधार), (ष० त०) तेन । इस पक्षमे यह 'सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन" इसका विशेषण है । सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् = सरोजिनीना स्तम्बा (ष० त०) "अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ" इत्यमर. । सरोजिनीस्तम्बाना कदम्ब (ष० त०), तस्य कैतव, तस्मात् (ष० त०) । तडागपक्षमे इसका सम्बन्ध करनेके लिए "सरोजिनीस्तम्ब-कदम्बेन" ऐसा विभक्तिविपरिणाम और पदहान करना चाहिए, तब दो पदोंका समष्टि अर्थ शेष सर्पके समान शुक्लवर्ण मृणालोंके आधारभूत कमलोंके गुच्छोंसे

जो तालाव अनुगत था ऐसा होता है। अन्वयायि = अनु उपसर्गपूर्वक "या" धातुसे लुङ् (कर्ममें)+त। इस पद्यमे कैतवाऽपह्नुति उपमा और श्लेष इन अलङ्कारोकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि है ॥ १११ ॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गरेखा विभराम्बभूव यः।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाऽङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—यः अङ्कजुषः तरङ्गरेखाः (एव) स्ववल्लभाः तरङ्गिणीः विभराम्बभूव। (किञ्च) यः दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैः धृतप्रवालाऽङ्कुरसञ्चयश्च (अस्ति) ॥ ११२ ॥

व्याख्या—यः तडागः, अपां निधिरिव इति शेषः। अङ्कजुषः=निकटवर्तिनीः, उत्सङ्गसङ्गिनश्च, तरङ्गरेखाः=भङ्गराजीः (एव), स्ववल्लभाः = निजप्रियाः, तरङ्गिणीः=नदीः विभराम्बभूव=धारयामास। (किञ्च) यः=तडागः, दरोद्गतैः= ईषदुद्बुद्धैः, कोकनदौघकोरकैः = रक्तोत्पलसमूहकलिकाभिः, धृतप्रवालाऽङ्कुर-सञ्चयश्च = गृहीतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्च, अस्तीति शेषः ॥ ११२ ॥

अनुवादः—जैसे समुद्र गोदमे रहनेवाली अपनी प्रियाओं नदियोंको धारण करता है वैसे ही जो तालाव अपने पासमे रहनेवाली तरङ्गरेखारूप अपनी प्रियाओंको धारण कर रहा था। जैसे समुद्र विद्रुमो (मूगो) के समूहको धारण करता है वैसे ही जो तालाव कुछ खिली हुई लाल कमलोंकी कलियोको धारण कर रहा था ॥ ११२ ॥

टिप्पणी अङ्कजुषः अङ्कं जुषन्त इति, ताः, अङ्क+जुष्+क्विप् (उपपद०)। तरङ्गरेखाः=तरङ्गाणा रेखाः, ताः (ष० त०), एव स्ववल्लभाः= स्वस्य वल्लभाः, ताः (ष० त०)। तरङ्गिणीः=नदीः, 'तरङ्गिणी शैवलिनी तटिनी ह्रादिनी धुनी।" इत्यमरः। विभराम्बभूव = "डुभृञ् धारणपोषणयोः" धातुसे लिट्मे "भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च" इस सूत्रसे भृ धातुसे विकल्पसे आम् प्रत्यय, पक्षान्तरमे "बभार" ऐसा रूप भी बनता है। दरोद्गतैः = दरम् (यथा तथा उद्गताः, तैः (सुप्सुपा०), "कन्दरे तु दरीमाहुरीषदर्थे दरोऽव्ययम्।" इति विश्वः। कोकनदौघकोरकैः=कोकनदानाम् ओघाः (ष० त०), "रक्तोत्पलं। कोकनदम्" इत्यमरः। कोकनदौघानां कोरकाः तैः (ष० त०)। धृतप्रवालाऽ-ङ्कुरसञ्चय =प्रवालानाम् अङ्कुराः (ष० त०) तेषां सञ्चयः (ष० त० । धृतः प्रवालाऽङ्कुरसञ्चयः येन सः (बहु०)। इस पद्यमें तरङ्गरेखाओंमें तरङ्गिणीत्व के आरोपसे रूपक अलङ्कार है। ११२ ॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यच्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन्विधुकालकूटयोः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—यः महीयसः गौरस्य मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः त्विषं विमुञ्चन् (इव) नलेन मेने ॥ ११३ ॥

व्याख्या—यः = तडागः, महीयसः = महत्तरस्य, गौरस्य = श्वेतस्य, मेचकस्य च = नीलस्य च पङ्कजमण्डलस्य = कमलसमूहस्य, शुक्लनीलकमलयोरिति भावः । छलेन = कैतवेन, सलिले = जले, निलीनयोः = निमग्नयोः, विधुकालकूटयोः = चन्द्रकालकूटविषयोः सिताऽसितयोः, त्विषं = कान्तिं, विमुञ्चन् = विसृजन्, (इव) नलेन = नैषधेन, मेने = सम्भावितः ॥ ११३ ॥

अनुवादः—जिस तालाबको बड़ेसे सफेद और नीले कमलसमूहके बहानेसे जलमें डूबे हुए चन्द्रमा और कालकूट विषकी कान्तिको छोड़ते हुएके समान नलने सम्भावना की ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—महीयसः = अतिशयेन महत् महीयः, तस्य, महत् + ईयसुन् + ङस् । पङ्कजमण्डलस्य = पङ्कजानां मण्डलं, तस्य (ष० त०), निलीनयोः = नि + ली + क्त + ओस् । विधुकालकूटयोः = विधुश्च कालकूटं च, तयोः (द्वन्द्व) । विमुञ्चन् = विमुञ्चतीति, वि + मुच् + लट् (शतृ) + सु । "शेमुचादीनाम्" इससे नुम् आगम । मेने = मन् + लिट् (कर्ममें) + त । इस पद्यमें कैतवाऽपह्नुति और उत्प्रेक्षा इन दोनों अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ११३ ॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्परा ।
ध्रुवं दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमधूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—यत्र तरङ्गरिङ्गणैः चलीकृता अबालशैवाललतापरम्परा वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमधूमधूमतां दधुः ध्रुवम् ॥ ११४ ॥

व्याख्या—यत्र = यस्मिन्, तडाग इति भावः । तरङ्गरिङ्गणैः = भङ्गकम्पनैः, चलीकृता = चञ्चलीकृता, अबालशैवाललतापरम्परा = कठोरजलनीलीवल्लीपङ्क्तयः, वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमधूमधूमता = वडवाऽनलाऽवस्थानबहिःप्रादुर्भवत्तमबाहुल्यधूमता, दधुः = धारयामासुः, ध्रुवम् = इव, बहिरुत्थितधूमपटलवद्बभुः ॥ ११४ ॥

अनुवाद—जिस तालाबमें तरङ्गोंके कम्पनसे चञ्चल बनाई गयी कठोर

सेवारकी लताएँ नीचे वडवाग्निकी स्थितिसे प्रादुर्भूत होनेवाले धूमकी बहुलताको मानों धारण कर रही थीं ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—तरंगरिङ्खणैः = तरङ्गाणां रिङ्खणानि, तैः (ष० त०) चलाकृताः = अचलाः चलाः संपद्यन्ते तथा कृताः, चल + च्वि + कृ + क्त + टाप् + जस् । अवालशैवाललतापरम्पराः = न वालाः अवालाः (नञ् त०) । शैवालानां लताः (ष० त०) । "जलनीली तु शैवालं शेवलः" इत्यमरः । अवालाश्च ताः शैवाललताः (क० धा०), तासां परम्परा, (ष० त०) । वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमतां=हव्यं वहतीति हव्यवाड् (अग्निः), हव्य-उपपदपूर्वक 'वह्' धातुसे "वहश्च" इस सूत्रसे ण्वि प्रत्यय (उपपद०) । वाडवश्चासौ हव्यवाट् (क० धा०), तस्य अवस्थितिः (ष० त०) । अतिशयेन प्ररोहन् प्ररोहत्तमः, प्ररोहत् + तमप् । बहोः भावः भूमा, 'बहु' शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इससे इमनिच् प्रत्यय और "बहोर्लोपो भू च बहोः" इससे बहु के स्थानमें भू आदेश । प्ररोहत्तमो भूमा येषां ते प्ररोहत्तमभूमानः (बहु०), ते च ते धूमाः (क० धा०) । वाडवहव्यवाडवस्थित्या प्ररोहत्तमभूमधूमाः (तृ० त०), तेषां भावस्तत्ता, ताम् वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूम + तल् + टाप् + अम् । दधुः = धा + लिट् + झि (उस्) । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ११४ ॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभरं विवृण्वती ।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता ॥ ११५ ॥

अन्वयः—आदित्यम् अवाप्य कण्टकैः प्रकामं करम्बिता, आमोदभरं विवृण्वती, दिवा धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा यत्प्रभवा सरोजिनी अप्सरायिता ॥११५॥

व्याख्या—आदित्य=सूर्यम्, अप्सरःपक्षे—इन्द्रम्; अवाप्य = प्राप्य, कण्टकैः= नालगततीक्ष्णाऽवयवैः, अप्सरःपक्षे—रोमाञ्चैः, प्रकामम् = अत्यर्थं, करम्बिता = दन्तुरिता, अप्सरःपक्षे—युक्ता । आमोदभरं = परिमलसम्पदम्, अप्सरःपक्षे—आनन्दसम्पदं, विवृण्वती = प्रकटयन्ती, दिवा = दिवसे, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा = गृहीतव्यक्तकमलस्वरूपा, अप्सरःपक्षे—दिवा = स्वर्गेण, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा= गृहीतशोभास्थानशरीरा, स्वर्गलोकवासिनीति भावः, एतादृशी यत्प्रभवा = यत् तडागोत्पन्ना, सरोजिनी=कमलिनी, अप्सरायिता=अप्सरोवत् आचरिता ॥११५॥

अनुवादः—जैसे स्वर्गलोकमे रहनेवाली अप्सरा इन्द्रको पाकर अत्यन्त रोमाञ्चोंसे युक्त होती है, अतिशय आनन्दको प्रकट करती है वैसे ही जिस तालावसे

उत्पन्न कमलिनी सूर्यको पाकर नालमें स्थित कण्टकोंसे अत्यन्त युक्त होकर अतिशय सुगन्धको प्रकट कर तथा स्पष्ट रूपसे कमलरूप शरीरको धारण करती हुई अप्सराके समान आचरण करती है ॥ ११५ ॥

टिप्पणी—आदित्यम् = अदितेरपत्यं पुमान् आदित्य तम् 'अदिति' शब्दसे "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्य" इससे ण्य प्रत्यय। अवाप्य = अव + आप् + क्त्वा (ल्यप्)। आमोदभरम् = आमोदस्य भर, तम् (ष० त०)। "आमोदः सोऽतिनिर्हारी" इति "मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदाः।" इति चाऽमरः। बिभ्रती = बिभर्तीति, बि = धृञ् + लट् (शतृ) + ङीप् + नुं। दिवा = "दिवाऽह्नीति" इति "सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियां, क्लीबे त्रिविष्टपम्" इति चामरः। धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा = श्रियः गृहाणि (ष० त०)। स्फुटानि च तानि श्रीगृहाणि (क० धा०)। धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि (पद्मानि) यस्य सः (बहु०), धृतस्फुटश्रीगृह विग्रह (स्वरूपम्) यस्या सा (बहु०) अप्सराके पक्षमें— दिवा = स्वर्गेण, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा=श्रिय (शोभायाः) गृहम् (ष० त०)। धृत स्फुट श्रीगृह विग्रह (शरीरम्) यस्या सा (बहु०) उज्ज्वलशोभायुक्त शरीरवाली यह तात्पर्य है। सत्प्रभवा = प्रभवति अस्मात् इति प्रभव, प्र—उप सर्गपूर्वक 'भू' धातुसे "ऋदोरप्" इस सूत्रसे अप प्रत्यय। सत् (तडाग) प्रभव (कारणम्) यस्या सा (बहु०)। अप्सरायिता = अप्सरोवत् आचरिता, अप्सरस् शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे "ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां विभाषया" इस वार्तिकके सहकारसे क्यङ् प्रत्यय, सकारका लोप और टाप् प्रत्यय। इस पद्यमें श्लेष और उपमा अलङ्कार है ॥ ११५ ॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बताऽऽयतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः ।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान्धुवतः सपक्षताम् ॥ ११६ ॥

अन्वय—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बताऽऽयति मरुत्तरङ्गैः तरलः तटद्रुमः निमज्ज्य सन् पक्षान् धुवतः मैनाकमहीभृतः सपक्षतां ततान ॥ ११६ ॥

व्याख्या—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बताऽऽयति = यज्जलप्रवाहप्रतिफलिताऽऽयामः, मरुत्तरङ्गैः = वायुचालितोर्मिभिः, तरलः = चञ्चलः, तटद्रुमः = तीरवृक्षः, निमज्ज्य- निमग्नीभूय, सतः = विद्यमानस्य, पक्षान् = पतत्त्राणि, धुवतः = कम्पयतः, मैनाकमहीभृतः = मैनाकपर्वतस्य, सपक्षता = तुल्यता, पक्षयुक्तता च, ततान = विस्तारयामास ॥ ११६ ॥

अनुवादः—जिस तालाबके जलप्रवाहमें प्रतिबिम्बित विस्तारवाला, वायुसे

कम्पित तरङ्गोंसे चञ्चल किनारेका पेड़ डूबकर रहते हुए और पंखोंको हिलाते हुए मैनाक पर्वतके समानताका वा पक्षयुक्त-भावका विस्तार कर रहा था ॥११६॥

टिप्पणी—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बिताऽऽयतिः = अम्बुनः पूरः (ष० त०) यस्य (तडागस्य) अम्बुपूरः (ष० त०) । प्रतिबिम्बिता आयतिः यस्य सः (बहु०) । यदम्बुपूरे प्रतिबिम्बिताऽऽयतिः (स० त०) । मरुत्तरङ्गैः = मरुतः तरङ्गाः, तैः (ष० त०)। तटद्रुमः = तटे द्रुमः (स० त०)। निमज्ज्य = नि + मस्ज + क्त्वा (ल्यप्) । सतः = अस्तीति सत्, तस्य, अस् + लट् (शतृ) + ङस् । धुवतः = धुवतीति धुवन्, तस्य, "धू विधूनने" इस तुदादिस्थ धातुसे लट् शतृ + ङस् मैनाकमहीभृतः = मैनाकश्चाऽसौ महीभृत्, तस्य (क० धा०), सपक्षतां = समानः पक्षः यस्य सः सपक्षः (बहु०), "समानस्यच्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु" इस सूत्रमें "समानस्य" इसका योगविभाग होनेसे समानके स्थानमें "स" आदेश हुआ है । सपक्षस्य भावः सपक्षता, ताम्, सपक्ष + तल् + टाप् + अम् । मैनाक-पक्षमें—पक्षैः सह सपक्षः (तुल्ययोग बहु०), "वोपसर्जनस्य" इस सूत्रसे 'सह' के स्थानमे 'स' भाव । ततान = तनु + लिट् + तिप् (णल्) । इन्द्रने जब पर्वतों के पक्षोंको काटा तब मैनाक पर्वत डरकर समुद्रमे छिपा ऐसी पौराणिकी आख्यायिका है । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ११६ ॥

युग्मम्—

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥ ११७ ॥
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य ॥ ११८ ॥

अन्वयः—स नैषधः पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्र केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरं बालासु रतिक्षमासु च प्रियासु चञ्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च स्मरार्जितं रागमहीरुहाऽङ्कुरं बिभ्रतम् अन्तिके विचरन्तं चित्रं हिरण्मयं हंसम् अबोधि ॥ ११७–११८ ॥

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तः, नैषधः = नलः, पयोधिलक्ष्मीमुषि=समुद्रशोभाहरे, समुद्रसदृश इति भावः । तत्र = तस्मिन्, केलिपल्वले = क्रीडासरसि, रिरंसुहंसीकलनादसाऽऽदरं = रमणेच्छुवरटामधुरशब्दसस्पृहं, बालासु = आसन्नयौवनासु, अरतिक्षमास्विति भावः । रतिक्षमासु च = रमणसमर्थासु, युवतीष्विति भावः । इत्थं द्विविधासु, प्रियासु = वल्लभासु, क्रमात्, चञ्च्वोः = त्रोटयोः चरणद्वयस्य

च = पादद्वितयस्य च, मिषेण = छलेन द्विपत्रित = सञ्जातद्विपत्र, चञ्च्वो द्विखण्डत्वेन साम्यादियमुक्ति, पल्लवित च = सञ्जातपल्लवत्व च, चरणयो विसृमराऽङ्गुलित्वेन पल्लवसाम्यादियमुक्ति स्मरार्जित=कामोपार्जित, स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादिति भाव । रागमहीरुहाऽङ्कुर=अनुरागवृक्षनूतनोद्भिद, विभ्रत = धारयन्त, चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रित बालायोव राग, चरणमिषेण पल्लवित युवतिविषये राग च धारयन्तमिति भाव । अन्तिके=हसीनिकटे, विचरन्त = युवतिविषये राग च धारयन्तमिति भाव । अन्तिके = हसीनिकटे, विचरन्त = गच्छन्त, चित्रम् = अद्भुत, हिरण्मय = सुवर्णमय, हस = चक्राङ्गम्, अबाधि = ज्ञातवान्, अद्राक्षीदिति भाव ॥ ११७-११८ ॥

अनुवाद—महाराज नलने समुद्रकी शोभाका हरण करनेवाले, विहार-सरोवरमे रमणकी इच्छा करनेवाली हसियोके अव्यक्त मधुर शब्दोंमें अभिलाष करनेवाले, बाला और प्रौढ अपनी प्रियाओंमे दो चोचो और दो चरणोके बहानेसे दो पत्तोसे तथा पल्लवसे युक्त कामदेवसे उपार्जित अनुरागरूप वृक्षके अङ्कुरको धारण करते हुए और हसियोंके पास आते हुए अनूठे सुनहरे हसको देखा ॥ ११७-११८ ॥

टिप्पणी—नैषध = निषध + अण् । पयोधिलक्ष्मीमुषि = पयोधे लक्ष्मी (ष० त०) । ता मुष्णातीति पयोधिलक्ष्मीमुट्, तस्मिन्, पयोधिलक्ष्मी + मुष् + क्विप् + ङि (उपपद०) । केलिपल्वले = केले पल्वल, तस्मिन् (ष० त०) । 'वेशन्त पल्वल चाऽल्पसर" इत्यमर । रिरसुहसीकलनादसादर = रन्तुम् इच्छव रिरसव, रम् + सन् + उ । ताश्च ता हस्य (क० धा०) । कलश्चासौ नाद (क० धा०), आदरेण सहित सादर (तुल्योगबहु०) । रिरसुहसीना कलनाद (ष० त०), तस्मिन् सादर, तम् (स० त०) । रतिक्षमासु = रतौ क्षमा, तासु (स० त०), चञ्चो = "चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियाम्" इत्यमर । चरणद्वयस्य = चरणयो द्वय, तस्य ष० त०) । द्विपत्रित = द्विसङ्ख्यके पत्रे द्विपत्रे (मध्यमपदलोपी स०) । द्विपत्रे सजाते अस्य द्विपत्रित, तम् "तदस्य सजात तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच प्रत्यय । पल्लवित = पल्लव सजातम् अस्य, तम्, पहलेके समान इतच् । स्मरार्जित = स्मरेण अर्जित, तम् (तृ० त०) । रागमहीरुहाङ्कुर = राग एव महीरुह (रूपक०) तस्य अङ्कुर, तम् (ष० त०) । बिभ्रत = भृ + लट् (शतृ) + अम् । विचरन्त=वि + चर + लट (शतृ) + अम्, हिरण्मय=हिरण्यस्य विकार, तम् 'दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौणहत्य धैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि"

इस सूत्रसे यकारलोपका निपातन। हंसम् = यहाँपर "हंस" शब्दसे राजहंसको लेना चाहिए। 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः।" इत्यमरः। अवोधि= "वुध अवगमने" धातुसे लुङ्, (कर्तामें) "दीपजनवुधपूरितायिप्यायिभ्यो-ऽन्यतरस्याम्" इससे च्लिके स्थानमें चिण्। पूर्वपद्यमें पयोधिलक्ष्मीको केलि-पल्लव कैसे हरण करता है इस प्रकार वस्तुसम्बन्ध असम्भव होकर पयोधि-लक्ष्मीके सदृश लक्ष्मीका बोधन करनेसे निदर्शना अलङ्कार है। दूसरे पद्यमें यथासंख्य, रूपक और कैतवाऽपह्नुतिका सङ्कर है। उसके साथ दो रोगोंके भेदमें अभेदलक्षणा अतिशयोक्तिसे उत्थापित चोचों और चरणोंके व्याजसे भीतरके समान वाहर भी अङ्कुरितत्वकी उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होती है इस प्रकार अलङ्कारसे अलङ्कारध्वनि है ॥ ११७–११८ ॥

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम् ।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत् ॥ ११९ ॥

अन्वयः—महीमहेन्द्रः स एकान्तमनोविनोदिनं तं शकुन्तं क्षणम् अवेक्ष्य प्रियावियोगात् निर्भरं विधुरः अपि मनाक् कुतूहलाक्रान्तमनाः अभूत् ॥ ११९ ॥

व्याख्या—महीमहेन्द्रः = पृथिवीन्द्रः, सः = नलः, एकान्तमनोविनोदिनं= नितान्तचित्ताह्लादकं, तं = पूर्वोक्तं, शकुन्तं = पक्षिणं हंसमित्यर्थः। क्षणं= कञ्चित्कालम्, अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, प्रियावियोगात् = दयिताविरहात्, दमयन्ती-वियोगादित्यर्थः। निर्भरम् = अतिमात्रं, विधुरः अपि = विह्वलः अपि, मनाक्= ईषत्, कुतूहलाक्रान्तमनाः = कुतूहलाऽन्वितचित्तः, अभूत् = अभवत्, ग्रहीतुका-मोऽभूदिति भावः ॥ ११९ ॥

अनुवादः—राजा नल चित्तको अत्यन्त आनन्दित करनेवाले उस पक्षी-(हंस) को कुछ समयतक देखकर दमयन्तीके विरहसे अत्यन्त विह्वल होकर भी कुछ कुतूहलसे युक्त हो गये ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—महीमहेन्द्रः = महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०), मह्यां महेन्द्रः (स० त०)। एकान्तमनोविनोदिनं = मनो विनोदयतीति मनोविनोदी, मनस्+ वि+नुद्+णिच्+णिनि (उपपद०)। एकान्तं (यथा तथा) मनोविनोदी, तम् (सुप्सुपा०)। "तीव्रैकान्तनितान्तानि गाढवाढदृढानि च।" इत्यमरः। क्षण="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया। "निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः।" इत्यमरः। अवेक्ष्य = अव+इक्ष+क्त्वा (ल्यप्)। प्रियावियोगात् = प्रियाया वियोगः, तस्मात् (प० त०)। कुतूहलाक्रान्तमनाः=

आक्रान्तं मनो यस्य सः (बहु०), कुतूहलेन आक्रान्तमनाः (तृ० त०)। अभूत् = भू + लुङ् + तिप् ॥ ११९ ॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशाऽवशात्मना ॥ १२० ॥

अन्वयः—अवश्यभव्येषु अनवग्रहग्रहा वेधसः स्पृहा यया दिशा धावति तया भृशाऽवशात्मना जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या इव अनुगम्यते ॥ १२० ॥

व्याख्या—धीरोदात्तो नलः कथं हंसग्रहणात्मके चापल्ये प्रावर्तिष्टेत्याशङ्कायां समाधत्ते अवश्येति । अवश्यभव्येषु = नियमभवितव्येषु विषयेषु अनवग्रहग्रहा = अप्रतिबन्धनिर्बन्धा, निरङ्कुशाऽभिनिवेशेति भावः । वेधसः = ब्रह्मणः, स्पृहा = इच्छा, यया दिशा = येन मार्गेण, धावति = गच्छति, तया = दिशा, भृशा वशात्मना = अत्यर्थपरतन्त्रस्वभावेन, जनस्य = लोकस्य, चित्तेन = मानसेन, तृणेन = अर्जुनेन, वात्या इव = वातसमूह इव, अनुगम्यते = अनुस्रियते, वेधसः स्पृहा कर्म ॥ १२० ॥

अनुवाद—नियमसे भवितव्य विषयोंमें प्रतिबन्धसे रहित आग्रहवाली ब्रह्माकी इच्छा जिस दिशासे जाती है उसी दिशाको अत्यन्त परतन्त्र स्वभाववाले मनुष्यका चित्त अनुगमन करता है जैसे कि तृण वायुसमूहका अनुगमन करता है ॥ १२० ॥

टिप्पणी—अवश्यभव्येषु = भवन्तीति भव्याः, "भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा" इस सूत्रसे निपात हुआ है। अवश्यं भव्याः तेषु (सुप्सुपा०)। "अवश्यम्" के मकारका "लुम्पेदवश्यमः कृत्ये" इससे लोप हुआ है अनवग्रहग्रहा = अविद्यमान अवग्रहः यस्मिन् सः (नञ्बहु०), स ग्रहः यस्याः सा (बहु०) "ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे ॥" इति विश्वः भृशाऽवशात्मना = अवशः (अधीन) आत्मा (स्वभाव) यस्य सः (बहु०)। भृशम् (यथा तथा) अवशात्मा, तेन (सुप्सुपा०) वात्या = वातानां समूहः, 'वात' शब्दसे "पाशादिभ्यो यः" इस सूत्रसे य प्रत्यय और टाप्। अनुगम्यते = अनु + गम् + (कर्ममें) + [illegible]। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १२० ॥

अथाऽवलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः ।
स तिर्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमाऽलसः ॥ १२१॥

अन्वयः—अथ रतिक्लमाऽलसः खगः तदा एकपादिकाम् अवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः (सन्) पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं क्षणं निदद्रौ ॥ १२१ ॥

व्याख्या—अथ = नलोत्कण्ठोत्पत्त्यनन्तरं, रतिक्लमाऽलसः = सुरतखेदालस्य-

युक्तः, सः = पूर्वोक्तः, खगः =पक्षी, हंस इत्यर्थः । तदा = तस्मिन् समये, एक-पादिकाम्=एकपादाऽवस्थानक्रियाम्, अवलम्ब्य=आश्रित्य, तिर्यगावर्जितकन्धरः= तिर्यगावर्तितग्रीवः (सन्), पक्षेण = पतत्त्रेण, शिरः = मूर्धानं, पिधाय = आच्छाद्य, उपपल्वलं = क्रीडासरोवरनिकटे, क्षणं = कञ्चित्कालं, निदद्रौ = सुष्वाप ॥ १२१ ॥

अनुवादः—नलको उत्कण्ठा होनेके अनन्तर रमणकी ग्लानिसे आलस्ययुक्त होकर वह पक्षी (हंस) उस समय एक पैरसे भूतलका अवलम्बन कर गरदनको टेढ़ा कर पंखसे शिर ढककर तालावके पास कुछ समयतक सो गया ॥ १२१ ॥

टिप्पणी—रतिक्लमाऽलसः=रतेः क्लमः (ष० त०), तेन अलसः (तृ० त०) । खगः = खे गच्छतीति, ख + गम् + डः । एकपादिकाम्=एकः पादः यस्याम् (क्रियायाम्) एकपादिका, ताम्, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे तद्धितार्थविषयमें समास होकर "अत इनिठनौ" इस सूत्रसे ठन् प्रत्यय होकर "ठस्येकः" इससे उसके स्थानमें इक होकर स्त्रीत्वविवक्षामें टाप् । अनित्य होनेसे समासाऽन्त विधिका अभाव हुआ, अतएव पद् आदेशका प्रसंग नहीं । तिर्यगावर्जितकन्धरः = तिर्यक् आवर्जिता कन्धरा येन सः (बहु०) । पिधाय = अपि + धा + क्त्वा (ल्यप्), "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" इसके अनुसार 'अपि' के अकारका लोप । "अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च ।" इत्यमरः । उपपल्वलं = पल्वलस्य समीपे, समीप अर्थमें अव्ययीभाव । निदद्रौ = नि + द्रा + लिट् + णल (औ) । इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"स्वभावोक्तिर्दुरूहाऽर्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ।" सा० द० १०-१२१ ॥ १२१ ॥

सनालमात्माऽऽननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम् ? ।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरं च किम् ? ॥१२२॥

अन्वयः— स तम् आत्माऽऽननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं सनालं काञ्चनम् अम्बुजन्म किम् ? (तथा) विद्रुमदण्डमण्डितं पीतम् अम्भःप्रभुचामरं च किम् (इति) अबुद्ध ॥ १२२ ॥

व्याख्या—सः = नलः, तं = हंसम्, आत्माऽऽननिर्जितप्रभं = स्वमुखपराजित कान्ति, अतएव ह्रिया = लज्जया, नतं = नम्रं, सनालं=नालसहितम्, एकचरणा-ऽवस्थानादिति शेषः । काञ्चनं = सौवर्णं, हंसस्य हिरण्मयत्वादिति शेषः । अम्बु-जन्म = जलजं, कमलमित्यर्थः, किं = किमु, (तथा) विद्रुमदण्डमण्डितं =

प्रवालदण्डभूषित, चरणस्य रक्तत्वादीति शेष । पीत=पीतवर्ण हिरण्मयत्वादिति शेष । अम्भःप्रभुचामर च = वरुणप्रकीर्णक च, किं = किमु, इति अबुद्ध = बुद्धवान् उत्प्रेक्षितवानिति भाव ॥ १२२ ॥

अनुवाद --नलने हंसको अपने मुखसे पराजित कान्तिवाला अतएव लज्जासे झुका हुआ, नालसे युक्त सुनहला कमल है क्या ? अथवा मूँगेके दण्डसे अलंकृत पीला वरुणदेवका चामर है क्या ? ऐसा विचार किया ॥ १२२ ॥

टिप्पणी —आस्याननिर्जितप्रभम् = निर्जिता प्रभा यस्य तत् (बहु०) । आस्येन आननम् (ष० त०), तेन निर्जितप्रभम् (तृ० त०) । नत=नम्+क्त । सनाल = नालेन सहितम् (तुल्ययोग बहु०) । काञ्चन=काञ्चनस्य विकार, "अनुदात्तादेश्च" इस सूत्रसे अञ् प्रत्यय । अम्बुजन्म = अम्बुन जन्म यस्य तत् = (व्यधिकरण बहु०) । विद्रुमदण्डमण्डित = विद्रुमस्य दण्ड (ष० त०), तेन मण्डितम् (तृ० त०) । अम्भ प्रभुचामरम् = अम्भस प्रभु (ष० त०), "प्रचेता वरुण पाशी यादसा पतिरप्पति ।" इत्यमर. । अम्भ प्रभो चामरम् (ष० त०) । अबुद्ध = 'बुध अवगमने' धातुसे लुङ्+त, "झषस्तथोर्धोऽध " इस सूत्रसे तकारके स्थानमे धकार । इस पद्यमे ह्री (लज्जा) के प्रति "निर्जितप्रभ" पदका अर्थ हेतु है अत पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें दो उत्प्रेक्षाएँ और "अबुद्ध" इस एक क्रियाके साथ "अम्बुज ' और "चामर" की कर्मतासे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलंकार है, इस प्रकार इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १२२ ॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ तत पदे रेजतुरस्य बिभ्रती ।
तयो प्रवालैर्वनयोस्तथाम्बुजैर्नियोद्‍धुकामे किमु बद्धवर्मणी ? ॥ १२३ ॥

अन्वय --तत हयात् कृतावरोहस्य अस्य उपानहौ बिभ्रती पदे तयो वनयो प्रवालै तथा अम्बुजै नियोद्‍धुकामे (अत) बद्धवर्मणी रेजतु किमु ? ॥ १२३॥

व्याख्या—तत = हंसदर्शनानन्तर, हयात् = अश्वात्, कृतावरोहस्य = विहितावतरणस्य, अस्य = नलस्य, उपानहौ = पादत्राणौ, वर्मरूप इति भाव । बिभ्रती = धारयती, पदे = चरणे, तयो = पूर्वोक्तयो , वनयो =विपिनसलिलयो प्रवालै =पल्लवै , तथा = तेन प्रकारेण, अम्बुजै = कमलै , नियोद्‍धुकामे = युद्धकामे अत बद्धवर्मणी = सन्नद्धकवचे, रेजतु = शुशुभाते, किमु ॥ १२३ ॥

अनुवाद —तब घोडेसे उतरनेवाले नलके जूतोको पहननेवाले पाँव, उपवन

और जलके पल्लवों और कमलोंसे युद्ध करनेकी इच्छासे कवच पहने हुए हैं क्या ? इस प्रकार शोभित हुए ॥ १२३ ॥

टिप्पणी—हयात्=अपादानमें पञ्चमी। कृताऽवरोहस्य=कृतः अवरोहः येन, तस्य (बहु०)। उपानहौ = उपनह्येते इति उपानहौ, ते, उप—उपसर्ग-पूर्वक 'णह बन्धने', धातुसे "सम्पदादिभ्यः क्विप्" इस वार्तिकसे क्विप् प्रत्यय और "नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ" इस सूत्रसे पूर्वपदका दीर्घ। बिभ्रती = भृ + लट् (शतृ) + औ। पदे = पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रि-वस्तुषु।" इत्यमरः। वनयोः = वनं च वनं च वने, तयोः "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इससे एकशेष "वने सलिलकानने" इत्यमरः। प्रवालैः = "प्रवा-लोऽस्त्री किसलये वीणादण्डे च विद्रुमे।" इति मेदिनी। नियोद्धुकामे = नियोद्धुं कामः ययोस्ते (बहु०)। "तुं काममनसोरपि" इससे तुमुन्के मकारका लोप। बद्धवर्मणी = बद्ध वर्म याभ्यां ते (बहु०)। रेजतुः = "राजृ दीप्तौ" धातुसे लिट् + तस् (अतुस्)। "फणा च सप्तानाम्" इस सूत्रसे एत्व और अभ्यास-लोप। इस पद्यमें श्लेष यथासंख्य और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर अलंकार है ॥ १२३ ॥

विधाय मूर्ति कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम्।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

अन्वयः—अयं नृपः स्वयं कपटेन वामनी बलिध्वंसिविडम्बिनी मूर्ति विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वः पाणिना पतगं समधत्त ॥ १२४ ॥

व्याख्या—अयम् = एषः, नृपः = राजा, नल इत्यर्थः। स्वयम् = आत्मना, नत्वनुचरेण, कपटेन = छलेन, वामनी = ह्रस्वा, बलिध्वंसिविडम्बिनी = भगवद्वा-मनाऽनुकारिणी, मूर्ति = शरीरं, विधाय = कृत्वा, शरीरं सङ्कुचय्येति भावः। मौनिना = मौनयुक्तेन, निःशब्देनेत्यर्थः। चरणेन = पादेन, उपेतपार्श्वः = आसादित हंससामीप्यः सन्, पाणिना = करेण, पतंगं = पक्षिणं, हंसमिति भावः। समधत्त = जग्राहेत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अनुवाद:—राजा नलने स्वयम् कपटसे बलिको छलनेवाले विष्णु (वामन) की नकल करनेवाला छोटा शरीर बनाकर शब्दसे रहित चरणसे (दबे पाँव) हंसके पास पहुँचकर हाथसे हंसको पकड़ लिया ॥ १२४ ॥

टिप्पणी—वामनी = वामनस्य इयं वामनी, वाम् वामन + अण् + ङीप् + अम। "टिड्ढाणञ्०" इस सूत्रसे ङीप् वा "पिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीप्।

वलिध्वसिविडम्बिनीं=बलिं ध्वंसयतीति बलिध्वंसी (वामन), बलि+ध्वंस+णिच्+णिनि (उपपद०)। बलिध्वंसिनं विडम्बयतीति बलिध्वंसिविडम्बिनी, ताम्, बलिध्वंसि+वि+डबि+णिनि+ङीप्+अम्। मूर्ति ='मूर्ति काठिन्य-काययो" इत्यमरः। विधाय=वि+धा+क्त्वा (ल्यप्)। मौनिना=मुनेर्भावः मौनम्, 'मुनि' शब्दसे "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" इससे अण्। मौनम् अस्याऽस्तीति मौनी, तेन, मौन+इनि+टा। उपेतपार्श्वम्=उपेतं पार्श्वं येन स, तम् (बहु०)। पाणिना = साधकतमं करणम्, इससे करणसंज्ञा होकर तृतीया। समधत्त=सम्+धा+लुङ्+त। इस पद्यमें स्वभावोक्ति और उपमाका संसृष्टि अलङ्कार है। पूर्वकालमें भगवान् नारायणने अदितिकी प्रार्थनासे वामन अवतार लेकर त्रिपादपरिमित भूमिकी प्रार्थना कर छलपूर्वक बलिको स्वर्गसे हटा दिया था यहाँ पर उसी बातका संकेत है ॥ १२४ ॥

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात्पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥ १२५ ॥

अन्वयः — सः आत्मानं तदात्तम् अवेत्य संभ्रमात् उत्प्लवाय पुनः पुनः प्रायसत्, उड्डयने निराशतां गतः (सन्) विरुत्य निरोद्धुः करौ केवलं दशति स्म ॥१२५॥

व्याख्या - सः = हंसः, आत्मानं = स्वं, तदात्तं = नलगृहीतम्, अवेत्य = ज्ञात्वा, संभ्रमात् = त्वरया, उत्प्लवाय = उत्पतनाय, पुनः पुनः = भूयो भूयः, प्रायसत् = प्रयत्नम् अकार्षीत्, उड्डयने = उत्पतने, निराशतां = नैराश्यं, गतः = प्राप्तः सन्, विरुत्य=विक्रुश्य, निरोद्धुः=ग्रहीतुः, नलस्येति भावः। करौ=हस्तौ, केवलम्=एव, दशति स्म=दष्टवान् ॥ १२५ ॥

अनुवादः—उस हंसने अपनेको नलसे पकड़ा गया जानकर घबड़ाहटसे उड़नेके लिए बारम्बार प्रयत्न किया, आखिर उड़नेमें निराश होकर चिल्लाकर नलके दोनों हाथोंको काटने लगा ॥ १२५ ॥

टिप्पणी—तदात्तः तेन आत्तः, (तृ० त०)। अवेत्य = अव+इण्+क्त्वा (ल्यप्)। संभ्रमात्=हेतुमें पञ्चमी। उत्प्लवाय = "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इस सूत्रसे चतुर्थी। प्रायसत् = प्र-उपसर्गपूर्वक "यसु प्रयत्ने" धातुसे लुङ्में "पुषादिद्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु" इस सूत्रसे च्लिके स्थानमें अङ्आदेश। निराशता = निर्गता आशा यस्मात् सः (बहु०)। निराशस्य भावो निराशता, ताम्, निराश+तल्+टाप्, विरुत्य=वि-उपसर्गपूर्वक "रु शब्दे" धातुसे

क्त्वा (ल्यप्) । निरोद्धुः = निरुणद्धीति निरोद्धा, तस्य नि+रुध्+तृण+ङस् । इस पद्य में भी स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ १२५ ।

ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम् ।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृप न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥ १२६ ॥

अन्वयः—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुलं सरः उत्कतया अनुकम्पितां प्रपद्य तं नृपम् ऊर्मिलोलैः वारिरुहैः करैः इव पतगग्रहात् न्यवारयत् ॥ १२६ ॥

व्याख्या—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुलं = सत्वरोत्पतनशीलपक्षिसमूहव्याकुलं, सरः = तडागः, उत्कतया = उत्कण्ठितत्वेन, अनुकम्पिता=दयालुतां, प्रपद्य = प्राप्य, तं = पूर्वोक्तं, नृपं = राजानं, नलमिति भावः । ऊर्मिलोलैः = तरङ्गचञ्चलैः, वारिरुहैः = कमलैः, करैः इव = हस्तैः इव, पतगग्रहात् = पक्षिग्रहणात्, न्यवारयत् इव = निवारितवान् इव ॥ १२६ ॥

अनुवादः—घबड़ाहटके साथ उडनेवाले पक्षियोंसे आकुल तालाब, उत्कण्ठित होनेसे दयालु होकर राजा नलको तरंगोंसे चञ्चल कमलसदृश हाथोंसे पक्षीको ग्रहण करनेमे मानों रोक रहा है ऐसा मालूम होता था ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुलं = पतन्तीति पतन्तः, पत्+लट् (शतृ) । "पतत्रिपत्रिपतगपतत्पत्त्ररथाऽण्डजाः ।" इत्यमरः । पततां कुलम् (ष० त०) । संभ्रमेण सहितं, (तुल्ययोगबहु०) । उत्पततीति उत्पाति, उद्+पत्+णिनिः । ससंभ्रमं यथा तथा उत्पाति (सुप्सुपा०) । ससंभ्रमोत्पाति च तत् पतत्कुलम् (क० धा०), तेन आकुलम् (तृ० त०) । उत्कतया = "उत्क उन्मनाः" इस सूत्रसे "उत्क" शब्दका निपात हुआ है । उत्कस्य भाव उत्कता, तया, उत्क+तल्+टाप्+टा । अथवा उद्गतं कं (जलम्) यस्मात् उत्कं (बहु०), तस्य भावः तत्ता तया । पक्षियोंके उडनेसे जलके हिलनेसे यह तात्पर्य है । अनुकम्पिताम्=अनुकम्पते तच्छीलः अनुकम्पी, अनु = कपि+णिनिः । अनुकम्पिनः भावः अनुकम्पिता ताम्, अनुकम्पिन्+तल्+टाप्+अम् । प्रपद्य= प्र+पद्+क्त्वा (ल्यप्) । ऊर्मिलोलैः = ऊर्मिभिः लोलानि, तैः (तृ० त०) । वारिरुहैः = वारिणि रोहन्तीति वारिरुहाणि, तैः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय, वारि+रुह+कः । पतगग्रहात्—पतगस्य ग्रहः, तस्मात् (ष० त०) । न्यवारयत्=नि+वृ+णिच्+तिप् । इस पद्यमें उपमा और "न्यवारयत्" यहांपर उत्प्रेक्षावाचक इव आदि शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलंकार है ॥ १२६ ॥

पतत्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्या प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥ १२७ ॥

अन्वय.—रुचिरेण पतत्रिणा वञ्चितं तत् पल्वलं प्रविहाय प्रयान्त्या श्रियः चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा कलहंसमण्डली कूले चुकूज ॥ १२७ ॥

व्याख्या- रुचिरेण=सुन्दरेण, पतत्रिणा = पक्षिणा, हंसेनेति भाव, वञ्चितं = विरहितं, तत् = पूर्वोक्तं, पल्वलं = तडागं, प्रविहाय = सत्यज्य प्रयान्त्या = गच्छन्त्या ,श्रियः = लक्ष्म्या , चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा = गच्छच्चरण-कमलपादाङ्गदसाम्ययुक्ता, कलहंसमण्डली = राजहंससहतिः , कूले = तडागतटे, चुकूज = अव्यक्तशब्दं चकार ॥ १२७ ॥

अनुवाद—सुन्दर पक्षी (राजहंस) से रहित उस तालाबको छोड़कर जाती हुई लक्ष्मीके चलते हुए चरणकमलोंके नूपुरके सदृश राजहंससमूह किनारे मे शोर मचाने लगा ॥ १२७ ॥

टिप्पणी—प्रविहाय = प्र + वि + हा + क्त्वा (ल्यप्) । प्रयान्त्या = प्रयातीति प्रयान्ती, तस्याः, प्र + या + लट् + शतृ + ङीप् + ङस् । चलत्पदाम्भो-रुहनूपुरोपमा = अम्भसि रोहत इति अम्भोरुहे अम्भस + रुह + क । पदे अम्भो-रुहे इव (उपमित०) । चलती च ते पदाम्भोरुहे (क० धा०), तयोः नूपुरौ (ष० त०), "पादाङ्गदं तुलाकोटिमञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमरः । चलत्पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा (सादृश्यम्) यस्याः सा (व्यधिकरणबहु०) । कलहंसमण्डली = कलवाचो हंसाः कलहंसाः (मध्यमपदलोपी स०)। 'कलहंसस्तु कादम्बे राजहंसे नृपोत्तमे ।" इति विश्वः । कलहंसानां मण्डली (ष० त०) । चुकूज = "कूज अव्यक्ते शब्दे" इस धातुसे लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमें शोभा और लक्ष्मीके भेद होनेपर भी श्री शब्दके श्लेषसे अभेद अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति और उपमा इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अल-ङ्कार है ॥ १२७ ॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥ १२८ ॥

अन्वय—इयं वसुधा वासयोग्या न, अङ्ग ! यस्याः उज्झितस्थितिः ईदृशः त्वं पतिः इति खगाः क्षितिं प्रहाय नभः आश्रिताः (सन्तः) तम् आरवैः आचु-क्रुशुः खलु ॥ १२८ ॥

व्याख्या—इयम् = एषा, वसुधा = पृथिवी, वासयोग्या न = निवासाऽर्हा न, अंग = भो राजन्, यस्याः=वसुधायाः, उज्झितस्थितिः = त्यक्तमर्यादः, ईदृशः = एतादृशः, निरपराधपक्षिग्रहीतेति भावः। त्वं, पतिः = पालकः, असीति शेषः। इति = एवं, कथयित्वा इवेति शेषः। खगाः = पक्षिणः, क्षितिं = वसुधां, प्रहाय = परित्यज्य, नभः = अन्तरिक्षम्, आश्रिताः = प्राप्ताः सन्तः, तं = नलम्, आरवैः = उच्चध्वनिभिः, आचुक्रुशुः = निनिन्दुः (इव), खलु= निश्चयेन ॥ १२८ ॥

अनुवादः—"यह धरती रहने लायक नहीं है, हे राजन् ! मर्यादा छोड़नेवाले आप जैसे जिसके पालक हैं।" इस प्रकार पक्षिगण धरती को छोड़कर अन्तरिक्षका आश्रय लेते हुए नलकी उच्च ध्वनियों से निन्दा कर रहे हैं ऐसा मालूम होता था ॥ १२८ ॥

टिप्पणी—वासयोग्या = वासे योग्या (स० त०)। अङ्ग = "स्युः प्याट् पाडङ्ग हे हे भोः" इत्यमरः। ये सब अव्यय हैं। उज्झितस्थितिः = उज्झिता स्थितिर्येन सः (बहु०)। "संस्था तु मर्यादा धारणा स्थितिः" इत्यमरः। प्रहाय = प्र+हा+क्त्वा (ल्यप्)। आचुक्रुशुः = आङ्+क्रुश+लिट्+झि (उस्)। इस पद्यमें "आचुक्रुशुः" इस क्रियापदमें उत्प्रेक्षाद्योतक इव आदि पदके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १२८ ॥

"न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टे" यमिति स्तुवन्मुहुः।
अवादि तेनाऽथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥ १२९ ॥

अन्वयः—"इय जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य न दृष्टा" इति मुहुः स्तुवन् स जनाऽधिनाथः अथ करपञ्जरस्पृशा तेन मानसौकसा अवादि ॥ १२९ ॥

व्याख्या—इयम् = ईदृक्, जातरूपच्छदजातरूपता=सुपर्णपक्षोत्पन्नसौन्दर्यता, द्विजस्य = पक्षिणः, न दृष्टा = न अवलोकिता, इति = इत्थं, मुहुः = वारंवारं, स्तुवन् = प्रशंसन्, सः = पूर्वोक्तः, जनाऽधिनाथः=नराऽधिपतिः, नल इति भावः। अथ = अनन्तरं, करपञ्जरस्पृशा = हस्तपिञ्जरस्पर्शकारिणा। तेन = पूर्वोक्तेन, मानसौकसा = मानसरोवरवासिना, हंसेनेत्यर्थः। अवादि = उक्तः ॥ १२९ ॥

अनुवादः—'किसी भी पक्षीमें सुनहले पंखोंका ऐसा सौन्दर्य मैंने नहीं देखा था' इस प्रकार वारंवार तारीफ करनेवाले राजा नलको पिंजड़े सदृश उनके हाथमें विद्यमान उस हंसने कहा ॥ १२९ ॥

टिप्पणी—जातरूपच्छदजातरूपता=जात रूप (सौन्दर्यम्) यस्य स जातरूप (बहु०), तस्य भावो जातरूपता, जातरूप+तल्+टाप् । जातरूपस्य छदा (ष० त०), "चामीकर जातरूप महारजतकाञ्चने ।" इत्यमर. । जातरूपच्छदे जातरूपता (तृ० त०) । स्तुवन् = स्तौतीति, ष्टु+लट् (शतृ०) +सु । जनाऽधिनाथ = जनानाम् अधिनाथ (ष० त०) । करपञ्जरस्पृशा = कर पञ्जरम् इव (उपमित०) । 'पिंजड़ेके समान हाथ' कहनेसे उसकी शिथिलतासे पीडाके अभावकी सूचना होती है । करपञ्जर स्पृशतीति करपञ्जरस्पृक्, तेन, करपञ्जर-उपपदपूर्वक "स्पृश" धातुसे "स्पृशोऽनुदके क्विन्" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय । मानसौकसा = मानसम् ओक (स्थानम्) यस्य स मानसौका तेन (बहु०) । "हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस ।" इत्यमर । अवादि=वद+लुङ् (कर्ममें)+त । इस पद्यमें "करपञ्जरस्पृशा" इसमें उपमा अलङ्कार है और "जातरूप • "" • जातरूप" यहाँपर यमक अलकार है, उसका लक्षण है—

"सत्यर्थे पृथगर्थाया स्वरव्यञ्जनसहते ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमक विनिगद्यते ॥" सा० द० १०–१० ॥ १२९ ॥

धिगस्तु तृष्णातरल भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मन ।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभि कमलोदय कियान् ? ॥ १३० ॥

अन्वय —हेमजन्मन मम पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरल भवन्मन धिक् अस्तु, तुषारशीकरै अर्णवस्य इव तव अमीभि कियान् कमलोदय भवेत् ? ॥ १३० ॥

व्याख्या—अथ हस पद्यचतुष्टयेन राजानमुपालभते —धिगिति । हेमजन्मन = सौवर्णान्, मम = हसस्य, पक्षान् = पतत्राणि, समीक्ष्य = दृष्ट्वा, तृष्णातरल = लालसाचञ्चल, भवन्मन धिक् = त्वच्चित्त, धिक्, भवन्मनसो निन्देत्यर्थ । अस्तु = भवतु, तुषारशीकरै = हिमकणै, अर्णवस्य इव = समुद्रस्य इव, तव = भवत अमीभि = एभि, हेमज मभि पक्षैरिति भाव, कियान् = किंपरिमाण, कमलोदय —भव ? —कमलाया = लक्ष्म्या, समुद्रस्य—कमलस्य = जलस्य, उदय = वृद्धि, भवेत् = स्यात्, अतिस्वल्प स्यादिति भाव । अगाधजल समुद्रो यथा जलवृद्ध्यर्थं तुषारशीकर नाद्रियते तथैव आढ्यतमेन भवताऽपि मत्पक्षसुवर्ण नादरणीयमिति भाव ॥ १३० ॥

अनुवादः—सुनहरे मेरे पखोको देखकर तृष्णासे चञ्चल आपके मनको

धिक्कार हो। हिमकणोंसे समुद्रको जैसे कितनी जलवृद्धि होगी ? वैसे ही मेरे इन सुनहले पंखोंसे आपको कितनी सम्पत्तिकी वृद्धि होगी ? ॥ १३० ॥

टिप्पणी—हेमजन्मनः = हेम्नः जन्म येषां ते हेमजन्मानः तान् (व्याधिकरण-बहु०)। समीक्ष्य = सम् + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्)। तृष्णातरलं = तृष्णया तरलं तत् (तृ० त०)। भवन्मनः = भवतः मनः, तत्, 'धिक्' के योगमें "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। धिक् = "धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोः" इत्यमरः। अस्तु = अस् + लोट् + तिप्। तुषारशीकरैः = तुषाराणा शीकराः, तैः (ष० त०) कियान् = किं परिमाणम् अस्य, 'किम्' शब्दसे "किमिदम्भ्यां वोघः" इससे वतुप् (वत्) और 'व' के स्थानमें घ (इय) आदेश, "इदं किमोरीश् की" इससे 'किम्' के स्थानमें 'की' और "यस्येति च" इससे ईकारका लोप। कमलोदयः—राजपक्षमें—कमलायाः (लक्ष्म्याः), समुद्रपक्षमें—कमलस्य उदयः (ष० त०) "कमला श्रीर्हरिप्रिया" इति "सलिलं कमलं जलम्" इति चाऽमरः। इस पद्यमें उपमा और श्लेष अलंकार की संसृष्टि है ॥ १३० ॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसिताऽन्तरात्मनः।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥ १३१ ॥

अन्वयः- (हे नृप !) त्वदीक्षणात् विश्वसिताऽन्तरात्मनः मम वधः केवलं प्राणिवधः न। विश्वासजुषां द्विषाम् अपि निबर्हणं धर्मधनैः विशिष्य विगर्हितम् ॥ १३१ ॥

व्याख्या—(हे नृप !) त्वदीक्षणात् = भवन्मूर्तिदर्शनात्, विश्वसिताऽन्तरात्मनः = विस्रब्धचित्तस्य, मम = हंसस्य, वधः = व्यापादनं, केवलः प्राणिवधः = जन्तुव्यापादनमात्रं, न = न अस्ति। किन्तु विश्वासजुषां = विस्रम्भभाजां, द्विषाम् अपि = शत्रूणाम् अपि, निबर्हणं = वधः, धर्मधनैः = धर्मपरैः, मन्वादिभिरिति शेषः। विशिष्य = अतिरिच्य, विगर्हितम् = अत्यन्तनिन्दितम्। कस्याऽपि प्राणिनो वधो गर्हितः, तत्राऽपि निरपराधस्य, तत्र ऽपि "भवान् धार्मिको राजा" इति मनसि कृत्य विश्वस्तस्य मम वधो धार्मिकैरत्यन्तविगर्हितो भवेदिति भावः ॥ १३१ ॥

अनुवाद.—आपको देखनेसे विश्वस्त चित्तवाले मेरी हिंसा खाली प्राणिहिंसा नहीं है। विश्वास करनेवाले शत्रुओंकी भी हत्याकी धर्मज्ञोंने अत्यन्त निन्दा की है ॥ १३१ ॥

टिप्पणी—त्वदीक्षणात् = तव ईक्षणं, तस्मात् (ष० त०)। विश्वसिताऽन्तरात्मनः = विश्वसितः अन्तरात्मा यस्य स विश्वसिताऽन्तरात्मा, तस्य (बहु० ।

प्राणिवध = प्राणिनः वध (ष० त०)। विश्वासजुषा = विश्वास जुषन्त इति विश्वासजुष, तेषाम्, विश्वास+जुष+क्विप्+आम्। द्विषा = द्विषन्ति ते द्विष, तेषाम्, द्विष्+क्विप्+आम्। निबर्हण="प्रमापण निबर्हणं निकारण विशारणम्।" इत्यमर। विशिष्य = वि+शिष्+क्त्वा (ल्यप्)। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास और अर्थापत्तिका सङ्कर है॥ १३१॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ?।
धिगीदृशं ते नृपते कुविक्रमं कृपाश्रये य कृपणे पतत्रिणि॥ १३२॥

अन्वय – रणोद्भटा भटा पदे पदे सन्ति, एष हिंसारस तेषु न पूर्यते ? नृपते ते ईदृश कुविक्रम धिक्, य कृपाऽऽश्रये कृपणे पतत्रिणि (क्रियते)।१३२।

व्याख्या – रणोद्भटा = युद्धप्रचण्डा, भटा = योद्धा, पदे पदे = प्रतिपद, सन्ति = वर्तन्ते। एष = अय, हिंसारस = वधराग, तेषु = भटेषु, न पूर्यते = परिपूर्णो न भवति ? इति काकु। नृपते = राजन्, ते = तव, ईदृशम् = एतादृशम्, अवध्यवधरूपमिति भाव। कुविक्रम = कुत्सितपराक्रम, धिक् कुविक्रमस्य निन्द्यत्वम्। य कुविक्रम, कृपाऽऽश्रये = करुणाविषये, कृपणे = दीने, पतत्रिणि = पक्षिणि, क्रियत इति शेष॥ १३२॥

अनुवाद.—(हे राजन्) युद्धमे प्रचण्ड योद्धा पग-पगमे मौजूद हैं, यह हिंसाराग क्या उनमे पूर्ण नही होता है ? प्रजापालक आपके इस कुत्सित पराक्रम को धिक्कार है, जो कि करुणाके विषय दीन पक्षीमे किया जा रहा है॥ १३२॥

टिप्पणी – रणोद्भटा = रणेषु उद्भटा (स० त०)। भटा = "भटा योधाश्च योद्धार" इत्यमर। पदे पदे = वीप्सामे द्विरुक्ति। सन्ति = अस+लट्+झि। हिंसारस = हिंसाया रस (ष० त०), "शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रस।" इत्यमर। पूर्यते = पूरी+लट्+श्यन्+त। नृपते = नृणा पति, तस्य (ष० त०)। कुविक्रम = कुत्सित विक्रम, तम्, "कुगतिप्रादय" इससे समास। "धिक्" के योगमें "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। कृपाऽऽश्रये = कृपाया आश्रय, तस्मिन् (ष० त०), पतत्रिणि = पतत्र+इनि+ङि। १३२॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तय।
त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ?॥ १३३॥

अन्वय. यस्य मम मुने इव वारिभूरुहा फलेन मूलेन च इत्थ वृत्तय, तस्मिन् अपि दण्डधारिणा पत्या त्वया अद्य धरणी कथ न हृणीयते ?॥ १३३॥

व्याख्या यस्य, मम = हंसस्य, मुने इव = ऋषे इव वारिभूरुहा = जल-

भूम्युत्पन्नानां, पद्मवृक्षादीनामित्यर्थः, फलेन=सस्येन, मूलेन च = कन्दादिना च इत्यम् = अनेन प्रकारेण, वृत्तयः = जीविकाः, सन्तीति शेषः। तस्मिन् अपि = मुनिसदृशे अपि, निर्दोषेऽपीति शेषः, दण्डधारिणा = निग्रहकारिणा, अदण्ड्य-दण्डकेनेत्यर्थः। पत्या = पालकेन, त्वया = भवता, राज्ञेत्यर्थः। अद्य=अस्मिन्दिने धरणी = धरित्रि, कथं = केन प्रकारेण, न ह्रणीयते = न लज्जते, दुर्वृत्ते भर्तरि वधूर्लज्जत इति भावः ॥ १३३ ॥

अनुवादः—जल और वृक्षोंसे उत्पन्न कन्द और फलसे मुनिके समान मेरी वृत्ति है वैसे मेरे पति दण्ड धारण करनेवाले पालक आपसे पृथ्वी क्यों नहीं लज्जा करती है ? ॥ १३३ ॥

टिप्पणी—वारिभूरुहां = वारि च भूश्च वारिभुवौ (द्वन्द्वः), वारिभुवोः रोहन्तीति वारिभूरुहः, तेषाम्, वारिभू + रुह + क्विप् (उपपद०) + आम्। वृत्तयः = "वृत्तिर्वर्तनजीवने" इत्यमरः। दण्डधारिणा = दण्डं धारयतीति तच्छीलः दण्डधारी, तेन दण्ड + धृञ् + णिच् + णिनि + टा (उप०)। ह्रणीयते = "ह्रणीङ् रोषणे लज्जायां च" इस कण्ड्वादि धातुसे ङित् होनेसे आत्मनेपद होकर लट् + त। इस पद्यमे उपमा अलंकार है ॥ १३३ ॥

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—स खगः इति तं नृपम् ईदृशैः वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसाऽऽपगाः गिरः अतिथीचकार ॥ १३४ ॥

व्याख्या—सः = पूर्वोक्तः, खगः = पक्षी, हंस इत्यर्थ, इति = इत्थं, तं = पूर्वोक्तं, नृपं = राजानं, नलमित्यर्थः। ईदृशैः = एतादृशैः, पूर्वोक्तैरिति भावः। वाङ्मयैः = वाग्विकारैः दोषोद्घाटकैरिति भावः। सचित्रवैलक्ष्यकृपम्=आश्चर्य-लज्जातिशयकरुणासहितं, विरचय्य = विधाय, दयासमुद्र = करुणासागरे, तदा-शये = नलचित्ते, कारुण्यरसापगाः = करुणारस नदीस्वरूपाः, गिरः = वाणीः, अतिथीचकार=प्रवेशयामासेत्यर्थः। समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः ॥ १३४॥

अनुवादः—उस पक्षी (हंस) ने इस प्रकार राजा नलको ऐसे वचनोसे आश्चर्य, लज्जा और करुणासे युक्त बनाकर दयाके समुद्रके समान उनके चित्तमें करुणरसकी नदियोंके समान वाणियोंका प्रवेश कराया ॥ १३४ ॥

टिप्पणी—वाङ्मयैः = वाचां विकारा वाङ्मयानि, तैः "एकाऽचो नित्यम्" इस वर्तिकसे मयट् प्रत्यय। सचित्रवैलक्ष्यकृपं = विलक्षस्य भावो वैलक्ष्यम्

विलक्ष+ष्यञ् । चित्र च वैलक्ष्य च कृपा च चित्रवैलक्ष्यकृपा (द्वन्द्व), ताभिः सह सचित्रवैलक्ष्यकृपं, तम् (तुल्ययोग०)। "आलेख्याऽऽश्चर्ययोश्चित्रम्" इत्यमरः। विरचय्य = वि+रच+णिच्+क्त्वा (ल्यप्) णिच्के स्थानमें "ल्यपि लघुपूर्वात्" इससे अय् आदेश । राजाको मनुष्यके समान भाषणसे चित्र (आश्चर्य), उनके दोषके उद्घाटनसे अतिलज्जा और अपनी दीनताके प्रदर्शनसे दया, इन भावोंसे युक्त बनाकर यह तात्पर्य है । दयासमुद्रे = दयाया समुद्र, तस्मिन् (ष० त०)। तदाशये = तस्य आशय, तस्मिन् (ष० त०)। कारुण्यरसाऽऽपगा = करुणा एव कारुण्य, करुणा+ष्यञ् (स्वार्थमें)। "कारुण्यम् एव रस, (रूपक०), तस्य आपगा, ता (ष० त०)। "कारुण्य करुणा घृणा" इत्यमर, अतिथीचकार = अनतिथय अतिथय यथा सम्पद्यन्ते तथा चकार, अतिथि+च्वि+कृ+लिट् । इस पद्यमें हसकी वाणियोंमें नदीत्वका आरोप करनेके लिए नलके हृदयमें समुद्रत्वका आरोप निमित्त है और "रस" पद श्लिष्ट है इस कारणसे श्लिष्टपरम्परित रूपक अलङ्कार है । परम्परित रूपकका लक्षण है—

"यत्र कस्यचिदारोप पराऽऽरोपणकारणम् ।

तत्परम्परित, श्लिष्टाऽश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥" सा०द० १०–६१ ।

यहाँपर "रस" शब्द का प्रयोग होने पर भी उसका जलरूप अर्थ होनेसे रसदोष नहीं है ॥ १३४ ॥

'मदेकपुत्रा जननी जराऽऽतुरा, नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो ! विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो ? ॥ १३५ ॥

अन्वय —जननी मदेकपुत्रा जराऽऽतुरा, वरटा नवप्रसूति तपस्विनी, एष जन तयो गति, तम् अर्दयन् हे विधे ! त्वा करुणा नो रुणद्धि ? अहो ! ॥ १३५ ॥

व्याख्या—साम्प्रत हस कारुण्यरसपूरिता गिरो विस्तारयति मदेकपुत्रेति । तत्र प्राग्विधिमुपालभते—जननी = जनयित्री, मदीया मातेत्यर्थ । मदेकपुत्रा= मदेकतनया, मम नाशे न कोऽपि तस्या रक्षक इति भाव । तर्हि अन्योऽपि तनयो भविष्यतीति सभावनायाम्—जरातुरा = वार्धक्याकुला, प्रसवेऽसमर्थेति भाव । वरटा = मम भार्या, नवप्रसूति = अचिरप्रसवा, अत, तपस्विनी = शोचनीया, एषः = अय, जन = पुरुष, तयो = जननीजाययो , गति = शरण, त= तादृश शरणभूत जन, मामिति भाव । अर्दयन् = मारयन् । हे विधे = हे विधात ।

त्वां=भवन्तं, करुणा = दया, नो रुणद्धि = न निवारयति ? इति काकुः । अहो=आश्चर्यम्, विधिर्नृशंसतर इति भावः ॥ १३५ ॥

अनुवादः—मेरी माता, उसका मैं ही एक पुत्र हूँ, उसपर भी वह बुढ़ापासे आकुल है । मेरी भार्या (हंसी) नये प्रसववाली है, अतः शोचनीया है । उन दोनों का मैं ही एकमात्र रक्षक हूँ, उसकी हिंसा करते हुए हे ब्रह्मदेव ! क्या तुम्हें करुणा नहीं रोकती है ? आश्चर्य है ! ॥ १३५ ॥

टिप्पणी—मदेकपुत्रा = अहम् एव एकः पुत्रः यस्याः सा (बहु०), जराऽऽतुरा=जरया आतुरा (तृ० त०) । वरटा="हंसस्य योषिद्वरटा" इत्यमरः । नवप्रसूतिः=नवा (नूतना) प्रसूतिः (प्रसवः) यस्याः सा (बहु०) । तपस्विनी = "तपस्वी तापसे चाऽनुकम्प्ये" इति मेदिनी । अर्दयन्="अर्द हिंसायाम्" इस चुरादि धातुसे अर्द+णिच्+लट् (शतृ)+सु । रुणद्धि=रुध+लट्+तिप् । इस पद्य में विशेषणोंके अभिप्रायगर्भित होनेसे परिकर अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"उक्तैर्विशेषणैः साऽभिप्रायैः परिकरो मतः ।" सा० द० १०-७७ ।

करुण रस, प्रसाद गुण और वैदर्भी रीति है ॥ १३५ ॥

मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—हे मातः ! मम सखायः दयासखायः भवनिन्दया मुहूर्तमात्रं स्रवदश्रवः (सन्तः) निवृत्तिम् एष्यन्ति, परं त्वया एव सुतशोकसागरः दुरुत्तरः ॥ १३६ ॥

व्याख्या—अथ मातरमुद्दिश्य शोचति—मुहूर्तेति । हे मातः = जननि ! मम, सखायः = सुहृदः, दयासखाः = करुणासहचराः, भवनिन्दया=संसारगर्हणेन मुहूर्तमात्रं, क्षणमात्रं, स्रवदश्रवः = गलितनयनजलाः सन्तः, "विनश्वरसम्बन्धभाजं संसारं धिक्" इत्यादिवचनजातेनेति शेषः । निवृत्तिं=शोकोपरतिम्, एष्यन्ति =यास्यन्ति, परं = किन्तु, त्वया एव = भवत्या एव, सुतशोकसागरः = तनयशुक्समुद्रः, दुरुत्तरः = दुस्तरः । १३६ ॥

अनुवादः—हे मातः ! मेरे मित्र सदय होकर संसार की निन्दासे कुछ क्षण तक आँसुओंको गिराते हुए शोकनिवृत्तिको प्राप्त होंगे, परन्तु आपसे ही पुत्रका शोकसमुद्र दुस्तर होगा ॥ १३६ ॥

टिप्पणी—दयासखायः = दयया सखायः (तृ० त०) "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासान्त टच् प्रत्यय । भवनिन्दया = भवस्य निंदा, तया (तृ० त०) ।

मुहूर्तमात्र = मुहूर्त एव, मुहूर्तमात्र, तत् (रूपक०), "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया । स्रवदश्रव = स्रवन्ति अश्रूणि येषा ते (बहु०) । एष्यन्ति=इण् + लृट्+झि । सुतशोकसागरः = सुतस्य शोक (ष० त०), स एव सागर (रूपक०) । दुस्तरः = दुःखेन उत्तरीतु शक्य , दुर्+उद् – उपसर्गपूर्वक "तृ प्लवनसंतरणयो" इस धातुसे "ईषद् दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्" इस सूत्रसे खल् प्रत्यय । इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ १३६ ॥

'मदर्पसन्देशमृणालमन्थरः प्रिय कियद्दूर" इति त्वयोदिते ।

विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिण प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षण ? ॥१३७॥

अन्वयः हे प्रिये ! "मदर्पसन्देशमृणालमन्थरः प्रिय कियद्दूरे" इति त्वया उदिते, अथ रुदत पक्षिण विलोकयन्त्या तव स क्षण कीदृक् भविता ? ॥१३७॥

व्याख्या – साम्प्रत प्रियामनुस्मृत्य शोचति – मदर्थेति । हे प्रिये = हे दयिते !, "मदर्थसन्देशमृणालमन्थर =मदर्थवाचिकबिसाऽलस , प्रिय =वल्लभ , कियद्दूरे= किंपरिमाणविप्रकृष्टप्रदेशे, वर्तत इति शेष । इति = एव, त्वया=भवत्या, उदिते=उक्ते, पृष्टे सतीति भाव । अथ = प्रश्नाऽनन्तर, रुदत = अश्रूणि विमुञ्चत , अनिष्टाख्यारणाऽसामर्थ्येनेति शेष । पक्षिण = विहङ्गान्, इतो गतानीति शेष । विलोकयन्त्या = पश्यन्त्या , तव = भवत्या , स = तादृश , क्षण = काल , कीदृक् = कीदृश , भविता = भविष्यति, वज्रपातसदृश असहनीय इति भाव ॥ १३७ ॥

अनुवाद – हे प्रिये ! "मेरे लिए स देश और मृणाल भेजनेमे विलम्ब करने वाले मेरे प्यारे कितने दूर हैं" ऐसा तुम्हारे पूछनेपर रोते हुए पक्षियोको देखती हुई तुम्हारा वह क्षण कैसा होगा ? ॥ १३७ ॥

टिप्पणी—मदर्थसन्देशमृणालमन्थर =मह्यम् इमे मदर्थे, "चतुर्थी तदर्थार्थ-बलिहितसुखरक्षितै " इस सूत्रसे "अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकके सहकारसे चतुर्थी तत्पुरुष । सन्देशश्च मृणाल च सन्देशमृणाले (द्वन्द्व) मदर्थे च ते सन्देशमृणाले (क० धा०), तयो मन्थर (स० त०) । कियद्दूरे = कियच्च तत् दूर, तस्मिन् (क० धा०) । उदिते=वद् + क्त + ङि । रुदत = रुदन्तीति रुदन्त , तान् रुद्+लट् (शतृ)+शस् । विलोकयन्त्या = वि + लोक+णिच् + लट् (शतृ)+ ङीप + ङस । भविता=भू + लुट् + तिप । यहाँपर अद्यतन भविष्यदर्थमें लृट्का प्रयोग इष्ट था परन्तु अनद्यतनभविष्यत् — लुट्का प्रयोग होनेसे च्युतसंस्कृति दोपकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, शोकाऽऽ-

कुल हंसकी ऐसी उक्ति करुणरसके अनुकूल होनेसे गुणस्थानीय है। इस पद्यमें शोकका उदय होनेसे भावोदय अलङ्कार है॥ १३७॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
"वियोक्ष्यसे वल्लभये"ति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा? ॥१३८॥

अन्वयः—हे विधातः! प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः, तव पाणिपङ्कजात् मयि "वल्लभया वियोक्ष्यसे" इति ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा लिपिः कथं निर्गता?।१३८।

व्याख्या—हे विधातः=हे विधे!, प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः=वल्लभाशीतलत्व-कोमलत्वनिर्मातुः, तव=भवतः, पाणिपङ्कजात्=करकमलात्, मयि=विषये, वल्लभया=प्रियया सह, वियोक्ष्यसे=वियुक्तो भविष्यसि, इति=एवं, ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा=भालतापिकठिनवर्णा, लिपिः=अक्षरविन्यास इत्यर्थः, कथं=केन प्रकारेण, निर्गता=निःसृता। मत्प्रियाशैत्यकोमलत्वनिर्मातुस्तव हस्ताम्भद्भाल प्रियावियोजनसूचककठिनलिपिनिर्मितिः आश्चर्यद्योतिकेति भावः॥ १३८॥

अनुवादः—हे ब्रह्मदेव! मेरी प्रियाकी शीतलता और कोमलताका निर्माण करनेवाले तुम्हरे हाथसे मेरे विषयमें "तुम प्रियासे बिछुड जाओगे" इस तरह ललाटको ताप करनेवाली निष्ठुर अक्षरोंसे युक्त लिपि कैसे निकली? ॥१३८॥

टिप्पणी—विधातः=विदधातीति विधाता, तत्सम्बुद्धौ, वि+धा+तृच्+सु। प्रिय.शैत्यमृदुत्वशिल्पिनः=शीतस्य भावः शैत्यम्। शीत+ष्यञ्। मृदोर्भावः मृदुत्वम्, मृदु+त्व। शैत्य च मृदुत्वं च (द्वन्द्वः)। शिल्पम् अस्याऽस्तीति शिल्पी, शिल्प+इनि। प्रियायाः शैत्यमृदुत्वे (ष० त०), तयोः शिल्पि, तस्मात् (ष० त०)। पाणिपंकजात्=पाणिः पंकजम् इव, तस्मात् (उपमित०)। वियोक्ष्यसे=वि+युज्+लृट् (कर्ममे)+थास् (से)। ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा=ललाटं तपन्तीति ललाटन्तपानि, "असूर्यललाटयोर्दृशितपोः" इस सूत्रसे खश् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इससे मुम् आगम। ललाटन्तपानि निष्ठुराणि अक्षराणि यस्याः सा (बहु०)। निर्गता=निर्+गम्+क्त+टाप्। इस पद्यमें कारणसे विरुद्ध कार्यकी उत्पत्तिके कथनसे विषम अलंकार है। भेदप्रदर्शनपूर्वक उसका लक्षण है—

"गुणौ क्रिये वा यत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः।
यदारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः॥
विरूपयोः सङ्घटना या च तद्विषमं मतम्।" सा०द०१०-९१॥१३८॥

अपि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं वतोदिता ।

मुखानि लोलाक्षि ! दिशामसंशयं दशाऽपि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥१३९॥

अन्वय.—अपि (च) अद्य स्वयूथ्यैः अशनिक्षतोपमं मम इमं वृत्तान्तम् उदिता (सती) हे लोलाक्षि ! दश अपि दिशां मुखानि शून्यानि विलोकयिष्यसि असंशयं बत ! ॥ १३९ ॥

व्याख्या—अपि च = अन्यच्च, अद्य = अस्मिन् दिने, स्वयूथ्यैः =आत्मसङ्घभवैः, हंसैरित्यर्थः । अशनिक्षतोपमं = वज्रप्रहारसदृशं, मम = प्रियस्य इमम् = एतं, वृत्तान्तम् = उदन्तं, नरहस्तपतनरूपमिति शेषः । उदिता = उक्ता सती, हे लोलाक्षि = हे चपलनयने !, दश=दशसंख्यकानि, दिशां=काष्ठानां, प्राच्यादीनामित्यर्थः । मुखानि=सम्मुखस्थानानि, शून्यानि=रिक्तानि, विलोकयिष्यसि=द्रक्ष्यसि, मद्वियोगादिति भावः । असंशयम्=अत्र सन्देहो न, बत=इति खेदे ॥ १३९ ॥

अनुवाद—और भी, आज अपने वर्गके हंसोंके वज्रप्रहारके सदृश इस वृत्तान्तको कहनेपर हे चञ्चलनयने ! तुम दिशाओंके दशों सम्मुखवर्ती स्थानोंको शून्य देखोगी, इसमें सन्देह नहीं है, हाय ! ॥ १३९ ॥

टिप्पणी—अद्य = अस्मिन् दिने, "सद्यः परुत्०" इत्यादि सूत्रसे निपात । स्वयूथ्यैः =यूथे भवा यूथ्याः, यूथ+यत् । स्वस्य यूथ्याः तैः (ष० त०) । अशनिक्षतोपमम् = अशनिना क्षतम् (तृ० त०), तत् उपमा (सादृश्यम्) यस्य, तम् (बहु०) । वृत्तान्तम् = वद धातुके द्विकर्मक होनेसे मुख्य कर्ममें द्वितीया । उदिता = वद + क्त (कर्ममें) + टाप् । लोलाक्षि = लोले अक्षिणी यस्याः सा लोलाक्षी, तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इससे समासान्त षच, । षित् होनेसे स्त्रीत्वविवक्षामें "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् । विलोकयिष्यसि = वि + लोक + णिच् + लृट् + सिप् । असंशय = संशयस्य अभावः, "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादिसे अर्थाऽभावमें अव्ययीभाव समास । इस पद्यमें उपमा अलंकार है ॥ १३९ ॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयापि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।

तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा ! हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः पराऽसवः ॥१४०॥

अन्वय—हे चित्राङ्गि ! मम शोकेन एव विदीर्णवक्षसा त्वया अपि विपद्यते यदि, तत् दैवेन हतः, स्फुटं हतः अस्मि, हा ! यतः ते शिशवः पराऽसवः ॥१४०॥

व्याख्या—हे चित्राङ्गि =हे विचित्रगात्रे !, लोहितचञ्चुचरणत्वादिति भावः । मम=प्रियस्य, शोकेन=मन्युना, एव, विदीर्णवक्षसा = विदलितहृदयया

त्वया अपि = भवत्या अपि, प्रियया अपीति भावः । विपद्यते यदि=म्रियते चेत्, तत् = तर्हि, दैवेन=भाग्येन, हतः=नाशितः, स्फुट=व्यक्तं, पुनः हतः= नाशितः, अस्मि = भवामि, हा = दैवपुनर्हतस्य मे शोच्यत इति भावः । यतः = यस्मात्कारणात्, ते=तव, शिशवः=शावकाः, पराऽसवः=मृताः, भवेयुरिति शेषः । मच्छोकेन त्वमपि प्राणांस्त्यक्ष्यसि चेच्छरणयोर्मातापित्रोरभावेनाऽस्मच्छावका अपि मरिष्यन्तीति दैवहतोऽहं पुनर्हतो भविष्यामीति भावः ॥ १४० ॥

अनुवादः—हे विचित्र अङ्गोंवाली प्रिये ! मेरे शोकसे ही विदीर्णहृदय होकर तुम भी मर जाओगी तो भाग्यसे मारा जाकर व्यक्त रूपसे फिर भी मारा जाऊँगा, क्योंकि, तब तो तुम्हारे बच्चे भी (हम लोगोंके अभावसे) मर जायँगे ॥ १४० ॥

टिप्पणी—चित्राऽङ्गि=चित्राणि अङ्गानि यस्याः सा चित्राङ्गी, तत् सम्बुद्धौ (बहु०), "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे ङीप् । विदीर्णवक्षसा= विदीर्णः वक्षो यस्याः सा विदीर्णवक्षाः, तया (बहु०), विपद्यते=वि+पद्+ लट् (भावमें)+त । हतः=हन्+क्तः, हा = "हा विस्मयविषादयोः" इति विश्वः । शिशवः="पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः ।" इत्यमरः । पराऽसवः=परागता असवः (प्राणाः) येषां ते (बहु०) । बच्चोंके मरनेकी भावनासे द्विगुण मरणका दुःख मैं पाऊँगा यह भावार्थ है । इस पद्यमें शोकके स्थायिभाव होनेसे करुण रस है ॥ १४० ॥

तवाऽपि हा ! हा विरहात्क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनाऽस्फुटितेक्षणा मम ॥ १४१ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) बहुभिः मनोरथैः चिरेण लब्धाः अस्फुटितेक्षणाः मम ते अपि विरहात् क्षुधा आकुलाः तेषु कुलायकूलेषु विलुठ्य क्षणेन गताः, हा ! हा !! ॥ १४१ ॥

व्याख्या—मन्मरणे कथं सुतानां मरणमिति प्रतिपादयति । (हे प्रिये !) बहुभिः=अधिकैः, मनोरथैः = अभिलाषैः, चिरेण=बहुकालेन, लब्धाः = प्राप्ताः, "अस्माकं सन्तत्यो भवन्तु" इति बहुभिरभिलाषैः कष्टेन प्राप्ता इति भावः । एवं च अस्फुटितेक्षणाः = अनुन्मीलितनयनाः, अद्याऽपीति शेषः । मम=हंसस्य, ते = पूर्वोक्ताः, शिशव इति भावः । तव अपि = न केवलं मम तव अपि इति भावः । विरहात् = वियोगात्, क्षुधा = बुभुक्षया, आकुलाः = पीडिताः सन्तः, तेषु= स्वसम्पादितेषु इति भावः, कुलायकूलेषु = नीडसमीपभागेषु, विलुठ्य=परिवृत्य, क्षणेन = अल्पकालेनैव, गताः=याताः, मृता भविष्यन्ति, बहुभिर्मनोरथैर्बहुकालेन

प्राप्ता अस्मच्छिशव आवयोरभावेन अल्पकालेन मृता भविष्यन्तीति भाव। हा! हा! = त्वां मां च इति शेष, वज्रपातोऽस्मविरत्तत्व मम च शोच्यत इति भाव ॥ १४१ ॥

अनुवाद —(हे प्रिये) बहुत मनोरथोंसे बहुत समयमें पाये गये अस्फुटित नेत्रोंवाले मेरे और तुम्हारे वे बच्चे हमारे वियोगसे भूखसे पीडित होकर घोसले-के समीप लोटकर थोडे ही समयमे मर जायेंगे हाय! हाय! ॥ १४१ ॥

टिप्पणी लब्धा = लभ+क्त+जस्। अस्फुटितेक्षणा = न स्फुटिते (नञ्०), अस्फुटिते ईक्षणे येषा ते (बहु०)। विरहात् = हेतुमे पञ्चमी। कुलायकूलेषु = कुलायस्य कूलानि, तेषु (ष० त०)। कूलका अर्थ यहाँपर समीप स्थान है। "कुलायो नीडमस्त्रियाम्" इत्यमर। विलुठ्य = वि+लुठ+क्त्वा (ल्यप्)। क्षणन = "अपवर्गे तृतीया" इससे तृतीया। इस पद्यमे करुण रस है ॥ १४१ ॥

सुताः! कमाहूय चिराय चूङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ?।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमीलय स स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुण ॥ १४२॥

अन्वय —' हे सुता! चूङ्कृतै चिराय कम् आहूय कं प्रति मुखानि कम्प्राणि विधाय कथासु शिष्यध्वम्" इति प्रमील्य स स्रुतस्य नृपाश्रुण सेकात् स बुबुधे ॥ १४२ ॥

व्याख्या—हस शिशूननूद्य भूय परिदेवयते—सुता इति। हे सुता = हे पुत्रा !, चूङ्कृतै=चूङ्कारै "चूम्" इति पक्षिशावकशब्दैरि त्यथ। चिराय = बहुकालपर्यन्तम्, कं = कतर जनम्, आहूय = आकार्य, कं प्रति = कतर प्रति, उभयत्र जननीजनकयोरिति शेष। मुखानि = आननानि, कम्प्राणि = कम्पनशीलानि, चञ्चलानीति भाव। विधाय = कृत्वा, कथासु = शब्द मात्रेषु, शिष्यध्वम् = अवशिष्टा भवत, इति = एवम्, उक्त्वेति शेष। प्रमील्य = मूर्च्छा प्राप्य, स = हसः स्रुतस्य = गलितस्य, नृपाश्रुण = नल-नयनजलस्य सेकात् = सेचनात्, बुबुधे = सञ्ज्ञा प्राप ॥ १४२ ॥

अनुवाद —' हे बच्चो! चू चू करके बहुत समय तक किसे बुलाकर और किसे लक्ष्य करके मुँहको चञ्चल बनाकर शब्द मात्रसे अवशिष्ट हो जाओगे" ऐसा कहकर मूर्च्छित होकर वह हस राजा के गिरे हुए आँसुके सेचनसे होशमे आ गया ॥ १४२ ॥

टिप्पणी चिराय = "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थका

इत्यमरः । आहूय = आङ्+ह्वेञ्+क्त्वा (ल्यप्), दोनों शब्द अव्यय हैं कम्प्राणि = कम्पनशीलानि, "कपि चलने" धातुसे "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंस-दीपो रः" इस सूत्रसे र प्रत्यय । शिष्यध्वम् = "शिष असर्वोपयोगे" धातुसे "प्रैषाऽतिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च" इससे प्राप्तकालमें लोट्+ध्वम् । प्रमील्य =प्र+मील+क्त्वा (ल्यप्) । नृपाऽश्रुणः = नृपस्य अश्रु, तस्य (ष० त०) । सेकात् =सिच+घञ्+ङसि । बुबुधे=बुध+लिट्+त (एश) । यहाँपर "म्रियध्वम्" कहनेपर अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलदोष होता था अतः "कथासु शिष्यध्वम्" ऐसा प्राप्तकालमें लोटका प्रयोग किया गया है । स्वभावोक्ति अलंकार है ॥ १४२ ॥

इत्यममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः ।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

अन्वयः—इत्थं विलपन्तम् अमुम् अवनिपालः दीनदयालुतया "रूपम् अदर्शि, यदर्थं धृतः असिः; अथ यथेच्छं गच्छ" इति अभिधाय अमुञ्चत् ॥ १४३ ॥

व्याख्या—इत्थम् = अनेन प्रकारेण, "धिगस्तु तृष्णातरलम्" इत्यादि रूपेणेति भावः । विलपन्तं = परिदेवमानम्, अमुं = हंसम्, अवनिपालः =भूपालः, नल इति भावः । दीनदयालुतया=आर्तकृपालुतया, रूपम् = आकृतिः, अदर्शि = अवलोकितम, अपूर्वत्वादिति शेषः । यदर्थः = रूपदर्शनाऽर्थं धृतः = गृहीतः, असि =वर्तसे, एतत्कथनेन "धिगस्तु तृष्णातरलम्" इत्यादिश्लोकैः क्रियमाणा लुब्धत्वादरूपा आक्षेपाः परिहृताः । अथ = अनन्तरं, मत्कर्तृकत्वद्रूपदर्शनाऽनन्तरमिति-भावः । यथेच्छं=यथेष्टं, गच्छ=व्रज, इति = एवम्, अभिधाय = उक्त्वा, अमुञ्चत् मुक्तवान् ॥ १४३ ॥

अनुवादः—इस प्रकार विलाप करते हुए उस हंसको दीनोंमें दयालु होनेसे राजा नलने "रूप देख लिया जिसके लिए मैंने तुम्हें पकड़ा था, अब इच्छाके अनुसार जाओ" ऐसा कहकर छोड़ दिया ॥ १४३ ॥

टिप्पणी—विलपन्तं = विलपतीति विलपन्, तम्, वि+लप+लट् (शतृ) +अम् । "विलापः परिदेवनम्" इत्यमरः । अवनिपालः = अवनिं पालयतीति, अवनि+पाल+अच् । दीनदयालुतया = दयत इति दयालुः, दय धातुसे "स्पृहि-गृहिपतिदयिनिद्राश्रद्धाभ्य आलुच्" इस सूत्रसे आलुच् प्रत्यय । दयालोर्भावः, दयालु+तल्+टाप् । दीनेषु दयालुता, तया (स० त०) । हेतुमें तृतीया । अदर्शि = दृश्+लुङ् (कर्ममें)+त । यदर्थं+यस्मै इदम् (च० त०) यथा तथा, (क्रि० वि०) धृतः+धृञ्+क्तः (कर्ममें) । यथेच्छम्=इच्छाम् अनति-क्रम्य (अव्ययीभाव०) । गच्छ=गम्+लोट्+सिप् । अभिधाय=अभि+

धा + क्त्वा (ल्यप्) । अमुञ्चद् मुच् + लङ् + तिप् । महाकाव्यमें सर्गके अन्तमें छन्द बदलना चाहिए जैसे कि कहा है—

"एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।" सा० द० ६-८ ।

यह दोधक छन्द है उसका लक्षण है—'दोधकवृत्तमिदं भभभा गौ' ॥१४३॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान्प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपयःप्रवाहान् ।

चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥१४४॥

अन्वय—स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानां प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपयःप्रवाहान् आनन्दजाश्रुभिः अनुस्रियमाणमार्गान् चक्रे ॥ १४४ ॥

व्याख्या—स = हंस, चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन = मण्डलाकारभ्रमणमिषेण, नीराजनाम् = आरतिका, जनयतां, कुर्वतां, निजबान्धवानां=स्वबन्धूनां, प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपयःप्रवाहान्=पुराशुद्गतिसलिलबाष्पपूरान्, आनन्दजाश्रुभिः =हर्षजनयनसलिलैः, अनुस्रियमाणमार्गान्=अनुगम्यमानाऽध्वन, चक्रे=कृतवान् । १४४॥

अनुवाद—उस हंसने मण्डलाकार भ्रमणके बहानेसे नीराजना करनेवाले अपने बान्धवोंके पहले शोकसे निकले हुए आँसुओंको आनन्दसे उत्पन्न आँसुओंसे अनुसरण किया जाने वाला बनाया ॥ १४४ ॥

टिप्पणी—चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन = कुटिल क्रमण चङ्क्रमण, क्रम धातुसे "नित्यं कौटिल्ये गतौ" इस सूत्रसे कुटिल गतिमें यङ् प्रत्यय और "यङोऽचि च" इससे लुक् और द्वित्व होकर भावमें ल्युट् । चक्रेण सदृशं चक्रनिभम् (तृ० त०), अस्वपदविग्रह होनेसे नित्य समास । चक्रनिभं च तच्चङ्क्रमणं (क० धा०) । तस्य छलं, तेन (ष० त०) । जनयतां=जनयन्तीति तेषाम्, जन + णिच् + लट् (शतृ) + आम् । निजबान्धवानां=निजाश्च ते बान्धवाः, तेषाम् (क० धा०), प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपयःप्रवाहान्=पयसां प्रवाहाः (ष० त०), नेत्रयोः पयःप्रवाहाः (ष० त०) । प्राग्भवः शोकः प्राक्शोकः (मध्यमपद०) । प्राक्शोकेन निर्गमिताः (तृ० त०), ते च ते नेत्रपयःप्रवाहाः, तान् (क० धा०) । आनन्दजाश्रुभिः = आनन्दात् जातानि, आनन्द + जन् + ड । आनन्दजानि च तानि अश्रूणि, तैः (क० धा०) । अनुस्रियमाणमार्गान् = अनुस्रियन्ते इति अनुस्रियमाणाः, अनु + सृ + लट् (कर्ममें) + शानच् । ते मार्गाः येषां ते, तान् (बहु०) । चक्रे = कृ + लिट् (कर्ताके अर्थमें) + त (एश्) । इस पद्यमें बन्धनसे छूटे हुए अपने यूथके पक्षीके चारों ओर पक्षिगण मण्डलाकार रूपसे

घूमते हैं इस बातको मनुष्योंके समान नीराजनाके रूपमें प्रदर्शित किया है। नलसे हंसके पकड़े जानेपर उसके यूथके पक्षिगण रोये, पीछे छोड़े जानेपर हर्षाश्रु गिराने लगे यह इसका तात्पर्य है। इस महाकाव्यमे सर्गके अन्तिम प्रत्येक पद्यमें 'आनन्द" पदका प्रयोग किया है, अतः यह "आनन्दाऽङ्क" महाकाव्य है। इस मे कैतवाऽपह्नुति अलङ्कार है। वसन्ततिलका छन्द है. उसका लक्षण है—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।" ॥ १४४ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे। तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयम् आदिः सर्गः गतः ॥ १४५ ॥

व्याख्या—अथ महाकविः सर्गान्ते काव्य वर्णनं सर्गसमाप्तिं च पद्यबन्धेन प्रदर्शयति— श्रीहर्षमिति। कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः=पण्डितश्रेष्ठश्रेणी-किरीटभूषणवज्रमणिः श्रीहीरः = श्रीहीरनामकः, मामल्लदेवी च=मामल्लदेवी-नाम्नी च, जितेन्द्रियचयं=वशीकृतहृषीकसमूहम्। यं श्रीहर्षं=श्रीहर्षनामकं सुतं= पुत्रं सुषुवे = जनयामास, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले = तच्चिन्तामणिनामक-मन्त्रोपासनाफलरूपे, शृङ्गारभङ्ग्या=आदिरसविच्छित्त्या, चारुणि= मनोहरे, नैषधीय-चरिते=नैषधीयचरितनामके, महाकाव्ये=बृहत्काव्ये = काव्यविशेष इति भावः। अयं=निकटस्थः, आदिः=प्रथमः, सर्गः=अध्यायः, गतः=समाप्त इत्यर्थः ॥ १४५॥

अनुवाद: श्रेष्ठ पण्डितों की श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने जिस श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया, उन (श्रीहर्ष) के चिन्तामणि नामक मन्त्रकी उपासनाके फलस्वरूप शृङ्गारकी विचित्रतासे मनोहर नैषधीयचरितनामक महाकाव्यमे यह पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४५ ॥

टिप्पणी - कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः = कवीनां राजानः कविराजाः (ष० त०), समासान्त टच् प्रत्यय। "संख्यावान् पण्डितः कविः" इत्यमरः। कविराजानां राजिः (ष० त०), तस्या मुकुटानि (ष० त०), "अथ मुकुटं किरीटं पुंनपुंसकम्" इत्यमरः। तेषाम् अलङ्कारः (ष० त०) च चाऽसौ हीरः (क०

धा०) श्रीहीर = श्रीसम्पन्नो हीर (मध्यमपद०) । मामल्लदेवी = किसीने यहाँपर माम् + अल्लदेवी ऐसा पदच्छेद कर "अल्लदेवी च मा सुत श्रीहर्षम् सुषुवे" ऐसा अन्वय किया है, उस पक्षमे श्रीहर्षकी माता का नाम ' मामल्लदेवी" न होकर "अल्लदेवी" ऐसा प्रतीत होता है । जितेन्द्रियचयम् = इन्द्रियाणां चय (ष० त०), जित इन्द्रियचयो येन, तम् (बहु०) । सुषुवे = "षूङ् प्राणिप्रसवे" इस धातुसे लिट् + त (एश) । चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले = ' चिन्तामणि" पदके दो अर्थ हैं एक मन्त्रविशेष और दूसरा मणिविशेष । दोनों ही चिन्तित पदार्थों को देने वाले हैं । प्रकृतमे चिन्तामणिपदका अर्थ मन्त्रविशेष है जिसकी चर्चा इसी महाकाव्यमें—अवामावामार्द्धे० १४–८८ इत्यादि श्लोकमें की जायगी चिन्तापूरको मणि चिन्तामणि 'मध्यमपद०) । मन्त्रके अर्थमें "चिन्तामणि" पद लाक्षणिक है । चिन्तामणिश्चासौ मन्त्र (क० धा०) तस्य चिन्तन (प० त०) तस्य फल तस्मिन् (ष० त०) । शृङ्गारभङ्ग्या शृङ्गारस्य भङ्गि , तया (ष० त०) नैषधीयचरिते = निषधानाम् अय नैषध , निषध + अण् । नैषधस्य इद नैषधीयम् नैषध + छ (ईय) । नैषधीय च तत् चरितम्, तस्मिन् । क० धा०), महाकाव्ये = कवेर्भाव कर्म वा काव्यम्, कवि + ष्यञ् । महच्च तत् काव्य तस्मिन् (क० धा०) "सर्गबन्धो महाकाव्यम्" इत्यादि लक्षणोंसे युक्त बृहद् काव्यको "महाकाव्य" कहते हैं । इसमें आठसे अधिक सर्ग होने चाहिए इत्यादि नियम हैं । गत = गम् + क्त । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है । उसका लक्षण है—"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १४५ ॥

इति श्रीनैषधीयमहाकाव्यव्याख्यायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां प्रथमः सर्गः समाप्तः ।

काव्य और महाकाव्य के लक्षण

अब छात्रों की व्युत्पत्तिके लिए काव्यका लक्षण और उसके कुछ भेदकी चर्चा की जाती है। कौतीति कविः, "कु शब्दे" धातुसे "अच इः" इससे 'इ' प्रत्यय होकर 'कवि' शब्द की निष्पत्ति होती है। शब्द करनेवालेको "कवि" कहते हैं। 'कवि' शब्दके तीन अर्थ हैं—ईश्वर, विद्वान् और काव्यकी रचना करनेवाला। कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्। कविके भाव वा कर्मको "काव्य कहते हैं। 'कवि' शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्म च" इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय होकर "काव्य" पद निष्पन्न होता है।

मम्मटभट्टके काव्यप्रकाशके अनुसार काव्यका लक्षण है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि।"

अर्थात् दोषरहित, गुण सहित अलङ्कारसे अलङ्कृत शब्द और अर्थको "काव्य" कहते हैं, कहींपर अलङ्कारके न होनेपर भी "काव्य" पदका व्यवहार हो सकता है। सामान्यतः काव्य के दो भेद हैं दृश्य और श्रव्य। अभिनयसे दिखाये जानेवालेको "दृश्य" कहते हैं। इसे रूपक भी कहते हैं। इसके नाटक आदि अनेक भेद होते हैं। सुने जानेवाले काव्यको श्रव्य कहते हैं। इनके दो भेद होते हैं गद्य और पद्य। कथा और आख्यायिका गद्यके भेद हैं। काव्यके दो भेद होते हैं महाकाव्य और खण्डकाव्य। साहित्यदर्पणके अनुसार महाकाव्यका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वाऽपि धीरोदात्तगुणाऽन्वितः॥" ६—४० इत्यादि।

अर्थात् सर्गबन्धसे युक्त देवता अथवा उत्तमकुलप्रसूत क्षत्रिय धीरोदात्तगुणसे सम्पन्न नायकसे अङ्कृत और आठ सर्गोंसे अधिक सर्गयुक्त पञ्च सन्धिसे समन्वित ऋतुवर्णन आदि वर्णन से सम्पन्न काव्यको महाकाव्य कहते है। प्रस्तुत नैषधीय-चरित 'महाकाव्य' है, इसमें २२ सर्ग हैं।

—:o:—

॥ श्री ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

द्वितीयः सर्गः

भक्ताऽभिलाषपरिपूरणसक्षणा या, रक्षापराऽर्तिहरणाय धृतव्रता या।
विश्वेश्वरस्य रमणी करुणापरा सा दाक्षायणी मम कृतिं सफलां विधत्ताम् ॥

अधिगत्य जगत्यधीश्वराद्थ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्तत ।
वचसामपि गोचरो न य स तमानन्दमविन्दत द्विज ॥ १ ॥

अन्वय —अथ स द्विज जगत्यधीश्वरात् पुरुषोत्तमात् तत मुक्तिम् अधिगत्य यो वचसाम् अपि गोचरो न, तम् आनन्दम् अविन्दत ॥ १ ॥

व्याख्या—हंसमुखेन भैमीवर्णनाऽर्थं द्वितीय सर्गमारभते—अथ = मोचनाऽनन्तर, स = पूर्वोक्त, द्विज = पक्षी विप्रश्च, जगत्यधीश्वरात् = भूपते, भुवनपतेश्च, पुरुषोत्तमात् = पुरुषश्रेष्ठात्, विष्णोश्च, तत = नलात् प्रसिद्धाच्च, मुक्तिं = मोचन निर्वाण च, अधिगत्य = प्राप्य, य = आनन्द, वचसाम् अपि = वाक्यानाम् अपि, गोचर = ग्राह्य, न, वक्तुमशक्य इति भाव । तं = तादृशम्, आनन्द = सुख, परमानन्द च मोक्षजन्यमिति भाव । अविन्दत = अलभत । यथा विप्रो भुवनपतेर्विष्णोर्मोक्ष प्राप्य अनिर्वचनीयमानन्द प्राप्नोति तथैव स हंसोऽपि भूपते मोचन प्राप्य वाचामविषय सुख प्राप्तवानिति भाव ॥ १ ॥

अनुवाद—तब वह हंस जैसे ब्राह्मण लोकपति भगवान् विष्णु से मोक्ष पाकर अनिर्वचनीय आनन्द पाता है, उसी तरह भूपति, पुरुषश्रेष्ठ नलसे छुटकारा पाकर अवर्णनीय आनन्दको प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

टिप्पणी—द्विजः=द्विर्जायते इति, द्वि+जन्+डः। "दन्तविप्राण्डजा द्विजाः" इत्यमरः। जगत्यधीश्वरात्=जगत्या अधीश्वरः, तस्मात् (ष० त०) "अथ जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्।" इत्यमरः। पुरुषोत्तमात्=पुरुषेषु उत्तमः तस्मात्, (स० त०), यद्यपि निर्द्धारणमें "यतश्च निर्द्धारणम्" इस सूत्रसे षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियाँ होती है, तथापि 'न निर्द्धारणे' इस सूत्रसे निर्द्धारणमें षष्ठीका समास नहीं होता। मुक्ति=मुच्+क्तिन्। आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिको मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण या अपवर्ग कहते हैं। वेदान्तके अनुसार स्व(ब्रह्म)-स्वरूपके ज्ञानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्ति० २।४) "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इत्यादि प्रमाण है। अधिगत्य=अधि+गम्+क्त्वा (ल्यप्)। अविन्दत="विद्लृ लाभे" धातुसे क्रियाफल कर्तृगामी होनेसे आत्मनेपदमें लङ्, "शे मुचादीनाम्" इससे नुम् आगम। इस पद्यमें द्वितीय अर्थके प्रस्तुत न होनेसे श्लेष नहीं है, "द्विजो ब्राह्मण इव" द्विज ब्राह्मणके समान कहनेसे उपमा व्यङ्ग्य है। इस प्रकार शब्दार्थशक्तिमूल अलङ्कार ध्वनि है। इस सर्गमें सौ श्लोकों तक वियोगिनी नामक अर्द्धसमवृत्त है, उसका लक्षण है—

"विषमे ससजा गुरुः समे, सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी" ॥ १ ॥

अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम्।
करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

अन्वयः—स खगः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां तनुं नैकधा अधुनीत, करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे पक्षती चञ्चुपुटेन व्यलिखत् ॥ २ ॥

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तः, खगः=पक्षी, हंस इत्यर्थः। उत्फुल्लतनूरुहीकृतां =सम्फुल्लपतत्त्रीकृतां, नलकरपीडनादिति भावः। तनुं=शरीरं, नैकधा= अनेकधा, अनेकप्रकारेणेत्यर्थः, अधुनीत=कम्पितवान्, करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे= नलहस्तपीडननिम्नोन्नतमध्यप्रदेशे, पक्षती=पक्षमूले, चञ्चुपुटेन=त्रोटिपुटेन, व्यलिखत्=विलेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थः ॥ २ ॥

अनुवाद—उस पक्षी (हंस) ने राजाके हाथसे पकड़े जानेसे रोमाञ्चसे युक्त शरीरको अनेक प्रकारसे कम्पित किया और हाथसे पकड़नेसे ऊँच-नीच मध्यप्रदेशवाले पक्षमूलोंको चोंचकी नोंकसे सम बनाया ॥ २ ॥

टिप्पणी—उत्फुल्लतनूरुहीकृताम्=उत्फुल्लन्तीति उत्फुल्लानि, उद्-उपसर्ग-पूर्वक फुल्ल विकसने" धातुसे "उत्फुल्लसम्फुल्लयोरुपसङ्ख्यानम्" इस वार्तिकसे अच्प्रत्ययान्त निपातन। "प्रफुल्लोत्फुल्लसम्फुल्लव्याकोशविकचस्फुटाः।" इत्यमर। तन्वा रोहन्तीति तनूरुहाणि, तनू+रुह्+क (उपपद०)। उत्फुल्लानि तनूरुहाणि यस्या सा (बहु०)। अनुत्फुल्लतनूरुहा उत्फुल्लतनूरुहा यथा सम्पद्यते तथाकृता, ताम्, उत्फुल्लतनूरुहा+च्वि+कृ+क्त (टाप्)+अम्। नैकधा= न एकधा नैकधा, "सुप्सुपा" समास। यहाँ नञ्समास नहीं हुआ, नञ् समास होता तो "न लोपो नञः" इससे 'न' का लोप होकर "अनेकधा" ऐसा रूप बनता। अधुनीत="धूञ् कम्पने" इस क्र्यादिगणस्थ धातुसे लङ्+त, "प्वादीनां ह्रस्वः" इससे ह्रस्व। करयन्त्रणदन्तुरान्तरे=करेण यन्त्रणम् (तृ० त०)। दन्तुरम् अन्तरं ययोस्ते (बहु०)। "दन्तुरं तून्नतानतम्" इत्यमर। करयन्त्रणेन दन्तुरान्तरे (तृ० त०), ते। पक्षती=पक्षयोर्मूले, ते, पक्ष शब्दसे "पक्षात्तिः" इस सूत्रसे ति प्रत्यय। "स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्" इत्यमर। चञ्चुपुटेन=चञ्च्वो पुटं, तेन (ष० त०)। व्यलिखत्=वि+लिख+लङ्=तिप्। इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है॥ २॥

अथमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम्॥ ३॥

अन्वय—अयं स्खलनक्षण एव एकतमेन अङ्घ्रिणा पक्षतेः अधिमध्योर्ध्वगजङ्घं द्रुतकण्डूयितमौलिः (सन्) आलयं शिश्रिये॥ ३॥

व्याख्या—अयं=हंस, स्खलनक्षण एव=मोचनसमय एव, एकतमेन=एकेन, अङ्घ्रिणा=चरणेन, पक्षतेः=पक्षमूलस्य, अधिमध्योर्ध्वगजङ्घम्=मध्योर्ध्वगामिप्रसृतं (यथा तथा), द्रुतकण्डूयितमौलिः=शीघ्रघर्षितमस्तकः सन्, आलयं=निजावासं, नीडमित्यर्थः, शिश्रिये=श्रितवान्॥ ३॥

अनुवाद—वह (हंस) छूटते ही एक पैरसे पक्षमूलके मध्यमें जाँघको ऊपर कर शीघ्र माथेको खुजलाता हुआ अपने घोंसलेमें जा पहुँचा॥ ३॥

टिप्पणी—स्खलनक्षणे=स्खलनस्य क्षणः तस्मिन् (ष० त०)। अधिमध्योर्ध्वगजङ्घं=मध्ये इति अधिमध्यम्, विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव। ऊर्ध्वं गच्छतीति ऊर्ध्वगा, ऊर्ध्व+गम्+ड+टाप्। सा जङ्घा यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०)। अधिमध्यम् ऊर्ध्वगजङ्घम् (सुप्सुपा०) द्रुतकण्डूयितमौलिः=कण्डूयितो मौलिर्येन सः (बहु०)। द्रुतं (यथा तथा)

कण्डूयितमौलिः (सुप्सुपा०)। शिश्रिये="श्रिञ् सेवायाम्" धातु से लिट् "लिटस्तझयोरेशिरेच्" इस सूत्र से 'त' के स्थान में एश्। स्वभावोक्ति अलङ्कार ॥ ३ ॥

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित्।
नुनुदे तनुकण्डु पण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

अन्वयः—पण्डितः स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु दशतः क्वचित् सतः कीटान् पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः तनुकण्डु नुनुदे ॥ ४ ॥

व्याख्या—पण्डितः=निपुणः, कीटाद्यपनयनप्रवीण इति भावः। सः= हंसः, गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान्=पक्षसमूहदुर्गमस्थानदुर्ग्राह्यान्, कटु=तीक्ष्णं, दशतः= तुदतः दन्तैरिति शेषः। क्वचित्=कुत्रचित्, सतः=वर्तमानान्, कीटान्=क्षुद्र-जन्तून्, पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः=समर्थत्रोटयग्रघट्टनैः, तनुकण्डु=अल्पखर्जु यथा तथा, नुनुदे=निवारितवान् ॥ ४ ॥

अनुवाद—कीड़ोंको हटानेमें निपुण उस हंसने पक्षसमूहरूप किलेमें न पकड़े जानेवाले तीक्ष्ण रूपसे काटनेवाले ऐसे कहीपर रहे हुए कीड़ोंको मजबूत चोंचकी नोकके आघातोंसे खुजलीको कम कर हटाया ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पण्डितः=सत् और असत्का विवेक करनेवाली बुद्धिको "पण्डा" कहते हैं। पण्डा सञ्जाता अस्य पण्डितः, 'पण्डा' शब्दसे "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इससे इतच् प्रत्यय। गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान्=गरुतां वनम् (ष० त०) तदेव दुर्गम् (रूपक०)। दुःखेन ग्रहीतुं शक्या दुर्ग्रहाः, दुर्+ग्रह+खल् (उपपद०)। गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहाः, तान् (स० त०)। कटु= यह क्रियाविशेषण है। दशतः=दशन्तीति दशन्तः, तान् (दश+लट्+शतृ +शस्)। सतः=सन्तीति सन्तः, तान् (अस्+लट्+शतृ+शस्)। पटुचञ्चू-पुटकोटिकुट्टनैः=चञ्च्वोः पुटम् (ष० त०)। पटु च तत् चञ्चूपुटम् (क०धा०) तस्य कोटिः (अग्रभागः), (ष० त०), तया कुट्टनानि, तैः (तृ० त०)। तनुकण्डु=तनुः कण्डूः यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद्यथा तथा। "कण्डूः खर्जूश्च कण्डूया" इत्यमरः। नुनुदे="णुद प्रेरणे" इति धातोर्लिट्। रूपक और स्वभावोक्तिकी संसृष्टि है ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्यव्रियताऽस्य शङ्कितैः।
उदडीयत वैकृतात्करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

अन्वय —अथ तडागनीडजैः लघु एत्य पर्यव्रियत । अथ अस्य करग्रहजात् वैकृतात् शङ्कितैः विकस्वरस्वरैः उदडीयत ॥ ५ ॥

व्याख्या—अथ = हंस, तडागनीडजैः = पद्माकरकुलायोत्पन्नैः पक्षिभिः, लघु = शीघ्रम्, एत्य = आगत्य, पर्यव्रियत = परिवृतः । अथ = परिवेष्टनाऽनन्तरम्, अस्य = हंसस्य, करग्रहजात् = हस्तपीडनजनितात्, वैकृतात् = विकारात्, दन्तुरपक्षत्वरूपादिति भावः । शङ्कितैः = भीतैः, विकस्वरस्वरैः उच्चैर्घोषैः पक्षिभिः, उदडीयत = उड्डीनम् ॥ ५ ॥

अनुवाद—उस हंसको तालाबके निकट स्थित घोंसलोंमें उत्पन्न पक्षियोंने शीघ्र आकर घेर लिया । तब उस हंस के हाथ से ग्रहण करने से उत्पन्न दन्तुरत्व रूप विकारसे शङ्कित होकर ऊँची आवाज करते हुए सब पक्षी उड़ गये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—तडागनीडजैः = तडागे नीडा (स० त०), समीप अर्थमें सप्तमी । तडागनीडे जातास्तडागनीडजा, तैः, तडागनीड + जन् + ड + भिस् (उपपद०) । लघु = "लघु क्षिप्रमरं द्रुतम् ।" इत्यमरः । एत्य = आङ् + इण् + क्त्वा (ल्यप्) । पर्यव्रियत = परि + वृञ् + लङ् (कर्ममें) + त । करग्रहजात् = ग्रहणं ग्रहः । "ग्रह उपादाने" धातुसे "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय, करेण ग्रहः (तृ० त०), तस्माज्जातः करग्रहजः, तस्मात्, करग्रह + जन् + ड (उपपद०) + ङसि । वैकृतात् = विकृतम् एव वैकृतं, तस्मात्, विकृत + अण् (स्वार्थमें) । विकस्वरस्वरैः = विकसन्तीति विकस्वराः, वि + उपसर्गपूर्वक कस धातुसे "स्थेशभासपिसकसो वरच्" इस सूत्रसे वरच् प्रत्यय । "विकासी तु विकस्वरः" इत्यमरः । विकस्वराः स्वरो येषां ते, तैः (बहु०) । उदडीयत = उद् + डीङ् + लङ् + त (भावमें) । इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ५ ॥

> दधतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः ।
> स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

अन्वय—सः खगः बहुशैवलक्ष्मतां दधतः सरसः बहुशैवलक्ष्मतां दधतः नलस्य धृतरुद्राक्षमधुव्रतं करं कोकनदभ्रमात् इव पुनः ययौ ॥ ६ ॥

व्याख्या—सः = पूर्वोक्तः, खगः = पक्षी, हंस इत्यर्थः । बहुशैवलक्ष्मता = भूरिशैवलभूमितां, दधतः = धारयतः, सरसः = पल्लवात् । बहुशैवलक्ष्मता = अधिकशिवभक्तचिह्नतां, दधतः = धारयतः, नलस्य = नैषधस्य, धृतरुद्राक्ष-

मधुव्रतं=भ्रमरसदृशरुद्राक्षधारकं करं=हस्तं, कोकनदभ्रमात् इव=रक्तकमलभ्रान्तेः इव, पुनः=भूयः, ययौ=जगाम, रक्तवर्णे नलहस्ते रक्तकमलभ्रान्तेरिव हंसः पुनर्जगामेति भावः ॥ ६ ॥

अनुवाद—वह हंस बहुत शैवलों (सेवारों) वाली भूमिको धारण करनेवाले तालावसे बहुतसे शिवभक्तके चिह्नोंको धारण करनेवाले नलके भौरोंके समान रुद्राक्षोको धारण करनेवाले हाथको मानों रक्तकमलकी भ्रान्तिसे फिर प्राप्त हुआ ॥ ६ ॥

टिप्पणी—बहुशैवलक्ष्मतां=बहूनि शैवलानि यस्यां सा बहुशैवला (बहु०)। "जलनीली तु शैवालं शैवलः" इत्यमरः। बहुशैवला क्ष्मा (भूमिः) यस्मिंस्तद् बहुशैवलक्ष्मम् (बहु०) तस्य भावः तत्ता, ताम्, बहुशैवलक्ष्म+तल्+टाप्+अम्। दधतः=दधातीति दधत् तस्य, धा+लट् (शतृ)+ङस्। सरसः= "कासारः सरसीः सरः" इत्यमरः। नलके पक्षमें—बहुशैवलक्ष्मतां=शिवे भक्तिर्यस्य सः शैवः, "शिव" शब्दसे "भक्तिः" इस सूत्रसे अण्, "तद्धितेष्वचामादेः" इससे आदि अच्की वृद्धि। शैवस्य लक्ष्माणि (ष० त०) "चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्" इत्यमरः। बहूनि शैवलक्ष्माणि यस्य स बहुशैवलक्ष्मा (बहु०), तस्य भावः तत्ता, ताम्, बहुशैवलक्ष्मम्+तल्+टाप्+अम्। भस्म, रुद्राक्ष आदि शैव (शिवजीके उपासकके) चिह्न हैं। प्रकृतमें शैव नलका चिह्न रुद्राक्ष अभिमत है। धृतरुद्राक्षमधुव्रतं=रुद्राक्षा मधुव्रता इव रुद्राक्षमधुव्रताः, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इससे उपमित-समास। धृता रुद्राक्षमधुव्रता येन, तम् (बहु०)। कोकनदभ्रमात्—कोकनदस्य भ्रमः, तस्मात् (ष० त०)। "रक्तोत्पलं कोकनदम्" इत्यमरः। ययौ=या+लिट्+तिप् (णल्)। इस पद्यमें शब्दश्लेप, उपमा और उत्प्रेक्षा इन अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है ॥ ६ ॥

पतगश्चिरकाललालनादतिविस्रम्भमवापितो नु सः।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

अन्वयः—स पतगः चिरकाललालनात् अतिविस्रम्भम् अवापितो नु (किञ्च) एतस्य महीभुजः भुजं भजन् अतुलं कुतूहलं विदधे ॥ ७ ॥

व्याख्या—अथाऽस्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते पतग इति। सः=पूर्वोक्तः, पतगः=हंसः, चिरकाललालनात्=बहुसमयोपलालनात्, अतिविस्रम्भम्=अविश्वासम्, अवापितो नु=प्रापितः किम्, नोचेत्कथं पुनः स्वयमागच्छेदिति

भाव । एतस्य=अस्य, महीभुज=राज्ञ, नलस्येत्यर्थं । भुज=कर, भजन्=सेवमान, स्वयमाप्नुवन्निति भाव । अतुलम्=अनुपम, कुतूहल=कौतुक, विदधे=चकार ॥ ७ ॥

अनुवाद—वह पक्षी (हस) बहुत समयतक हाथमे लेनेसे मानो अत्यन्त विश्वस्त कराया गया। राजाके हाथमे स्वयम् प्राप्त होनेसे उसने अनुपम कौतुकको उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—पतग=पतैं (पक्षै) गच्छतीति, पत–उपपदपूर्वक गम् धातुसे "पुंसि सञ्ज्ञायां घ प्रायेण" इस सूत्रसे घ प्रत्यय। 'पतत्रिपत्रिपतगपतत्पत्ररथाण्डजा ।" इत्यमर । चिरकाललालनात्=चिरकाल लालन, तस्मात् (सुप्सुपा०) । अतिविस्रम्भम्=अत्यन्त विस्रम्भ, तम् "कुगतिप्रादय" इति समास । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ" इत्यमर । अवापित=अव+आप्+णिच्+क्त । महीभुज=महीं भुनक्तीति महीभुक् तस्य, मही+भुज्+क्विप् (उपपद०)+ङस् । भजन्=भजतीति, भज+लट् (शतृ)+सु । अतुलम्=अविद्यमाना तुला (उपमा) यस्य, तत् (नञ् बहु०) । विदधे=वि+धा=लिट्+त (एश्) । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा और कुतूहलविधानके प्रति भुजभजनकी हेतुता होनेसे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है । इस प्रकार दोनोंकी संसृष्टि है ॥ ७ ॥

> नृपमानसमिष्टमानस स निमज्जत्कुतुकाऽमृतोर्मिषु ।
> अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीक रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

अन्वय—इष्टमानस स कुतुकाऽमृतोर्मिषु निमज्जत् नृपमानसम् अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीक रचयन् अवोचत ॥ ८ ॥

व्याख्या—इष्टमानस=प्रियमानस , स=हस , कुतुकाऽमृतोर्मिषु=कौतुकसुधातरङ्गेषु, निमज्जत्=ब्रुडत्, नृपमानस=नलमन , अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकम्=आलम्बितश्रोत्रशष्कुलीघटद्वय, रचयन्=कुर्वन्, अवोचत=उक्तवान् जले निमज्जन्त पुरुष यथा कश्चित्तारणाय कलसप्रदानेन तमुद्धरति तथैव कौतुकतरङ्गेषु ब्रुडत् राजमानसमपि हस तत्कौतुकप्रशमनाय वक्ष्यमाणवाक्य जगादेति भाव ॥ ८ ॥

अनुवाद—मानस सरोवरको पसद करनेवाला वह हस कौतुकरूप अमृतकी तरङ्गोमें डूबते हुए राजाके मनमें कर्णशष्कुलीरूप कलसोका अवलम्बन कराता हुआ बोला ॥ ८ ॥

टिप्पणी—इष्टमानस=इष्ट मानस यस्य स (बहु०) । कैलास पर्वतमें

ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न सरोवरको मानस सरोवर कहते हैं। जैसा कि वाल्मीकि-रामायणमें है—

"कैलासपर्वते राम ! मनसा निर्मितं परम्।
ब्रह्मणा नरशार्दूल ! तेनेदं मानसं सरः ॥"
(आ० का० २४ सर्गः)

"मानसं सरसि स्वान्ते" इति विश्वः। कुतुकाऽमृतोर्मिषु=कुतुकम् एव अमृतम् (रूपक०)। "कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कुतुहलम्।" इत्यमरः। कुतुकाऽमृतस्य ऊर्मयः, तेषु (ष० त०)। निमज्जत्=निमज्जतीति, नि+मस्ज+लट् (शतृ)+अम्। नृपमानसं=मन एव मानसम्, "प्रज्ञादिभ्यश्च" इससे स्वार्थमें, मनस्+अण्। नृपस्य मानसं, तत् (ष० त०)। अवलम्बित-कर्णशष्कुलीकलसीकम्=कर्णौ शष्कुल्यौ इव (उपमित०)। अवलम्बिते कर्ण-शष्कुल्यौ एव कलस्यौ येन, तत् (बहु०)। "नद्यृतश्च" इस सूत्रसे समासान्त कप् प्रत्यय। एक प्रकारकी मिठाई (जलेबी) को शष्कुली कहते है। जलमें डूबने हुए व्यक्तिको जैसे घड़ेका सहारा होता है वैसे ही कौतुकरूप अमृतमें डूबते हुए नलको कर्णरूप शष्कुलोंका सहारा देता हुआ हंस कहने लगा, यह तात्पर्य है। रचयन्=रचयतीति, रच+णिच्+लट् (शतृ)। अवोचत=वच+लुङ्+त। इस पद्यमें उपमा और रूपककी संसृष्टि है। यमक नामक शब्दा-लङ्कार भी है ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्माऽऽगममर्मपारगैः।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

अन्वयः—धर्माऽऽगममर्मपारगैः अपि नृपैः मृगया न विगीयते (तथाऽपि) हे स्मरसुन्दर ! मां यत् अत्यजः, स तव दयोदयोज्ज्वलः धर्मः ॥ ९ ॥

व्याख्या—धर्माऽऽगममर्मपारगैः अपि=धर्मशास्त्रतत्त्वपारगामिभिः अपि, नृपैः=राजभिः, मृगया=आखेटः, न विगीयते=न गर्ह्यते, तथाऽपि, हे स्मर-सुन्दर=हे काममनोरम !, मां=पक्षिणं, मृगयालक्ष्यभूतमिति भावः। यत्, अत्यजः=त्यक्तवान्, सः=त्यागः, तव=भवतः, दयोदयोज्ज्वलः=करुणाऽव-तारनिर्मलः, धर्मः=सुकृतम्, त्वं न केवलमाकारत उज्ज्वलः प्रत्युत दयारूप-धर्मेणाऽपीति भावः ॥ ९ ॥

अनुवाद—धर्मशास्त्रों के तत्त्वोके पारदर्शी राजाओंसे भी मृगया (शिकार) की निन्दा नहीं की जाती है तो भी हे कामदेवके समान सुन्दर ! जो आपने मुझे छोड़ दिया है, वह आपका दयाके उदयसे उज्ज्वल धर्म है ॥ ९ ॥

टिप्पणी—धर्मस्य आगमा (ष० त०), तेषा मर्माणि (ष० त०), पार गच्छन्तीति, पार-उपपदपूर्वक गम् धातुसे "अन्तात्यन्ताऽध्वदूरपारसर्वाऽनन्तेषु ड" इस सूत्रसे ड प्रत्यय । धर्माऽऽगममर्मणा पारगा , तै (ष० त०), विगीयते=वि+गै+लट् (कर्ममे)+त । स्मरसुन्दर=स्मर इव सुन्दर, तत्सम्बुद्धौ । "उपमानानि सामान्यवचनै " इस सूत्रसे उपमानपूर्वपद (क०धा०)। अत्यज =त्यज+लङ्+सिप् । यहाँ अद्यतन क्रिया विवक्षित होनेपर अनद्यतन अर्थमें लङ्का प्रयोग अनुचित है, अत च्युतसंस्कृति दोष हो गया है। दयोदयोज्ज्वल =दयाया उदय (ष० त०), तेन उज्ज्वल (तृ० त०)। इस पद्यमे त्यागके प्रति धर्मको कारणता होनेसे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ९ ॥

अबलस्वकुलाऽशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिन खगान्।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान्मृगयाऽघाय न भूभृता घ्नताम् ॥ १० ॥

अन्वय -अबलस्वकुलाऽशिनो झषान् (घ्नताम्), निजनीडद्रुमपीडिन खगान् (घ्नताम्), अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् घ्नता भूभृता मृगया अघाय न ॥ १० ॥

व्याख्या—राज्ञा कृते मृगयाया विगानाऽभाव प्रतिपादयति—अबलेति । अबलस्वकुलाऽशिन =निर्बलनिजवंशभक्षकान्, झषान्=मत्स्यान्, घ्नताम्, एव परत्राऽपि । निजनीडद्रुमपीडिन =स्वकुलायवृक्षपीडकान्, विष्ठात्यागफलभक्षणादिनेति भाव । खगान्=पक्षिण , तथा अनवद्यतृणार्दिन =निरपराधाऽर्जुनहिंसकान्, मृगान्=पशून्, घ्नता=हिंसता, भूभृता=राज्ञा, मृगया=आखेट , अघाय=पापाय, न=न भवति । तेषा झषखगपशूना वधस्य दण्डरूपत्वाद्दण्डनाऽभाव एव दोष इति भाव ॥ १० ॥

अनुवाद—निर्बल अपने वंशको मारनेवाली मछलियोंको, अपने घोंसलेके पेडोको पीडित करनेवाले पक्षियोको तथा निरपराध तृणोकी हिंसा करनेवाले मृगोको मारनेवाले राजाओको मृगया (शिकार) पापके लिए नही होती है।

टिप्पणी—अबलस्वकुलाऽशिन =अविद्यमान बल यस्य तत् अबल, (नञ्-बहु०), स्वस्य कुलम् (ष० त०), अबल च तत् स्वकुलम् (क० धा०) अबलस्वकुलम्, अश्नन्तीति तच्छीला , तान्, अबलस्वकुल+अश+णिनि (उपपद०)+शस् । झषान्="पृथुरोमा झषो मत्स्यो मीनो वैसारिणोऽण्डज ।" इत्यमर' । प्रबल मत्स्य निर्बल मत्स्योंको खा जाते हैं, इसीसे "मात्स्यन्याय"

की प्रसिद्धि है। निजनीडद्रुमपीडिनः=नीडानां द्रुमाः (ष० त०), निजाश्च ते नीडद्रुमाः (क० धा०), तान् पीडयन्तीति तच्छीलाः, तान्, निजनीडद्रुम+पीड+णिनि+(उपपद०) शस्। पक्षी अपने घोंसलेवाले पेड़ोंको विष्ठात्याग और फलादिभक्षणसे पीडित करते हैं। अनवद्यतृणादिनः=न उद्यन्त इति अवद्यानि, नञ्-उपपदपूर्वक वद धातुसे "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्याऽनिरोधेषु" इस सूत्रसे गर्ह्य अर्थमें यत्प्रत्ययान्त निपातन। न अवद्यानि अनवद्यानि (नञ्०)। अनवद्यानि च तानि तृणानि (क० धा०); तानि अदन्तीति तच्छीला तान् अनवद्यतृण+अद+णिनि (उपपद०)+शस्। निरपराध तृणोंको मृग खा जाते हैं। तृणोंमें भी प्राण हैं। "अन्तःसञ्ज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः। (१-४९) मनुने ऐसा कहा है। घ्नतां=घ्नन्तीति घ्नन्तः, तेषाम्, हन्+लट् (शतृ)+आम्। भूभृतां=भुवं बिभ्रतीति, भूभृतः, तेषाम्, भू+भृ+क्विप् (उपपद०)+आम्। अघाय=तादर्थ्यमें चतुर्थी। अपराधी मत्स्योंको, पक्षियोंको और मृगोंको मारनेवाले राजाके लिए मृगया दण्डरूप होनेसे पाप उत्पन्न करनेवाली नहीं होती—यह तात्पर्य है। इस पद्यमें अप्रस्तुत सामान्य भूभृत्के कथनसे प्रस्तुत विशेष भूभृत् नलकी प्रतीति होनेसे अप्रस्तुतप्रशंसा और पापके अभावके प्रति पहलेके तीन पादोंके पदार्थोंकी हेतुतासे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है, इस प्रकार दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है॥ १०॥

यदवादिषमप्रियं तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत्।
कृतमातपसञ्ज्वरं तरोरभिवृष्याऽमृतमंशुमानिव॥ ११॥

अन्वयः—(हे राजन्!) तव यत् अप्रियम् अवादिषं, प्रियम् आधाय तत् तरोः कृतम् आतपसञ्ज्वरम् अमृतम् अभिवृष्य अंशुमान् इव नुनुत्सुः अस्मि॥११॥

व्याख्या—हंसः पुनः स्वागमनकारणं प्रतिपादयति-यदिति। (हे राजन्!) तव=भवतः, यत्, अप्रियम्=अप्रीतिजनकं वाक्यं, "धिगस्तु तृष्णातरलम्" इत्यादिरूपमिति भावः। अवादिषम्=अवोचम्, प्रियं=प्रीतिजनकं वाक्यम्, आधाय=निधाय, कथयित्वेति भावः। तत्=अप्रियं, तरोः=वृक्षस्य, कृतं=स्वयं विहितम्, आतपसञ्ज्वरं=द्योतकृतं सन्तापम्, अमृतं=जलम्, अभिवृष्य=वर्षित्वा, अंशुमान् इव=सूर्य इव, नुनुत्सुः=निवारयितुम् इच्छुः, अस्मि=भवामि॥ ११॥

अनुवाद—(हे राजन् !) जैसे सूर्य अपनेसे की गयी पेड़में धूपकी पीडाको जल की वृष्टिसे हटाते हैं उसी तरह मैंने जो आपको अप्रिय कहा है, प्रिय वचन कहकर उसे हटाता हूँ ॥ ११ ॥

टिप्पणी—अप्रिय=न प्रिय, तत् (नञ्०) । अवादिष=वद+लुङ्+मिप् । आधाय=आङ्+धा+क्त्वा (ल्यप्) । आतपसञ्ज्वरम्=आतपेन सञ्ज्वर, तम् (तृ० त०) । अमृत="पय कीलालममृतम्" इत्यमर । अभिवृष्य=अभि+वृष+क्त्वा (ल्यप्) । अंशुमान्=प्रशस्ता अंशव सन्ति यस्य स, अंशु+मतुप् । नुनुत्सु=नोदितुम् इच्छु, नुद+सन्+उ । अस्मि=अस्+लट्+मिप् । इस पद्य मे उपमा अलङ्कार है ॥ ११ ॥

उपनप्रमयाचितं हित परिहर्तुं न तवाऽपि साम्प्रतम् ।
करकल्पजनान्तराद्विधे शुचित प्राप्ति हि प्रतिग्रह ॥ १२ ॥

अन्वय—अयाचितम् उपनम्र हित तव अपि परिहर्तुं न साम्प्रतम् । हि स प्रतिग्रह करकल्पजनान्तरात् शुचित विधे प्राप्ति ॥ १२ ॥

व्याख्या—त्वदीयापकृतिन मया ग्राह्यमेति चेत्तत्राह—उपनम्रमिति । अयाचितम्=अप्रार्थितम्, उपनम्रम्=उपनत, हित=हितसम्पादक, मदीय प्रियवचनमिति भाव । तव अपि=भवत अपि, परिहर्तुं=परित्यक्तु, न साम्प्रत=नो युक्तम्, "अयाचिताऽऽहृत ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मण" (या० स्मृ० १।२१५) इति स्मरणादिति भाव । तदपि मादृशात्तिर्यग्जाते कथ ग्राह्यमिति चेत्तत्राह—करकल्पेति । हि=यस्मात्कारणात् । स=पूर्वोक्त, मयाऽभिहित इति भाव । प्रतिग्रह=दत्तपदार्थ, करकल्पजनान्तरात्=हस्तस्थानीयाऽन्यलोकात्, शुचित=शुद्धात् विधे=भाग्यात्, प्राप्ति=प्राप्त, न तु मत्त इति भाव । अहं तु निमित्तमात्र, दातृस्थानीय तु भाग्यमेवेति अतो न ग्रहणलाघवमिति तात्पर्यम् ।

अनुवाद—याचनाके बिना ही प्राप्त मेरे हित वचनको आपको छोड़ना नहीं चाहिए, क्योंकि वह हितवचनरूप प्रतिग्रह हाथके सदृश मेरे ऐसे व्यक्तिरूप शुद्ध भाग्यसे प्राप्त हुआ है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—अयाचित=न याचितम् (नञ्०) । उपनम्रम्=उपनमनशीलम्, उप उपसर्गपूर्वक "णम प्रह्वत्वे शब्दे" इस धातुसे "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो र" इस सूत्रसे र प्रत्यय । परिहर्तुं=परि+हृञ्+तुमुन् । साम्प्रत="युक्ते द्वे साम्प्रत स्थाने" इत्यमर । दुष्कर्म करनेवाले से भी बिना

याचना के प्राप्त पदार्थको लेना चाहिए ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है। अयाचित वृत्तिको भगवान् मनुने भी "अमृतं स्यादयाचितम्" (४।५) अमृत कहा है। "प्रत्याख्येयं न वारि च" ऐसा भी शास्त्रका वचन है, अर्थात् याचना-के बिना मिले हुए जलका भी प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिए। करकल्प-जनान्तरात्=ईषत् असमाप्तः करः करकल्पं हस्तसदृशमित्यर्थ.। 'कर' शब्दसे "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः" इस सूत्रसे कल्पप् प्रत्यय। 'करकल्प' शब्दका करसदृश ऐसा अर्थ होता है। अन्यो सनो जनान्तरम् (मयूरव्यंसकादि-समास)। करकल्पं च तत् जनान्तरं तस्मात् (क० धा०)। शुचितः=शुचेः इति शुचितः, "शुचि" शब्दसे "अपादाने चाऽहीयरुहोः" इस सूत्रसे तसि प्रत्यय। यह "विधेः" इस पदका विशेषण है। प्रापि=प्र–उपसर्गपूर्वक "आप्लृ व्याप्तौ" धातुसे कर्ममें लुङ्। इस पद्यमें हितपरिहारकी अयुक्तताके प्रति उत्तरार्ध-स्थित वाक्यकी हेतुतासे वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है॥ १२॥

'पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते।
इति वेद्मि न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्तुमर्तयः॥ १३॥

अन्वयः—पतगेन मया जगत्पतेः तव उपकृत्यै किं प्रभूयते? इति वेद्मि, तदपि अर्तयः तु मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति॥ १३॥

व्याख्या—हंसः स्वगर्वं परिहरति—पतगेनेति। पतगेन=पक्षिणा, मया=हंसेन, तुच्छजन्तुना इति भावः। जगत्पतेः=सार्वभौमस्य, तव=भवतः, उपकृत्यै=उपकाराय, किं प्रभूयते=किं क्षम्यते? समर्थेन न भूयत इति भावः। इति=एवं, वेद्मि=जानामि, तदपि=तथाऽपि, अर्तयस्तु=प्रत्युपकाराऽर्थ-मुत्कण्ठारूपाः पीडास्तु, मां=पतगं, प्रत्युपकर्तुं=प्रयुपकारं कर्तुं, न त्यजन्ति=न मुञ्चन्ति, प्रत्युपकाराय प्रेरयन्तीत्यर्थः। पतगोऽप्यहं दयालोस्ते महोपकारं करवाणीति भावः॥ १३॥

अनुवाद—"अदना पक्षी मैं जगत्पति आपके उपकारके लिए कैसे समर्थ होऊँगा" यह जानता हूँ। तो भी प्रत्युपकारके लिए उत्कण्ठारूप पीडाएँ तो मुझे आपके उपकारका बदला देने के लिए नही छोड़ती है॥ १३॥

टिप्पणी—जगत्पतेः=जगतः पतिः, तस्य (ष० त०), उपकृत्यै=उप-करणम् उपकृतिः, तस्यै, उप-उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे "स्त्रियां क्तिन्" इस सूत्रसे क्तिन्, तादर्थ्यमें चतुर्थी। प्रभूयते=प्र+भू+लट् (भावमें)+त। वेद्मि=

विद्+लट्+मिप्। अर्तय = "अर्ति पीडाधनुष्कोट्यो" इत्यमर। प्रत्युपकर्तुं=प्रति+उप=कृ+तुमुन्। त्यजन्ति=त्यज+लट्+झि। इस पद्यमे छेकाऽनुप्रास है ॥ १३ ॥

अचिरादुपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।
पृथुरित्वमथाऽणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रह ॥ १४ ॥

अन्वय—अथवा उपकर्तुं अचिरात् औपयिकीम् उपक्रियाम् आचरेत्, इत्थं सा पृथु अथ अणु अस्तु। विदुषाम् इह ग्रहो न ॥ १४ ॥

व्याख्या—स्वशक्त्यनुसारेण उपकारस्य प्रत्युपकार शीघ्र कर्तव्य इति प्रतिपादयति—अचिरादिति। अथ वा=पक्षान्तरे, उपकर्तु =उपकारकस्य, अचिरात्=अविलम्बात, औपयिकीं=स्वोपायसाध्याम्, उपक्रियाम्=उपकारम् आचरेत्=कुर्यात् जीवनस्य अनित्यत्वाच्छीघ्र प्रत्युपकार विदधीतेति भाव। इत्थम्=एव सति, सा=उपक्रिया, पृथु =अधिका, अथ=अथ वा, अणु = अल्पा, अस्तु=भवतु, विदुषा=बुधाना, विवेकिनामिति भाव। इह=अस्मिन् विषये, ग्रहो न=आग्रहो न। गुणग्राहिणो विवेकिन कृतज्ञतामेवाऽस्य पश्यन्ति नैयूर्यादिजनित दोष नाऽन्विष्यन्तीति भाव ॥ १४ ॥

अनुवाद—अथवा उपकार करनेवालेका शीघ्र ही अपने उपायसे साध्य उपकार करे, इस प्रकार वह उपकार अधिक वा अल्प हो, विद्वानोंको इस विषयमे आग्रह नहीं है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—उपकर्तु =उपकरोतीति उपकर्ता, तस्य, उप+कृ+तृच्+ङस्। औपयिकीम्=उपाय एव औपयिक, उपाय शब्दसे "विनयादिभ्यष्ठक्" इस सूत्रसे "उपायो ह्रस्वत्व च" इस वार्तिकके सहकारसे स्वार्थमें ठक्, 'ठ' के स्थानमे "ठस्येक" इससे इक, ह्रस्वत्व "किति च" इस सूत्रसे आदिवृद्धि औपयिकाद् आगता औपयिकी, ताम् "तत आगत" इससे अण्। "टिड्ढा॰ णञ्॰" से ङीप्। "युक्तमौपयिक लभ्य भजमानाऽभिनीतवत्। न्याय्यञ्च त्रिषु षट्" इत्यमर। उपक्रियाम्=उप+कृ+श+टाप्+अम्। आचरेत्= आङ्+चर+विधिलिङ+तिप्। विदुषा=विदन्तीति विद्वास, तेषाम्, विद्+लट्+शतृ (वसु)+आम् ॥ १४ ॥

भविता न विचारचारु चेतदपि अव्ययमिद भवीरितम्।
जगदाशिर्यामितस्ततोऽपि किं न मुद वासयति कौरशौरिव ॥ १५ ॥

अन्वयः—(हे नृप !) इदं मदीरितं विचारचारु न भविता चेत् तदपि श्रव्यम् । इयं खगवाक् इत्यतः अपि कीरगीः इव मुदं किं न दास्यति ॥ १५ ॥

व्याख्या—स्ववचः श्रवणे हेतुमुपपादयति—भवितेति । (हे नृप !) इदं=वक्ष्यमाणं, मदीरितं=मत्कथितं, वच इति भावः । विचारचारु=विमर्शमनोहरं, न भविता चेत्=नो भविष्यति यदि, तदपि=तथाऽपि मदीरिते विचारचारुत्वाऽभावेऽपीति भावः । श्रव्यं=श्रोतव्यम्, इयम्=एषा, खगवाक्=पक्षिवाणी, इत्यतः अपि=अस्मात्कारणात् अपि, कीरगीः इव=शुकवाणी इव, मुदं=हर्षं, किं न दास्यति=किं न वितरिष्यति ? दास्यत्येवेति भावः । विचारचारुत्वाऽभावेऽपि कौतुकादपि मदीरितं वचः श्रोतव्यमिति भावः ॥१९॥

अनुवाद—(हे राजन् !) यह मेरा वचन विचार करनेपर मनोहर न हो तो भी सुनना चाहिए । यह पक्षीकी वाणी है इस कारणसे भी तोतेकी वाणी क्या हर्ष उत्पन्न नहीं करेगी ॥ १५ ॥

टिप्पणी—मदीरितं=मया ईरितम् (तृ० त०) "वचः" इस पदका अध्याहार करना चाहिए । विचारचारु=विचारे चारु (स० त०) भविता=भू+लुट्+तिप् । श्रव्यम्=श्रोतुम् अर्हम्, श्रु धातुसे "अचो यत्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय, "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इससे गुण "धातोस्तन्निमित्तस्यैव" इस सूत्रसे अव् आदेश । खगवाक्=खगस्य वाक् (ष० त०) । कीरगीः=कीरस्य गीः (ष० त०) । दास्यति=दा+लृट्+तिप् । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १५ ॥

स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः ॥
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभुं हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—अरिसार्थसार्थकीकृतनामा स भीमभूपतिः जयति किल । यं प्रभुम् अवाप्य विदर्भभूः शक्रभर्तृकां द्याम् अपि हसति ॥ १६ ॥

व्याख्या—साम्प्रतं स्ववचो वक्तुमुपक्रमते—स जयतीति । अरिसार्थसार्थकीकृतनामा=शत्रुसमूहाऽन्वर्थीकृताऽभिधानः, सः=प्रसिद्धः, भीमभूपतिः=भीमाऽऽख्यनृपः, जयति किल=सर्वोत्कर्षेण वर्तते खलु । यं=भीमभूपतिं, प्रभुं=भर्तारम्, अवाप्य=प्राप्य, विदर्भभूः=विदर्भभूमिः, शक्रभर्तृकाम्=इन्द्रस्वामिकां, द्याम् अपि=दिवम् अपि, लक्ष्यीकृत्येति शेषः । हसति=उपहसति, किमुत अन्यभर्तृकदेशमिति शेषः । स्त्रियो हि भर्तृरुत्कर्षादन्याः स्त्रीरुपहसन्तीति भावः ॥ १६ ॥

अनुवाद—शत्रुसमूहसे अन्वर्थ नामवाले राजा भीम उत्कर्षपूर्वक बढ रहे हैं जिनको पतिके रूपमें पाकर विदर्भ देशकी भूमि इन्द्ररूप स्वामीवाली स्वर्ग-भूमिका भी उपहास कर रही है ॥ १६ ॥

टिप्पणी—अरिसार्थसार्थकीकृतनामा=अर्थेन सहित साऽर्थकम्, "तेन सहेति तुल्ययोगे" इस सूत्रसे तुल्ययोग बहु० । "वोपसर्जनस्य" इससे विकल्पसे "सह" के स्थानमें "स" आदेश । "शेषाद्विभाषा" इससे समासान्त कप् प्रत्यय । असार्थकं साऽर्थकं यथा सम्पद्यते तथा कृतम्, सार्थक + च्वि + कृ + क्त । सार्थकीकृत नाम यस्य स (बहु०)। अरीणा सार्थ (ष० त०), तस्मिन् सार्थकीकृतनामा (स० त०)। "सङ्घसार्थौ तु जन्तुभि " इत्यमर । भीम-भूपति =भुव पति (ष० त०)। भीमश्चासौ भूपति (क० धा०)। बिभेति अस्मात् इति भीम , "ञिभी भये" धातुसे "भीमादयोऽपादाने" इस सूत्रसे मक् प्रत्यय । जिससे शत्रु डरता है वह 'भीम' ऐसी व्युत्पत्तिसे साऽर्थक (अन्वर्थ) नामवाले राजा भीम हैं—यह तात्पर्य है । जयति=जि + लट् + तिप् । यहाँपर "जि" धातु अकर्मक है। प्रभु ="प्रभु परिवृढोऽधिप " इत्यमर । अवाप्य=अव + आप + क्त्वा (ल्यप्) । विदर्भभू =विदर्भाणा भू (ष०त०) । शक्रभर्तृका=शक्र भर्ता यस्या सा शक्रभर्तृका, ताम् (बहु०)। "नद्यृतश्च" इस सूत्रसे कप् और टाप् । द्याम्='द्यो' शब्दसे द्वितीयाका एकवचन, "औतोऽम्शसो " इस सूत्रसे ओकारके स्थानमें आकार आदेश । "सुरलोको द्योदिवौ द्वे" इत्यमर । हसति="हसे हसने" धातुसे लट् + तिप् । यह अकर्मक है । अत ' द्यामपि" यहाँपर "लक्ष्यीकृत्य" इस पदका अध्याहार करना चाहिए । "भीमभूपति " इस अंशमें "निरुक्त" नामका लक्षण है । जैसा कि चन्द्रालोकमें है—

"निरुक्त स्यान्निर्वचन नाम्न सत्य तथाऽनृतम् ।
ईदृशैश्चरितै राजन्सत्य दोषाकरो भवान् ॥"

इस पद्यमें विदर्भभूमिका स्वर्गभूमिके हाससे सम्बन्ध न रहनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति और "द्याम् अपि" यहाँपर स्वर्ग को भी हँसती है, और को क्या कहना इस प्रकार अर्थापत्ति है, इस प्रकार दो अल-ङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ १६ ॥

दमनादमनाक्प्रसेदुषस्तनया तथ्यगिरस्तपोधनात् ।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयाम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—सः अमनाक् प्रसेदुषः तथ्यगिरः दमनात् तपोधनात् दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयां तनयां वरम् आप ॥ १७ ॥

व्याख्या—हंसः साम्प्रतं दमयन्त्या उत्पत्तिं वर्णयति—दमनादिति । सः=भीमभूपतिः, अमनाक्=अत्यर्थं, प्रसेदुषः=प्रसन्नात्, निजोपासनयेति शेषः । तथ्यगिरः=सत्यवचसः, अमोघवचनादिति भावः । तादृशात् दमनात्=दमननामकात्, तपोधनात्=तपस्विनः, ऋषेरित्यर्थः । दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयां=काललोकत्रयाऽनितरसदृशसौन्दर्यादिगुणाविर्भावां, तनयां=पुत्रीं वरम्=अभीप्सितम्, आप=प्राप, वरत्वेन पुत्रीं लब्धवानिति भावः ॥ १७ ॥

अनुवादः—महाराज भीमने अत्यन्त प्रसन्न, सत्य वाणीवाले दमन नामके तपस्वीसे तीन कालों और तीन लोकोंमें असाधारण सौन्दर्य आदि गुणोंवाली पुत्रीरूप वरको प्राप्त किया ॥ १७ ॥

टिप्पणी—अमनाक् न मनाक् (नञ्०) । "किञ्चिदीषन्मनागल्पे" इत्यमरः । प्रसेदुषः=प्रससादेति प्रसेदिवान्, तस्य, प्र-उपसर्गपूर्वक सद् धातुसे "भाषायां सदवसश्रुवः" इस सूत्रसे भूतसामान्यमें लिट्के स्थानमें क्वसु आदेश, सम्प्रसारण । तथ्यगिरः=तथा (तत्प्रकारे) साधुः तथ्या, तथा शब्दसे "तत्र साधुः" इस सूत्रसे यत् और स्त्रीत्वविवक्षामें टाप् प्रत्यय । "सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्" इत्यमरः । तथ्या गीर्यस्य स तथ्यगीः, तस्मात् (बहु०) । दमनात्=दमयतीति दमनः, तस्मात्, दम धातुसे "सहितपिदमःसञ्ज्ञायाम्" (ग० सू० २३) इससे ल्यु (अन) प्रत्यय । तपोधनात्=तप एव धनं यस्य, तस्मात् (बहु०) । दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयाम्=त्रयः अवयवा, ययोस्ते त्रितये, त्रि शब्दसे "सङ्ख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् । अन्यस्यां सदृक् अन्यदृक् (स० त०) । "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इससे "अन्या" शब्दका पुंवद्भाव । न अन्यसदृक् (नञ्०) । गुणानाम् उदयः (ष० त०) । अनन्यसदृक् गुणोदयो यस्याः सा (बहु०) । दिष्टाश्च विष्टपानि दिष्टविष्टपानि "कालो दिष्टोऽप्यनेहापि समयोऽपि" इति, "अथ जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्" इति चामरः, दिष्टविष्टपानां त्रितये (ष० त०), तयोः अनन्यसदृग्गुणोदया, ताम् । (स० त०) । वरम्="देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिये" इत्यमरः । आप=आप्+लिट्+त । महाराज भीमने दमन ऋषिसे तीन कालों और तीन लोकों में असाधारणगुणों से सम्पन्न

कन्यारूप वर पाया यह तात्पर्य है। इस पद्यमे "दमनादमनाक्" यहाँपर यमक अलङ्कार है ॥ १७ ॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम्।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ १८ ॥

अन्वय—असौ यत तनुश्रिया भुवनत्रयसुभ्रुवा कमनीयतामद दमयन्ती उदियाय, तत दमयन्तीति अभिधा दधौ ॥ १८ ॥

व्याख्या—अथाऽस्या नामधेय तद्व्युत्पत्ति च प्रदर्शयति—भुवनेति। असौ= तनया, यत =यस्मात्कारणात्, तनुश्रिया=निजशरीरसौन्दर्येण, भुवनत्रय- सुभ्रुवा=लोकत्रितयसुन्दरीणा, कमनीयतामद=सौन्दर्यगर्वं, दमयन्ती=अस्तं गमयन्ती सती, उदियाय=उदिता, उत्पन्नेति भाव । तत =तस्मात्कारणात्, दमयन्ती इति=दमयन्तीत्यानुपूर्विकाम्, अभिधा=नाम, दधौ=बभार ॥१८॥

अनुवाद—वह (भीमकी पुत्री) जिस कारणसे अपने शरीरके सौन्दर्यसे तीन लोकोकी सुन्दरियोके सौन्दर्यगर्वका दमन करती हुई उत्पन्न हुई उस कारण से उन्होने 'दमयन्ती' ऐसे नामको धारण किया ॥ १८ ॥

टिप्पणी—यत =यद्+तसिल्। तनुश्रिया=तनो श्री , तया (ष० त०)। भुवनत्रयसुभ्रुवा=त्रय अवयवा यस्य तत् त्रयम्, त्रि शब्दसे "सङ्ख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् प्रत्यय और "द्वित्रिभ्या तयस्याऽयज्वा" इस सूत्रसे उसके स्थानमे विकल्पसे अयच् आदेश। शोभने भ्रुवौ यासा ता सुभ्रुव (बहु०)। भुवनाना त्रयम् (ष० त०), तस्मिन् सुभ्रुव (स० त०) तासाम्। कमनीयतामद=कमनीयस्य भाव (कमनीय+तल्+टाप्), कमनीयताया मद, तम् (ष० त०)। दमयन्ती=दमयन्तीति, णिजन्त दम धातुसे लट् (शतृ)+ङीप्, यहाँपर "न पादम्याङ्०" इत्यादि सूत्रसे परस्मैपदका निषेध होनेपर भी "क्रियाफल कर्तृगामि न होनेसे "शेषात्परस्मैपदम्" इससे परस्मैपद हुआ है। उदियाय=उद्+इण्+लिट्+तिप् (णल्)। दधौ=धा+लिट्+तिप्। इस पद्यमें भुवनत्रयकी सुन्दरियोकी अपेक्षा दमयन्तीके सौन्दर्यकी अधिकताका वर्णन होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥१८॥

श्रियमेव परं धराऽधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम्।
अवधार्यपि वा विधो कला मृडचूडानिलयां न वेद क. ॥ १९ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) तां गुणसिन्धोः धराऽधिपात् उदितां श्रियम् एव परम् अवेहि. वा व्यवधौ अपि मृडचूडानिलयां विधोः कलां को न वेद ॥१९॥

व्याख्या—अथ पद्यानामेकविंशत्या चिकुरादारभ्य दमयन्तीं वर्णयति—श्रियमिति । (हे राजन् !) तां=दमयन्तीं, गुणसिन्धोः=दयादाक्षिण्यादिगुणसमुद्रात्, धराऽधिपात्=भीमनरेन्द्रात्, उदिताम्=उत्पन्नां, श्रियम् एव=लक्ष्मीम् एव, परं=ध्रुवम्, अवेहि=जानीहि । देशव्यवधानान्न श्रीरेवेति वाच्यमित्याह—व्यवधावपीति । वा=अथवा, व्यवधौ अपि=व्यवधाने सत्यपि, मृडचूडानिलयां=शिवशिखाऽऽश्रयां, विधोः=चन्द्रमसः, कलां=षोडशं भागं, को न वेद=को न जानाति ? सर्वोऽपि वेदेत्यर्थः । यथा शिवशिरःस्थिताऽपि कला चन्द्रकलैव तथैव गुणसिन्धोर्भीमभूपालादुत्पन्नाऽपि एषा दमयन्ती श्रीरेवेति भावः ॥ १९ ॥

अनुवाद—हे राजन् ! दमयन्तीको गुणके समुद्र राजा भीमसे उत्पन्न लक्ष्मी ही जानिये, अथवा व्यवधानके रहनेपर भी शिवजीके शिरमें आश्रय लेनेवाली चन्द्रकलाको कौन नहीं जानता है ॥ १९ ॥

टिप्पणी—गुणसिन्धोः=गुणानां (दयादाक्षिण्यादीनाम्) सिन्धुः तस्मात् (ष० त०), धराऽधिपात्=धराया अधिपः, तस्मात् (ष० त०) । उदिताम्=उद्+इण्+क्त+टाप् । अवेहि=अव-आङ्-उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे लोट्के सिप्के स्थानमें 'हि' आदेश, गुण होकर अव+एहि । यहांपर "एत्येधत्यूठ्सु" इससे प्राप्त वृद्धिको बाधित करके "ओमाङोश्च" इससे पररूप । व्यवधौ=व्यवधानं व्यवधिः, तस्मिन् वि-अव उपसर्गपूर्वक 'धा' धातुसे "उपसर्गे घोः किः" इस सूत्रसे कि प्रत्यय । व्यवधि शब्द पुंलिङ्गमें है, इसको नारायण पण्डितने स्त्रीलिङ्गी लिखा है, वह भ्रान्तिमूलक है । मृडचूडानिलयां=मृडस्य चूडा (ष० त०), "गिरीशो गिरिशो मृडः" इत्यमरः । मृडचूडा निलयो यस्याः सा, ताम् (बहु०) । वेद=विद धातुसे "विदो लटो वा" इस सूत्रसे लट्के तिप्के स्थानमें विकल्पसे णल् आदेश, एक पक्षमें 'वेत्ति' ऐसा रूप होता है । इस पद्यमें राजा भीममें सिन्धुत्वका आरोप दमयन्तीमें श्रीत्वके आरोपमें निमित्त है । इस कारण परम्परित रूपक और दृष्टान्त अलङ्कार हैं, दोनोंकी संसृष्टि है ॥ १९ ॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्धनि सा बिभर्ति यान् ।
पशुनाऽप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ॥ २० ॥

अन्वय—ते चिकुरप्रकरा जयन्ति, विदुषी सा यान् मूर्धनि बिभर्ति। पशुना अपि अपुरस्कृतेन चामरेण तत्तुलना क इच्छतु ॥ २० ॥

व्याख्या—साम्प्रत दमयन्त्या केशादारभ्य वर्णनमुपक्रमते—चिकुरेति। ते=प्रसिद्धा, चिकुरप्रकरा=केशकलापा, जयन्ति=सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। विदुषी=पण्डिता, सा=दमयन्ती, यान्=चिकुरप्रकरान्, मूर्धनि=शिरसि, बिभर्ति=धारयति। पशुना अपि=चतुष्पदेन अपि, मूर्खेण चमरीमृगेणाऽपीति भाव। अपुरस्कृतेन=अनादृतेन, पृष्ठभागस्थापितेन वा, चामरेण=चमरीपुच्छेन सह तत्तुलना=चिकुरप्रकरसमीकरण, क=जन, इच्छतु=वाञ्छतु, न कोऽपीति भाव ॥ २० ॥

अनुवाद—वे केशकलाप उत्कर्षपूर्वक बढते रहते हैं, पण्डिता दमयन्ती जिन्हे शिरमे धारण करती है। पशु चमरी मृगसे भी अनादृत पूँछमे रक्खे गये चामरसे उनकी तुलना करनेकी कौन इच्छा करे ॥ २० ॥

टिप्पणी—चिकुरप्रकरा=चिकुराणा प्रकरा (ष० त०), विदुषी=वेत्तीति, विद् धातुसे लटके शतृके स्थानमे "विदे शतुर्वसु" इससे वसु आदेश, "उगितश्च" इससे स्त्रीत्वविवक्षामे ङीप् "वसो सम्प्रसारणम्" इससे सम्प्रसारण। मूर्धनि=मूर्धन् शब्दमे सप्तमीकी द्विविभक्तिमे "विभाषा ङिश्यो" इससे अल्लोपके अभावपक्षमें रूप। उक्त सूत्रसे अल्लोप होनेपर "मूर्ध्नि" ऐसा रूपभी बनता है। बिभर्ति=भृ+लट्+तिप्। अपुरस्कृतेन=न पुरस्कृत, तेन (नञ्०) तत्तुलना=तोलन तोलना, "तुल उन्माने" इस धातुसे "अतुलोपमाभ्याम्" ऐसे निपातनसे गुणका अभाव होकर णिजन्त तुल धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इससे युच् (अन) होकर टाप्। तेषा तुलना, ताम्, (ष०त०)। इच्छतु=इष+लोट+तिप्। "इषुगमियमा छ" इससे छत्व। इस पद्यमे उपमान चामरसे उपमेय दमयन्तीके चिकुरके उत्कर्षका वर्णन होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ २० ॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वना खुरकण्डूयनकैतवान्मृगा।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

अन्वय—मृगा तदखर्वेक्षणशोभया जितयो भयात् उदयत्प्रमीलयो स्वदृशो खुरकण्डूयनकैतवात् सान्त्वना जनयन्ति ॥ २१ ॥

व्याख्या—मृगा=हरिणा, तदखर्वेक्षणशोभया=दमयन्तीविशालनेत्रकान्त्या, जितयो=पराभूतयो, अतएव भयात्=भीते, उदयत्प्रमीलयो=

उत्पद्यमाननिमीलनयोः, स्वदृशोः=निजनेत्रयोः, खुरकण्डूयनकैतवात्=शफघर्षणच्छलात्, सान्त्वनाम्=आश्वासनं, जनयन्ति=कुर्वन्ति, यथा लोके परपराजितान् भयान्निमीलितनयनान् जनान् स्वजना हस्तपरामर्शादिना सान्त्वयन्ति तथैव मृगा अपि दमयन्तीनेत्रपराजिते स्वनेत्रे खुरकण्डूयनच्छलादाश्वासयन्तीति भावः ॥ २१ ॥

अनुवाद—मृग दमयन्तीके विशाल नेत्रोंकी शोभासे जीते गये। अतएव भयसे मूंदे गये अपने नेत्रोंको खुरसे खुजलानेके वहानेसे आश्वासन देते हैं ॥ २१ ॥

टिप्पणी—तदखर्वेक्षणशोभया=न खर्वे (नञ्०), अखर्वे च ते ईक्षणे (क० धा०), तस्या अखर्वेक्षणे (ष० त०) तयोः शोभा, तया (ष० त०) भयात्=हेतुमें पञ्चमी। उदयत्प्रमीलयोः=उदयन्ती प्रमीला ययोस्ते, तयोः (बहु०)। स्वदृशोः=स्वस्य दृशौ, तयोः (ष० त०)। खुरकण्डूयनकैतवात् =खुरैः कण्डूयनम् (तृ० त०), "शफं क्लीबे खुरः पुमान्" इत्यमरः। खुरकण्डूयनस्य कैतवं, तस्मात् (ष० त०)। जनयन्ति=जन+णिच्+लट्+झि। इस पद्यके कैतवाऽपह्नुति और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाकी संसृष्टि है ॥ २१ ॥

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे धरापते ! दमस्वसुः लोकयुगं श्रुतिगामितया सुतरां व्यतिभाते, दृशौ अपि (श्रुतिगामितया सुतरां व्यतिभाते), श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि (श्रुतिगामिनया सुतरां व्यतिभाते) ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे धरापते=हे भूपते ! दमस्वसुः=दमयन्त्याः, लोकयुगं=मातापितृकुलयुग्मं, श्रुतिगामितया=लोकश्रवणविषयत्वेन, जगत्प्रसिद्धत्वेनेति भावः। सुतराम्=अत्यर्थं, व्यतिभाते=परस्परोत्कर्षेण विनिमयेन वा भाति (शोभते), दृशौ अपि=नेत्रे अपि, दमस्वसुरित्ति अध्याहार्यम्। श्रुतिगामितया=कर्णाऽन्तविश्रान्ततया, सुतराम्=अत्यर्थं, व्यतिभाते=परस्परोत्कर्षेण विनिमयेन वा भातः (शोभेते)। श्रुतदृष्टाः=आकर्णिताऽवलोकिताः, लोकतः श्रुताः स्वयं ज्ञाताश्चेति भावः। रमणीगुणा अपि=सौन्दर्यौदार्यादयः स्त्रीगुणा अपि, श्रुतिगामितया=लोकतः श्रवणविषयतया, सुतराम्=अत्यन्तं, व्यतिभाते=विनिमयेन भान्ति (शोभन्ते)। दमयन्त्या मातृपितृकुलयुग्मं नेत्रयुगलं स्त्रीगुणा अति प्रसिद्धिपथागतत्वेन सुतरां शोभन्त इति भावः ॥ २२ ॥

अनुवाद—हे राजन् ! दमयन्ती के मातृकुल और पितृकुल दोनो ही लोकका श्रवण विषय होकर परस्परके उत्कर्षसे शोभित होते हैं, इसी तरह उनकी दोनो आँखें कान तक फैलनेसे परस्परके उत्कर्षसे शोभित होती हैं तथा सुने गये और देखे गये दमयन्तीके सौन्दर्य-औदार्य आदि स्त्रीगुण भी लोकसे श्रवणके विषय होनेसे परस्परमें अत्यन्त शोभित होते हैं ॥ २२ ॥

टिप्पणी—धरापते=धराया पति , तत्सम्बुद्धौ (ष० त०) दमस्वसु = दमस्य स्वसा दमस्वसा, तस्या (ष० त०)। दमन ऋषिके वरसे महाराज भीमके दम नामका पुत्र और दमयन्ती नामकी पुत्री उत्पन्न हुई थी, महाकविने वर्णनीय होनेसे दमयन्तीकी उत्पत्तिका वर्णन लिखा, दमका नहीं। "न षट्-स्वस्रादिभ्य ' इससे "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इससे प्राप्त ङीप्का निषेध हुआ है। लोक-युग=लोकयोर्युगम् (ष० त०), 'लोक' शब्द यहाँपर लक्षणासे कुलवाचक हुआ है। श्रुतिगामितया=श्रुत्योर्गच्छतीति श्रुतिगामि, श्रुति+गम्+णिनि । श्रुति-गामिनो भाव , तया, श्रुतिगामि+तल्+टाप्+टा । सुतरा=तरप्प्रत्ययान्त 'सु' उपसर्गसे "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" इससे आमु प्रत्यय। व्यति-भाते=वि+अति–उपसर्गपूर्वक अदादिस्थ "भा दीप्तौ" इस धातुसे "कर्तरि कर्मव्यतिहारे" इससे आत्मनेपद हुआ है। कर्मव्यतिहारका अर्थ है कर्मका विनिमय और कैयटके मतमें परस्पर करणको भी कर्मव्यतिहार माना गया है। व्यतिभाते=वि+अति+भा+लट्+त । यहाँपर यह एकवचन है। दृशौ= "दृग्दृष्टी" इत्यमर"। श्रुतिगामितया=श्रुत्योर्गच्छतस्तच्छीले इति श्रुतिगा-मिन्यौ, श्रुति+गम्+णिनि+ङीप् (उपपद०)। श्रुतिगामिन्योर्भाव श्रुति-गामिता, तया, श्रुति+गामिनी+तल्+टाप्+टा । यहाँपर "स्वतलोर्गुण-वचनस्य" इस सूत्रसे पुवद्भाव हुआ। व्यतिभाते=पहलेके सूत्रसे आत्मनेपद, वि+अति+भा+आताम्, यण् और सवर्णदीर्घ करके 'व्यतिभाताम्' ऐसा रूप होनेपर "टित आत्मनेपदाना टेरे" इससे 'टि'का एत्व होकर ऐसा रूप बनता है। श्रुतदृष्टा=प्राक् श्रुता पश्चाद् दृष्टा, "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवला समानाऽधिकरणेन" इससे पूर्वकालसमास रमणीगुणा =रमण्या गुणा (ष० त०)। श्रुतिगामितया =श्रुत्योर्गच्छन्तीति श्रुतिगामिन , श्रुति+गम् +णिनि (उप०)। "श्रुति श्रोत्रे, तथाऽऽम्नाये, वर्तायां, श्रोत्रकर्मणो"ति विश्व । श्रुतिगामिना भाव तया, श्रुतिगामिन्=तल्+टाप् +टा । व्यति-भाते । वि+अति+भा+झ । पहलेके सूत्रसे आत्मनेपद और "आत्मने-

पदेऽवनतः" इससे 'ज्ञ' के स्थान में अत् और पहलेके समान 'टि'का एत्व भी। इस पद्य में "लोकयुगम्" "दृशौ" "रमणीगुणाः" इन सब प्रस्तुत पदार्थोंका व्यतिभान रूप एक क्रिया के साथ सम्बन्ध होनेसे तुल्योगिता और "व्यतिभाते" इसका एकवचन, द्विवचन और वहुवचन होनेसे वचनश्लेप भी है। अतः इनका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर है ॥ २२ ॥

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाऽञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—नलिनं मलिनं विवृण्वती, पृषतीम् अस्पृशती तदीक्षणे अञ्जनाऽञ्चिते (सती) खञ्जनम् अपि रुचिगर्वदुर्विधं विदधाते ॥ २३ ॥

व्याख्या—नलिनं=कमलं, मलिनं=मलीमसम्, असुन्दरमिति भावः, विवृण्वती=कुर्वाणे, स्वसौन्दर्याऽतिशयेनेति भावः। पृषती=मृगीम्, अस्पृशती =स्पर्शम् अपि अकुर्वती, नेत्रसौन्दर्यस्पर्धायां मृगमपि दूरात्परिहरती इति भावः। तदीक्षणे=दमयन्तीनयने, अञ्चनाञ्चिते=कज्जलपरिष्कृते सती, खञ्जनम् अपि=खञ्जरीटं पक्षिणम् अपि, रुचिगर्वदुर्विधं=सौन्दर्याऽभिमानदरिद्रं, विदधाते=कुर्वाते, दमयन्त्या नेत्रे सर्वथाऽप्यनुपमेये इति भावः ॥ २३ ॥

अनुवाद—कमलको मलिन बनाने वाले तथा (सौन्दर्यमें) मृगीका स्पर्श भी नहीं करते हुए दमयन्तीके नेत्र, कज्जलसे परिष्कृत होते हुए, खञ्जन पक्षी को भी सौन्दर्यसे अभिमानमें दरिद्र वना देते हैं ॥ २३ ॥

टिप्पणी—विवृण्वती=विवृणुत इति, वि+वृण्+लट् (शतृ)+ङीप् +औ। पृषतीं="हरिण्यां पृषती प्रोक्ता" इति रन्तिदेवः। अस्पृशती= स्पृशत इति स्पृशती, स्पृश+लट् (शतृ)+औ। न स्पृशती (नञ्०)। तदीक्षणे=तस्या ईक्षणे (ष० त०)। अञ्जनाऽञ्चिते=अञ्जनेन अञ्चिते (तृ० त०)। खञ्जनं="खञ्जरीटस्तु खञ्जनः" इत्यमरः। रुचिगर्वदुर्विधं =रुचेः गर्वः (ष० त०) तस्मिन् दुर्विधः तम् (स० त०) "निस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः" इत्यमरः। विदधाते=वि+धा+लट्+ आताम्। इस पद्यमें दमयन्तीके नेत्रोंके कमल आदिके मलिनीकरण आदिसे सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति और उपमानभूत नलिन आदिसे उपमेयभूत दमयन्तीके नेत्रोके आधिक्य वर्णनसे व्यतिरेक अलङ्कार, इस प्रकार दो अलङ्कारोंके अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ २३ ॥

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति भव्यमव्ययम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या रदनच्छदं वदत् ॥ २४ ॥

अन्वय —अधरबिम्बम् इति अदः पदम् अस्याः रदनच्छदं वदत् बिम्बनामकं फलम् अस्मात् अधरं खलु इति भव्यम् अव्ययं लभते ॥ २४ ॥

व्याख्या—अधरबिम्बम्=अधरबिम्बम् इत्यानुपूर्वीकम्, इति=एवम्, अदः=एतत्, पदं=शब्दः, अस्याः=दमयन्त्याः, रदनच्छदम्=ओष्ठं, वदत्=अभिदधत् प्रतिपादयदिति भावः । बिम्बनामकं=बिम्बाऽभिधेयं, फलं=सस्यम्, अस्मात्=दमयन्तीरदनच्छदात् अधरम्=अपकृष्टं, खलु=निश्चयेन, इति=अस्मात्कारणात्, भव्यम्=अबाधितम्, अन्वयं=पदार्थसंसर्गं, लभते=प्राप्नोति ॥ २४ ॥

अनुवाद—"अधरबिम्ब" यह पद दमयन्तीके ओष्ठका प्रतिपादन करता हुआ बिम्ब नामक फल दमयन्तीके ओष्ठसे अधर (निकृष्ट) है इस प्रकार अबाधित अन्वय (पदार्थसंसर्ग) को प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

टिप्पणी—रदनच्छदं=रदनानां छदः, तम् (ष० त०), "रदना दशना दन्ता रदाः" इति "ओष्ठाऽधरौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी" इति चाऽमरः । वदत्=वदतीति, वद+लट् (शतृ)+सु । बिम्बनामकं=बिम्बं नाम यस्य तत् (बहु०) । लभते=लभ+लट्+त । "अधरबिम्ब" यह पद दमयन्तीके ओष्ठका प्रतिपादन करनेके लिए अधरं बिम्बं (बिम्बफलम्) यस्मात्तत् इस प्रकार बहुव्रीहि समाससे अबाधित अन्वर्थ हो जाता है । अन्य स्त्रीके ओष्ठको कहनेके लिए 'अधरो बिम्बम् इव' इस प्रकार उपमितकर्मधारय समास करना चाहिए । आकारसे, रक्त वर्णसे और आस्वादसे उत्कृष्ट होनेसे दमयन्तीका ओष्ठ बिम्ब फलसे उत्कृष्ट है—यह तात्पर्य है । इस पद्यमें उपमानभूत बिम्ब फलसे उपमेयभूत दमयन्तीके ओष्ठके आधिक्यका वर्णन होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ २४ ॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २५ ॥

अन्वय —इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा हृतसारम् इव कृतमध्यबिलं धृतगम्भीरखनीखनीलिम विलोक्यते ॥ २५ ॥

व्याख्या—इन्दुमण्डलं=चन्द्रबिम्बं, दमयन्तीवदनाय=दमयन्तीवदनं निर्मातुं, वेधसा=ब्रह्मणा, हृतसारम् इव=गृहीतश्रेष्ठभागम् इव, कृतमध्य-

विलं=विहितान्तरच्छिद्रं, सत्, धृमगम्भीरखनीखनीलिम=धृतगभीरनिम्न-गर्ताकाशनैल्यं, विलोक्यते=दृश्यते। ब्रह्मणा दमयन्त्या मुखं निर्मातुं चन्द्र-विम्बात्सुन्दरभागो गृहीतः, अतो गृहीतसुन्दरभागे चन्द्रविम्बे छिद्रं सञ्जातं तत्राऽऽकाशस्य नीलिमा पतितः स एव चन्द्रस्य कलङ्क इति भावः। चन्द्रः सक-लङ्कः, दमयन्त्या मुखं निष्कलङ्कः। तस्माद्धेतोश्चन्द्रापेक्षया दमयन्तीवदनं मनोहरतरमिति भावः॥ २५॥

अनुवाद—ब्रह्माजीने दमयन्तीके मुखकी रचनाके लिए चन्द्रमण्डलसे श्रेष्ठ भागको हरण कर लिया। अतः उसमें (वीचमें) छेद पड़ गया। उसपर जो आकाशकी नीलिमा है वही कलङ्कके रूप में दिखाई दे रही है॥ २५॥

टिप्पणी—इन्दुमण्डलम्=इन्दोः मण्डलम् (प० त०)। दमयन्तीवदनाय= दमयन्त्या वदनं, तस्मै (प० त०), "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इससे चतुर्थी। हृतसारं—हृतः सारो यस्मात् तत् (बहु०)। कृतमध्यविलं= मध्ये विलम् (स० त०), कृतं मध्यविलं यस्य तत् (बहु०)। धृतगम्भीर-खनीखनीलिम=गम्भीरा चाऽसौ खनी (क० धा०), "खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्" इत्यमरः। "कृदिकारादक्तिनः' इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय होकर ईकारान्त भी खनी शब्द हो जाता है। यहांपर खनीका प्रसिद्ध अर्थ खान न होकर गर्त होता है। नीलस्य भावो नीलिमा, नील+इमनिच्, खस्य नीलिमा (ष० त०), गम्भीरखन्यां खनीलिमा (स० त०), धृतो गम्भीरखनी-खनीलिमा येन तत् (बहु०)। ब्रह्माजीने चन्द्रविम्बस्थ उत्कृष्ट भाग तो दमयन्ती का मुख बनानेके लिए निकाल लिया। तव उसके निम्न गर्तमें आका-शकी जो नीलिमा पड़ गई वही कलङ्कके रूपमें प्रसिद्ध है। चन्द्रमा में कलङ्क है दमयन्तीका मुख निष्कलङ्क होनेसे उससे उत्कृष्ट है यह तात्पर्य है। विलो-क्यते=वि+लोक+लट् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें कलङ्कका अपह्नव करके आकाशकी नीलिमाका आरोप करनेसे अपह्नुति, 'कृतमध्यविल' यहांपर पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग, 'हृतसारम् इव' यहांपर उत्प्रेक्षा, इस तरह अङ्गाङ्गि-भावसे सङ्कर। आकाश रूपरहित द्रव्य है। अतः उसमें महाकविने लोक-प्रसिद्धि के अनुसार नीलिमाका वर्णन किया है॥ २५॥

धृतलाञ्छनगोमयाऽञ्चनं विधुमालेपनपाण्डरं विधिः।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानकम्॥ २६॥

अन्वय—विधि घृतलाञ्छनगोमयाञ्चनम् आलेपनपाण्डर विधु विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानक भ्रमयति, उचितम् ॥ २६ ॥

व्याख्या—विधि =ब्रह्मा, घृतलाञ्छनगोमयाञ्चन=गृहीतमृगचिह्नगोमयसहलेपणम्, आलेपनपाण्डर=पिष्टोदकशुक्लवर्णं, तत्सदृशनिजकान्तिसुधाधवलित, विधुं=चन्द्रमस, विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानक=दमयन्तीमुखारातिकशराव, किरणदीपकलिकायुक्तमिति भाव । भ्रमयति=भ्रमण कारयति, उचित=योग्यम्, लोकोत्तरत्वादिति भाव । एव नीराजयन्तीति देशाऽऽचार ॥२६॥

अनुवाद—ब्रह्माजी गोमयके सदृश, कलङ्कसे युक्त और पिष्टजलके समान सफेद चन्द्रमाको दमयन्तीके मुखकी आरती उतारनेके लिए मृत्तिकापात्रके समान जो घुमाते हैं, वह उचित है ॥ २६ ॥

टिप्पणी—घृतलाञ्छनगोमयाञ्चन=गो पुरीष गोमय, 'गो' शब्दसे 'गोश्च पुरीषे' इस सूत्रसे मयट् प्रत्यय । गोमयेन अञ्चनम् (तृ० त०) । घृत लाञ्छनम् एव गोमयाञ्चन येन, तम् (बहु०) । आलेपनपाण्डरम्=आलेपनेन पाण्डर, तम् (तृ० त०) । विधु="विधु सुधाशु शुभ्राशु" इत्यमर । विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानक=विदर्भजाया आननम् (ष० त०), तस्य नीराजन (ष० त०), तस्य वर्द्धमानक, तत् (ष० त०) । "शरावो वर्द्धमानक" इत्यमर । भ्रमयति=भ्रम+णिच्+लट्+तिप् । "मिता ह्रस्व" इससे ह्रस्व हुआ है । जैसे लोकमें नीराजना करनेके लिए और दृष्टदोषको हटानेके लिए गोबर और पिष्टजलसे लेप करके वर्द्धमान (मिट्टीके पात्र) को घुमाते हैं, उसी तरह ब्रह्माजी दमयन्तीके मुखमें नीराजन करनेके लिए गोबरके समान कलङ्कसे युक्त और पिष्टजलके समान अपनी किरणसे सफेद चन्द्ररूप वर्धमान (मृतिकापात्र) को घुमाते हैं। चन्द्रमासे दमयन्तीका मुख सुन्दर है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें साङ्गरूपक और चन्द्रमाके भ्रमणका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णनकरनेसे अतिशयोक्ति है। इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर अलङ्कार है ॥ २६ ॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिल पद्ममभाजि तन्मुखात् ।
अधुनाऽपि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

अन्वय—सुषमाविषये परीक्षणे निखिल पद्मं तन्मुखात् अभाजि, (अत एव) अधुना अपि भङ्गलक्षण सलिलोन्मज्जन न उज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

व्याख्या—सुषमाविषये=परमशोभाविषये, परीक्षणे=परीक्षाया, जल-

दिव्यशोधने कृते सतीति भावः। निखिलं=समस्तं, पद्मं=कमलं, तन्मुखात्=दमयन्त्याननात्, अभाजि=अभञ्जि, स्वयमेव भग्नमभूदित्यर्थः। अत एव अधुना अपि=साम्प्रतम् अपि, भङ्गलक्षण=पराजयचिह्नं, सलिलोन्मज्जनं=जलादूर्ध्वभवनं, न उज्झति=न जहाति, स्फुटम्=इव, जलदिव्योन्मज्जनस्य पराजयचिह्नत्वस्मरणादिति भावः॥ २७॥

अनुवाद—परमशोभाकी परीक्षामें सम्पूर्ण कमल दमयन्तीके मुखसे हार गये, इसी कारणसे अव तक वे पराजयके चिह्नरूप जलसे उन्मज्जन नहीं छोड़ रहे हैं; ऐसा मालूम हो रहा है॥ २७॥

टिप्पणी—सुषमाविषये=सुषमा विषयो यस्मिन् तत्, तस्मिन् (बहु०)। "सुषमा परमा शोभा" इत्यमरः। तन्मुखात्=तस्या मुखं, तस्मात् (ष०त०)। अभाजि="भञ्जो आमर्दने" इस धातुसे कर्मकर्तामें लुङ्, "चिण्भावकर्मणोः" इससे चिण्, "भञ्जेश्च चिणि" इससे विकल्पसे 'न' का लोप, अतः एक पक्षमें "अभञ्जि" ऐसा भी रूप वनता है। भङ्गलक्षणं=भङ्गो लक्षणं यस्य तत् (बहु०)। सलिलोन्मज्जनं=सलिलात् उन्मज्जनं, तत् (प० त०)। उज्झति="उज्झ उत्सर्गे" धातुसे लट्+तिप। दमयन्तीका मुख और कमलमें से किसमें अधिक शोभा है इसकी परीक्षाके लिए जल दिव्य किया गया। उसमें कमल जलमें न डूबकर ऊपर उठा हुआ है, अत एव उसका पराजय हुआ है, दमयन्तीके मुखके समान उसमें शोभा नही है, इसकी यहाँपर उत्प्रेक्षा की गई है। जलदिव्यके विषयमें योगीश्वर याज्ञवल्क्यने लिखा है—

"समकालमिषुं मुक्तमानीयाऽन्यो जवी नरः।
गते तस्मिन्निमग्नाऽङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात्॥" २।१०९॥

इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, "स्फुटम्" यह पद उत्प्रेक्षाका वाचक है।

धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ।
नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः॥ २८॥

अन्वयः—तद्भ्रुवौ विश्वजयाय उदिते रतिपञ्चबाणयोः धनुषी, तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः रतिपञ्चबाणयोः नलिके न॥ २८॥

व्याख्या—तद्भ्रुवौ=दमयन्तीभ्रुवौ, विश्वजयाय=जगद्विजयाय, उदिते=उत्पन्ने, रतिपञ्चबाणयोः=रतिकामदेवयोः, धनुषी=चापौ, ध्रुवम्। एवं च तदुच्चनासिके=दमयन्त्युन्नतनासाच्छिद्रे, त्वयि=भवति, नालीकविमुक्ति-

कामयो = बाणप्रहारार्थिनो, रतिपञ्चबाणयो = रतिकामदेवयो, नलिके न= शराऽऽधारनलौ न ? अपि तु नलिके एवेति भाव । दमयन्त्या भ्रूनासिक दृष्ट्वा सर्वोऽपि कामवशो भवतीति तात्पर्यम् ॥ २८ ॥

अनुवाद—दमयन्तीकी भौंहे जगत्को जीतनेके लिए उत्पन्न रति और कामदेवके धनुष हैं क्या ? उसकी ऊँची नासिकाके दो छिद्र आपमे बाण छोडने-की इच्छा करने वाले रति और कामदेवकी नलियाँ तो नही है ॥ २८ ॥

टिप्पणी—तद्भ्रुवौ = तस्या भ्रुवौ (ष० त०)। विश्वजयाय = विश्वस्य जय, तस्मै (ष० त०), "तुमर्थाच्च भाववचनात" इससे चतुर्थी । उदिते = उद् + इण् + क्त + डि । रतिपञ्चबाणयो = पञ्च बाणा यस्य स (बहु०)। पाँच बाण होनेके कारण कामदेवको "पञ्चबाण" या "पञ्चशर" कहते हैं, पाँच बाण जैसे—

"अरविन्दमशोक च चूत च नवमल्लिका ।
नीलोत्पल च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायका ॥"

अर्थात् कमल, अशोक पुष्प, आमका फूल, नवमल्लिका और नीलकमल—ये पाँच प्रकार के पुष्प कामदेव के बाण हैं। रतिश्च पञ्चबाणश्च रतिपञ्चबाणौ, तयो (द्वन्द्व०)। तदुच्चनासिके = उच्चे च ते नासिके (क० धा०)। नासिकाके छिद्रोके द्वित्वसे नासिकामे द्विवचन किया गया है। तस्या उच्चनासिके (ष० त०) त्वयि = विषयमे सप्तमी। नालीकविमुक्तिकामयो = विमुक्ति कामयेते इति विमुक्तिकामौ, विमुक्ति-उपपदपूर्वक "कमु कान्तौ" धातुसे "शीलिकामि-भक्ष्याचरिभ्यो ण" इस सूत्रसे ण प्रत्यय (उपपद०)। नालीकाना विमुक्ति-कामौ, तयो (ष० त०)। "नालीक पद्मखण्डे स्त्री, नालीक शरशल्ययो" इति विश्व । यहाँपर भ्रूयुग्ममे धनुर्युग्मका आरोप होनेसे पूर्वार्द्धमे रूपक और उत्तरार्द्धमे नलिकामे नासिकात्वकी सभावना करनेसे उत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ २८ ॥

सदृशी तव शूर ! सा पर जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा ।
अपि मित्रजुषा सरोरुहा गृहयालु करलीलया श्रिय ॥ २९ ॥

अन्वय —हे शूर ! जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा मित्रजुषाम् अपि सरोरुहा श्रिय करलीलया गृहयालु स तव पर सदृशी ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे शूर = हे वीर !, जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा = सलिलदुर्गस्थ-बिसजयिबाहु, सा = दमयन्ती, मित्रजुषाम् अपि = अर्कसेविना, सुहृत्सहायसम्प-

न्नानाम् अपि, सरोरुहां=कमलानां, श्रियः=शोभाः, सम्पदश्च, करलीलया= हस्तविलासेन, बलिग्रहणेन च, गृहयालुः=ग्रहणशीला, सा=दमयन्ती, तव= भवतः, परम्=अत्यर्थं, सदृशी=तुल्या, दमयन्त्या भुजौ मृणालादपि कोमलौ, दमयन्त्याः पाणिः कमलादपि मनोहर इति भावः ॥ २९ ॥

अनुवाद—हे वीर ! जलरूप किलेमें रहनेवाले कमलको जीतनेवाली बांहों-वाली वह (दमयन्ती) सूर्यकी सेवा करनेवाले वा मित्रसहायसे सम्पन्न कमलों-की शोभा वा सम्पत्तियोंको हाथके विलाससे वा करग्रहणके रूपमें लेनेवाली, आपके लिए अत्यन्त योग्य है ॥ २९ ॥

टिप्पणी—शूरः="शूरो वीरश्च विक्रान्तः" इत्यमरः । जलदुर्गस्थमृणाल-जिद्भुजा=जलम् एव दुर्गः (रूपक०); तस्मिन् तिष्ठन्तीति जलदुर्गस्थानि, जलदुर्ग+स्था+कः (उपपद०), तानि च तानि मृणालानि (क० धा०), तानि जयत इति जलदुर्गस्थमृणालजितौ, जलदुर्गस्थमृणाल+जि+क्विप् । तादृशौ भुजौ यस्याः सा (बहु०), मित्रजुषां=मित्रं जुषन्त इति मित्रजूंषि तेषाम्, मित्र+जुष्+क्विप् । मित्र पदका अर्थ यहाँपर सूर्य और सुहृद् है । "मित्रं सुहृदि, मित्रोऽर्कः" इति विश्वः । सरोरुहां=सरसि रोहन्तीति सरो-रुंहि, तेषां, सरस्+रुह्+क्विप् (उपपद०)+आम् । श्रियः="श्रीलक्ष्मी-वेशसम्पत्सु भारतीशोभयोरपि" इति त्रिकाण्डशेषः । "गृहयालुः" इस कृदन्त-पदके योगमें "कर्तृकर्मणोः कृतिः" इससे प्राप्त षष्ठीका "न लोकाऽव्ययनिष्ठा-खलर्थतृनाम्" इससे निषेध होनेसे कर्ममें द्वितीया । करलीलया=करयोः अथवा कराणां लीला, तया (ष० त०), "बलिहस्तांऽशवः कराः" इति "लीला विलासक्रिययोः" इति चामरः । गृहयालुः=गृहयते इति, "गृह ग्रहणे" इस चौरादिक धातुसे "स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्" इस सूत्रसे आलुच् प्रत्यय । "गृहयालुर्ग्रहीतरि" इत्यमरः । जो जलरूप किलेमें रहनेवाले मृणालोंको भी अपने बाहुसे जीतती हैं और जो सूर्यका अथवा मित्रका आश्रय लेनेवाले कमलोंकी शोभा वा सम्पत्तिको भी अपने हाथोंके विलाससे अथवा करके रूपमेंसे ग्रहण करती है— ऐसी वीर नारी आप जैसे वीरके लिए बहुत ही योग्य है—यह तात्पर्य है । इस पद्यमें दमयन्ती और नलरूप योग्य व्यक्तियों-की अनुरूपतासे श्लाघा होनेसे "सम" अलङ्कार है, जैसे कि "समं स्यादानु-रूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनोः ।" सा० द० १०–९२ । मित्र, कर, लीला और श्री का सूर्य, बलि, क्रिया और सम्पत्तिसे भेद होनेपर भी श्लेषसे अभेदका

अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है। अतएव इनका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ २९ ॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाऽभिविधिं विधित्सुनी ।
विधिनाऽपि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः ॥ ३० ॥

अन्वयः—सुदृशि स्वाऽभिविधिं विधित्सुनी शिशुतातदुत्तरे वयसी विधिना रोमरेखया प्रविभज्य कृतसीम्नी अपि न रज्यतः ॥ ३० ॥

व्याख्या—सुदृशि = सुलोचनायाम्, सुन्दर्यां दमयन्त्यामिति भावः । स्वाऽभिविधिं = निजव्याप्तिं, विधित्सुनी = विधातुम्, इच्छन्ती, शिशुतातदुत्तरे = बाल्य यौवने, वयसी = अवस्थे, विधिना = ब्रह्मणा, सीमाभिज्ञेनेति भावः । रोमरेखया = लोमपङ्क्त्या, सीमाचिह्नेनेति भावः । प्रविभज्य = प्रविभागं कृत्वा, रोमोत्पत्तेः पूर्वमत्र शैशवेन स्थातव्यं, ततः परं यौवनेनेति कालतो विभागं कृत्वेति भावः । कृतसीम्नी अपि = विहितमर्यादे अपि = न रज्यतः = न सन्तुष्यतः, रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भावः । एतेन वयःसन्धिरुक्तः ॥ ३० ॥

अनुवाद—सुन्दरी दमयन्तीमें अपनी प्रभुताको रखनेकी इच्छा करनेवाली बचपन और जवानी अवस्थाएँ ब्रह्माजीके रोमकी रेखासे विभाग करके मर्यादा करनेपर भी सन्तुष्ट नहीं होती हैं ॥ ३० ॥

टिप्पणी—सुदृशि = शोभने दृशौ यस्याः सा सुदृक्, तस्याम् (बहु०) । स्वाऽभिविधिं = स्वस्य अभिविधिः, तम् (ष० त०) । विधित्सुनी = विधातुमिच्छुनी, वि + धा + सन् + उ + औ । शिशुतातदुत्तरे = शिशोर्भावः शिशुता, शिशु + तल् + टाप् । तस्या उत्तरम् (ष० त०) । शिशुता च तदुत्तरं (यौवनम्) च (द्वन्द्व), वयसी = "खगबाल्यादिनोर्वयः" इत्यमरः । रोमरेखया = रोम्णां रेखा तया (ष० त०) । प्रविभज्य = प्र + वि + भज् + क्त्वा (ल्यप्) । कृतसीम्नी = कृता सीमा ययोस्ते (बहु०) । रज्यतः = "रञ्ज रागे" धातुसे लट् + तस् । "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" इससे नकारका लोप । इस पद्यमें प्रस्तुत वयोविशेषके साम्यसे अप्रस्तुत विवादकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ३० ॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम् ।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥ ३१ ॥

अन्वयः—कान्तिझरैः अगाधतां गमिते तद्वपुषि प्रसर्पतोः स्मरयौवनयोः द्वयोः अपि उभौ कुचौ प्लवकुम्भौ भवतः खलु ॥ ३१ ॥

व्याख्या—श्लोकत्रयेण पयोधरौ वर्णयति–अपीति। कान्तिझरैः=लावण्यप्रवाहैः, अगाधताम्=अतलस्पर्शताम्, दुरवगाहतामिति, भावः। गमिते=प्रापिते, तद्वपुषि=दमयन्तीशरीरे, प्रसर्पतोः=प्रसर्पणं कुर्वतोः, प्लवमानयोरिति भावः। स्मरयौवनयोः=कामतारुण्ययोः, द्वयोरपि=उभयोरपि, उभौ=द्वौ, कुचौ=पयोधरौ, प्लवकुम्भौ=तरणकलशौ, भवतः=विद्येते, खलु=निश्चयेन, लोकेऽपि तरद्भिरनिमज्जनाय कुम्भादिकमाश्रीयते इति प्रसिद्धम् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—लावण्यके प्रवाहोंसे अतलस्पर्शी दमयन्तीके शरीरमें, तैरते हुए कामदेव और तारुण्य दोनोंको दमयन्तीके दोनों कुच तैरनेके लिए घड़े हो रहे हैं ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—कान्तिझरैः=कान्तीनां झरा, तैः (ष० त०) "वारिप्रवाहो निर्झरो झरः" इत्यमरः। गमिते=गम्+णिच्+क्त+ङि। तद्वपुषि=तस्या वपुः, तस्मिन् (ष० त०)। प्रसर्पतोः=प्रसर्पत इति प्रसर्पति, तयोः, प्र+सृप्+लट् (शतृ)+ओस्। स्मरयौवनयोः=स्मरश्च यौवनं च स्मरयौवने, तयोः (द्वन्द्वः)। प्लवकुम्भौ=प्लवस्य कुम्भौ (ष० त०)। इस पद्यसे दमयन्तीके शरीरमें कान्तिकी प्रचुरता, कामदेव और यौवनका प्रादुर्भाव और दमयन्तीके कुचोंका विस्तार ऐसे अर्थ सूचित होते हैं। दमयन्तीके कुचोंमें कामदेव और यौवनके प्लवनकुम्भत्वकी उत्प्रेक्षासे कुचोंकी अतिशय वृद्धि व्यङ्ग्य होती है। इस प्रकार अलङ्कार से वस्तुध्वनि है ॥ ३१ ॥

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—निजहेतुदण्डजः चक्रभ्रमकारितागुणः कलसे किमु? यत् स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रमम् आतनोति ॥ ३२ ॥

व्याख्या—निजहेतुदण्डजः=स्वकारणदण्डजन्यः, चक्रभ्रमकारितागुणः=कुलालभाण्डभ्रमणजनकत्वधर्मः, कलसे किमु=दण्डकार्यरूपे घटे किम्, सङ्क्रान्त इति शेषः। यत्=यस्मात् कारणात्, सः=कलसः, तदुच्चकुचौ=दममन्त्युन्नतपयोधरौ भवन्=सन्, दमयन्तीकुचस्वरूपेण परिणतः सन्निति भावः। प्रभाझरचक्रभ्रमं=प्रभाझरे (लावण्यप्रवाहे) चक्रभ्रमम् (चक्रवाकभ्रान्ति, कुलालदण्डभ्रमणं च), आतनोति=प्रकरोति ॥ ३२ ॥

अनुवाद—अपने कारण दण्डसे उत्पन्न चक्र भ्रमणकारकत्वस्वरूप गुण कलशरूप कार्यमें सक्रान्त हुआ है क्या ? जिस कारणसे कि वह (कलस) दमयन्तीके उच्च कुचोंके स्वरूपमें परिणत होता हुआ लावण्यके प्रवाहमें चक्रवाककी भ्रान्ति या कुम्भकारके दण्डभ्रमणको कर रहा है ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—निजहेतुदण्डज = निजश्चासौ हेतु (क० धा०) स चासौ दण्ड (क० धा०), तस्माज्जात, निजहेतुदण्ड + जन् + ड । चक्रभ्रमकारितागुण = भ्रमण भ्रम, "भ्रमु अनवस्थाने" धातुसे "भावे" इस सूत्रसे भावमें घञ्, और "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमे" इस सूत्रसे वृद्धि का निषेध । "भ्रमोऽम्बुनिर्गमे भ्रान्तौ कुविन्दभ्रमयोरपि" इति मेदनी । चक्रस्य भ्रम (ष० त०) 'चक्रो गणे चक्रवाके चक्र सैन्यरथाऽङ्गयो । ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्राऽस्त्रयोरपि" इति विश्व । चक्रभ्रम करोतीति तच्छील चक्रभ्रमकारी, चक्रभ्रम + कृ + णिनि + सु (उपपद०) चक्रभ्रमकारिणो भाव चक्रभ्रमकारिता, चक्रभ्रमकारिन् + तल + टाप् । सा एव गुण (रूपक०) "गुण प्रधाने रूपादौ" इत्यमर । तदुच्चकुचौ = उच्चौ च तौ कुचौ (क० धा०) । तस्या उच्चकुचौ (ष० त०) । भवन् = भवतीति, भू + लट् + शतृ + सु । प्रभाझरचक्रभ्रम = प्रभाणा झर (ष० त०), चक्रस्य भ्रम (ष० त०) प्रभाझरे चक्रभ्रम, तम् (स० त०) चक्रवाकभ्रान्ति कुलालदण्डभ्रमण च । आतनोति = आङ् + तनु + लट् + तिप् ।

महाकविने इस पद्यमें न्यायशास्त्रमें अपनी अभिज्ञता दरसाई है । न्यायशास्त्र के अनुसार कारणके तीन भेद होते हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण । जिसमें समवाय सम्बन्धसे विद्यमान होकर कार्य उत्पन्न होता है उसे 'समवायिकारण" कहते हैं, जैसे घटका कपाल समवायिकारण है, वेदान्ती इसे ही "उपादान कारण" कहते हैं । समवायिकारण द्रव्य ही होता है । घटका कपालद्वयसयोग "असमवायिकारण" है । असमवायिकारण गुण या कर्म होता है, द्रव्य नहीं । समवायिकारण और असमवायिकारणसे भिन्न कारणको निमित्तकारण कहते हैं, जैसे घटका कुलाल, दण्ड आदि निमित्त कारण हैं । "कारणगुणा कार्यगुणानारभन्ते" अर्थात् कारणके गुण कार्यके गुणोंको बनाते हैं । जैसे कि पटका तन्तु समवायिकारण है, शुक्ल तन्तु शुक्ल पटका और कृष्ण तन्तु कृष्ण पटका निर्माण करते हैं यह नियम मात्र समवायिकारणमें चरितार्थ होता है असमवायिकारण और निमित्तकारणमें

नहीं। परन्तु कलश (घट) दमयन्तीके कुचस्वरूपमें परिणत होकर लावण्य-प्रवाहमें जो कुलालचक्रका भ्रम उत्पन्न कर रहा है सो उस कलशमें उसके हेतु (निमित्तकारण) दण्डसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। दमयन्तीके कुचकलशमें चक्रवाककी भ्रान्ति होती है, यह दूसरा अर्थ भी होता है। इस प्रकार दमयन्तीके कुचकलशका निमित्तकारण कुलालचक्रका भ्रम कार्यभूत दमयन्तीके कुचकलशमें भी देखा जाता है; यह तात्पर्य है।

इस पद्यमें "तदुच्चकुचो भवन्" इस अंशमें रूपक, पूर्वार्द्धमें उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमें उत्प्रेक्षा के वाचक 'इव' आदि शब्दोंके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और चक्रका कुलालभाण्ड और चक्रवाक, भ्रमका भ्रमण और भ्रान्ति इनमें भेद होने पर भी श्लेषकी महिमासे अभेद अध्यवसाय होनेसे दो अतिशयोक्तियाँ हैं, इस प्रकारसे सङ्कर हैं ॥ ३२ ॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—दमस्वसुः चिकुरैः निर्मितबर्हगर्हणः शिखी षण्मुखं भजते खलु। दमस्वसुः कुचशोभया जितकुम्भः इभराट् अपि जम्भरिपुं भजते खलु ॥ ३३ ॥

व्याख्या—दमस्वसुः=दमभगिन्याः, दमयन्त्या इत्यर्थः। चिकुरैः=केशकलापैः, निर्मितबर्हगर्हणः=कृतपिच्छनिन्दः, शिखी=मयूरः, षण्मुखं=षडाननं, कार्तिकेयमित्यर्थः, भजते=आश्रयते, खलु=निश्चयेन। तथैव दमस्वसुः=दमयन्त्याः, कुचशोभया=पयोधरकान्त्या, जितकुम्भः=पराजितमस्तकपिण्डः, इभराट् अपि=ऐरावतः अपि, जम्भरिपुं=जम्भभेदिनम् इन्द्रमित्यर्थः, भजते=आश्रयते, खलु=निश्चयेन, उभयत्रापि भीत्या उत्कर्षप्राप्तीच्छया वेति बोद्धव्यम् ॥ ३३ ॥

अनुवाद—दमयन्तीके केशकलापोंसे पिच्छोंका तिरस्कार किये जानेसे मयूरने कार्तिकेयका आश्रय लिया है। उसी प्रकार दमयन्तीके कुचोंकी कान्तिसे मस्तकपिण्डोंके परास्त होनेसे ऐरावत हाथीने भी इन्द्रका आश्रय लिया है ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—दमस्वसुः=दमस्य स्वसा, तस्याः (ष० त०)। निर्मितबर्हगर्हणः=बर्हाणां गर्हणा (ष० त०), "पिच्छबर्हे नपुंसके" इत्यमरः। निर्मिता बर्हगर्हणा यस्य सः (बहु०)। शिखी=शिखा (चूडा) अस्यास्तीति, शिखाशब्दसे "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि। "शिखावलः शिखी केकी" इत्यमरः।

षण्मुख=षट् मुखानि यस्य सः, तम् (बहु०) "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" इससे अनुनासिक ण आदेश, एक पक्षमें "षड्मुखम्"। "कार्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः" इत्यमर। भजते="भज सेवायाम्" धातुसे लट्+त। कुचशोभया=कुचयोः शोभा, तया (ष० त०)। जितकुम्भ=जितौ कुम्भौ यस्य स (बहु०)। इभराट्=राजति इति राट्, "राजृ दीप्तौ" धातुसे "सत्सूद्विष०" इत्यादि सूत्रसे क्विप् प्रत्यय। इभानां राट् (ष० त०)। जम्भरिपु=जम्भस्य रिपु, तम् (ष० त०), "जम्भभेदी हरिहयः स्वाराण् नमुचिसूदनः" इत्यमर। इस पद्यमें "भजते" इस एक क्रियामें अप्रस्तुत विधी और इभराट् इनका कर्तृत्वसे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता, षण्मुख और जम्भरिपुके भजनके प्रति निमित्तबर्हग्रहणत्व और जितकुम्भत्वकी हेतुतासे पदार्थहेतुक दो काव्यलिङ्ग तथा वैसे हेतुसे भजनद्वयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका प्रतिपादन करनेसे अतिशयोक्तियाँ हैं, इस प्रकार इन अलङ्कारोंमें सङ्कर है ॥ ३३ ॥

उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना।
चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥ ३४ ॥

अन्वय—दमस्वसुः उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतम् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—दमस्वसुः=दमयन्त्याः, उदरं=जठरं, नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन = निम्नमध्यप्रदेशपश्चाद्भागतास्फुटीभवदङ्गुष्ठाङ्गुलिन्यासस्थानेन, मुष्टिना=सम्पीडिताङ्गुलिपाणिना, चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि= अङ्गुलिचतुष्टयाऽन्तरालनिःसृतवलित्रयशोभि, कृतं=विहितं, कौतुकिना विधिनेति शेषः। मुष्टिग्राह्यमध्येयं दमयन्तीति भावः ॥ ३४ ॥

अनुवाद—दमयन्तीका पेट, ब्रह्माजीने पीठका मध्यभाग नत होनेसे अंगूठेका स्थान व्यक्त होनेवाली मुट्ठीसे चार अंगुलियोंके बीचसे निकली हुई तीन उदररेखाओंसे शोभित बनाया है ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—दमस्वसुः=दमस्य स्वसा, तस्याः (ष० त०)। उदरं= "पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दम्" इत्यमर। नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन= नतं मध्यं यस्य तत् (बहु०), "मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री" इत्यमरः। नतमध्यं पृष्ठं यस्य (उदरस्य) तत् (बहु०), तस्य भावः तत्ता, (नतमध्यपृष्ठ+तल्+टाप्)। स्फुरत् अङ्गुष्ठपदं यस्य सः (बहु०)। नतमध्य-

पृष्ठतया स्फुरदङ्गुष्ठपदः, तेन (तृ० त०)। चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि =चतसृणाम् अङ्गुलीनां समाहारः चतुरङ्गुलम्, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इससे समास "सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः" इससे उसकी द्विगुसञ्ज्ञा, "स नपुंसकम्" इससे नपुंसकलिङ्गता और "तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः सङ्ख्याऽव्ययादेः" इस सूत्रसे समासाऽन्त अच् प्रत्यय। चतुरङ्गुलस्य मध्याः (ष० त०)। चतुरङ्गुलमध्येभ्यो निर्गतम् (ष० त०)। तिसृणां वलीनां समाहारः त्रिवलि, पहलेके समान द्विगुसमास आदि कार्य। चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतं च तत् त्रिवलि (क० धा०) तेन भ्राजते तच्छीलं, चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलि + भ्राज् + णिनि + सु (उपपद०)। कृतं=कृ+क्त (कर्ममें)। दमयन्तीकी कमर मुट्ठीसे ग्रहण करने योग्य (पतली) है। मुट्ठीसे ग्रहण करनेसे अंगूठेसे प्रेरणा करनेसे पीठके बीच में नम्रता और पेटमें चार अंगुलियोंसे प्रेरणा करनेसे तीन उदररेखाओंके आविर्भावकी उत्प्रेक्षा होती है। उत्प्रेक्षावाचक शब्द 'इव' आदिके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

उदरं परिमातु मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु ?
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—कः अपि कुतुकी दमस्वसुः उदरं मुष्टिना परिमाति किमु ? यत् सहेमकाञ्चिभिः वलिभिः धृततच्चतुरङ्गुलि इव भाति ॥ ३५ ॥

व्याख्या—प्रकारान्तरेण उदरमेव वर्णयति—उदरमिति। कः अपि= अज्ञातनामधेयो जनः कुतुकी=कुतूहली सन्, दमस्वसुः=दमयन्त्याः। उदरं= जठरं, मुष्टिना=सम्पीण्डिताऽङ्गुलिपाणिना, परिमाति किमु=परिच्छिनत्ति किम् ?, यत्=यस्मात्कारणात्, सहेमकाञ्चिभिः=सुवर्णमेखलासहिताभिः, वलिभिः=तिसृभिः उदररेखाभिः, धृततच्चतुरङ्गुलि इव=धृतपरिमात्रङ्गुली-चतुष्टयम् इव, भाति=शोभते ॥ ३५ ॥

अनुवाद—कोई पुरुष कुतूहलसे युक्त होकर दमयन्ती के पेटको मुट्ठीसे मापता है क्या ? जो कि सुवर्णमेखला के साथ तीन उदररेखाओंसे दमयन्तीका पेट, नापनेवाले की चार अंगुलियोंके निशानसे युक्तके समान मालूम पड़ता है ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—कुतुकी=कुतुकम् अस्याऽस्तीति, कुतुक+इनि। "कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कुतूहलम्" इत्यमरः। परिमाति=परि—उपसर्गपूर्वक "माङ् माने" धातुसे लट्। किमु=यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है। सहेम-

काञ्चिभिः=हेम्नः काञ्चिः (ष० त०)। तया सहिताः सहेमकाञ्चयः, ताभिः (तुल्ययोगबहु०)। धृततच्चतुरङ्गुलि=चतुःसङ्ख्यका अङ्गुल्यः चतुरङ्गुल्यः (मध्यमपदलोपी स०), तस्य (परिमातुः) चतुरङ्गुल्यः (ष० त०) धृता तच्चतुरङ्गुल्यो येन तत् (बहु०)। तीन उदररेखाएँ और चौथी हेमकाञ्ची (सुवर्णमेखला) इस प्रकार मापनेवालेकी मुट्ठीकी चार अङ्गुलियोंके समान प्रतीति होती हैं, यह तात्पर्य है। पहलेके पद्यमें तीन उदररेखाओंकी चार अङ्गुलियोंके मध्यसे निकलनेकी उत्प्रेक्षा की गई है, इसमें काञ्चीसे युक्त उन्हीं उदररेखाओंकी अङ्गुलिचतुष्टयरूपमें उत्प्रेक्षा की गई है, यह भेद है। इस पद्य में दो उत्प्रेक्षाओंका सङ्कर है ॥ ३५ ॥

पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया ।
विधिरेकचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृत् विधिः मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया एकक-चक्रचारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति किमु ॥ ३६ ॥

व्याख्या—पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृत्=विशालवृत्तदमयन्तीकटिपश्चाद्भागनिर्माता, विधिः=ब्रह्मा, मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया=रविरथनिर्माणाऽभ्यासपाटवेन, एककचक्रचारिणम्=एकाकिरथाऽङ्गचरणशीलं, मान्मथं=मन्मथसम्बन्धिनं, रथं=स्यन्दनं, निर्मित्सति किमु=निर्मातुम् इच्छति किम्?, ब्रह्मा सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एकचक्रं रथं निर्मातुमिच्छति किम्? इति भावः ॥ ३६ ॥

अनुवाद—विशाल और गोल दमयन्तीके नितम्बको बनानेवाले ब्रह्माजी सूर्यके रथके निर्माणकी अभ्यासपटुतासे एक ही चक्रसे चलनेवाले कामदेवके रथको बनाना चाहते हैं क्या ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृत्="पृथुश्चाऽसौ वर्तुलः" (क० धा०), "विशङ्कटं पृथु बृहद्विशालम्" इति "वर्तुलं निस्तलं वृत्तम्" इत्यप्यमरः। तस्याः नितम्बः (ष० त०), "पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः" इत्यमरः। पृथुवर्तुल-श्चाऽसौ तन्नितम्बः (क० धा०), तं करोतीति, पृथुवर्तुलतन्नितम्ब+कृ+क्विप्+सु (उपपद०)। मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया=मिहिरस्य स्यन्दनः (ष० त०), तस्य शिल्पं (ष० त०), तस्य शिक्षा, तया (ष० त०)। एककचक्रचारिणम्=एकम् एव एककम् 'एक' शब्दसे 'एकादाकिनिच्चाऽसहाये' इस सूत्रसे कन् प्रत्यय, 'एकाकी त्वेक एककः' इत्यमरः। एककं च तत् चक्रं (क० धा०), तेन चरतीति तच्छीलः, तम्, एककचक्र+चर+णिनि+

अम् (उपपद०) । मान्मथं=मन्मथस्य अयं मान्मथः, तम्, मन्मथ शब्दसे 'तस्येदम्'इस सूत्रसे अण् और 'तद्धितेष्वचामादेः' इस सूत्रसे आदिवृद्धि । निर्मित्सति=निर्–उपसर्गपूर्वक-माङ् धातुसे सन्+लट्+तिप् । 'सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस्' इससे इस् आदेश 'सः स्यार्धधातुके' इससे सकार के स्थानमें तकार आदेश और 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इस सूत्रसे अभ्यासका लोप होता है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३६ ॥

तरुमूरुयुगेण सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम् ।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदाऽपत्यतपःफलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सुन्दरी परिणाहिना ऊरुयुगेण रम्भां तरुं परं जिष्णुः किमु ? धनदाऽपत्यतपःफलस्तनीं तां तरुणीम् अपि जिष्णुः एव ॥ ३७ ॥

व्याख्या—सुन्दरी=रुचिराऽङ्गी, दमयन्तीत्यर्थः । परिणाहिना=विपुलेन, ऊरुयुगेण=सक्थियुग्मेन, रम्भां=रम्भां नाम, तरुं=वृक्षं, परं=केवलं, जिष्णुः=जयशीला इति, किमु=किं वक्तव्यम्, अपि तु धनदाऽपत्यतपःफलस्तनीं—कुवेरपुत्रतपःफलभूतकुचां, तां=प्रसिद्धां रम्भां, तरुणीम् अपि=युवतीम् अपि, जिष्णुः एव=जयशीला एव । दमयन्ती ऊरुसौन्दर्येण न रम्भां नाम तरुमेव रम्भां नामाऽप्सरोविशेषमपि जितवतीति भावः ॥ ३७ ॥

अनुवाद—सुन्दरी दमयन्तीने विशाल दोनों ऊरुओंसे रम्भा (केला) नामके पेड़को जीत लिया यह क्या कहना है ? कुवेरके पुत्र नलकूबरकी तपस्याके फलभूत स्तनोंवाली रम्भा नामकी तरुणीको भी जीत ही लिया है ॥३७॥

टिप्पणी—सुन्दरी=सुन्दर शब्द से स्त्रीत्वविवक्षामें 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इन सूत्रसे ङीप् । परिणाहिना=परिणाहः अस्याऽस्तीति परिणाहि, तेन, परिणाह+इनि+टा । 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः । ऊरुयुगेण=ऊर्वोर्युगं, तेन (ष० त०), 'कुमति च' इससे नकारके स्थानमें णत्व । 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः । रम्भां='रम्भा कदल्यप्सरसोः' इति विश्वः । 'रम्भा' शब्दसे 'जिष्णुः' पदके योगमें 'कर्तृकर्मणोः कृति' इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठीकी प्राप्ति थी, 'न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इससे उसका निषेध होनेसे कर्ममें द्वितीया । जिष्णुः=जयशीला, 'जि' धातुसे 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इस सूत्रसे ग्स्नु प्रत्यय । धनदाऽपत्यतपःफलस्तनी=धनं ददातीति धनदः, धन+दा+कः (उपपद०) । 'मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनाऽधिपः'' इत्यमरः धनदस्य अपत्यं (ष०त०) तस्य तपः (ष० त०) । फले इव स्तनौ यस्याः सा फलस्तनी (बहु०) ।

घनदाऽप्यथतपस फलस्तनी, ताम् (ष० त०)। रम्भे इव अथवा रम्भाया इव ऊरू यस्या सा, बहुव्रीहि अथवा व्यधिकरणबहुव्रीहि दोनो समासोसे दमयन्ती "रम्भोरु" है अर्थात् दमयन्तीके ऊरु कदलीस्तम्भोके वा रम्भा अप्सरा के समान हैं। अत वह 'रम्भोरु' पदसे वाच्य है—यह तात्पर्य है। इस पद्यमे पूर्वार्द्धमें अर्थापत्ति और उत्तरार्द्धमे दमयन्तीके ऊरुओसे रम्भा (कदली) और रम्भा अप्सराके जयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति है। इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ३७॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतु ।
ध्रुवमेत्य रुत सहसकीकुरुतस्ते विधिपत्त्रदम्पती ॥ ३८॥

अन्वय —ये जलजे रविसेवया इव एतत्पदता पदम् अवापतु, ते विधिपत्त्र-दम्पती एत्य रुत सहसकीकुरुत ध्रुवम् ॥ ३८॥

व्याख्या—पद्यद्वयेन दमयन्तीचरणौ वर्णयति—जलजे इति। ये जलजे=द्वे पद्मे, रविसेवया इव=सूर्योपासनया इव, एतत्पदता=दमयन्तीचरणताम् एव, पद=स्थानम् प्रतिष्ठामिति भाव। अवापतु=प्रापतु। ते=द्वे पद्मे, विधिपत्त्रदम्पती=ब्रह्मवाहनजम्पती, ब्रह्मवाहनभूतौ हंसीहंसाविति भाव। एत्य=आगत्य, रुत=रवात्, कूजनादित्यर्थ। अथवा रुत=कूजत। सहसकीकुरुत=पादकटकयुक्ते हंसयुक्ते च कुरुत, ध्रुवम्=इव। द्वे कमले सूर्यसेवया इव दमयन्तीचरणरूपा प्रतिष्ठा प्रापतु। दमयन्त्याश्चरणौ कमलसदृशा-विति भाव। यत्र कमल तत्र हस आगच्छति इति उभयो सहस्थित्या कमल-सदृशौ दमयन्तीचरणौ "सहसकीकुरुत" इति शब्देन पादकटकयुक्तौ अथवा हसयुक्तौ च कुरुत इव॥ ३८॥

अनुवाद—दो कमलोने मानो सूर्यकी उपासनासे दमयन्तीके चरणरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त कर लिया। इन दो कमलोको ब्रह्माके वाहन हसी और हस आकर शब्दसे मानो सहसक पादकटकोसे या हसोसे युक्त बनाते हैं॥ ३८॥

टिप्पणी—जलजे=जले जाते, जल+जन्+ड+औ (उपपद०), रवि-सेवया=रवे सेवा, तया (ष० त०)। एतत्पदताम्=पदयोर्भाव पदता, पद+तल्+टाप्। 'पद व्यवसितित्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमर। एतस्या पदता, ताम् (ष० त०)। अवापतु=अव+आप्+लिट्+तस् (अतुस्)। ते=यह "जलजे" का सर्वनाम कर्म है। विधिपत्त्रदम्पती=

विधे पत्त्रं (ष० त०), "सर्वं स्याद्वाहनं यानं युग्मं पत्त्रं च धारणम्" इत्यमरः । जाया च पतिश्च दम्पती (द्वन्द्व,), 'राजदन्तादिषु परम्' इस सूत्रसे 'जाया' शब्दका 'दम्' भावका निपातन, "दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ" इत्यमरः । विधिपत्त्रे च ते दम्पती (क० धा०) । एत्य=आङ्+इण् +क्त्वा (ल्यप्) । रुतः=रवणं रुत्, तस्याः "रु शब्दे" धातुसे "सम्पदादिभ्यः क्विप्" इस वार्तिकसे क्विप् प्रत्यय और "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इन सूत्रसे तुक् आगम । सहंसकीकुरुतः=हंसी इव हंसके, 'हंस' शब्दसे "इवे प्रतिकृतौ" इस सूत्रसे कन् प्रत्यय । हंसकाभ्यां (पादकटकाभ्याम्) सहिते सहंसके (तुल्ययोग-बहु०), "हंसकः पादकटकः" इत्यमरः । असहंसके सहंसके यथा सम्पद्येते तथा कुरुतः, सहंसक+च्वि+कृ+लट्+तस् । ब्रह्माके वाहन हंसी और हंस आकर दो कमलों (दमयन्तीके चरणों) को शब्द करके मानो पादकटकों (नूपुरों) से युक्त बनाते हैं; यह तात्पर्य है । रुतः=शब्द करते हैं, इस पक्षमें 'रु शब्दे' धातुसे लट्+तस् । सहंसकी कुरुतः=हंसाभ्यां सहिते सहंसके (तुल्ययोगबहु०), 'शेषाद्विभाषा' इस सूत्रसे समासान्त कप् प्रत्यय । च्विप्रत्यय पहलेके समान । ब्रह्माके वाहन हंसी और हंस आकर शब्द करते हैं और दमयन्तीके चरण-कमलोंको हंसयुक्त बनाते हैं । ध्रुवम्=यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है । दमयन्तीके चरण कमलसरीखे हैं और वे नूपुरयुक्त होकर शब्द करते हैं; यह अभिप्राय है । इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें कमल और हंस की सहस्थिति होनेसे दिव्य कमलोंकी दम-यन्तीके चरणत्वमें गुणोत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमें दिव्यहंसोंके सहंसकत्व करनेसे क्रियोत्प्रेक्षा और हंस और हंसक (पादकटक) में भेद होनेपर भी श्लेषसे अभेद-का अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है, इस प्रकार इनकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ २८ ॥

श्रितपुण्यसरःसरित् कथं न समाधिक्षपिताऽखिलक्षपम् ।
जलजं गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ॥ ३९ ॥

अन्वयः—श्रितपुण्यसरःसरित् समाधिक्षपिताऽखिलक्षपं जलजं दमयन्ती-पदनाम्नि जन्मनि मञ्जुलां गतिं कथं न एतु ॥ ३९ ॥

व्याख्या—श्रितपुण्यसरःसरित्=सेवितपवित्रकासारनदीकं, समाधिक्षपिता-ऽखिलक्षपं=ध्यानयापितसमस्तरजनीकं, जलजं=कमलं, दमयन्तीपदनाम्नि= दमयन्तीचरणनामधेये, जन्मनि=जनने, जन्मान्तर इति भावः । मञ्जुलां=

रमणीयाम्, उत्तमामिति भाव । गतिम् = अवस्था, कथ = केन प्रकारेण, न एतु = न प्राप्नोतु, एत्वेवेति भाव ॥ ३९ ॥

अनुवाद—पवित्र मानस आदि सरोवर और गङ्गा आदि नदियोंकी सेवा करनेवाला और समाधि (ध्यान वा मुद्रण) से समूची रातको बितानेवाला (इस प्रकार तीर्थसेवा और साधन करनेवाला) कमल, दमयन्तीके चरण ऐसे नामवाले जन्मान्तरमे उत्तम गतिको कैसे नही प्राप्त करेगा ? (करेगा ही) ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—श्रितपुण्यसर सरित् = सरासि च सरितश्च सर सरित (द्वन्द्व)। "कासार सरसी सर " इति "अथ नदी सरित्" इत्युभयत्राऽप्यमर । श्रिता पुण्या सर सरितो येन तत् (बहु०)। समाधिक्षपिताऽखिलक्षप = समाधिना (ध्यानेन मुकुलीभावेन वा) क्षपिता (तृ० त०)। "क्षै क्षये" धातुसे णिच् और पुक् आगम होकर क्त प्रत्यय होने से 'क्षपित' पद बनता है, मित् होनेसे ' मिता ह्रस्व " इससे ह्रस्व । अखिलाश्च सा क्षपा (क० धा०)। समाधिक्षपिता अखिला क्षपा येन तत् (बहु०)। जलज = जले जातम्, जल + जन् + ड (उपपद०)। दमयन्तीपदनाम्नि = दमयन्त्या पद (ष०त०) तद् नाम यस्य तत्, तस्मिन् (बहु०), गति = "गतिर्मार्गे दशाया च" इति विश्व । एतु = इण् धातुसे सभावनामे लोट् + तिप् । मानस आदि सरोवर और गगा आदि नदियोकी सेवा करनेवाला और समाधिसे समूची रातको बितानेवाला पुरुष जैसे दूसरे जन्ममे उत्तम गतिको प्राप्त करता है, उसी प्रकार सरोवर और नदियोकी सेवा करने वाला और सूर्यके अदर्शनसे रातभर मुकुलितत्व रूप समाधि करनेवाला कमल जन्मान्तरमें दमयन्तीके चरणत्वकी प्राप्ति कैसे नही करेगा ? यह भाव है । इस पद्यमे श्लिष्ट विशेषणो के साम्यसे कमलमें सरोवर और नदियोकी सेवा करनेवाले तथा समाधि करनेवाले तपस्वीके व्यवहारका समारोपसे समासोक्ति अलङ्कार है तथा "कथ न एतु" यहाँ पर अर्थापत्ति है । इस प्रकार अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

सरसी परिशीलितु मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता ।
अतिथित्वमनायि सा दृशो सदसत्संशयगोचरोदरी ॥ ४० ॥

अन्वय —सरसी परिशीलितु गमिकर्मीकृतनैकनीवृता मया सदसत्संशय गोचरोदरी सा दृशो अतिथित्वम् अनायि ॥ ४० ॥

व्याख्या—तादृशी दमयन्ती त्वया कथं दृष्टेत्यत आह—सरसीरिति। सरसीः =सरांसि, उपलक्षणमेतत् सरितश्चेति। परिशीलितं=परिचेतुं, विहर्तुमिति भावः। गमिकर्मीकृतनैकनीवृता=गमनफलाश्रयीकृताऽनेकजनपदेन, मया=हंसेन, सदसत्संशयगोचरोदरी=भावाऽभावसन्देहास्पदोदरी, कृशोदरीति भावः, तादृशी सा=दमयन्ती, दृशोः=नेत्रयोः, अतिथित्वं=प्राघुणिकत्वं, ग्राह्यत्वम्। अनायि प्रापिता, अवलोकितेति भावः ॥ ४० ॥

अनुवाद—जलाशयोंमें विहार करनेके लिए अनेक देशोंको गमनका कर्म बनानेवाले (भ्रमण करनेवाले) मैंने, है कि नहीं है, ऐसे संशयके विषयभूत उदरवाली दमयन्तीको देखा ॥ ४० ॥

टिप्पणी—सरसीः="षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे गौरादिगणमें पाठसे ङीप्। परिशीलितुं=परि+शील+तुमुन्। गमिकर्मीकृतनैकनीवृता=गम् धातुसे धातुका निर्देश करनेके लिए "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे" इस वार्तिकसे इक् प्रत्यय होकर "गमि" पद बनता है, उसका अर्थ हुआ गम् धातु। गमेः (गम् धातोः) कर्म गमिकर्म (ष० त०)। अगमिकर्म गमिकर्म यथा सम्पद्यते तथा कृताः गमिकर्मीकृताः, गमिकर्म+च्वि+कृ+क्तः। न एके नैके, "सहसुपा" इससे समास। नितरां वर्तन्ते जना येषु ते नीवृतः, नि उपसर्गपूर्वक "वृतु वर्तने" धातुसे "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय और "नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ" इसके पूर्वपदका दीर्घ। "नीवृज्जनपदः" इत्यमरः। गमिकर्मीकृता नैके नीवृतो येन सः, तेन (बहु०), सदसत्संशयगोचरोदरी= सच्च असच्च सदसत् (क० धा०), सदसति संशयः (स० त०), तस्य गोचरः (ष० त०)। सदसत्संशयगोचरः उदरं यस्याः सा (बहु०), "नासिकोदरोष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च" इस सूत्रसे स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप्। दमयन्ती कृशोदरी है यह तात्पर्य है। सा=मुख्य कर्म, "अनायि" इससे उक्त होनेसे प्रथमा। अतिथित्वम्=अतिथेर्भावः, तत्त्वम् अतिथि+त्वं, गौणकर्म होनेसे द्वितीया। अनायि="णीञ् प्रापणे" धातुसे कर्ममें लुङ्+त। इस पद्यमें दमयन्तीके उदरमें भाव और अभावके संशयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्ध की उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ४० ॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाऽधीतवतीमिमामहम्।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—अहम् इमा दिव यौवतं अपि सह न अधीतवतीम् अवधृत्य विधातु आशये अस्या पति कतम तु वसति इति अचि तयम् ॥ ४१ ॥

व्याख्या—अह = हस, इमाम् = एता, दमयन्तीमित्यर्थ । दिव = स्वर्गस्य सम्बन्धिभि, यौवतं अपि = युवतीसमूहे अपि, सह = सम, न अधीतवती = न अध्ययनकर्त्री, स्वर्गस्थयुवतीसमूहादपि अधिकसुन्दरीमिति भाव । अवधृत्य = निश्चित्य, विधातु = ब्रह्मण, आशये = हृदि, अस्या = दमयन्त्या, पति = भर्ता, कतम = क, तु = नु, वसति = तिष्ठति, इति = एवम् अचिन्तयम् = चिन्तितवान् । अह देवाङ्गनाऽभ्योऽपि सुन्दर्या अस्या पतिर्ब्रह्मणा को निश्चित इति विमृष्टवानिति भाव ॥ ४१ ॥

अनुवाद—मैंने दमयन्तीको स्वर्गके युवतीसमूहके साथ भी अध्ययन न करनेवाली, अर्थात् उनसे भी अधिक सुन्दरी निश्चय करके ब्रह्माजीने किसको इसका पति बनाने का निश्चय किया है ? ऐसा विचार किया ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—दिव = "सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियाम्" इत्यमर । यौवतं = युवतीना समूहा यौवतानि, तै, यत् प्रत्ययान्त होकर ङीप्प्रत्ययान्त युवती-शब्दसे "अनुदात्तादेरञ्" इस सूत्रसे अञ् प्रत्यय । "भिक्षादिभ्योऽण्" इस सूत्रमे भिक्षाऽऽदिगणमे 'युवति' शब्दके पाठका भाष्य और कैयटने प्रत्याख्यान किया है । इसलिए उक्त सूत्रसे अण् प्रत्ययका और 'भस्याढे तद्धिते" इससे पुवद्भावकी कल्पनाका अवलम्बन करना मल्लिनाथजी और नारायण पण्डितका अनुचित है । अधीतवतीम् = अधि उपसर्गपूर्वक 'इङ् अध्ययने' धातुसे क्तवतु और स्त्रीत्वविवक्षामे 'उगितश्च' इससे ङीप् । अवधृत्य = अव + धृङ् + क्त्वा (ल्यप्) । कतम = 'कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने' ऐसे वचनके सामर्थ्यसे स्वार्थ में भी डतमच् प्रत्यय । अचिन्तयम् = चिन्त + णिच् + लङ् + मिप् । इस पद्यमे उपमानभूत स्वर्गके युवतीसमूहसे भी उपमेयभूत दमयन्तीके आधिक्यका वर्णन करनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ ४१ ॥

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

अन्वय —अथ अनुरूपम् इम निरूपयन् सर्वेषु अपि युवसु पूर्वपक्षता व्यपनेतुम् अक्षम (सन्) त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

व्याख्या—अथ = चिन्तानन्तरम्, अनुरूप = योग्य, दमयन्त्या इति शेष । इम = पति, निरूपयन् = आलोचयन्, सर्वेषु अपि = सकलेषु अपि, युवसु =

तरुणेषु, पूर्वपक्षतां = दूष्यकोटितां, व्यपनेतुं = निवारयितुम्, अक्षमः = असमर्थः सन्, त्वयि = भवति विषये, सिद्धान्तधियं = सिद्धान्तबुद्धिं, न्यवेशयं = निवेशितवान्, अन्यान् यूनो दमयन्त्या अयोग्यान्विचार्य भवानेन तस्या अनुरूपपतिरिति निरचैषमिति भावः ॥ ४२ ॥

अनुवाद—चिन्ताके अनन्तर दमयन्तीके अनुरूप पतिकी आलोचना कर मैंने अन्य सभी युवकोंमें पूर्वपक्षता (दूष्यकोटिता) हटानेमें असमर्थ होकर आपमें सिद्धान्त-बुद्धि (दमयन्तीके योग्य पति है ऐसी बुद्धि) का स्थापन किया ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—अनुरूपं = रूपस्य योग्यं योग्यता वा; सादृश्यके; अर्थमें अव्ययीभाव । निरूपयन् = नि + रूप + णिच् + लट् (शतृ) + सु । युवसु = 'वयःस्थस्तरुणो युवा' इत्यमरः । पूर्वपक्षतां = पूर्वश्चाऽसौ पक्षः, (क० धा०) तस्य भावस्तत्ता, ताम्, पूर्वपक्ष + तल् + टाप् + अम् । व्यपनेतुं = वि + अप + नी + तुमुन् । अक्षमः = न क्षमः (नञ्०) । त्वयि = विषय में सप्तमी । सिद्धान्तधियं = सिद्धान्तस्य धीः, ताम् (ष० त०) न्यवेशयम् = नि-उपसर्गपूर्वक 'विश' धातुसे लङ् + मिप् । शास्त्रार्थमें पूर्वपक्ष जैसे दूष्य और उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धान्तपक्ष स्थापनीय होता है, उसी तरह दमयन्तीके योग्य पतिकी आलोचनामें और सब युवक पूर्वपक्षस्थानीय और नल सिद्धान्तपक्षस्थानीय हैं; ऐसा मैंने निश्चय किया है । यही ब्रह्माका आशय है; यह तात्पर्य है । इस पद्यमें सम अलङ्कार है—

'समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनोः ।' सा० १०-९२ ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे ।
चिरमप्यवलोकिताऽद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

अन्वयः—चिरम् अवलोकिता अपि सा शुचिस्मिता अद्य अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे स्मृतिम् आरूढवती ॥ ४३ ॥

व्याख्या—चिरं = बहुपूर्वकाम्, अवलोकिता अपि = दृष्टा अपि, सा = पूर्वोक्ता, शुचिस्मिता = शुक्लहास्या, सुन्दरी दमयन्तीति भावः । अद्य = अस्मिन् दिने, अनया = सन्निकृष्टस्थया, तव = भवतः, रूपसीमया = सौन्दर्यकाष्ठया, कृतसंस्कारविबोधनस्य = उद्बुद्धभावनाऽऽख्यसंस्कारस्य, मे = मम, हंसस्य, स्मृतिं = संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं, स्मरणमित्यर्थः । आरूढवती = आरूढा, एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं भवतीति भावः ॥ ४३ ॥

अनुवाद—बहुत पहले देखी गयी वह सुन्दरी (दमयन्ती) आज आपके सौन्दर्यकी सीमासे उद्बुद्ध संस्कारवाले मेरे स्मरणमार्गमें आरूढ हो गयी ॥४३॥

टिप्पणी—अवलोकिता = अव + लोक + क्त (कर्ममें) + टाप् । शुचिस्मिता = शुचि स्मितं यस्याः सा (बहु०) । रूपसीमया = रूपस्य सीमा, तया (ष० त०) । सीमन् शब्दसे 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' इस सूत्रसे विकल्पसे डाप् और टा विभक्ति । डाप्‌के अभावमें रूपसीम्ना । कृतसंस्कारविबोधनस्य = संस्कारस्य विबोधनम् (ष० त०) । संस्कारके तीन भेद होते हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक । यहाँपर 'भावना' नामक संस्कार उद्दिष्ट है । भावनाका लक्षण है—"अनुभवजन्य, स्मृतिहेतुर्गुणविशेष" अनुभवसे उत्पन्न स्मरणके कारणभूत गुणविशेषको 'भावना' कहते हैं । यह आत्माका विशेष गुण है । कृत संस्कारविबोधनं यस्य स, तस्य (बहु०) । स्मृतिम् = स्मरणं स्मृतिः, ताम्, स्मृ + क्तिन् । बुद्धिके दो भेद होते हैं—अनुभव और स्मृति । स्मृतिका लक्षण है—'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' अर्थात् भावना नामक संस्कारमात्रसे उत्पन्न ज्ञानको 'स्मृति' कहते हैं । आरूढवती = आङ् + रुह् + क्तवतु + ङीप् । सदृशवस्तुका दर्शन दूसरी वस्तुका स्मारक होता है, अतिशय सुन्दर आपको देखने से अत्यन्त सुन्दरी दमयन्तीका मुझे स्मरण हुआ, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें स्मरण अलङ्कार है—

"सदृशाऽनुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥" सा० द० १०–४० ॥

बिना सादृश्यके भी वस्तुके स्मरणसे राघवानन्दके मतके अनुसार यह अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

> त्वयि वीर ! विराजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चितं किल ।
> तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

अन्वय—हे वीर ! दमयन्तीकिलकिञ्चितं त्वयि परं विराजते किल । मणिहारावलिरामणीयकं तरुणीस्तन एव दीप्यते ॥ ४४ ॥

व्याख्या—हे वीर = हे शूर !, दमयन्तीकिलकिञ्चितं = दमयन्तीशृङ्गारचेष्टाविशेषः, त्वयि = भवति, परम् = एव, विराजते = शोभते, किल = खलु । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयते—तरुणीति । मणिहारावलिरामणीयकं = मुक्ताहारपङ्क्तिसौन्दर्यं, तरुणीस्तन एव = युवतिपयोधर एव, दीप्यते = शोभते ॥ ४४ ॥

अनुवाद—हे वीर ! दमयन्तीकी शृङ्गारचेष्टाएँ आपमें ही शोभित होती हैं। मोतीकी मालाओंका सौन्दर्य तरुणीके स्तन पर ही शोभित होता है ॥४४॥

टिप्पणी—वीर=वीरयतीति वीरः, तत्सम्बुद्धौ, 'वीर विक्रान्तौ' धातुसे अच् प्रत्यय। 'शूरो वीरश्च विक्रान्तः' इत्यमरः। दमयन्तीकिलकिञ्चितं=दमयन्त्याः किलकिञ्चितम् (ष० त०)। किलकिञ्चितका लक्षण है—

"स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम् ।
साङ्कर्यं किलकिञ्चितमभीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात् ॥"
(सा० द० ३-११० ।)

अर्थात् प्रियतमके संगम आदिसे उत्पन्न हर्षसे स्त्रियोंके मन्दहास्य, शुष्क रोदन, हास्य, क्रोध और श्रम आदिके सम्मिश्रणको 'किलकिञ्चित' कहते हैं। मणिहारावलिरामणीयकं=हाराणाम् आवलिः (ष० त०), मणिखचिता हारावलिः (मध्यमपदलोपी०)। रमणीयस्य भावः, 'रमणीय' शब्दसे योपधाद् गुरुपोत्तमाद् वुञ्' इस सूत्रसे वुञ्, "युवोरनाकौ" इससे वुञ्के स्थानमें 'अक' आदेश और आदिवृद्धि। तरुणीस्तने=तरुण्याः स्तनः तस्मिन् (ष० त०), जातिमें एकवचन। दीप्यते=दीपी दीप्तौ' धातुसे लट्+त (कर्तामें)। इस पद्यमें उपमान और उपमेय हार और किलकिञ्चितका दो वाक्योंमें बिम्ब और प्रतिबिम्बके भावसे स्तन और नृपमें तुल्यधर्मतासे उक्ति होनेसे दृष्टान्त अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।" १०-६९ ॥ ४४ ॥

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवाऽवकेशिनः ।
इयमृद्धधना वृथाऽवनी स्ववनी सम्प्रवदत्पिकाऽपि का ॥ ४५ ॥

अन्वयः—(हे वीर !) तव इदं रूपं तया विना अवकेशिनः पुष्पम् इव विफलम्। ऋद्धधना इयम् अवनी वृथा, सम्प्रवदत्पिका स्ववनी अपि का ॥४५॥

व्याख्या—(हे वीर !) तव=भवतः, इदं=दृश्यमानं, रूपं=सौन्दर्यम्, अनुपममिति शेषः। तया विना=दमयन्त्या विना, अवकेशिनः=वन्ध्यवृक्षस्य, पुष्पम् इव=कुसुमम् इव, विफलं=निष्फलं, निरर्थकमिति भावः। एवं च ऋद्धधना=वृद्धवित्ता, इयं=दृश्यमाना, अवनी=भूमिः, वृथा=व्यर्थप्राया, तया (दमयन्त्या) विनेति शेषः। तथैव सम्प्रवदत्पिका=कूजत्कोकिला, स्ववनी अपि=निजोद्यानम् अपि, का=तुच्छा, निरर्थकेत्यर्थः, दमयन्त्या

विनेति दोषः । दमयन्तीयोगे तु भवद्रूपं भूमिः उद्यानं च सर्वं सफलमिति भावः ॥ ४५ ॥

अनुवाद—(हे वीर !) आपका यह सौन्दर्य, दमयन्तीके न होनेपर वन्ध्य (निष्फल) वृक्षके फूलके समान निरर्थक है । धनसे पूर्ण यह पृथिवी व्यर्थप्राय है, उसी प्रकार कोकिलके आलापसे सम्पन्न आपका उद्यान भी निरर्थक है ॥४५॥

टिप्पणी—तया = "विना" पदके योगमें "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे तृतीया, एक पक्षमें पञ्चमी और द्वितीया विभक्ति भी होती है । अवकेशिन ="बन्ध्योऽफलोऽवकेशी च" इत्यमरः । विफल=विगतं फलं यस्मात् तत् (बहु०) । ऋद्धधना=ऋद्धं धनं यस्याः सा (बहु०) । अवनी=' कृदिकारादक्तिनः " इससे 'अवनि' शब्दसे ङीष् । वृथा=यह अव्यय है । सम्प्रवदत्पिका=सम्प्रवदन्तः पिकाः यस्यां सा (बहु०) । स्ववनी= अल्पं वनं वनी, 'वन' शब्दसे अवयवके अपचयकी विवक्षामें 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्रसे गौर आदि गणमें पढ़े जानेसे ङीष् स्वस्य वनी (ष० त०) । का= "किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दाऽपराधयोः" इति विश्वः । इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें पूर्णोपमा अलङ्कार है, तृतीय और चतुर्थ चरणमें दमयन्तीके विना अवनी और स्ववनीकी असुन्दरताका प्रतिपादन होनेसे दो विनोक्तियाँ, इस प्रकार इन अलङ्कारोंकी निरपेक्षतासे संसृष्टि है । विनोक्तिका लक्षण है—

"विनोक्तिर्यद्विनाऽन्येन नाऽसाध्वन्यदसाधु वा ।" १०—७३ ॥ ४५ ॥

अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया ।
घनसवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अमरकाम्यमानया अनया सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया निशाकरत्विषा सह योगः कुमुदेन इव त्वया न सुलभः ॥ ४६ ॥

व्याख्या—अथ स्वाऽपेक्षां दर्शयितुं दमयन्त्या दौर्लभ्यं द्योतयति—अनयेति । अमरकाम्यमानया=देवाऽभिलष्यमाणया, अनया सह=दमयन्त्या समं, योगः=सम्बन्धः, अम्बुदागमे=मेघागमे, वर्षाकाल इति भावः । घनसंवृतया=मेघाच्छन्नया, निशाकरत्विषा सह=चन्द्रकान्त्या समं, योगः=सम्बन्धः, कुमुदेन इव=कैरवेण इव, त्वया=भवता, न सुलभः=न सुप्रापः, दुर्लभ इति भावः । अतोऽहं मंमीसकाशं गत्वा वाक्कौशलेनाऽनुरागमुत्पाद्य तया सह भवतो योगं जनयिष्यामीति तात्पर्यम् ॥ ४६ ॥

अनुवाद—इन्द्र आदि देवताओंसे चाही जानेवाली दमयन्तीके साथ आपका सम्बन्ध वर्षाकालमें मेघसे आवृत चन्द्रकान्तिके साथ कुमुदसम्बन्धके समान सुलभ नहीं है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—अमरकाम्यमानया=अमरैः काम्यमाना, तया (तृ० त०); अनया="सह" के योगमें तृतीया । अम्बुदागमे=अम्बुदस्य आगमः, तस्मिन् (ष० त०) । घनसंवृतया=घनैः संवृता, तया (तृ० त०), 'घनजीमूतमुदिर-जलमुग्धूमयोनयः" इत्यमरः । निशाकरत्विषा=निशां करोतीति निशाकरः, निशा—उपपदपूर्वक "कृ" धातुसे "दिवाविभानिशा०" इत्यादि सूत्रसे ट प्रत्यय (उपपद०) । निशाकरस्य त्विट्, तया (ष० त०) । सुलभः=सुखेन लब्धुं शक्यः, सु+लभ्+खल् (उपपद०) । इस पद्यमें दमयन्तीके संयोगकी दुर्लभतामें अमरकाम्यमान पदार्थकी हेतुतासे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग और उपमा अलङ्कार है, इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम् ।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयते ॥ ४७ ॥

अन्वयः—तत् अहं दमयन्त्याः सविधे तथा तथा तव स्तवं विदधे, यथा तया हृदये निहितो भवान् इन्द्रेण अपि न अपनीयते ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अथ दमयन्तीप्राप्त्युपायं प्रकाशयति—तदिति । तत्=तस्मात्कारणात्, दमयन्तीयोगस्य दौर्लभ्यादिति भावः । अहं=हंसः, दमयन्त्याः=भैम्याः, सविधे=समीपे, तथा तथा=तेन तेन प्रकारेण, तव=भवतः, स्तवं=स्तोत्रं, प्रशंसामिति भावः । विदधे=विधास्ये, करिष्यामि । यथा=येन प्रकारेण तया=दमयन्त्या, हृदये=मनसि, निहितः=स्थापितः, पतित्वेनेति शेषः । भवान्, इन्द्रेण अपि=मघोना अपि, न अपनीयते=नो दूरीक्रियते, मनुष्येण तु का वार्तेति भावः । इन्द्रादिभिः प्रलोभिताऽपि भैमी यथा भवत्येव गाढाऽनुरागा स्यात्तथा प्रयतिष्ये इति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

अनुवाद—इस कारणसे मैं दमयन्तीके समीप आपकी ऐसी प्रशंसा करूँगा कि दमयन्तीके हृदयमें स्थित आपको इन्द्र भी नहीं हटा सकेंगे ॥४७॥

टिप्पणी—तत्=यह अव्यय है । सविधे='सदेशाऽभ्याससविधसमर्याद-सवेशवत्' इत्यमरः । तथा=तेन प्रकारेण, तद्+थाल्, अव्यय है । विदधे=

वि—उपसर्गपूर्वक 'धा' धातुसे "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्रसे वर्तमानके समीप भविष्यत्कालमें लट्। अथवा "आशंसायां भूतवच्च" इससे आशंसामें भविष्यत्कालमें लट्। निहित =नि+धा+क्त, "दधातेर्हिः" इससे 'धा' के स्थानमें हि आदेश। अपनीयते=अप+नी+लट् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें 'इन्द्रेण अपि न अपनीयते' यहाँ पर किमुत अन्येन ऐसे अन्य अर्थके आ पडनेसे अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ४७ ॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम्।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अत्र केवलां तव सम्मतिम् अधिगन्तुम् इदं निवेदितं धिक्। हि साधवो निजोपयोगितां फलेन ब्रुवते, कण्ठेन न ब्रुवते ॥ ४८ ॥

व्याख्या—तर्हि तथैव क्रियतां, किं निवेदनेनेत्यत आह—तवेति। अत्र= अस्मिन् कार्ये, केवलाम्=एकां, तव=भवतः, सम्मतिं=अङ्गीकारम् अधिगन्तुं=ज्ञातुम्, इदं=पुरः प्रतिपाद्यमानं, निवेदितं=निवेदनं धिक्=निवेदितस्य निन्द्यत्वं। उक्तमर्थमर्थान्तरेण समर्थयते—ब्रुवत इति। हि=यस्मात् कारणात्, साधवः=सज्जनाः, निजोपयोगितां=स्वोपकारित्वं, फलेन= कार्येण, ब्रुवते=बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन=वाग्व्यापारेण, न ब्रुवते=नो बोधयन्ति, निजोपयोगितामिति शेषः ॥ ४८ ॥

अनुवाद—इस कार्यमें केवल आपकी सम्मति को जाननेके लिए किये गये इस निवेदनको धिक्कार है, क्योंकि सज्जन लोग अपनी उपयोगिताको कार्यसे दिखाते हैं, कण्ठसे नहीं बतलाते ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—अत्र=अस्मिन्निति, इदम्+त्रल्। अधिगन्तुम्=अधि+गम्+तुमुन्। निवेदितं="धिक्" के योगमें "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। हि="हि हेतावधारणे" इत्यमरः। निजोपयोगिता=निजस्य उपयोगिता, ताम् (ष० त०)। ब्रुवते='ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि' धातुसे लट्+झ। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाऽभ्युदितं द्विजाऽधिपात्।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—स द्विजाऽधिपात् अभ्युदितं विशदं तत् इदं वचोऽमृतं परिपीय अतितृप्ततया तदुद्गारम् इव सितं स्मितं विनिर्ममे ॥ ४९ ॥

व्याख्या—सः=नलः, द्विजाऽधिपात्=पक्षिस्वामिनः, हंसादिति भावः।

पक्षान्तरे—ब्राह्मणप्रभोः चन्द्रादिति भावः। अभ्युदितम्=आभिर्भूतं, विशदं=प्रसन्नम् उज्ज्वलं च, तत्=पूर्वोक्तम्, इदम्=अनुभूयमानं, वचोऽमृतं=वाक्य-पीयूषं, परिपीय=सादरमाकर्ण्य, पीत्वा च, अतितृप्ततया=अतिसौहित्येन, तदुद्गारम् इव=तदुद्गमनम् इव, सितं=शुक्लं, स्मितं=मन्दहास्यं, विनिर्ममे=विनिर्मितवान्, पीतस्य शुक्लवचोमृतस्य उद्गारसदृशं स्मितमपि शुक्लं भवतीति भावः ॥ ४९ ॥

अनुवाद—नलने पक्षिराज हंससे उत्पन्न प्रसादयुक्त अथवा सफेद, वचनरूप अमृतका पानकर अत्यन्त तृप्त होनेसे उसके डकारके सदृश श्वेत (निर्मल) मन्दहास्यका निर्माण किया ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—द्विजाऽधिपात्=द्विजानाम् अधिपः, तस्मात् (ष० त०), "दन्तविप्राण्डजा द्विजाः" इस अमरवचनके अनुसार यहाँपर द्विजपदका अर्थ अण्डज (पक्षी) और विप्र (ब्राह्मण) दोनों ही होते हैं। अतः द्विजाऽधिपः=पक्षी (हंस) अथवा चन्द्रमा। "द्विजराजः शशधरो नक्षत्रेशः क्षपाकरः।" इत्यमरः। अभ्युदितम्=अभि+उद्+इण्+क्त+सु। वचोऽमृतं=वच एव अमृतं, तत् (रूपक०)। परिपीय=परि+पी+क्त्वा (ल्यप्)। अतितृप्ततया=अत्यन्तं तृप्तः (गति०), अतितृप्तस्य भावः अतितृप्तता, तया। अति-तृप्+तल्+टाप्+टा। तदुद्गारम्=तदुद्गारणम् उद्गारः, उद्–उपसर्ग-पूर्वक 'गॄ निगरणे" धातुसे "उन्योर्ग्रः" इस सूत्रसे घञ् प्रत्यय। तस्य उद्गारः तम् (ष० त०)। विनिर्ममे—वि-निर्-उपसर्गपूर्वक माङ् धातुसे कर्तामें लिट्+त। श्वेत (निर्मल) वचनरूप अमृतका उद्गारस्वरूप मन्दहास्य भी श्वेत ही होता है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें वचनमें अमृतत्वका आरोप हंसमें चन्द्रत्व के आरोपके प्रति कारण है और 'द्विजाऽधिप' पद श्लिष्ट है, श्लिष्टपरम्परितरूपक अलङ्कार और उत्प्रेक्षा भी है। अतः दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाऽग्रजन्मना पतगं कोकनदेन नैषधः।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ॥ ५० ॥

अन्वयः—नैषधः भुजाऽग्रजन्मना कोकनदेन पतगं परिमृज्य तस्य मुदे प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः गिरः मृदु अगिरत् ॥ ५० ॥

व्याख्या—नैषधः=नलः, भुजाऽग्रजन्मना=बाह्वग्रोत्पन्नेन, कोकनदेन=रक्तोत्पलेन, रक्तोत्पलसदृशेन पाणिना इति भावः। पतगं=पक्षिणं, हंस-

मित्यर्थ । परिमृज्य=सस्पृश्येत्यर्थ । तस्य=हसस्य, मुदे=हर्षाय, प्रियवादाऽमृतकूपकण्ठजा=इष्टवाक्यपीयूषोदपानवागिन्द्रियजा, गिर=वाणी, मृदु=कोमल यथा तथा, अगिरत्=उक्तवान् ॥ ५० ॥

अनुवाद—नल बाहुके अग्रभाग से उत्पन्न पाणिरूप रक्तकमलसे हसका स्पर्श करके उसको हर्ष उत्पन्न करनेके लिए प्रियवचनरूप अमृतके कुँएके समान कण्ठसे उत्पन्न वचनोको कोमलतापूर्वक कहने लगे ॥ ५० ॥

टिप्पणी—*नैषध*=निषधेषु भव, निष+अण्। भुजाग्रजन्मना=भुजस्य अग्रम् (ष० त०), "भुजबाहू प्रवेष्टो दो" इत्यमर । भुजाग्रे जन्म यस्य तेन (व्यधिकरणबहु०)। इस पदसे पाणि लक्षित होता है। कोकनदेन="रक्तोत्पल कोकनदम्" इत्यमर । परिमृज्य=परि+मृज्+क्त्वा (ल्यप्)। प्रियवादाऽमृतकूपकण्ठजा=प्रियस्य वादा (ष० त०), त एव अमृतानि (रूपक०) । तेषा कूप (ष० त०), स चाऽसौ कण्ठ (क० धा०), तस्माज्जाता, ता प्रियवादाऽमृतकूपकण्ठ+जन्+ड (उपपद०)। मृदु=यह क्रियाविशेषण है। *अगिरत्*="गृ निगरणे" धातुसे लङ्+तिप्। इस पद्यमे भुजाग्रज मा (पाणि) मे कोकनदत्वका आरोप होनेसे रूपक, प्रियवादमें अमृतत्वका आरोप कण्ठमें कूपत्वके आरोपके प्रति निमित्त है। अत परम्परितरूपक है। इस प्रकार दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ ५० ॥

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ॥ ५१ ॥

अन्वय —(हे हस !) तव आकृति तुलाविषये न, ते सुशीलता वचोवर्त्मनि न । (अत एव) आकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा त्वदुदाहरणा ॥५१॥

व्याख्या—(हे हस !) तव=भवत, आकृति=आकार, तुलाविषये न= सादृश्यभूमौ न, त्वदीयाऽऽकृतिरसाधारणीति भाव । एव च—ते=तव, सुशीलता =सच्चरित्रता, वचोवर्त्मनि न=वाक्यमार्गे न, ते सुशीलता वक्तुमशक्यमिति भाव । अत एव—आकृतौ=आकारे, गुणा=दयादाक्षिण्यादय, इति=एवभूता, सामुद्रिकसारमुद्रणा=सामुद्रिकशास्त्रकारसिद्धान्तप्रतिपादन, त्वदुदाहरणा =भवद्दृष्टान्तभूता, अस्तीति शेष । "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" इति सामुद्रिकशास्त्रकारोक्तेरुदाहरणस्थानीयो भवानेवेति भाव ॥ ५१ ॥

अनुवाद—(हे हस !) तुम्हारा आकार सादृश्य भूमिमें नही है, तुम्हारी

सुशीलता वचनके मार्गमें नहीं है, अतएव उत्तम आकारमें गुण होते हैं—ऐसा सामुद्रिकोंके सिद्धान्तप्रतिपादनके तुम ही उदाहरणस्वरूप हो ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—तुलाविषये=तोलनं तुला, 'तुल उन्माने' धातुसे "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ् प्रत्यय होकर टाप्। 'तुला सादृश्यमानयोः' इति विश्व.। तुलाया विषयः, तस्मिन् (ष० त०)। ते=युष्मद् शब्दके 'तव' के स्थानमें "तेमयावेकवचनस्य" इस सूत्रसे 'ते' आदेश। सुशीलता=शोभनं शीलं यस्य सः (बहु०), तस्य भावः तत्ता, सुशील+तल्+टाप्। "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इत्यमरः। वचोवर्त्मनि=वचसो वर्त्म, तस्मिन् (ष० त०)। सामुद्रिकसारमुद्रणा=समुद्रेण प्रोक्तं 'सामुद्रिकं', 'समुद्र शब्दसे' 'तेन प्रोक्तम्' इस सूत्रसे ठञ् (इक), आदिवृद्धि। समुद्रने स्त्री और पुरुषके हाथ और पैरकी रेखा आदिके शुभ-अशुभ लक्षणोंका ज्ञापक शास्त्र बनाया, उसे 'सामुद्रिक' कहते हैं। सामुद्रिकस्य सारः, 'सारो बले स्थिरांऽशे च' इत्यमरः। तस्य मुद्रणा (ष० त०)। त्वदुदाहरणा=त्वम् एव उदाहरणं यस्याः सा (बहु०)। इस पद्यमें आकृतिके तुलाविषयमें और सुशीलताके वचोवर्त्ममें सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्धकी उक्ति होनेसे दो अतिशयोक्तियाँ और परार्द्धके प्रति पूर्वार्द्धकी हेतुतासे वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग, इस प्रकार तीन अलङ्कारोंकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि है ॥ ५१ ॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा।
न परं पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु मादृशेऽपि सा ॥ ५२ ॥

अन्वयः—ननु ! तावकी तनुः परं सुवर्णमयी न, किं (तु) वाक् अपि तथा (सुवर्णमयी), तथा अनवलम्बे पथि परं पक्षपातिता न, (अनवलम्बे) मादृशे अपि सा पक्षपातिता न किमु (अस्ति एव) ॥ ५२ ॥

व्याख्या—ननु=हे हंस !, तावकी=त्वदीया, तनुः=मूर्तिः, परम्=एव, सुवर्णमयी न=स्वर्णमयी न, किं (तु) तावकी, वाक् अपि=वाणी अपि, तथा=तेन प्रकारेण, सुवर्णमयी=शोभनाऽक्षरमयीत्यर्थः, त्वदीया मूर्तिर्यथा सुवर्णमयी तथैव वाणी अपि सुवर्णमयी=सुन्दरवर्णमयीति भावः। तथा अनवलम्बे=अवलम्बरहिते, पथि=मार्गे, आकाशे इति भावः। परम्=एव, पक्षपातिता न=पक्षपतनशीलता न, अनवलम्बे=निराधारे, मादृशे अपि=मत्सदृशे अपि, पक्षपातिता=पक्षवर्तिता, न किमु ?=नाऽस्ति किम् ? अस्त्येवेति भावः। तव अनवलम्बे पथि (आकाशे) एवं पक्षपातिता (पक्षपतनशीलता)

न, प्रत्युत मादृशे अनवलम्बे (अवलम्बरहिते) अपि पक्षपातिता पक्षवर्तिता न किमु ? *अस्त्येवेति* भाव ॥ ५२ ॥

अनुवाद—हे हस ! तुम्हारी केवल मूर्ति ही सुवर्णमयी नही है, वाणी भी सुवर्णमयी (सुन्दर अक्षरोवाली) है। उसी प्रकार अवलम्बरहित मार्ग (आकाश) मे मात्र तुम्हारी पक्षपातिता (पक्षपतनशीलता) नही है, प्रत्युत अवलम्ब (आधार) से रहित मेरे जैसे व्यक्तिमे भी वह पक्षपातिता (पक्षमे रहनेका गुण) नही है क्या ? अर्थात् है ही ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—ननु="प्रश्नावधारणाऽनुज्ञाऽनुनयाऽऽमन्त्रणे ननु" इत्यमर । यहाँपर "ननु" पद आमन्त्रण अर्थ मे है। तावकी=तव इयम्, 'युष्मद्' शब्दसे 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्या खञ् च' इस सूत्रमे चकार पाठके सामर्थ्यसे अण् प्रत्यय होकर 'तवकममकावेकवचने' इस सूत्रसे तवक आदेश, आदिवृद्धि और स्त्रीत्व-विवक्षामे ङीप् प्रत्यय। सुवर्णमयी=सुवर्णस्य विकार, सुवर्ण+मयट्+ङीप् । यह 'तनु' के पक्षमे व्युत्पत्ति है। वाक्पक्षमें शोभना वर्णा सुवर्णा, (गति०)। प्रचुरा सुवर्णा यस्या सा सुवर्णमयी, सुवर्ण शब्दसे 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इससे प्रचुर अर्थमे मयट्+ङीप् । प्रचुर सुन्दर वर्णोवाली तुम्हारी वाक् (वाणी) है, यह तात्पर्य है। अनवलम्बे=अविद्यमान अवलम्ब (आधार) यस्य स, तस्मिन् (नञ् बहु०)। अनवलम्बे पथि=इसका तात्पर्य आधाररहित मार्ग अर्थात् आकाशमे ऐसा होता है। पक्षपातिता=पक्षाभ्या पततीति तच्छील पक्षपाती, पक्ष+पत्+णिनि+सु, पक्षपातिनो भाव, पक्षपातिन्+तल्+टाप् । आधाररहित माग आकाशमे मात्र पक्षपातिता=पक्षोसे चलने (उड़ने) का भाव नही है, अनवलम्बे मादृशेऽपि=अवलम्बसे रहित मेरे ऐसेमे भी पक्षपातिता=पक्षे पततीति तच्छील पक्षपाती, तस्य भाव । पक्षमे पड़नेका भाव। अर्थात् मेरे ऐसे आधाररहितमे भी पक्षपातीका भाव। इस पद्यमें "सुवर्णमयी" और "पक्षपातिता" इन दोनो पदोमे दो पदश्लेषोकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे ससृष्टि अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

भृशतापभृता मया भवान् मरुदासादि तुषारसारवान् ।
धनिनामितर सता पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधि ॥ ५३ ॥

अन्वय —(हे हस !) भृशतापभृता मया भवान् तुषारसारवान् मरुद् आसादि । धनिनाम् इतर सन्निधि पुन सता गुणवत्सन्निधि एव सन्निधि ॥ ५३ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) भृशतापभृता=अतिशयसन्तप्तेन, मया=नलेन, भवान्=त्वं, तुषारसारवान्=हिमश्रेष्ठांऽशसम्पन्नः, मरुत्=वायुः, आसादि=प्राप्तः, सन्तापहरत्वादिति भावः । तथा हि धनिनाम्=आढ्यानां, कुबेरादीनामिति भावः । इतरः=अन्यः, पद्मशङ्खादिः, सन्निधिः=उत्तमशेवधिः, पुनः=भूयः, सतां=विदुषां, गुणवत्सन्निधिः एव=गुणिजनसामीप्यम् एव, सन्निधिः=महानिधिः । हे हंस ! मत्कृते त्वमेव शीतलमारुतः, अन्यस्तु दहनप्राय इति भावः ।। ५३ ।।

अनुवाद—हे हंस ! अत्यन्त सन्तप्त मैंने हिमके श्रेष्ठ अंशसे सम्पन्न वायुके समान तुम्हें प्राप्त कर लिया है । कुबेर आदि धनियोंको पद्म, शङ्ख आदि निधि उत्तम निधि है; परन्तु विद्वान् पुरुषोंको गुणी पुरुषोंका सामीप्य ही श्रेष्ठ निधि है ।। ५३ ।।

टिप्पणी—भृशतापभृता=तापं बिभर्तीति तापभृत्, ताप+भृ+क्विप् (उपपद०) । भृशं तापभृत्, तेन (सुप्सुपा०) । तुषारसारवान्=तुषाराणां साराः (ष० त०), ते सन्ति यस्य सः, तुषारसार+मतुप्+सु । आसादि=आङ्+सद्+णिच्+लुङ् (कर्मणि)+त । धनिनां=धन+इनि+आम् । "इभ्य आढ्यो धनी स्वामी" इत्यमरः । सन्निधिः=संश्चाऽसौ निधिः "सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" इससे समास । "निधिर्ना शेवधिर्भेदाः पद्मशङ्खादयो निधेः" इत्यमरः । निधिके नौ भेद है—

"महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ।।"

जैसे—महापद्म, पद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व सतां=सन्तीति सन्तस्तेषाम्, अस्+लट् (शतृ)+आम् । "सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्" इत्यमरः । गुणवत्सन्निधिः=गुणाः सन्ति येषां ते गुणवन्तः, गुण+मतुप् । गुणवतां सन्निधिः (ष० त०), "सन्निधिः सन्निकर्षणम्" इत्यमरः । इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें रूपक अलङ्कार है । दो रूपकोंकी संसृष्टि है ।। ५३ ।।

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम ।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाऽधिगतामवैमि ताम् ।। ५४ ।।

अन्वयः—त्रिजगन्मोहमहौषधिः सा शतशो मम श्रुतिम् आगता एव । अधुना तव शंसितेन तु तां स्वदृशा एव अधिगताम् अवैमि ।। ५४ ।।

व्याख्या—त्रिजगन्मोहमहौषधि =त्रैलोक्यसम्मोहनमहौषध, सा=दमयन्ती, शतश =बहुवार, मम=नलस्य, श्रुतिम् =कर्णम्, आगता एव=आयाता एव। परम्, अधुना=इदानी, तव=भवत , शसितेन तु=कथनेन तु, स्वदृशा एव=आत्मदृष्टया एव, अधिगता=ज्ञाता, दृष्टामिति भाव । अवैमि=जानामि, आप्तोक्तिप्रामाण्यादिति भाव ॥ ५४ ॥

अनुवाद—त्रैलोक्यके सम्मोहनमें महौषधिके समान वे दमयन्ती मेरे कर्णमार्गमें आयी ही हैं। इस समय तुम्हारे कथनसे तो उनको अपनी आँखोसे ही देखी गयी जानता हूँ ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—त्रिजगन्मोहमहौषधि =त्रयाणा जगता समाहार त्रिजगत् (द्विगु०)। त्रिजगतो मोह (ष० त०)। महती चाऽसौ ओषधि (क०धा०)। त्रिजगन्मोहे महौषधि (स० त०)। शतश ='शत' शब्दसे 'बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्" इससे शस् प्रत्यय। श्रुति=श्रु+क्तिन्+अम्। शसितेन=शस+क्त (भावमे)। स्वदृशा=स्वस्य दृक्, तया (ष० त०), गोलकमे ही द्वित्व है, इन्द्रियके एकत्वसे एकवचन। अवैमि=अव+इण्+लट्+मिप्। इस पद्यके पूर्वार्द्धमे रूपक, उत्तरार्धमे भविष्यत्कालमे होनेवाले दमयन्तीके अधिगमके साक्षाद्दर्शनका वर्णन होनेसे भाविक अलङ्कार है। इसका लक्षण है—

'अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याऽथ भविष्यत ।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्व तद्भाविकमुदाहृतम् ॥' १०–१२२ (सा० द०)

इस प्रकार दो अलङ्कारोकी संसृष्टि है ॥ ५४ ॥

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम्।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनाऽलङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥ ५५ ॥

अन्वय —सुहृदा स्वहृदा च अखिलम् अनाविल पश्यता विदुषा सविधे अपि न सूक्ष्मसाक्षिणी, अक्षिणी वदनाऽलङ्कृतिमात्रम् ॥ ५५ ॥

व्याख्या—स्वदृष्टेराप्तदृष्टेर्गरीयस्त्व प्रतिपादयति—अखिलमिति। सुहृदा=मित्रेण, आप्तेनेति भाव । स्वहृदा च=निजाऽन्त करणेन च, अखिल=समस्त पदार्थम्, अनाविलम्=अकलुषम्, असन्दिग्ध यथा तथा, पश्यता=विलोकयता, जानतामिति भाव । तादृशाना विदुषा=बुधाना, विवेकिनामिति भाव । सविधे अपि=समीपे अपि, न सूक्ष्मसाक्षिणी=सूक्ष्मपदार्थस्य अद्रष्टृणी,

अक्षिणी=नेत्रे, वदनाऽलङ्कृतिमात्रं,=मुखाऽलङ्कारमात्रं, न तु दूरसूक्ष्मपदार्थदर्शनोपयोगिनी इति भावः ॥ ५५ ॥

अनुवाद—प्राप्तभूत मित्रसे और अपने अन्तःकरणसे समस्त पदार्थको असन्दिग्ध रूपसे देखनेवाले विवेकियोंके लिए समीपमें भी सूक्ष्म पदार्थको न देखने वाले नेत्र मुखमण्डलके अलङ्कारमात्र हैं ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—सुहृदा=शोभनं हृदयं यस्य स सुहृद् (बहु०), तेन। "सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः" इस सूत्रसे हृदयके स्थानमें हृद आदेश, "अथ मित्रं सखा सुहृत्" इत्यमरः। स्वहृदा=स्वस्य हृत् स्वहृत्, तेन (ष० त०), "स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः। अनाविलं=न आविलं तद्यथा तथा (नञ् त०)। यह क्रियाविशेषण है। "कलुषोऽनच्छ आविलः" इत्यमरः। पश्यतां=पश्यन्तीति पश्यन्तः, तेषाम्, दृश्+लट् (शतृ)+आम्। विदुषां=विद्+लट् (शतृ)+वसु+आम्। 'सन्देह और विपर्यासके विना शब्द और अनुमान आदि प्रमाणोंसे पदार्थोंको देखने (जानने) वालोंके' यह तात्पर्य है। सविधे= "सदेशाऽभ्याससविधसमर्यादसवेशवत्" इत्यमरः। न सूक्ष्मसाक्षिणी=साक्षाद् द्रष्टृणी साक्षिणी, साक्षात् शब्दसे "साक्षाद् द्रष्टरि सञ्ज्ञायाम्" इस सूत्रसे निपातन। सूक्ष्माणां साक्षिणी (ष० त०), न सूक्ष्मसाक्षिणी (सुप्सुपा०)। अक्षिणी="ईक्षणं चक्षुरक्षिणी" इत्यमरः। वदनाऽलङ्कृतिमात्रं=वदनस्य अलङ्कृतिः (ष० त०), सा एव (मयूरव्यंसकादिसमास)। "मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे" इत्यमरः। यहाँपर 'मात्र' शब्द अवधारण अर्थमें है। समीपमें भी नेत्रमें स्थित कज्जल और रक्तत्वको न देखनेवाला नेत्र तो केवल मुखका अलङ्कार है यह तात्पर्य है।

इस पद्यमें नेत्रोंमें वदनाऽलङ्कृतिमात्रत्वका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणिकीकृता जनैः।
मदनाऽनलबोधनेऽभवत्खग! धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—हे खग! जनैः मम श्रवणप्राघुणिकीकृता अमितं मधु तत्कथा अधैर्यधारिणो मम मदनाऽनलबोधने धाय्या अभवत्। धिक्! ॥ ५६ ॥

व्याख्या—हे खग=हे विहग, हंस इत्यर्थः। जनैः=लोकैः, मम=नलस्य, श्रवणप्राघुणिकीकृता=कर्णाऽतिथीकृता, श्रवणविषयीकृतेति भावः। अमितम्=अपरिमितं, मधु=क्षौद्रम्, अपरिमितमधुसमाना अतिमधुरेति भावः। तत्कथा=

दमयन्तीगुणवर्णना, अधैर्यधारिण = अत्यन्ताऽधीरस्य, मम = नलस्य, मदनाऽनलबोधने = कामाग्निप्रज्वलने, धाय्या = सामिधेनी, अग्निमिन्धनसमर्था ऋगिति भाव । अभवत् = अभूत, धिक् = अधैर्यधारिणमिति शेष । अधैर्यधारिणो मम निन्देति भाव ॥ ५६ ॥

अनुवाद—हे हंस ! लोगोंसे मेरे कानोंमें अतिथि बनायी गयी (पहुँचायी गयी) अपरिमित मधु (शहद) के समान दमयन्तीकी कथा अधीर होनेवाले मेरे कामाऽग्निको प्रज्वलित करनेमें सामिधेनी (अग्निको प्रदीप्त करनेवाली ऋचा)-सी हुई है। मुझ अधीरको धिक्कार ! ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—श्रवणप्राघुणिकीकृता = अप्राघुणिका प्राघुणिका यथा सम्पद्यते तथा कृता प्राघुणिकीकृता, प्राघुणिक + च्वि + कृ + क्त + टाप् । "आवेशिक प्राघुणिक आगन्तुरतिथिस्तथा" इति हलायुध । श्रवणयो प्राघुणिकीकृता (स० त०) । अमित = न मितम् (नञ०) । तत्कथा = तस्या कथा (ष० त०) । अधैर्यधारिण = धैर्यं धारयतीति तच्छील धैर्यधारी, धैर्य + धृ + णिच् + णिनि (उपपद०) । न धैर्यधारी, तस्य (नञ्०) । मदनाऽनलबोधने = मदन एव अनल (रूपक), तस्य बोधन, तस्मिन् (ष० त०) । धाय्या = धीयते अनया समिद् इति धाय्या (ऋक्) "पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्यामानहविर्निवाससामिधेनीषु" इस सूत्रसे "धा" धातुसे करणमें ण्यत् होकर आय् आदेशका निपातन और टाप् प्रत्यय । "ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने" इत्यमर । अर्थात् जिस ऋक्का उच्चारण कर आग जलाते हैं, उसे "सामिधेनी" और "धाय्या" भी कहते हैं। ऋक्का लक्षण है—"अथ व्यवस्थितपादा ऋच" अर्थात् छन्दोविशेषसे जहाँपर पादव्यवस्था होती है, उसे "ऋक्" कहते हैं। इस पद्यमें प्रथम चरणमें रूपक, मदनमें अनलत्वका आरोप कथामें मन्त्रत्वके आरोप में निमित्त होनेसे अश्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित रूपक है। इस प्रकार इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

विषमो मलयाऽहिमण्डली विषफूत्कारमयो मयोहित ।
बत ! कालकलत्रदिग्भव, पवनस्तद्विरहाऽनलैधसा ॥ ५७ ॥

अन्वय—विषम कालकलत्रदिग्भव पवन तद्विरहाऽनलैधसा मया मलयाऽहिमण्डलीविषफूत्कारमय ऊहित बत ! ॥ ५७ ॥

व्याख्या—विषम = प्रतिकूल, कालकलत्रदिग्भव = यमदिशाभव, दाक्षि-

नाप्यः, तापहर इति भावः । पवनः=वायुः, तद्विरहानलैधसा=दमयन्ती-वियोगाग्निकाष्ठरूपेण, मया=नलेन, मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयः=मलयपर्वतसर्पसङ्घविषफूत्कारस्वरूपः, ऊहितः=तर्कितः । बत=खेदे ॥५७॥

अनुवाद—यमराजकी दिशा (दक्षिण) में उत्पन्न प्रतिकूल वायुको दमयन्ती के वियोगाग्निके काष्ठरूप मैंने "यह मलयपर्वतके सर्पसमूहके विषका फूत्कार-स्वरूप है" ऐसी तर्कना की, खेद है ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—कालकलत्रदिग्भवः=कालस्य कलत्रं (ष० त०), "कालो दण्ड-धरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तकः" इति । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इति चामरः । कालकलत्रं चासौ दिक् (क० धा०) तस्यां भवः (स० त०) । तद्विरहानलै-धसा=तस्या विरहः (ष० त०), स एव अनलः (रूपक०), तस्य एधः, तेन (ष० त०) । मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयः=अहीनां मण्डली (ष० त०), मलये अहिमण्डली (स० त०), तस्या विषं (ष० त०), प्रचुरः फूत्कार अस्ति तस्मिन्निति स फूत्कारमयः । फूत्कार शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे मयट् प्रत्यय । मलयाहिमण्डलीविषस्य फूत्कारमयः (ष० त०) । ऊहितः—'ऊह वितर्के' धातुसे क्त प्रत्यय । इस पद्यमें विरहमें अनलत्वका आरोप, पवनमें काष्ठत्वके आरोपमें निमित्त है । अतः परम्परित रूपक और उत्प्रेक्षा भी है । इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ॥ ५७ ॥

प्रतिमासमसौ निशाकरः खग ! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम् ।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे खग ! असौ निशाकरः प्रतिमासं यद् दिनाधिपं सङ्गच्छति, ततः स तीव्रतरैः धैर्यतस्करैः करैः मम दाहाय सङ्गच्छति किमु ? ॥ ५८ ॥

व्याख्या—हे खग !=हे हंस !, असौ=अयं, निशाकरः=चन्द्रः, प्रतिमासं=मासे मासे, प्रतिदर्शमिति भावः । यद्, दिनाधिपं=सूर्यं, सङ्गच्छति=प्राप्नोति । ततः=सूर्यसङ्गात्, सः=चन्द्रः, तीव्रतरैः=अतितीक्ष्णैः, धैर्य-तस्करैः=धीरतापहारिभिः, करैः=किरणैः, मम=नलस्य, कान्तावियोगिन इति भावः । दाहाय=सन्तापाय, सङ्गच्छति=प्राप्नोति, किमु=इत्युत्प्रेक्षायाम् । सूर्यसङ्गादेव चन्द्रकरेषु तीक्ष्णता, अन्यथा कथं स्यादिति भावः ॥ ५८ ॥

अनुवाद—हे हंस ! यह चन्द्रमा प्रतिमास जो सूर्यसे मिलता है, वे उससे

अत्यन्त तीक्ष्ण और धैर्यको चुरानेवाली किरणोंसे मुझे जलाने के लिए मिलता है क्या ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—निशाकर =निशां करोतीति, निशा-उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "दिवाविभानिशा०" इत्यादि सूत्रसे ट प्रत्यय। कहीं-कहीं "निशापति" ऐसा पाठान्तर है, अर्थ समान है। प्रतिमास=मासं मासम्, वीप्सामें अव्ययीभाव। दिनाऽधिप=दिनानाम् अधिप, तम् (ष० त०)। सङ्गच्छति=सं+गम्+लट्+तिप्। सकर्मक होनेसे "समोगम्यृच्छिभ्याम्" इससे आत्मनेपद नहीं हुआ। तीव्रतरैः=अतिशयेन तीव्रा, तैः, तीव्र+तरप्+भिस। धैर्यतस्करैः=धैर्यस्य तस्करा, तैः (ष० त०)। दाहाय="तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इससे चतुर्थी। इस पद्यमें "किमु" शब्दके उत्प्रेक्षावाचक होनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानि तद्।
हृदयं यदमूमुहन्ममं यदवातितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

अन्वय—स्मरेषव कुसुमानि यदि, न तु वज्रं, तद् विषवल्लिजानि। यद् अमू मम हृदयम् अमूमुहन् यद् अतितमाम् अतीतपन् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—स्मरेषव =कामबाणा, कुसुमानि यदि=पुष्पाणि चेद्, न तु वज्रं =न तु अशनि, तत्क्षणमरणाऽभावादिति भाव। तद्=तर्हि, विषवल्लिजानि=गरललतोत्पन्नानि। यद्=यस्मात्कारणात्, अमू =स्मरेषव, मम=नलस्य, हृदय=मन, अमूमुहन्=अमूर्च्छयन्, यद्=यस्मात्, अतितमाम्=अतिमात्रम्, अतीतपन्=तापितवन्त ॥ ५९ ॥

अनुवाद—कामदेवके बाण यदि पुष्प हैं, वज्र नहीं तो वे विषकी लताओंसे उत्पन्न हैं, जो कि इन्होंने (कामदेवके बाणभूत पुष्पोंने) मेरे हृदयको मूर्च्छित और अत्यन्त संतप्त किया ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—स्मरेषव =स्मरस्य इषव (ष० त०), "पत्री रोप इषुर्द्वयो" इस कोशके अनुसार 'इषु' शब्द पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्गमें है, यहाँपर उत्तरवाक्यमें "अमू" ऐसे सर्वनाम शब्दसे स्त्रीलिङ्ग है। विषवल्लिजानि=विषस्य वल्लय (ष० त०)। "वल्ली तु व्रततिर्लता" इत्यमर। विषवल्लिभ्यो जातानि, विषवल्लि+जन्+ड+जस्। अमूमुहन्="मुह वैचित्ये" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लुङ्+झि, च्लिके स्थानमें चङ्। अतितमाम्=अति—

उपसर्गसे तमप् होकर "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" इस सूत्रसे आमु प्रत्यय। अतीतपन्="तप सन्ताने" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लुङ्+झि, च्लि के स्थानमें चङ्। इस पद्यमें स्मरेपुओंमें विपत्रलिलजत्वकी संभावना करनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ५९॥

तदिहाऽनवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ।
भव पोत इवाऽवलम्वनं विधिनाऽऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः॥ ६०॥

अन्वयः—तत् इह अनवधौ कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ निमज्जतो मम विधिना आकस्मिकसृष्टसन्निधिः (सन्), पोत इव अवलम्वनं भव॥ ६०॥

व्याख्या—तत्=तत्कारणात्, इह=अस्मिन्, अनवधौ=अवधिशून्ये, अपार इति भावः। कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ=कामवाणमनोव्यथासमुद्रे, निमज्जतः=अन्तर्गतस्य, मम=नलस्य, विधिना=भाग्येन, आकस्मिकसृष्ट-सन्निधिः=अकस्मादुत्पादितसामीप्यः, मत्सौभाग्यादागत इति भावः। त्वमिति शेपः। पोत इव=यानपात्रम् इव, अवलम्वनम्=आलम्वनं, भव=एधि, दम-यन्तीसंयोजनेन त्वं मम कामवाणमनोव्यथासमुद्रोत्तरणहेतुर्भव इति भावः।६०।

अनुवाद—(हे हंस!) इस कारणसे कामवाणरूप मनोव्यथाके इस अपार समुद्रमें डूवते हुए मेरे लिए भाग्यसे अकस्मात् सामीप्यसे सम्वद्ध तुम, नौका-के समान अवलम्वन वनो॥ ६०॥

टिप्पणी—अनवधौ=अविद्यमानः अवधिर्यस्य सः, तस्मिन् (नञ् वहु०)। कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ=कन्दर्पस्य शराः (ष० त०), तैः आधिः (तृ० त०), "पुंस्याधिर्मानसी व्यथा" इत्यमरः। कन्दर्पशराऽऽधिः एव नीरधिः, तस्मिन् (रूपक०)। निमज्जतः=नि+मस्ज+लट् (शतृ)+ङस्। आकस्मिक-सृष्टसन्निधिः=अकस्मात् भवम् आकस्मिकम्, "अकस्मात्" इस अव्ययसे "अध्यात्मादिभ्यश्च" इससे ठक् प्रत्यय और "अव्ययानां भमात्रे टिलोपः" इससे टिलोप। सृष्टः सन्निधिः यस्य सः (वहु०)। आकस्मिकं (यथा तथा) सृष्टसन्निधिः (सुप्सुपा०)। पोतः="यानपात्रे शिशौ पोतः" इत्यमरः। भव=भू+लोट्+सिप्। प्रार्थनामें लोट्, इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें रूपक और उत्तरार्द्धमें उपमा इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी निरपेक्षतासे संसृष्टि है॥ ६०॥

अथवा भवतः प्रवर्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः।
स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता॥ ६१॥

अन्वय -अथवा इयं न भवत प्रवर्तना कथं पिष्टं न पिनष्टि, हि ग्रहणानां यथार्थता यथा सतां परार्थता स्वतः एव ॥ ६१ ॥

व्याख्या—अथवा=पक्षान्तरे, इयम्=एषा, "भव पोत इवाऽवलम्बनम्" इत्यादिवाक्यघटिता, न =अस्माक, भवत =तव, प्रवर्तना=प्रेरणा, कथ= केन प्रकारेण, पिष्ट=चूर्णितमन्नादिकं, न पिनष्टि=न पुनश्चूर्णयति, भवत स्वत कर्तृत्वान्मदीया प्रेरणा पिष्टपेषणरूपेति भाव । उक्तमर्थं समर्थयते—स्वत इति । हि=यस्मात्कारणात्, ग्रहणाना=ज्ञानाना, यथार्थता=याथार्थ्यं, प्रामाण्यमिति भाव । यथा=इव, सता=सज्जनाना, परार्थता=परार्थ-प्रवृत्ति, स्वत एव=स्वभावत एव, यथा ज्ञानाना प्रामाण्य स्वतस्तथैव सज्ज-नाना परार्थप्रवृत्ति स्वभावत एव न तत्र प्रवर्तनाया अपेक्षेति भाव ॥६१॥

अनुवाद—अथवा आपको यह हमारी प्रेरणा पिष्टपेषणके समान क्यो नही होगी ? क्योकि जैसे ज्ञानोका प्रामाण्य स्वत होता है, वैसे ही दूसरो के हितके लिए सज्जनोकी प्रवृत्ति भी स्वभावत होती है ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—न ="अस्मदो द्वयोश्च" इस सूत्रसे एकत्वकी उक्तिमे भी अस्मद् शब्दसे षष्ठीमें बहुवचन । "प्रवर्तना" इस कृदन्तपदके योगमे "उभय-प्राप्तौ कर्मणि" इस नियमसे "कर्तृकर्मणो कृति" इस सूत्रसे कारकषष्ठीका निषेध होनेसे यह षष्ठी विभक्ति "षष्ठी शेषे" इस सूत्रसे हुई है । प्रवर्तना= प्रवर्तनम्, णिच् प्रत्ययान्त "वृतु वर्तने" धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इस सूत्रसे युच् (अन) प्रत्यय होकर टाप् । पिनष्टि=पिष्लृ सञ्चूर्णने" धातुसे लट्+ तिप् । यथार्थता=यथार्थस्य भाव । यथार्थ+तल्+टाप् । परार्थता=परेषु अर्थ (प्रयोजनम्) येषा ते (व्यधिकरणबहु०), तेषा भाव , परार्थ+तल् +टाप् । स्वत =स्वस्मात् इति, स्व शब्दसे "अपादाने चाऽहीयरुहो" इस सूत्रसे तसि प्रत्यय, यह अव्यय है । यहाँपर मीमासकोके सिद्धान्तके अनुसार ज्ञानका स्वत प्रामाण्य माना गया है । नैयायिक ज्ञानका परत प्रामाण्य मानते हैं । इस पद्यमे उपमा और अर्थान्तरन्यास दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ ६१ ॥

तव वर्त्मनि वर्तता शिव, पुनरस्तु त्वरित समागम ।
अपि साधय साधयेप्सित, स्मरणीया समये वय वय ॥ ६२ ॥

अन्वय —हे वय ! तव वर्त्मनि शिव वर्तताम् । त्वरित पुन समागम अस्तु । अपि साधय । ईप्सितम् साधय । समये वय स्मरणीया ॥ ६२ ॥

व्याख्या—हे वय =हे हस !, तव=भवत , वर्त्मनि=मार्गे, शिव=मङ्गल,

वर्ततां=भवतु। त्वरितं=शीघ्रम् एव, पुनः=भूयः, समागमः=सङ्गमः, मया सहेति शेषः। अस्तु=भवतु, कृतकार्यस्य तवेति शेषः। अपिसाधय=गच्छ। ईप्सितम्=अभीष्टं, दमयन्त्या समं मत्संयोजनरूपमिति शेषः। साधय=सम्पादय। समये=कार्यकाले, वयं, स्मरणीयाः=स्मर्तव्याः॥ ६२॥

अनुवाद—हे हंस! तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो। शीघ्र फिर तुम्हारे साथ हमारा समागम हो। जाओ; मेरे अभीष्ट कार्यका सम्पादन करो। उचित समयमें तुम मेरा स्मरण करना॥ ६२॥

टिप्पणी—हे वयः="खगवाल्यादिनोर्वयः" इत्यमरः। वर्ततां="वृतु वर्तने" धातुसे प्रार्थनामें लोट्+त। अस्तु="अस भुवि" धातुसे लोट्+तिप्। अपिसाधय=अपि+साध्+णिच्+लोट्+सिप्। ईप्सितम्=आप्तुम् इष्टं, तत् सन्नन्त "आप्लृ व्याप्तौ" धातुसे क्त प्रत्यय और "आप्ज्ञप्यृधामीत्" इस सूत्रसे आप्का ईत्व। वयम्="अस्मदो द्वयोश्च" इस सूत्रके अनुसार एकवचनमें भी बहुवचन। स्मरणीयाः=स्मर्तुं योग्याः, स्मृ+अनीयर्+जस्। इस पद्यमें छेक अलङ्कार है और ओज नामक काव्यलक्षण है, जैसे कि "ओजः स्यात्प्रौढिरर्थस्य सङ्क्षेपो वाऽति भूयसः।" अर्थात् जहाँपर प्रौढि वा अधिक अर्थोंका संक्षेप होता है, उसे "ओज" कहते हैं॥ ६२॥

इति तं स विसृज्य धैर्यवान्नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः॥ ६३॥

अन्वयः—धैर्यवान् सूनृतवाग्बृहस्पतिः स नृपतिः इति तं विसृज्य श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः विस्मितः (सन्) वनवेश्म अविशत्॥ ६३॥

व्याख्या—धैर्यवान्=धैर्ययुक्तः, उपायलाभादिति शेषः। सूनृतवाग्बृहस्पतिः=सत्यप्रियवादेषु वाचस्पतिः, प्रगल्भ इति भावः। सः=पूर्वोक्तः, नृपतिः=राजा, नल इत्यर्थः। इति=इत्थं, तं=हंसं, विसृज्य=प्रस्थाप्य, श्रुतिलग्नैः=कर्णप्रविष्टैः, कलहंसशंसितैः=हंसभाषितैः, विस्मितः=आश्चर्ययुक्तः सन्, वनवेश्म=उपवनभवनम्, अविशत्=प्रविष्टः॥ ६३॥

अनुवाद—धैर्यसम्पन्न, सत्य और प्रियवचन बोलनेमें बृहस्पतिके समान राजा नलने उस (हंस) को विदा करके कानमें घुसे हुए हंसके भाषणोंसे आश्चर्ययुक्त होकर उपवनके भवनमें प्रवेश किया॥ ६३॥

टिप्पणी—धैर्यवान्=धैर्यम् अस्ति यस्य सः, धैर्य+मतुप्। सूनृतवाग्बृहस्पतिः=सूनृताश्च ता वाचः (क० धा०), "अथ सूनृते। सत्ये प्रिये"

इत्यमर । सूनृतवाक् बृहस्पति (स० त०), नृपति =नृणां पति (ष० त०), विसृज्य=वि+सृज्+क्त्वा (ल्यप्) । कलहसशसितं =कलहंसस्य शसितानि, तं (ष० त०), "कादम्ब कलहंस स्यात्" इत्यमर । वनवेश्म=वनस्य वेश्म, तत् (ष० त०) । अविशत्="विश प्रवेशने" धातुसे लङ्+तिप् । "सूनृतवाग्बृहस्पति" इस पदमे लुप्तोपमा अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

अथ भीमसुताऽवलोकनं सफलं कर्तुमहस्तदेव स ।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगर कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥ ६४ ॥

अन्वय—अथ स अण्डज तद् अह एव भीमसुताऽवलोकनं सफलं कर्तुं क्षितिजमण्डलमण्डनायित कुण्डिन नगर ययौ ॥ ६४ ॥

व्याख्या—अथ=यात्राऽर्थं राजाऽनुज्ञाऽनन्तर, स =पूर्वोक्त , अण्डज = पक्षी, हस इत्यर्थ । तद् अह एव=तद् दिनम् एव, भीमसुताऽवलोकनं = भैमीदर्शनं , सफल=साऽर्थक, कर्तुं=विधातु, तस्मिन्नेव दिने दमयन्ती द्रष्टुमिति भाव । क्षितिमण्डलमण्डनायित =भूमण्डलाऽलङ्कारभूत, कुण्डिन= कुण्डिननामक, नगर=पुर, ययौ=जगाम ॥ ६४ ॥

अनुवाद—तब वह पक्षी (राजहस) उसी दिन दमयन्तीके दर्शनोंसे सफल करनेके लिए भूमण्डलके अलङ्कारभूत कुण्डिन नगरको गया ॥ ६४ ॥

टिप्पणी—अण्डज =अण्डे जात, अण्ड+जन्+ड (उपपद०), "अण्डजा पक्षिसर्पाद्या" इत्यमर । भीमसुताऽवलोकनं =भीमस्य सुता (ष० त०), तस्या अवलोकनानि, तं (ष० त०) । सफल=फलेन सहित, तत् (तुल्ययोगबहु०) । कर्तुं=कृ+तुमुन् । क्षितिमण्डलमण्डनायित =क्षिते मण्डल (ष० त०) । मण्डनवत् आचरित मण्डनायितम्, मण्डन+क्यङ्+क्त । ययौ=या+लिट्+तिप् । इस पदमे "मण्डनायितम्" उपमा अलङ्कार है ॥ ६४ ॥

प्रथमं पथि लोचनाऽतिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
कलसं जलसम्भृतं पुर कलहस कल्याम्बभूव स ॥ ६५ ॥

अन्वय—स कलहस प्रथम पथि लोचनाऽतिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशसिन जलसम्भृत कलस पुर कलयाम्बभूव ॥ ६५ ॥

व्याख्या—अथ श्लोकत्रयेण शुभशकुनान्याह—प्रथममित्यादिना । स = पूर्वोक्त , कलहस =राजहस , प्रथमम्=आदौ, पथि=मार्गे, लोचनाऽतिथि=

नेत्रातिथीकृतं, पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनं=पान्थेष्टार्थसाफल्यसूचकं, जल-सम्भृतं=सलिलपूर्णं, कलशं=कुम्भं, पुरः=अग्रे, कलयाम्बभूव=ददर्श। यात्रासमये जलसहितकलशस्य नेत्रगोचरः पूर्णघटः शकुनसूचको भवतीति भावः ॥ ६५ ॥

अनुवाद—उस राजहंसने चलते मार्गमें पथिकोंके अभीष्टकी सफलताके सूचक जलपूर्ण कलशको देख लिया ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—नेत्रातिथिं=नेत्रयोः अतिथिः, तम् (ष० त०)। पथिक-प्रार्थितसिद्धिशंसिनं=पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः 'पथिन्' शब्दसे "पथः ष्कन्" इस सूत्रसे ष्कन् प्रत्यय और "षः प्रत्ययस्य" इस सूत्रसे 'ष' की इत्संज्ञा। "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि" इत्यमरः। पथिकानां प्रार्थितं (ष० त०), तस्य सिद्धिः (ष० त०), पथिकप्रार्थितसिद्धिं शंसतीति पथिक-प्रार्थितसिद्धिशंसी, तम्, पथिकप्रार्थितसिद्धि+शंस+णिनि (उपपद०)+अम्। जलसम्भृतं=जलेन सम्भृतः जलसम्भृतः, तम् (तृ० त०) कलयाम्बभूव="कल सङ्ख्याने" धातुसे णिच् होकर लिट्+तिप् (णल्)। इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें वृत्त्यनुप्रास 'लशं' 'लशम्' इस अंशमें छेकानुप्रास, इस प्रकार उनका एकाश्रयानुप्रवेशरूप सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसं गतम् ।
स विलासवनेऽवनीभुजः फलमैक्षिष्ट रसालसङ्गतम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—स दिदृक्षया अम्बरे क्षणम् आश्चर्यरसालसं गतम् अवलम्ब्य अवनीभुजो विलासवने रसालसङ्गतं फलम् ऐक्षिष्ट ॥ ६६ ॥

व्याख्या—सः=हंसः, दिदृक्षया=दर्शनेच्छया, स्वगन्तव्यमार्गस्येति शेषः। अम्बरे=आकाशे, क्षणं=कञ्चित्कालं यावत्, आश्चर्यरसालसं=विस्मयरसेन मन्दं, गतं=गतिम्, अवलम्ब्य=आश्रित्य, अवनीभुजः=राज्ञः, नलस्येत्यर्थः। विलासवने=क्रीडावने, रसालसङ्गतं=चूतवृक्षसम्बद्धं, फलम्=आम्रफलम्, ऐक्षिष्ट=दृष्टवान्, प्रस्थाने आम्रफलदर्शनमपि शुभशकुनमिति भावः ॥६६॥

अनुवाद—उस हंसने मार्गदर्शनकी इच्छासे आकाशमें कुछ समयतक आश्चर्यरससे मन्द गतिका अवलम्बन कर राजाके क्रीडावनमें आमके पेड़में विद्यमान आम्रफलको देखा ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—दिदृक्षया=द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा, तया, दृश्+सन्+अ+टाप्+टा। क्षणं="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया। आश्चर्य-रसालसम्=आश्चर्यस्य रसः (ष० त०), तेन अलसम् (तृ० त०), तम्।

गत=गम् + क्त + अम् । अवनीभुज =अवनीं भुनक्तीति अवनीभुक्, तस्य अवनी + भुज + क्विप (उपपद०) + ङस् । "अवनीभृत" इस पाठमें अवनीं बिभर्तीति अवनीभृत्, तस्य, अवनी + भृ + क्विप् + ङस् । विलासवने = विलासस्य वन, तस्मिन् (ष० त०) । रसालसङ्गत=रसाले सङ्गत, तत् (ष० त०) । "आम्रश्चूतो रसालोऽसौ" इत्यमर । ऐक्षिष्ट=ईक्ष + लुङ + त । इस पद्यमे प्रथम और चतुर्थ चरणमे अन्त्ययमक है, अत दो शब्दाऽलङ्कारोकी संसृष्टि है।

नभस कलभैरुपासित जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम् ।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुप नगम् ॥ ६७ ॥

अन्वय —पतङ्गपुङ्गव स नभस कलभै जलदै उपासित भूरितरक्षुपन्नग विटपच्छन्नतरक्षुप नग ददर्श ॥ ६७ ॥

व्याख्या—पतङ्गपुङ्गव =पक्षिश्रेष्ठ, स =हस, नभस =आकाशस्य, कलभै =हस्तिशावकरूपै, जलदै =मेघै, उपासित =व्याप्त, भूरितरक्षुपन्नग=बहुमृगादनसर्पम्, एव च विटपच्छन्नतरक्षुप =शाखाऽतिशयच्छादितह्रस्वशाखवृक्ष, नग =पर्वत, ददर्श =दृष्टवान्, पूर्णकुम्भादिदर्शन पान्थाना क्षेमकरमिति शकुनशा ॥ ६७ ॥

अनुवाद—पक्षियोमे श्रेष्ठ उस हसने आकाशके हाथीके बच्चोके समान मेघोसे व्याप्त और शाखाओसे छिपे हुए चीते और सर्पोंसे युक्त पर्वतको देखा ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—पतङ्गपुङ्गव =पुमाश्चाऽसौ गौ पुङ्गव (क० धा०), "गोरतद्धितलुकि" इससे समासान्त टच् प्रत्यय । "स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जरा । सिंहशार्दूलनागाद्या पुंसि श्रेष्ठार्थगोचरा" इत्यमर । पतङ्गश्चाऽसौ पुङ्गव (क० धा०) । कलभै ="कलभ करिशावक" इत्यमर । जलदै =जल ददतीति जलदा, तै जल–उपपदपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे "आतोऽनुपसर्गे क" इस सूत्रसे क प्रत्यय (उपपद०) + भिस् । भूरितरक्षुपन्नगम् =भूरय तरक्षव पन्नगा यस्मिन्, तम् (बहु०) । "तरक्षुस्तु मृगाऽदन" इत्यमर । विटपच्छन्नतरक्षुप =अतिशयेन छन्ना छन्नतरा, छन्न + तरप् + जस् । विटपे छन्नतरा (तृ० त०) । "विस्तारो विटपोऽस्त्रियाम्" इत्यमर । विटपच्छन्नतरा क्षुपा यस्मिन्, तम् (बहु०) "ह्रस्वशाखाशिफ क्षुप" इत्यमर । नग=न गच्छतीति नग, तम्, नञ् + गम् + ड + अम् ।

"नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे नञ्का विकल्पसे प्रकृतिभाव। अतः एक पक्षमें "अगः" ऐसा रूप भी होता है। "शैलवृक्षौ नगावगौ" इत्यमरः। ददर्श=दृश्+लिट्+तिप्। इस पद्यमें "कलभैः" "जलदैः" यहाँपर रूपक और द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें अन्त्ययमक है ॥ ६७ ॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—स क्षणं धुतपक्षतिः, क्षणम् ऊर्ध्वायनदुर्विभावनः विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणम् आलोककदत्तकौतुकः (सन्) ययौ ॥ ६८ ॥

व्याख्या—सः=हंसः, क्षणं=कञ्चित्कालं यावत्, धुतपक्षतिः=कम्पितपक्षमूलः, क्षणं=कञ्चित्कालं यावत्, ऊर्ध्वायनदुर्विभावनः=उपरिगमनदुर्लक्षः, विततीकृतनिश्चलच्छदः=विस्तारितनिष्कम्पपक्षः, तथा क्षणं=कञ्चित्कालं यावत्, आलोककदत्तकौतुकः=दर्शकवितीर्णकुतूहलः सन्, ययौ=जगाम ॥६८॥

अनुवाद—वह हंस कुछ समयतक पक्षमूलोंको हिलाता हुआ और कुछ समयतक ऊपर जानेसे दुःखसे देखा जानेवाला तथा कम्परहित पंखोंको फैलाता हुआ, इस प्रकार कुछ समयतक देखनेवालोंको कौतुक देता हुआ गया ॥६८॥

टिप्पणी—क्षणं="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया। धुतपक्षतिः =पक्षयोर्मूले पक्षती, "पक्षात्तिः" इस सूत्रसे ति प्रत्ययः। "स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्" इत्यमरः। धुते पक्षती येन सः (बहु०)। ऊर्ध्वायनदुर्विभावनः= ऊर्ध्वं च तत् अयनं (क० धा०)। दुर्लभं विभावनं यस्य सः (बहु०)। ऊर्ध्वाऽयनेन दुर्विभावनः (तृ० त०)। विततीकृतनिश्चलच्छदः=अविततौ विततौ यथा सम्पद्यते तथा कृतौ विततीकृतौ, वितत+च्वि+कृ+क्त+औ। विततीकृतौ निश्चलौ छदौ येन सः (बहु०)। आलोककदत्तकौतुकः=आलोकयन्तीति आलोककाः, आङ्+लोक+णिच्+ण्वुल्। दत्तं कौतुकं येन सः (बहु०), आलोककानां दत्तकौतुकः (ष० त०)। ययौ=या+लिट्+तिप्। "आत औ णलः" इस सूत्रसे णल्के स्थानमें औकार आदेश। इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ६८ ॥

तनुदीधितिधारया रयाद् गतया लोकविलोकनामसौ।
छदहेम कषन्निवाऽलसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले ॥ ६९ ॥

अन्वयः—असौ रयात् लोकविलोकनां गतया तनुदीधितिधारया कषपाषाणनिभे नभस्तले छदहेम कषन् इव अलसत् ॥ ६९ ॥

व्याख्या—असौ=हंस, रयात्=वेगात् हेतो, लोकविलोकना=जननयनगोचर, गतया=प्राप्तया, तनुदीधितिधारया=शरीरकिरणरेखया, कषपाषाणनिभे=निकषोपलसदृशे, नभस्तले=आकाशे, छदहेम=निजपक्षसुवर्णं, कषन् इव=घर्षन् इव, अलसत्=अशोभत ॥ ६९ ॥

अनुवाद—यह (हंस) वेगसे लोगोंके दर्शन-पथको प्राप्त शरीरके किरणकी रेखासे कसौटीके सदृश आकाशमें अपने पक्षके सुवर्णको घिसते हुएके समान शोभित हुआ ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—रयात्=हेतुमें पञ्चमी। लोकविलोकना=लोकाना विलोकना, ताम् (ष० त०), "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमर। तनुदीधितिधारया=तनो दीधिति (ष० त०), तस्या धारा, तया (ष० त०)। हंसके सुनहले शरीरकी किरणकी रेखासे यह अभिप्राय है। इस पदकी मल्लिनाथने दूसरी व्याख्या भी की है—तनुश्चाऽसौ दीधितिधारा, तया (क० धा०) अर्थात् हंसकी सूक्ष्म किरणकी रेखासे यह तात्पर्य है। "स्तोकाऽल्पक्षुल्लकाः सूक्ष्म श्लक्ष्ण दभ्र कृश तनु" इत्यमर। कषपाषाणनिभे=कषश्चाऽसौ पाषाण (क० धा०), तेन सदृश कषपाषाणनिभ, तस्मिन् (तृ० त०)। "निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादय" इत्यमर। छदहेम=छदयो हेम, तत् (ष० त०)। कषन्=कषतीति, कष+लट् (शतृ)+सु। अलसत्="लस दीप्तौ" धातुसे लङ्+तिप्। इस पद्यमें 'कषपाषाणनिभे' यहाँपर उपमा और 'कषन् इव' यहाँपर उत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥६९॥

विनमद्भिरध स्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः ।
स निरैक्षि हंसकयोपरि स्यदसाङ्कारिपतत्त्रिपद्धतिः ॥ ७० ॥

अन्वय—स्यदसाङ्कारिपतत्त्रिपद्धति स श्येननिपातशङ्किभि विनमद्भिः अध स्थितैः खगैः झटिति एकया दृशा उपरि निरैक्षि ॥ ७० ॥

व्याख्या—स्यदसाङ्कारिपतत्त्रिपद्धति =स्यदेन (वेगेन) साङ्कारिणी ('साम्' इति शब्द कुर्वाणा) पतत्त्रिपद्धति (पक्षिसरणि) यस्य स, तादृश स =हंस, श्येननिपातशङ्किभि =पत्त्रिनिपतनशङ्कनशीलैः, अत एव विनमद्भि =नम्रीभूतैः, अध स्थितैः =अधोभागे विद्यमानैः, खगैः =पक्षिभि, झटिति=शीघ्रम्, एकया=एकसङ्ख्यया, दृशा=दृष्ट्या, उपरि=ऊर्ध्वं, निरैक्षि=निरीक्षित ॥७०॥

अनुवाद—वेगसे 'साम्' ऐसा शब्द करनेवाले पक्षियोंके मार्गमें स्थित उस हंसको बाजके आक्रमणकी शङ्का करनेवाले अतएव झुकते हुए नीचे रहनेवाले पक्षियोंने शीघ्रतासे एक ही नेत्रसे ऊपर देखा ॥ ७० ॥

टिप्पणी—स्यदसाङ्कारिपतत्रिपद्धतिः = सां करोतीति साङ्कारिणी, सां + कृ + णिनि + ङीप् + सु। पतत्रिणां पद्धतिः (ष० त०), साङ्कारिणी पतत्रिपद्धतिः यस्य सः (बहु०) । स्यदेन साङ्कारिपतत्रिपद्धतिः (तृ० त०)। श्येननिपातशङ्किभिः = श्येनस्य निपातः (ष० त०), 'पत्त्री श्येन' इत्यमरः । श्येननिपातं शङ्कन्ते तच्छीलाः, तैः, श्येननिपात + शकि + णिनि (उपपद०) + भिस् । विनमद्भिः = विनमन्तीति विनमन्तः, तैः, वि + नम + लट् (शतृ) + भिस् । निरैक्षि = निर् + ईश + लुङ् (कर्ममें), इस पद्यमें पक्षिस्वभावका वर्णन होनेसे स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ७० ॥

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात् ।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—यन् असौ भुवि तच्छायम् अवेक्ष्य तत्क्षणात् दिवि दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा जनेन पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः (सन्) न ददृशे ॥ ७१ ॥

व्याख्या—यन् = गच्छन्, असौ = हंसः, भुवि = भूमौ, तच्छायं = तस्य छायाम् (प्रतिबिम्बम्), अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, तत्क्षणात् = तस्मिन्नेव क्षणे, दिवि = आकाशे, दिक्षु = दिशासु, च वितीर्णचक्षुषा = दत्तदृष्टिना, जनेन = लोकेन, भूतलस्थितेनेति शेषः । पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः = महाजवशीघ्रत्यक्तदृष्टिमार्गः सन्, न ददृशे = नो दृष्टः, अल्पक्षणेनैव हंसो नेत्रमार्गमतिक्रान्त इति भावः ॥ ७१ ॥

अनुवाद—जाते हुए हंसके जमीनपर उसकी छायाको देखकर, उसी क्षणमें आकाशमें और दिशाओंमें दृष्टिपात करनेवाले मनुष्यने बड़े वेगसे नेत्रमार्गको पार करनेसे उसे नहीं देखा ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—यन् = एतीति, "इण् गतौ" धातुसे लट् (शतृ) + सु । तच्छायं = तस्य छाया तच्छायं, तत् (ष० त०) "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इसमें नपुंसकलिङ्ग हुआ है । अवेक्ष्य = अव + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्) । तत्क्षणात् = स चाऽसौ क्षणः, तस्मात् (क० धा०) । वितीर्णचक्षुषा = वितीर्णे चक्षुषी येन सः, तेन (बहु०) । पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः = पृथुश्चाऽसौ वेगः (क० धा), द्रुतं मुक्तः (सुप्सुपा०), दृशोः पन्था दृक्पथः (ष० त०), "ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे" इससे समासान्त अप्रत्यय । द्रुतमुक्तो दृक्पथो येन सः

(बहु०) । पृथुवेगेन द्रुतमुक्तदृक्पथ (तृ० त०) । ददृशे=दृश् + लिट् + त (कर्ममें) । इस पद्यमे दर्शनाऽभावके प्रति पृथु आदि पदके अर्थकी हेतुतासे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ७१ ॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम् ।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचारुतम् ॥ ७२ ॥

अन्वय —गतिवेगप्रसरद्रुचा अमुना पथि क्वचित् अपि उच्चतरद्रुचारुतं वनं न शिश्रिये, सगोत्रजं रुतं वा न अन्ववादि ॥ ७२ ॥

व्याख्या—गतिवेगप्रसरद्रुचा=गमनजवप्रसर्पत्कान्तिना, अमुना=हसेन, पथि=मार्गे, क्वचित् अपि=कुत्रचित् अपि, उच्चतरद्रुचारुतम्=उन्नततर-वृक्षसौन्दर्यं, वनं=काननं, न शिश्रिये=न आश्रितम् । तथा सगोत्रजं=बन्धुजन्यं, रुतं वा=कूजितं वा, न अन्ववादि=न अनूदितं, तस्तेन राजकार्यं त्वरया मध्येमार्गं श्रमाऽपनयनाऽर्थं वनं नाश्रितं, तथैव बन्धुसम्भाषणादिकं च नो विहितमिति भाव ॥ ७२ ॥

अनुवाद—गमनके वेगसे फैलनेवाली कान्तिवाले हसने मार्गमे कहीं भी वृक्षोंके उन्नत सौन्दर्यसे सम्पन्न किसी वनका आश्रय नहीं लिया और न अपने बन्धु हसोके कूजितका उत्तर ही दिया ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—गतिवेगप्रसरद्रुचा=गतेर्वेगः (ष० त०) । प्रसरन्ती रुक् यस्य स 'प्रसरद्रुक्' (बहु०) । गतिवेगेन प्रसरद्रुक्, तेन (तृ० त०) । उच्चतर-द्रुचारुतम्=अतिशयेन उच्चा उच्चतरा, उच्च+तरप्+जस् । उच्चतराश्च ते द्रव (क० धा०), चारोर्भाव चारुता, चारु+तल्+टाप् । उच्चतरद्रूणा चारुता यस्मिंस्तत् (व्यधिकरणबहु०) । "पलाशी द्रुद्रुमाऽगमा" इत्यमर । शिश्रिये="श्रिञ् सेवायाम्" धातुसे कर्ममें लिट्+त । सगोत्रज=समान गोत्र (कुल) येषा ते सगोत्रा (बहु०), "ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप-स्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु" इस सूत्रसे 'समान' के स्थानमे "स" भाव । "गोत्र नाम्न्यचले कुले" इति कोश । "सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजना समा " इत्यमर । सगोत्रेभ्यो जात, सगोत्र+जन्+ड+सु । रुत="तिरश्चा वाशित रुतम्" इत्यमर । अन्ववादि=अनु–उपसर्गपूर्वक 'वद'–धातुसे लुङ् (कर्ममे) । नलके कार्यको शीघ्र सम्पन्न करनेके लिए हसने मार्गमे श्रम हटानेके लिए न किसी वनमें मुकाम किया और न अपने बन्धुओंके साथ सभाषण

आदि ही किया, यह भाव है। इस पद्यमें द्वितीय और चतुर्थ पादोंमें अन्त्ययमक अलङ्कार है ॥ ७२ ॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हिमशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

अन्वयः—अथ धराजिता भीमभुजेन पालिता हिमशैलोपमसौधराजिता मञ्जुः असौ नगरी पतगस्य दृक्पथं जगाम ॥ ७३ ॥

व्याख्या—अथ=प्रस्थानाऽनन्तरं, धराजिता=भूमिजयिना, भीमभुजेन=भीमभूपबाहुना, पालिता=रक्षिता, हिमशैलोपमसौधराजिता=हिमालयसदृशराजभवनशोभिता, मञ्जुः=मनोहरा, असौ=इयं, नगरी=पुरी, कुण्डिनपुरीति भावः। पतगस्य=पक्षिणः, हंसस्य। दृक्पथं=नेत्रमार्गं, जगाम=ययौ, हंसः=कुण्डिनपुरीं ददर्शेति भावः ॥ ७३ ॥

अनुवाद—तब पृथ्वीको जीतनेवाले महाराज भीमके बाहुसे रक्षित हिमालय पर्वतके समान (सफेद) राजभवनोंसे शोभित, मनोहर वह कुण्डिनपुरी पक्षी (हंस) के दृष्टिमार्गमें प्राप्त हुई ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—धराजिता=धरां जयतीति धराजित्, तेन, धरा+जि+क्विप् (उपपद०)+टा। भीमभुजेन=बिभेति अस्मात् इति भीमः, "भीमादयोऽपादाने" इस सूत्रसे निपातन। भीमस्य भुजः, तेन (ष० त०)। हिमशैलोपमसौधराजिता=हिमानां शैलः (ष० त०), तस्य इव उपमा (सादृश्यम्), येषां तानि (व्यधि० बहु०)। तानि च तानि सौधानि (क० धा०), "सौधोऽस्त्री राजसदनम्" इत्यमरः। तैः राजिता (तृ० त०)। दृक्पथं=दृशोः पन्थाः दृक्पथः, तम् (ष० त०), समासाऽन्त अप्रत्यय। जगाम=गम्+लिट्+तिप्। इस पद्यमें "मञ्जुरसौ धराजिता" इस द्वितीय चरणमें 'असौधराजिता' और चतुर्थचरणमें 'सौधराजिता' होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है। 'हिमशैलोपमसौधराजिता' यहाँपर उपमा है, पूर्वार्द्धमें अन्त्याऽनुप्रास और द्वितीय और चतुर्थ चरणमें यमक है, इस प्रकार संसृष्टि है ॥ ७३ ॥

दयितं प्रति यत्र सन्ततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—यत्र स्फटिकोपलविग्रहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः गृहा दयितं प्रति सन्ततं भुवः रतिहासा इव रेजिरे ॥ ७४ ॥

व्याख्या—अथ द्वात्रिंशत्सस्यर्कं पद्यैः कुण्डिनपुरीं वर्णयति । यत्र=कुण्डिनपुर्यां, स्फटिकोपलविग्रहाः=स्फटिकमणिमयशरीराः, शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः=चन्द्रखण्डनिष्कलङ्कबुद्ध्या, गृहाः=भवनानि, दयितं प्रति=प्रियं प्रति, भीमभूपं प्रतीति भावः । सन्ततम्=निरन्तरं, भुवः=भूमेः, नायिकास्वरूपाया इति भावः । रतिहासा इव=केलिहास्यानि इव, कविसमये हासस्य शुक्लवर्णत्वा" इति भावः । रेजिरे=शुशुभिरे ॥ ७४ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमें स्फटिक मणि से बने हुए चन्द्रखण्डोंके समान निष्कलङ्क दीवारोंवाले भवन, पति महाराज भीमके प्रति पृथ्वीरूप नायिकाके निरन्तर क्रीडाके हास्योंके समान शोभित होते थे ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—स्फटिकोपलविग्रहाः=स्फटिकाश्च ते उपलाः (क० धा०), त एव विग्रहा येषां ते (बहु०) 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः=शशं बिभर्तीति शशभृत्, शश+भृ+क्विप् (उप०) । तस्य भित्तानि (ष० त०), "भित्तं शकलखण्डे वा पुंसि" इत्यमरः । निर्गतः अङ्कः (कलङ्कः) याभ्यस्ता निरङ्का (बहु०), शशभृद्भित्तानि इव निरङ्का भित्तयो येषां ते (बहु०) । "भित्तिः स्त्री कुड्यमेडूकम्" इत्यमरः । गृहाः='गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः' इत्यमरः । दयितं='प्रति' इसके योगसे 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इस वार्तिकसे द्वितीया विभक्ति । रतिहासाः=रतेर्हासाः (ष० त०) । रेजिरे='राजृ दीप्तौ' धातुसे लिट्+झ । 'फणां च सप्तानाम्' इस सूत्रसे एत्व और अभ्यासका लोप । इस पद्यमें पूर्वार्धमें उत्प्रेक्षा और उत्तरार्धमें उपमा, इस प्रकार दो अलङ्कारोंकी संसृष्टि है ॥ ७४ ॥

> नृपनीलमणीगृहत्विषामुपघ्ने यत्र भयेन भास्वतः ।
>
> शरणाप्तमुवास वासरेऽप्यसदावृत्युदयत्तमं तमः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—यत्र तमः भास्वतः भयेन नृपनीलमणीगृहत्विषाम् उपघ्ने शरणाप्तं वासरे अपि असदावृत्ति उदयत्तमम् (सत्) उवास ॥ ७५ ॥

व्याख्या—यत्र=यस्यां, कुण्डिननगर्यामित्यर्थः । तमः=अन्धकारः, भास्वतः=सूर्यात्, भयेन=भीत्या, नृपनीलमणीगृहत्विषां=भूपेन्द्रनीलरत्नगृहकान्तीनाम्, उपघ्ने=छलात्, शरणाप्तं=गृहप्राप्तं, वासरे अपि=दिवसे अपि, असदावृत्ति=पुनरावृत्तिरहितम्, अत उदयत्तमम्=उद्यत्तमं सत्, अतिनिबिडमिति भावः । उवास=न्यवसत् स्म ॥ ७५ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरीमें अन्धकार, सूर्यके भयसे राजा भीमके इन्द्रनील मणियोंसे बने हुए भवनोंके बहानेसे भवनके भीतर रहकर दिनमें भी नहीं लौटता हुआ गाढ होकर रहता था ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—भास्वतः=भासः सन्ति यस्य स भास्वान्, तस्माद्, 'भास' शब्दसे 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इस सूत्रसे 'मतुप्' और 'तसौ मत्वर्थे' इस सूत्रसे भसंज्ञा होनेसे पदकार्य रुत्वका अभाव। "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इससे अपादानसंज्ञा होनेसे पञ्चमी। नृपनीलमणीगृहत्विषां=नीलाश्च ता मणयः (क० धा०)। 'रत्नं मणिर्द्वयोः' इत्यमरः। 'मणि' शब्दसे 'कृदिकारादक्तिनः' इससे ङीप् होकर 'मणी' शब्द बनता है। नीलमणीनां गृहाः (ष० त०)। नृपस्य नीलमणीगृहाः (ष० त०), तेषां त्विषः, तासाम् (ष० त०)। उपधेः='कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। शरणाप्तं=शरणम् (गृहं रक्षितारं वा) आप्तम्, 'द्वितीया श्रिताऽतीतपतितगताऽत्यस्तप्राप्तापन्नैः' इससे द्वि० त०। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। असदावृत्तिः=न सती असती (नञ्०), असती आवृत्तिर्यस्य तद् (बहु०)। उदयत्तमम्=उदेतीति उदयत्, उद्+इण्+लट् (शतृ)। अतिशयेन उदयत् उदयत्तमम्, उदयत्+तमप्। उवास=वस्+लिट्+तिप्। "लिटयभ्यासस्योभयेषाम्" इससे अभ्यासका संप्रसारण। इस पद्यमें अन्धकारमें कार्यके द्वारा शरणार्थीजनके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति और उदात्त अलङ्कार है, दोनोंकी संसृष्टि है ॥ ७५ ॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पिते　　यदगारे　　हसदङ्करोदसि।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते हसदङ्करोदसि यदगारे निशि निखिलान् तिथीन् एकिका पूर्णिमा तिथिः अतिथिः (सती) उपतस्थे ॥ ७६ ॥

व्याख्या—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते=शुक्लदीपनशीलरत्ननिर्मिते, हसदङ्करोदसि=प्रकाशमाननिकटद्यावापृथिविके, यदगारे=कुण्डिनगृहे, निशि=रात्रौ, निखिलान्=समस्तान्, तिथीन्=प्रतिपत्प्रभृतीन्, एकिका=एकाकिनी, एकैवेति भावः। पूर्णिमा=पौर्णमासी, तिथिः=राकेति भावः, अतिथिः=आगन्तुका सती, उपतस्थे=उपस्थिता, सङ्गतेति भावः। स्फटिकरत्ननिर्मितकुण्डिनभवनानां शुक्लवर्णद्यावापृथिव्यौ रात्रावपि प्रकाशमाने आस्ताम्, ततश्च सर्वा अपि तिथयः पूर्णिमातुल्या जाता इति तात्पर्यम् ॥ ७६ ॥

अनुवाद—सफेद प्रकाशमान रत्नो (स्फटिको) से बने हुए, जिनके निकट आकाश और पृथिवी प्रकाशमान हैं कुण्डिनपुरीके ऐसे गृहोमे रातमे सब तिथियों के पास एकमात्र पूर्णिमा तिथि अतिथि होती हुई उपस्थित होती थी ॥ ७६॥

टिप्पणी—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते=दीपनशीला दीप्रा "दीपी दीप्तौ" धातु से "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो र" इस सूत्रसे र प्रत्यय। सिताश्च ते दीप्रा (क० धा०), सितदीप्राश्च ते मणय (क० धा०), तैं प्रकल्पितम् (तृ० त०), तस्मिन्। "यदगारे" इस पदका विशेषण। हसदङ्करोदसि=हसन् अङ्क (मध्यभाग) ययोस्ते (बहु०), हसदङ्के रोदस्यौ (द्यावापृथिव्यौ) यस्य तत् हसदङ्करोद, तस्मिन् (बहु०), यदगारे=यस्या (कुण्डिनपुर्या) अगार, तस्मिन् (ष० त०)। "अगारे" यह जातिमे एकवचन है। तिथीन्= "तिथयोर्द्वयो" इत्यमर। एकिका=एका एव, 'एक" शब्दसे "एकदाकिनिचासहाये" इस सूत्रसे स्वार्थमे कप्रत्यय। अतिथि ="स्युरावेशिकरागन्तुरतिथिर्ना गृहागते" इत्यमर। उपतस्थे=उप उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातुसे "उपाद् देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्" इससे सङ्गतिकरणमें आत्मनेपद होकर लिट्+त। इस पद्यमें कुण्डिनपुरीमे स्फटिकके भवनो की कान्तिसे नित्य चन्द्रमाका योग होनेसे सभी रात्रियाँ पूर्णिमाके समान थी, इस प्रकार भेद होनेपर भी अभेदकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ७६ ॥

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताऽऽशया।
न निशाऽखिलयाऽपि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥ ७७ ॥

अन्वय—यत्र सुदतीजनमज्जनार्पितै घुसृणै कषायिताऽऽशया वापिका ग्रहिला मानिनी इव अखिलया निशा अपि न प्रससाद ॥ ७७ ॥

व्याख्या—यत्र=यस्या नगर्यां, सुदतीजनमज्जनार्पितै =सुन्दरीलोकस्नानवितीर्णै, घुसृणै =कुङ्कुमै, कषायिताऽऽशया=सुगन्धिताऽभ्यन्तरभागा, कलुषिताऽन्त करणा च, वापिका=दीर्घिका, ग्रहिला=निर्बन्धयुक्ता, मानिनी इव=मानवती नायिका इव, अखिलया=सकलया, निशा अपि=रात्र्या अपि, रात्र्या सर्वभागेषु व्यतीतेष्वपीति भाव। न प्रससाद=प्रसन्ना नाऽभूत्। कुण्डिनपुर्यां सुन्दरीणा स्नानेन तत्कुचार्पितकुङ्कुमरञ्जिता वापिका सपत्नीकुचकुङ्कुमसम्पर्कयुक्त नायक दृष्ट्वा निर्बन्धवती नायिका इव रात्रौ व्यतीतायामपि न प्रससाद, वापि निर्मला नाभूत् नायिका च प्रसन्नमानसा नाऽभूदिति भाव ॥ ७७ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरीमें सुन्दरियोंके स्नानसे फैले हुए कुङ्कुमोंसे भीतर सुगन्धित होनेवाली वावली सपत्नीके कुङ्कुमके सम्पर्कयुक्त पतिको देखकर हठ करनेवाली अभिमानिनी नायिकाके समान रातके बीतने पर भी प्रसन्न (वावलीके पक्षमें निर्मल, नायिकाके पक्षमें प्रसादयुक्त) नहीं हुई ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—सुदतीजनमज्जनार्पितैः=शोभना दन्ता यासां ता सुदत्यः(बहु०), "वयसि दन्तस्य दतृ" इस सूत्रसे दन्तके स्थानमें "दतृ" आदेश और स्त्रीत्व-विवक्षामें "उगितश्च" इस सूत्रसे ङीप्। सुदत्यश्च ते जनाः (क० धा०), तेषां मज्जनं (ष० त०), तेन अर्पितानि, तैः (तृ० त०)। कषायिताऽऽशया= कषायित आशयः (अभ्यन्तरभागः, अन्तःकरणं वा) यस्याः सा। वापिका= "वापी तु दीर्घिका" इत्यमरः। ग्रहिला=ग्रहः अस्ति यस्याः सा, 'ग्रह' शब्दसे "लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः" इस सूत्रसे इलच् और स्त्रीत्वविवक्षा-में टाप्। मानिनी=प्रशस्तो मानः अस्या अस्तीति, माने+इनि=ङीप्। "स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये।" प्रियके अन्य स्त्रीके संसर्गसे स्त्रियोंको जो ईर्ष्यासे उत्पन्न कोप है, उसे "मान" कहते हैं। निशा='निशा' शब्दका "पद्दन्नोमास् हृन्निशन्०" इत्यादि सूत्रसे निश् आदेश, टा विभक्ति। प्रससाद=प्र+सद्+लिट्+तिप्। इस पद्यमें पूर्णोपमा अलङ्कार है ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्ष्यते ॥ ७८ ॥

अन्वयः—निशि क्षणनीरवया श्रितवप्रावलियोगपट्टया यया मणिवेश्ममयं निर्मलम् अबाह्यं ज्योतिः ईक्ष्यते ॥ ७८ ॥

व्याख्या—निशि=रात्रौ, अर्धरात्र इति भावः। क्षणनीरवया=अल्पकालं निःशब्दया, नगरीपक्षे जनानां सुप्तत्वात्, योगिनीपक्षे ध्याननिश्चलत्वादिति तात्पर्यम्। श्रितवप्रावलियोगपट्टया=आश्रितयोगवस्त्रसदृशप्राकारपङ्क्त्या, यया=नगर्या, मणिवेश्ममयं=स्फटिकभवनस्वरूपं, निर्मलं=शुभ्रम्, अविद्यादि-दोषरहितं च, अबाह्यम्=अन्तर्वर्ति, किमपि=अवाङ्मनसगोचरं, ज्योतिः =तेजः, आत्मप्रकाशश्च, ईक्ष्यते स्म=दृश्यते स्म, "इज्यते स्म" इति पाठे पूज्यते स्मेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अनुवाद—आधीरात में कुछ समय निःशब्द होकर योगवस्त्रके समान प्राकारपङ्क्तिको धारण कर जो कुण्डिनपुरी, योगिनीके समान स्फटिकमणियोंके

गृहस्वरूप निर्मल (शुक्ल) अभ्यन्तरस्मित अनिर्वाच्य प्रकाशका दर्शन करती थी ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—क्षणनीरवया=निर्गतो रवो यस्या सा नीरवा (बहु०), क्षण नीरवा (सुप्सुपा०) तया । श्रितवप्राऽऽवलियोगपट्टया=वप्राणाम् आवलि (ष० त०), "प्राकारो वरणो वप्र" इत्यमर । योगस्य पट्ट (ष० त०) वप्राऽऽवलि, योगपट्ट इव, "उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याऽप्रयोगे" इससे उपमितकर्मधारय । श्रितो वप्राऽऽवलियोगपट्टो यया, तया (बहु) । यह नगरी पक्षमें है । योगिनीपक्ष मे—वप्राऽऽवलि इव योगपट्ट "उपमानानि सामान्यवचनै" इससे समास । श्रितो वप्रावलियोगपट्टो यया, तया (बहु०) । मणिवेश्ममय=मणीना वेश्म (ष० त०), तद् स्वरूप यस्य तद् (मणिवेश्म+मयट्) निर्मल=निर्गत मल यस्मात्तद् (बहु०) । ज्योति=प्रभा (नगरीपक्षमे), आत्मज्योति (योगिनीपक्षमे) । ईक्ष्यते स्म=ईक्ष+लट् (कर्ममे) त । "इज्यते स्म" ऐसे पाठान्तरमे यज+लट् (कर्ममें) । इस पद्यमे प्रस्तुत नगरी विशेषणके साम्यसे अप्रस्तुत योगिनीकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ७८ ॥

> विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या ।
> परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बाऽनवलम्बिताऽम्बुनि ॥ ७९ ॥

अन्वय —या परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बाऽनवलम्बिताऽम्बुनि क्वचन जलाशयोदरे अनुबिम्बिता द्यौ इव विललास ॥ ७९ ॥

व्याख्या—या=नगरी, परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बाऽनवलम्बिताऽम्बुनि =खेयच्छलव्यक्तस्वलत्प्रतिमाऽसम्बद्धजले, क्वचन=कुत्रचन, जलाशयोदरे=ह्रदमध्ये, अनुबिम्बिता=प्रतिबिम्बिता, द्यौ इव=अमरावती इव, विललास=शुशुभे ॥ ७९ ॥

अनुवाद—जो (नगरी) खाईके बहानेसे स्पष्ट चलनेवाले प्रतिबिम्बसे जहाँ बीचका जल नही दिखाई देता है, ऐसे किसी सरोवरके बीचमें प्रतिबिम्बित अमरावतीकी तरह शोभित होती थी ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—परिखाकपटेत्यादि ०–परित खन्यते इति परिखा, परि–उपसर्ग पूर्वक "खनु अवदारणे" इस धातुसे "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इससे ड प्रत्यय । "खेय तु परिखा" इत्यमर । परिखाया कपट (ष० त०), स्फुरच्च तद् प्रतिबिम्बम्

(क० धा०), स्फुटं स्फुरत्प्रतिबिम्बम् (सुप्सुपा०) । परिखाकपटेन स्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बम् (तृ० त०) । न अवलम्बितम् (नञ्०), अनवलम्बितम् (मध्ये वृहल्लापम्) अम्बु यस्मिन् (बहु०) । प्रतिबिम्बमें पड़ा हुआ जल प्रतिबिम्बदेशमें प्रतीत नहीं होता है, चारों ओर प्रतीत होता है । परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बेन अनवलम्बिताम्बु, तस्मिन् (तृ० त०) । जलाशयोदरे=जलानाम् आशयः (ष० त०), तस्य उदरं, तस्मिन् (ष० त०) । अनुबिम्बिता=अनुबिम्बं सञ्जातं यस्याः सा, अनुबिम्ब+इतच्+टाप् । द्यौः="सुरलोको द्योदिवौ द्वे" इत्यमरः । विललास=वि+लस+लिट् । इस पद्यमें कैतवाऽपह्नुति और उत्प्रेक्षा इन दोनों की संसृष्टि है ॥ ७९ ॥

व्रजते दिवि यद्गृहाऽऽवलीचलचेलाऽञ्चलदण्डताडनाः ।
व्यतरन्नरुणाय विश्रमं सृजते हेलिहयाऽऽलिकालनाम् ॥ ८० ॥

अन्वयः—यद्गृहाऽऽवलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः दिवि व्रजते हेलिहयाऽऽलिकालनां सृजते अरुणाय विश्रमं व्यतरन् ॥ ८० ॥

व्याख्या—यद्गृहाऽऽवलीचलचेलाऽञ्चलदण्डताडनाः=कुण्डिनभवनपङ्क्तिचञ्चलपताकाऽग्रप्रतोदाघाताः, दिवि=आकाशे, व्रजते=गच्छते, हेलिहयाऽऽलिकालनां=सूर्याऽश्वपङ्क्तिप्रेरणां, सृजते=कुर्वते, अरुणाय=सूर्यसारथये, विश्रमं=विश्रान्ति, व्यतरन्=अददुः ॥ ८० ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरीके भवनोंमें चञ्चल पताकाके अग्रभागके दण्डोंके आघात आकाशमें जाते हुए और सूर्यके घोड़ोंकी प्रेरणा करनेवाले अरुणको विश्राम देते थे ॥ ८० ॥

टिप्पणी—यद्गृहावलीचलचेलाऽञ्चलदण्डताडनाः=गृहाणाम् आवल्यः (ष० त०), यस्यां गृहावल्यः (स० त०), चेलानाम् अञ्चलाः (ष० त०), "वस्त्रमाच्छादनं वासश्चेलं वसनमंशुकम्" इत्यमरः । चलाश्च ते चेलाऽञ्चलाः (क० धा०), चलचेलाऽञ्चला एव दण्डाः (रूपक०), चलचेलाऽञ्चलदण्डैः ताडनाः (तृ० त०) । यद्गृहाऽऽवलीषु चलचेलाऽञ्चलदण्डताडना (स० त०), यह कर्तृपद है । व्रजते=व्रज+लट् (शतृ)+ङे । हेलिहयाऽऽलिकालनाम्=हेलेर्हयाः (ष० त०), "हेलिरालिङ्गने रवौ" इति यादवः । हेलिहयानाम् आलिः (ष० त०), तस्याः कालना, ताम् (ष० त०) । सृजते=सृज+लट् (शतृ)+ङे । विश्रमं=विश्रमणं विश्रमः, तम्, वि-उपसर्गपूर्वक-श्रम धातुसे घञ्, "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमेः" वृद्धिका निषेध । व्यतरन्=

वि उपसर्गपूर्वक "तॄ प्लवनसन्तरणयो" इस धातुसे लङ्+झि। इस पद्यमें सूर्यके घोड़ोके दण्डसे ताडनका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है, उससे कुण्डिनपुरी के गृहोकी सूर्यमण्डलतक ऊँचाई व्यक्त होती है, इस प्रकार अलङ्कारसे वस्तुध्वनि है ॥ ८० ॥

क्षितिगर्भधराऽम्बराऽऽलयैस्तलमध्योपरिपूरिणा पृथक्।
जगतां खलु याऽखिलाऽद्भुताऽजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥ ८१ ॥

अन्वय.—तलमध्योपरिपूरिणा जगतां पृथक् निजचिह्नधारिभिः सारैः क्षितिगर्भधराऽम्बराऽऽलयैः या अखिला अद्भुता अजनि खलु ॥ ८१ ॥

व्याख्या—तलमध्योपरिपूरिणा=अधोमध्योर्ध्वपूरकाणां, पातालभूमिस्वर्गाणामित्यर्थः। जगतां=लोकानां, पृथक्=असङ्कीर्णं, निजचिह्नधारिभिः= स्वलक्षणधारकैः, सारैः=उत्कृष्टैः, अर्थः क्षितिगर्भधराम्बराऽऽलयैः=पातालभूम्याकाशगृहैः, या=कुण्डिनपुरी, अखिला=समस्ता, अद्भुता=चित्रा, अजनि=जाता ॥ ८१ ॥

अनुवाद—अधोभाग, मध्यभाग और ऊर्ध्वभागको पूर्ण करनेवाले पाताल, भूमि और स्वर्ग इन तीनों लोकोंके भिन्न भिन्न अपने चिह्नोंको धारण करनेवाले उत्कृष्ट पाताल, भूमि और आकाशमें स्थित भवनोंसे जो (कुण्डिनपुरी) पूर्णरूपसे अद्भुत (अनूठी) हो गई ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—तलमध्योपरिपूरिणा=तलं च मध्यं च उपरि च (द्वन्द्व), तलमध्योपरि पूरयन्तीति तच्छीलानि तलमध्योपरिपूरीणि, तेषाम्, तलमध्योपरि+पूर+णिनि (उपपद०)+आम्। निजचिह्नधारिभिः=निजं च तत् चिह्नं (क० धा०), तत् धारयन्तीति तच्छीला निजचिह्नधारिण, तैः, निजचिह्न+धृ+णिनि (उपपद०)+भिस्। पाताल यानी भूगर्भ (तहखाना), उसका चिह्न—निधि (खजाना) आदि। धरा=पृथिवी, उसका चिह्न—धान्य आदि, आकाश—ऊर्ध्वलोक-ऊँची मञ्जिलवाले भवन, उनके चिह्न-फूल चन्दन आदि भोगके उपकरण। इनको धारण करनेवाले यह तात्पर्य है। क्षितिगर्भधराम्बराऽऽलयैः=क्षितेर्गर्भः (ष० त०), क्षितिगर्भ कहनेसे पाताल यानी तहखाना। क्षितिगर्भश्च धरा च अम्बरं च (द्वन्द्व), तेषु आलयैः (स० त०)। तिमञ्जिले गृहोंसे युक्त जो कुण्डिनपुरी आश्चर्यमयी थी, यह तात्पर्य है। अजनि—"जनी प्रादुर्भावे" धातुसे लुङ्+त, "दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे च्लिके स्थानमें चिण्, "चिणो लुक्" इस

नूवसे उसका लुक्। इस पद्यमें अन्य नगरियोंसे कुण्डिननगरीके आधिक्यके वर्णनसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः ।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

अन्वयः—यत्र अम्बुदनीलकण्ठतां दधत् अत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः वहत् क्षितिभृन्मन्दिरम्, इन्दुमौलिता कथं नाम न ऋच्छतु ? ॥ ८२ ॥

व्याख्या—यत्र=यस्यां कुण्डिनपुर्याम्, अम्बुदनीलकण्ठतां=मेघैर्नील-कण्ठता, दधत्=धारयत्, अत्यच्छसुधोज्ज्वलम्=अतिनिर्मललेपनद्रव्यनिर्मलं, वपुः=शरीरं, वहत्=बिभ्रत्, क्षितिभृन्मन्दिरं=राजभवनम्, इन्दुमौलिता=चन्द्रमण्डलपर्यन्तशिखरत्वं चन्द्रशेखरतां वा, कथं नाम=केन प्रकारेण, न ऋच्छतु=नो प्राप्नोतु ॥ ८२ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरीमें मेघोंसे श्याम कण्ठवाला अत्यन्त निर्मल चूनेसे उज्ज्वल शरीर धारण करनेवाला राजाका प्रसाद, शिरपर चन्द्रको धारण करनेवाले चन्द्रशेखर (शिव) के भावको क्यों नहीं प्राप्त करेगा ? ॥८२॥

टिप्पणी—अम्बुदनीलकण्ठताम्=अम्बु ददातीति अम्बुदाः, अम्बु+दा+क (उपपद०)। नीलः कण्ठो यस्य सः (बहु०)। नीलकण्ठस्य भावो नील-कण्ठता, नीलकण्ठ+तल्+टाप् । अम्बुदैः नीलकण्ठता, ताम् (तृ० त०)। दधत्=दधातीति, धा+लट्+शतृ+श्लु, "उभे अभ्यस्तम्" इससे अभ्यस्तसंज्ञा होनेसे "नाभ्यस्ताच्छतुः" इससे नुम् आगमका निषेध। राजप्रासादकी चोटीके समीपमें मेघकी उपस्थितिसे नीलकण्ठके समान प्रासाद यह तात्पर्य है। अत्यच्छसुधोज्ज्वलम्=अत्यन्तम् अच्छा (सुप्सुपा०), सा चासौ सुधा (क० धा०), "सुधा लेपोऽमृतं सुधा" इत्यमरः। अत्यच्छसुधया उज्ज्वलम् (तृ० त०) अत्यन्त निर्मल चूनेके लेपसे उज्ज्वल भवन। इन्दुमौलि-(शिव) के पक्षमें अत्यन्त निर्मल अमृतके समान उज्ज्वल यह तात्पर्य है। वहत्=वहतीति, वह्+लट्+शतृ। क्षितिभृन्मन्दिरं=क्षितिं बिभर्तीति क्षितिभृत्, क्षिति+भृ+क्विप् (उपपद०)। क्षितिभृतः मन्दिरम् (ष० त०)। इन्दुमौलिताम्=इन्दुः मौलौ यस्य (व्यधिकरणबहु०), तस्य भावः तत्ता, ताम्, इन्दुमौलि+तल्+टाप्+अम्। ऋच्छतु=ऋच्छ+लोट्+तिप्। इस पद्य से राजभवनकी मेघमण्डलपर्यन्त ऊँचाई व्यक्त होती है। इस पद्यमें राज-

भवनका इन्दुमौलित्वके साथ सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धके कथन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ८२ ॥

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कव ।
यदनेककसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

अन्वय —यदनेककसौधकन्धराहरिभिः बहुरूपशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कव कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

व्याख्या —यदनेककसौधकन्धराहरिभिः =कुण्डिनपुरीबहुप्रासादमध्यभागस्थसिंहैः, बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु=अधिकसौन्दर्यपाञ्चालिकाऽऽननसोमेषु, स्थिता इति शेषः । कलङ्करङ्कव =लाञ्छनमृगाः, कुक्षिगतीकृता इव=भक्षिता इव, प्रतीयन्त इति शेषः ॥ ८३ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरी के प्रचुर प्रासादोंके मध्यभागमें निर्मित सिंहोंने अधिक सौन्दर्यवाली पुतलियोंके मुखचन्द्रोंमें स्थित कलङ्करूप मृगोंको मानों खा लिया है ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—यदनेककसौधकन्धराहरिभिः =अनेककानि च तानि सौधानि (क० धा०), यस्या अनेककसौधानि (ष० त०), तेषां कन्धरा (ष० त०), यहाँ "कन्धरा" पदसे मध्यभाग लक्षित होता है । यदनेककसौधकन्धरासु हरय, तैः (स० त०) । "सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः" इत्यमरः । बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु=बहु रूपं (सौन्दर्यम्) यासां ता बहुरूपकाः (बहु०), "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासान्त कप् प्रत्यय । बहुरूपकाश्च ता शालभञ्जिका (क० धा०), मुखानि एव चन्द्रा (रूपक०), बहुरूपकशालभञ्जिकानां मुखचन्द्रा, तेषु (ष० त०) । कलङ्करङ्कव =कलङ्का एव रङ्कव (रूपक०) । "कृष्णसाररुरुन्यङ्कुरङ्कुशम्बररौहिषाः" इत्यमरः । कुक्षिगतीकृता =कुक्षिं गता (द्वि० त०), "पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दम्" इत्यमरः । अकुक्षिगता कुक्षिगता यथा सम्पद्यन्ते तथा कृता कुक्षिगतीकृता, कुक्षिगत+च्वि+कृ+क्त+जस् । पुतलियोंके मुख चन्द्रके समान थे, चन्द्रमें कलङ्क होता है, उन लोगोंके मुखचन्द्रमें कलङ्करूप जो मृग थे, उनको भवनोंमें निर्मित सिंहोंने खा लिया, इसीलिए नहीं दिखाई पडते हैं । पुतलियों के मुखचन्द्र निष्कलङ्क थे, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें "मुखचन्द्रेषु" इस पदमें रूपक और "कुक्षिगतीकृता इव" इस पदमें उत्प्रेक्षा है, इस प्रकार इनकी निरपेक्षरूपसे स्थिति होनेसे संसृष्टि है ॥ ८३ ॥

वलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माऽऽह दिवोऽपि नारदः ।
अधराऽथ कृता ययेव सा विपरीताऽजनि भूविभूषया ॥ ८४ ॥

अन्वयः—स तथ्यवाक् नारदः वलिसद्मदिवं दिवः अपि उपरि आह स्म । अथ भूविभूषया यया अधरा कृता इव सा विपरीता अजनि ॥ ८४ ॥

व्याख्या—सः=प्रसिद्धः, तथ्यवाक्=सत्यवचनः, नारदः=ब्रह्मपुत्रः, देवर्षिविशेषः । वलिसद्मदिवं=पातालस्वर्गं, दिवः अपि=स्वर्गात् अपि, उपरि=ऊर्ध्वस्थिताम्, उत्कृष्टां च, आह स्म=उक्तवान् । अथ=इदानीं, भूविभूषया=भूम्यलङ्कारभूतया, यया=कुण्डिननगर्या, अधरा=न्यूना, अधस्ताच्च, कृता इव=विहिता इव, सा=वलिसद्मद्योः, विपरीता=अन्यादृशी, नारदोक्तेरिति शेषः । हीना इति भावः । अजनि=जाता, सर्वोपरिस्थितायाः पुनरधःस्थिति-वैपरीत्यमिति भावः ॥ ८४ ॥

अनुवाद—प्रसिद्ध सत्यभाषी नारद ऋषिने पातालरूप स्वर्गको स्वर्गसे भी ऊपर (उत्कृष्ट) कहा था । इस समय पृथिवीकी अलङ्कारभूत जिस कुण्डिननगरीने अपने सौन्दर्यसे पातालको अधर (नीचा)-सा कर दिया, इस कारण से वह (पातालरूप स्वर्ग) विपरीत (नीचा) हो गया ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—तथ्यवाक्=तथ्या वाक् यस्य सः (बहु०) । वलिसद्मदिवं=वलेः सद्म (ष० त०), "अधोभुवनपातालं वलिसद्म रसातलम्" इत्यमरः । वलिसद्म एव द्यौः, ताम् (रूपक०) । आह स्म=ब्रू धातुके स्थानमें "ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः" इस सूत्रसे "आह" आदेश, "स्म" के योगमें भूत-कालमें लट् । नारदने विष्णुपुराणमें "स्वर्गादप्यतिरमणीयानि पातालानि" अर्थात् "पाताल स्वर्गसे भी अत्यन्त रमणीय है" ऐसा कहा है । भूविभूषया=भूवो विभूषा, तया (ष० त०) । अजनि=जन+लुङ् (कर्तामें)+त । स्वर्ग और पातालसे भी कुण्डिनपुरी रमणीय है, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें "वलिसद्मदिवम्" यहाँपर रूपक और "कृता इव" यहाँपर उत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८४ ॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभे ।
कलहान्न घनान् यदुत्थितानधुनाऽप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—पथिकाह्वानदसक्तुसौरभे प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् यदुत्थितात् कलहात् घर्घरस्वरः अधुना अपि घनान् न उज्झति ॥ ८५ ॥

व्याख्या—पथिकाह्लानदसक्तुसौरभे=पान्थाह्लायकसक्तुसुगन्धे, प्रतिहट्टपथे =प्रत्यापणमार्गे, घरट्टजात्=गोधूमादिचूर्णीपाषाणजन्यात्, यदुत्थितात्=कुण्डिन नगर्युत्पन्नात्, कलहात्=विवादात्, जात इति शेष, घर्घरस्वर =निर्झरस्वर, अधुना अपि=साम्प्रतम् अपि, घनान्=मेघान् न उज्झति=न त्यजति। सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वान कुर्वन्तीति भाव ॥ ८५ ॥

अनुवाद—पथिकोको बुलानवाले (आकर्षण करनेवाले) सत्तूके सौरभसे युक्त बाजारके मार्गमें चक्कियोसे उत्पन्न जिस कुण्डिनपुरसे उठे हुए कलहसे घर्घर शब्द अब तक मेघको नही छोड रहा है ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—पथिकाह्लानदसक्तुसौरभे=पन्थान गच्छन्तीति पथिका, पथिन् शब्दसे "पथ ष्कन्" इससे ष्कन् प्रत्यय। पथिकानाम् आह्लानम् (ष० त०), तत् ददातीति पथिकाह्लानदम्, पथिकाह्लान+दा+क (उपपद०)। सक्तूना सौरभम् (ष० त०)। पथिकाह्लानद सक्तुसौरभ यस्मिन्, तस्मिन् (बहु०)। प्रतिहट्टपथे=हट्टस्य पन्था हट्टपथ (ष० त०), समासान्त अ प्रत्यय। हट्टपथ हट्टपथ प्रति प्रतिहट्टपथ, तस्मिन् (यथा शब्दके वीप्सा अर्थमें अव्ययीभाव) "तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्" इस सूत्रसे सप्तमीमें बाहुल्येन अम्का अभाव। घरट्ट-जात्=घरट्टात् जात घरट्टज, तस्मात्, घरट्ट+जन्+ड (उपपद०)+ ङसि। यदुत्थितात्=यस्या उत्थित, तस्मात् (ष० त०)। घर्घरस्वर = घर्घरश्चासौ स्वर (क० धा०)। "घर्घर" यह अव्यक्तानुकरण शब्द है। उज्झति="उज्झी विवासे" धातुसे लट्+तिप्। कुण्डिनपुरमें सब हाटोंमें चक्कियाँ मेघके समान शब्द करती रहती हैं, यह इस पद्यका तात्पर्य है। इस पद्यमें मेघो का चक्कियोसे कलहका सम्बन्ध न होनेपर भी कलह-सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और घर्घर शब्दका कलहके हेतुके तौर उत्प्रेक्षणसे इवादि शब्दके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो अलङ्कारो का सङ्कर है ॥ ८५ ॥

वरण कनकस्य मानिनी दिवमङ्कादमराऽद्रिरागताम्।
घनरत्नकवाटपक्षति परिरभ्याऽनुनयन्नुवास याम् ॥ ८६ ॥

अन्वय—कनकस्य वरण अमराऽद्रि या मानिनीम् अङ्कात् आगता दिव घनरत्नकवाटपक्षति (सन्) परिरभ्य अनुनयन् उवास ॥ ८६ ॥

व्याख्या—कनकस्य=सुवर्णस्य, वरण =प्राकार एव, अमराऽद्रि =सुर-पर्वत, सुमेरुरित्यर्थ, या=नगरीम् एव, मानिनीं=कोपयुक्ताम्, अत एव अङ्कात्=निजोत्सङ्गात्, आगताम्=आयाता, भूलोकमिति शेष। दिव=

स्वर्गम्, अमरावतीमित्यर्थः, घनरत्नकवाटपक्षतिः = निबिडमणिकपाटपक्षमूलः सन् । परिरभ्य = आलिङ्गय, अनुनयन् = अनुनयं कुर्वन्, अनुसरन्नित्यर्थः, उवास = उषितवान्, कामिनः प्रणयकुपितां प्रेयसीमाश्लिष्य अनुगच्छन्तीति भावः ॥८६॥

अनुवाद—सुवर्णप्राकाररूप सुमेरुपर्वत जिस कुण्डिनपुरीरूप मानिनी और गोद से आई हुई अमरावतीको गाढ रत्नोंवाले कपाटरूप पक्षमूलोंसे युक्त होकर आलिङ्गन कर अनुनय करता हुआ रहता था ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—वरणः = "प्राकारो वरणो वप्रः" इत्यमरः । अमराद्रिः = अमराणां अद्रिः (ष० त०) । मानिनीं = मानः अस्ति अस्याः सा मानिनी, ताम्, मान् + इनि + ङीप् + अम् । घनरत्नकवाटपक्षतिः = रत्नानां कवाटे (ष० त०), "कवाटमररं तुल्ये" इत्यमरः । घने रत्नकवाटे एव पक्षती यस्य सः (बहु०) । "स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्" इत्यमरः । परिरभ्य = परि + रभ् + क्त्वा (ल्यप्) । अनुनयन् = अनुनयतीति, अनु + नी + लट् (शतृ) + सु । उवास = वस + लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यसे विदर्भ देशमें सुवर्णका प्राकार सुमेरु पर्वतके समान है, कुण्डिननगरी अमरावतीकी सदृश है, रत्नोंके किवाड़ सुमेरुपर्वतके पक्षमूलोंके तुल्य हैं, ऐसी प्रतीति होती है । इस पद्यमें सुवर्ण-प्राकारमें सुमेरुपर्वतका और कपाटमें पक्षतिका और कुण्डिननगरीमें अमरावती का आरोप होनेसे समस्तवस्तुविषय साङ्गरूपक और लिङ्गसाम्यसे सुमेरुपर्वत और स्वर्गपुरी में नायक और नायिकाके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति है, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८६ ॥

अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः ।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्ध्यताम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—या रवेः उदयं लयम् अन्तरा ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः अनलैः परिवेषम् एत्य बाणपुरीपरार्ध्यताम् अवहत् ॥ ८७ ॥

व्याख्या—या = कुण्डिननगरी, रवेः = सूर्यस्य, उदयम् = उद्गमं, लयम् = अस्तमयं च, अन्तरा = मध्ये, सूर्यस्योदयाऽस्तकालयोर्मध्यकाल इति भावः । ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः = दीप्यमानसूर्यकान्तप्राकारोत्पन्नैः, सूर्यकिरणसम्पर्कादिति शेषः । अनलैः = अग्निभिः, परिवेषं = परिवेष्टनम्, एत्य = प्राप्य, बाणपुरीपरार्ध्यतां = बाणासुरनगरीश्रेष्ठताम्, अग्निपरिवेष्टितत्वामिति भावः । अवहत् = धृतवान् ॥ ८७ ॥

अनुवाद—जो कुण्डिननगरी सूर्यकिरणके उदय और अस्तकालके मध्य समयमे सूर्यकिरणके सम्पर्कसे जलनेवाले सूर्यकान्तके प्राकारसे उत्पन्न अग्नियोंसे घिरी जाती हुई बाणासुरकी नगरीकी श्रेष्ठताको धारण करती थी ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—उदय, लयम् = "अन्तरा" पदके योगमे "अन्तराऽन्तरेण युक्ते" इस सूत्रसे द्वितीया । ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभि = अर्कस्य उपला (ष० त०), ज्वलन्तश्च ते अर्कोपला (क० धा०), तेषा वप्र (ष० त०), ज्वलदर्कोपलवप्राद् जन्म येषा ते ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मान , तैं (व्यधिकरणबहु०) । बाणपुरीपराध्र्यता = बाणस्य पुरी (ष० त०), पराध्यस्य भाव पराध्यंता, पराध्यं + तल् + टाप् । "पराध्र्याग्रप्रागहरप्राग्र्याऽग्रयाग्रीयमग्रियम्" इत्यमर । बाणपुर्या पराध्यता, ताम् (ष० त०) । अवहत् = वह + लङ् + तिप् । शिवभक्त बाणासुरकी नगरी शिवजीके अनुग्रहसे अग्निसे परिवेष्टित थी, ऐसी पुराणकी प्रसिद्धि है । इस पद्यमें एककी पराध्यंता दूसरी कैसे धारण करेगी, इस कारण वस्तु-सम्बन्धके सादृश्यका बोधन करनेसे निदर्शना अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाऽटत्करकर्कटोत्कर,
हिमवालुकयाऽच्छवालुक पटु दध्वान यदापणार्णव ॥ ८८ ॥

अन्वय—बहुकम्बुमणि वराटिकागणनाऽटत्करकर्कटोत्कर हिमवालुकया अच्छवालुको यदापणार्णव पटु दध्वान ॥ ८८ ॥

व्याख्या—बहुकम्बुमणि = अधिकशङ्खरत्नयुक्त , वराटिकागणनाऽटत्करकर्कटोत्कर = कपर्दिकासख्यानप्रचरत्पाणिकुलीरसमूहसम्पन्न , एव च हिमवालुकया = कर्पूरेण, अच्छवालुक = निर्मलसिकत , यदापणार्णव = कुण्डिननगरीनिषद्यासमुद्र , पटु = गम्भीर यथा स्यात्तथा, दध्वान = ननाद ॥ ८८ ॥

अनुवाद—बहुतसे शङ्खो और रत्नोंसे युक्त, कौड़ियोंके गिननेमें चलनेवाले हस्तरूप कर्कटोंसे सम्पन्न और कर्पूरसे निर्मल बालुवाला जिस कुण्डिननगरीका बाजाररूपी समुद्र गम्भीर शब्द करता था ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—बहुकम्बुमणि = बहव कम्बवो मणयो यस्मिन् स (बहु०) । वराटिकागणनाऽटत्करकर्कटोत्कर = वराटिकाना गणना (ष० त०), कर्कटानाम् उत्करा (ष० त०), करा एव कर्कटोत्करा (रूपक०), अटन्तश्च ते करकर्कटोत्करा (क० धा०), वराटिकागणनायाम् अटत्करकर्कटोत्करा (स० त०) । हिमवालुकया = "घनसारश्च द्रसज्ञ सिताभ्रो हिमवालुका" इत्यमर । अच्छवालुक = अच्छा वालुका यस्मिन् स (बहु०) । यदापणार्णव =

आपण एव अर्णवः (रूपक०), यस्या आपणार्णवः (ष० त०)। पटु=यह क्रियाविशेषण है। दध्वान="ध्वन शब्दे" धातुसे लिट्+तिप् (णल्)। इस पद्यमें समस्तवस्तुविषय साऽङ्गरूपक अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ ८९ ॥

अन्वयः—यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया अभ्रगङ्गया प्रतिचन्द्रोदयं पतिव्रतौचिती न मुमुचे ॥ ८९ ॥

व्याख्या—यदगारेत्यादिः० = कुण्डिननगरीगृहपङ्क्तिक्षौमनिबद्धभूमिस्यन्दमानचन्द्रकान्तमणीप्रवृद्धजलया, अभ्रगङ्गया=मन्दाकिन्या, प्रतिचन्द्रोदयं=चन्द्रोदये चन्द्रोदये, पतिव्रतौचिती=सत्या औचित्यं, न मुमुचे=न परित्यक्ता ॥ ८९ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीके भवनोंकी अटारियोंकी निबद्धभूमियोमें पिघलनेवाले चन्द्रकान्त मणियोसे बढे हुए जलसे युक्त आकाशगङ्गाने प्रत्येक चन्द्रोदयके अवसरमें पतिव्रताका औचित्य नही छोड़ा ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—यदगारेत्यादिः०=अगाराणां घटाः (ष० त०), यस्याम् अगारघटाः (स० त०), यदगारघटासु अट्टाः (स० त०), "स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्" इत्यमरः। तेषां कुट्टिमाः "कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः" इत्यमरः। इन्दोः उपलाः (ष० त०), स्रवन्तश्च ते इन्दूपलाः (क० धा०)। यदगारघटाऽट्टकुट्टिमेषु स्रवदिन्दूपलाः (स० त०)। तुन्दिला आपः यस्याः सा तुन्दिलाऽपाः, "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अ प्रत्यय। "पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दम्" इत्यमरः। तुन्दम् अस्याऽस्तीति तुन्दिलः, "तुन्द" शब्दसे "तुन्दादिभ्य इलच्च" इस सूत्रसे इलच् प्रत्यय होता है। यद्यपि "तुन्द" शब्दका अर्थ है उदर, बढे हुए उदरवाले (तोंदवाले) को तुन्दिल कहते हैं, तथापि यहाँपर "तुन्दिल" शब्दका लाक्षणिक अर्थ है बढ़ा हुआ। यदगारघटाऽट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलैः तुन्दिलापा, तया (तृ० त०)। अभ्रगङ्गया=अभ्रे गङ्गा, तया (स० त०)। "द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रं व्योमपुष्करमम्बरम्" इत्यमरः। प्रतिचन्द्रोदयं=चन्द्रस्य उदयः (ष० त०), चन्द्रोदये चन्द्रोदये इति, वीप्सामें अव्ययीभाव। पतिव्रतौचिती=पत्यौ व्रतं (नियमः) यस्याः सा पतिव्रता (व्यधि०बहु०), "सुचरित्रा तु सती साध्वी पतिव्रता" इत्यमरः। उचितस्य भाव औचिती, "उचित" शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय। "षः प्रत्ययस्य' इससे 'ष' का और "हलस्तद्धितस्य" इससे 'य' का लोप तथा षित् होनेसे

"षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् । पतिव्रताया औचिती (ष० त०) । पतिव्रता का लक्षण है—"आर्तार्ऽऽर्ते, मुदिते हृष्टा, प्रोषिते मलिना कृशा । मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ।" (या० स्मृ०) । मुमुचे="मुच्लृ मोक्षणे" धातुसे कर्ममे लुङ+त । इस पद्यमे कुण्डिनपुरमे बड़े बड़े भवन हैं, उनमें अटारियाँ आकाशके समान ऊँची हैं, वहाँपर फर्शमे चन्द्रकान्त मणि जड़े हुए हैं, चन्द्रके उगनेपर उनकी किरणोके सम्पर्कसे चन्द्रकान्तके पिघलनेसे पानी निकलता है, वही आकाशगङ्गा है । चन्द्रोदय होनेपर जैसे आकाशगङ्गाके पति समुद्रके जलकी वृद्धि होती है, वैसे ही पत्नी आकाशगङ्गामे भी पतिव्रताधर्मके पालनके कारण जलकी वृद्धि होती है, यह तात्पर्य है । इस पद्यमे चन्द्रकान्तसे पिघले हुए जलसे आकाशगङ्गामे जलवृद्धिका सम्बन्ध न होनेपर भी उसकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और समृद्धिविशिष्ट वस्तुका वर्णन होनेसे उदात्त अलङ्कार है, उन दोनोके अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है और अतिशयोक्तिसे कुण्डिननगरी के गृहोका औन्नत्य व्यक्त होता है । इस प्रकार अलङ्कारसे वस्तुध्वनि है ॥ ८९ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निरालयाः खलु ।
अनुसायमभुर्विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः ॥ ९० ॥

अन्वयः—यत्र अनुसायं विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः अस्तम् इतस्य भास्वतः स्खलिताः निरालयाः रुचयः अभुः खलु ॥ ९० ॥

व्याख्या—यत्र = कुण्डिननगर्याम्, अनुसायं = प्रतिसन्ध्याकाल, विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः —विलेपनापणेषु = सुगन्धद्रव्यनिपद्यासु, कश्मीरजपण्यवीथयः = कुङ्कुमरूपविक्रेयवस्तुश्रेणयः, अस्तम्=अस्तपर्वतम्, इतस्य=गतस्य, भास्वतः = सूर्यस्य, स्खलिताः = च्युताः, अत एव निरालयाः = निराश्रयाः, रुचयः = प्रभाः, अभुः = भान्ति स्म, खलु = निश्चयेन ॥ ९० ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमे प्रति सायङ्कालको सुगन्धद्रव्योंकी दूकानो पर केशररूप विक्रेयपदार्थोंकी राशियाँ अस्ताचलको गये हुए सूर्यकी च्युत तथा आश्रयहीन प्रभाओके समान शोभित होती थी ॥ ९० ॥

टिप्पणी—अनुसायं = साये सायम् (वीप्सामे अव्ययीभाव) । विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः = विलेपनानाम् आपणाः (ष० त०), "आपणस्तु निपद्यायाम्" इत्यमरः । कश्मीरेषु जातानि कश्मीरजानि, कश्मीर+जन्+ड । पणितुं योग्यानि पण्यानि, "पण व्यवहारे स्तुतौ च" धातुसे "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु" इस सूत्रसे यत्प्रत्ययान्त निपातन । कश्मीरजानि

च तानि पण्यानि (क० धा०), तेषां वीथयः (ष० त०), विलेपनाऽऽपणेषु कश्मीरजपण्यवीथयः (स० त०)। निरालयाः=निर्गत आलयो याभ्यस्ताः (बहु०)। अभुः="भा दीप्तौ" धातुसे लुङ्+झि। इस पद्यमें इव आदि शब्दोंके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और सूर्यकी रुचियोंका निरालयत्व कहनेसे विशेष अलङ्कार भी है। इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है। उसका यहाँपर लक्षण है—"यदाधेयमनाधारम्।" १०—७३ ॥ ९० ॥

विततं वणिजाऽऽपणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—यत्र वणिजा पणितुम् आपणे विततम् अखिलं जगतीवस्तु पुरा हरेः उदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना इव जनेन वीक्ष्यते ॥ ९१ ॥

व्याख्या—यत्र=कुण्डिननगर्यां, वणिजा=पण्याजीवेन, पणितुं=व्यवहर्तुम्, आपणे=निषद्यायां, विततं=प्रसारितम्, अखिलं=समस्तं, जगतीवस्तु=लोकपदार्थः, पुरा=पूर्वकाले, हरेः=विष्णोः, उदरे=जठरे, मृकण्डुसूनुना=मार्कण्डेयेन, मुनिना इव=ऋषिणा इव, जनेन=लोकेन, वीक्ष्यते=अवलोक्यते।

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमें व्यापारीसे बेचनेके लिए दुकानमें फैलाये गये सम्पूर्ण लोकोंका पदार्थ, पूर्वकालमें विष्णुके उदरमें मार्कण्डेय ऋषिके समान लोग देखा करते हैं ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—वणिजा="वैदेहकः सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिक्" इत्यमरः। पणितुं=पण+तुमुन्। जगतीवस्तु=जगत्यां वस्तु (स० त०)। मृकण्डुसूनुना=मृकण्डोः सूनुः, तेन (ष० त०)। वीक्ष्यते=वि+ईक्ष+लट् (कर्ममें)+त। जैसे पूर्वकालमें मार्कण्डेय मुनिने भगवान् विष्णुके उदरमें लोकका समस्त पदार्थ देखा था, उसी तरह जिस कुण्डिननगरीकी दूकानमें लोग लोकके समस्त पदार्थ देखते हैं, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ९१ ॥

सममेणमदैर्यदापणे तुलयन्सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनाऽऽरवैरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—यदापणे सौरभलोभनिश्चलं मलीमसम् अलिम् एणमदैः समं तुलयन् पणिता कूजन्तम् अपि जनाऽऽरवैः न अवैत् ॥ ९२ ॥

व्याख्या—यदापणे=कुण्डिननगरीनिषद्यायां, सौरभलोभनिश्चलं=सौगन्ध्यलोलुपत्वस्थिरं, मलीमसं=मलिनं, कस्तूरीसवर्णमिति भावः। अलि=भ्रमरम्,

एणमदै=कस्तूरीभि, सम=सह, तुलयन्=तोलयन्, पणिता=विक्रेता, कूजन्तम् अपि=गुञ्जन्तम् अपि, जनाऽऽरवै=लोकशब्दै, कलकलैरित्यर्थ । न अवैत्=न ज्ञातवान्, शब्दोऽपीति शेष ॥ ९२ ॥

अनुवाद—कुण्डिनपुरके बाजारमे सुगन्धके लोमसे निश्चय कृष्णवर्णवाले भ्रमरको कस्तूरियोंके साथ तोलता हुआ बिक्री करता हुआ व्यापारी शब्दके करनेपर भी लोगोके शोरगुलोसे नही जानता था ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—यदापणे=यस्या आपण, तस्मिन् (ष० त०)। सौरभलोभ-निभ्रल=सुरभेर्भाव सौरभ, सुरभि+अण्। सौरभस्य लोभ (ष० त०), तेन निभ्रल, तम् (तृ० त०)। मलीमस='मल' शब्दके "ज्योत्स्नातमिस्रा०" इत्यादि सूत्रसे ईमसच्प्रत्ययाऽन्त निपातन, "मलीमस तु मलिन कच्चर मल-दूषितम्" इत्यमर। एणमदै=एणस्य मदा, तै (ष० त०), "समम्" इस पदके योगमे तृतीया। तुलयन्="तुल उन्माने" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लट्के स्थानमे शतृ आदेश। सज्ञापूर्वक विधिसे लघूपधगुण नही हुआ। पणिता=पणत इति, पण+तृच्+सु। कूजन्त=कूज+लट् (शतृ)+अम्। जनाऽऽरवै=जनानाम् आरवा, तै (ष० त०)। अवैत्=अव+इण्+लङ्+तिप। इस पद्यमें प्रकृत भ्रमरको कृष्णवर्ण गुणसे अप्रकृत कस्तूरीसे तादात्म्यप्रतीति होनेसे "सामान्य" अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"सामान्य प्रकृतस्याऽन्यतादात्म्य सदृशैर्गुणै ।" सा० द० १०–११६॥९२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाऽह ज्वलनाऽऽहितोष्मणा ।
शिशिरे निशि गच्छता पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम् ॥ ९३ ॥

अन्वय—यत्र सकलाऽह ज्वलनाऽऽहितोष्मणा रविकान्तमयेन सेतुना गच्छता चरणौ शिशिरे निशि हिम पुरा नो दुनोति ॥ ९३ ॥

व्याख्या—यत्र=कुण्डिननगर्यां, सकलाऽह=सम्पूर्णं दिव (व्याप्य), ज्वलनाऽऽहितोष्मणा=अग्निजनिततापन, रविकान्तमयेन=सूयकान्तमणिस्वरूपेण, सेतुना=आलिसदृशमार्गेण, सूयकान्तकुट्टिमाऽध्वनेति भाव। गच्छता=सञ्चरता जनाना, चरणौ=पादौ। शिशिरे=शिशिरर्तौ, निशि=रात्रौ, हिम=तुहिन, पुरा नो दुनोति=न अपीडयत् ॥ ९३ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमे दिनभर अग्निसे उत्पन्न तापवाले सूर्य-कान्तमणिसे निबद्ध भूमिके मार्गसे चलनेवाले जनोके चरणोको शिशिर ऋतुमे भी रातको जाडा पीडित नही करता था ॥ ९३ ॥

टिप्पणी—सकलाऽहम्=सकलं च तत् अहः, तम् (क० धा०), "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासाऽन्त टच् प्रत्यय, "रात्राऽह्लाहाः पुंसि" इस सूत्रसे पुंल्लिङ्गता "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया। ज्वलनाऽऽहितोष्मणा=आहिता उष्मा (उष्णता) येन स आहितोष्मा (बहु०), ज्वलनेन आहितोष्मा, तेन (तृ० त०), रविकान्तमयेन=प्रचुरः रविकान्तो यस्मिन् सः, तेन, "रविकान्त" शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे मयट् प्रत्यय। गच्छतां=गम+लट् (शतृ)+आम्। पुरा नो दुनोति="पुरा" के योगमें "टुदु उपतापे" इस धातुसे "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्रसे भूतकाल में लट्। कुण्डिननगरीमें सूर्यकान्तमणिकी कुट्टिम भूमिमें दिनभर सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे उत्पन्न आगकी गर्मीकी शिशिरऋतुमें रातमें चलनेवाले मनुष्योंके चरणोंको जाड़ा नहीं सताता था, यह इस पद्यका तात्पर्य है। इस पद्यमें हिमरुप कारणके रहनेपर भी उसका कार्य पीडाकी उत्पत्ति न होनेसे विशेपोक्ति अलङ्कार है, वह ऊष्मा (उष्णता) की उक्ति होनेसे उक्तनिमित्ता है और समृद्धिविशिष्ट वस्तुका वर्णन होनेसे उदात्त अलङ्कार भी है, इस प्रकार दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषधशीलशीतलम्।
शशिकान्तमयं तपाऽऽगमे कलितीव्रस्तपति स्म नाऽऽतपः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—विधुदीधितिजेन पयसा नैषधशीलशीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं तपाऽऽगमे कलितीव्रः आतपः न तपति स्म ॥ ९४ ॥

व्याख्या—विधुदीधितिजेन=चन्द्रकिरणसम्पर्कोत्पन्नेन, पयसा=जलेन, नैषधशीलशीतलं=नलस्वभावसदृशशीतं, शशिकान्तमयं=चन्द्रकान्तमणिनिर्मितं, यत्पथं कुण्डिननगरीमार्गं, कलितीव्रः=कलिसदृशतीक्ष्णः, आतपः=सूर्यतापः, न तपति स्म=न अतपत् ॥ ९४ ॥

अनुवाद—चन्द्रकिरणोंके सम्पर्कसे उत्पन्न जलसे नलके स्वभावके समान शीतल चन्द्रकान्त मणिसे बने हुए जिस कुण्डिनपुरीके मार्गको कलिके समान तीक्ष्ण धूप ताप नहीं करती थी ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—विधुदीधितिजेन=विधोः (प० त०), तस्या जातं विधुदीधितिजं, तेन, विधुदीधिति+जन्+ड+टा। नैषधशीलशीतलं=निषधानाम् अयं नैषधः, निषध+अण्। नैषधस्य शीलं (प० त०)। "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इत्यमरः। नैषधशीलम् इव शीतलम्, "उपमानानि सामान्य-

वचनैं" इससे समास। शशिकान्तमय=प्रचुरा शशिकान्ता यस्मिन्, तम्, शशिकान्त+मयट्। यत्पथ=यस्या पन्था, तम् (ष० त०), "ऋक्पूरब्धू-पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अ प्रत्यय। तपाऽऽगमे=तपस्य आगम, तस्मिन् (ष० त०)। "निदाघ उष्णोपगम उष्ण उष्मागमस्तप" इत्यमर। कलितीव्र=कलिरिव तीव्र, (उपमानपूर्वपदकम०)। तपति स्म='तप सन्तापे' धातुसे "स्म" उत्तरपदके रहते हुए भूतकालमें लट्। चन्द्रकान्तमणिसे निर्मित जिस कुण्डिनपुरीके मार्गको चन्द्रकी किरणोंके सम्पर्कसे उत्पन्न जलके कारण ठण्डा होनेसे ग्रीष्म ऋतुके आगमनमें भी धूप ताप नहीं करती थी, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें भी ग्रीष्मके आगमन रूप कारणके रहने पर उसके कार्य तापकी उत्पत्ति न होनेसे विशेषोक्ति अलङ्कार है, उसमें चन्द्रकिरणके सम्पर्कसे चन्द्रकान्तके पिघलनेसे जलकी उक्ति होनेसे उक्तनिमित्ता है,'कलितीव्र' और नैषधशीलशीतलम्' दोनों उपमा अलङ्कार है, इस प्रकार उनकी संसृष्टि है।

परिखावलयच्छलेन या न परेषा ग्रहणस्य गोचरा।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥ ९५ ॥

अन्वय—परिखावलयच्छलेन कुण्डलनाम् अवापिता परेषा ग्रहणस्य न गोचरा या विषमा फणिभाषितभाष्यफक्किका ॥ ९५ ॥

व्याख्या—परिखावलयच्छलेन=खेयमण्डलव्याजेन, कुण्डलनाम्=मण्डलाकाररेखाम्, अवापिता=प्रापिता, अत एव, परेषा=शत्रूणाम्, अन्येषां च, ग्रहणस्य=आक्रमणस्य च। न गोचरा=अविषया, या=कुण्डिननगरी, विषमा=दुर्बोधा, फणिभाषितभाष्यफक्किका=पतञ्जलिकथितमहाभाष्यकुण्डलावृतग्रन्थ, कुण्डिनपुरी पातञ्जलमहाभाष्यविनष्टग्रन्थभागसदृशी विषमा इति भाव ॥९५॥

अनुवाद—खाईके मण्डलके बहानेसे मण्डलाकार रेखाको प्राप्त करायी गयी शत्रुओंके आक्रमणके बाहर, जो कुण्डिननगरी दूसरेके ज्ञानका अविषय दुर्बोध, शेषनागसे कथित भाष्यकी फक्किका (विनष्ट ग्रन्थभाग) के सदृश थी ॥९५॥

टिप्पणी—परिखावलयच्छलेन=परित खाता परिखा, परि-उपसर्गपूर्वक "खनु अवदारणे" इस धातुसे "अन्येष्वपि दृश्यते" इस सूत्रसे ड प्रत्यय और टाप् "खेय तु परिखा" इत्यमर। परिखाणा वलय (ष० त०), तस्य छल, तेन (ष० त०)। अवापिता=अव+आप्+णिच्+क्त+टाप्। फणिभाषित भाष्यफक्किका=फणा अस्यास्तीति फणी, "फणा" शब्दसे "व्रीह्यादिभ्यश्च"

इस सूत्रसे इनि; "कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवा काकोदरः फणी" इत्यमरः। फणा होनेसे सर्पको "फणी" कहते हैं। यहाँपर "फणी" कहनेसे पाणिनिकी अष्टाध्यायीके महाभाष्यकार शेषनागके अवतार पतञ्जलि मुनि विवक्षित हैं। फणिना भाषितम् (तृ० त०), फणिभाषितं च तत् भाष्यम् (क० धा०), सूत्रकी व्याख्याको "भाष्य" कहते हैं। उसका लक्षण है—

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥"

अर्थात् जहाँ पर सूत्रके अनुसरण करनेवाले पदोंसे सूत्रार्थका और उसी प्रसङ्गमें प्रतिपादित स्वपदोंका भी वर्णन होता है, उसे "भाष्य" कहते हैं। काव्यमीमांसामें राजशेखरने "आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्" ऐसा लक्षण किया है। जहाँपर आक्षेपपूर्वक सूत्रार्थका वर्णन किया जाता है, उसे भाष्य कहते हैं। फणिभाषितभाष्यस्य फक्किका (प० त०)। कहा जाता है कि अष्टाध्यायीके सूत्रोंका महाभाष्य पेड़के पत्तोंपर लिखकर कोई विद्वान् ले आ रहे थे, वे मध्याह्नमें पेड़के नीचे सो रहे थे, इतनेमें कुछ सूत्रोंके व्याख्या-भाग भाष्यके पत्रों-को बकरीने खा लिया, अतः उतने भागमें कुण्डलाकार चिह्न अङ्कित है। जैसे वे सूत्रांश भाष्यकी अनुपलब्धिसे दुर्ज्ञेय हैं, उसी तरह खाईसे कुण्डलाकार घिरी हुई कुण्डिननगरी शत्रुओंसे आक्रमणकी विषयभूत नहीं है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें कैतवाऽपह्नुति और नगरीका कुण्डलिग्रन्थत्वसे उत्प्रेक्षा, वह व्यञ्जक शब्दोंके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गि-भावसे सङ्कर है॥ ९५॥

मुखपाणिपदाऽक्षिण पङ्कजै रचिताऽङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम्॥ ९६॥

अन्वयः—यत्र मुखपाणिपदाऽक्षिण पङ्कजैः, अपरेषु अङ्गेषु चम्पकैः रचिता भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं स्वयम् आदित॥ ९६॥

व्याख्या—यत्र=कुण्डिननगर्यां, मुखपाणिपदाऽक्षिण=वदनकरचरणनेत्रे, पङ्कजैः=कमलैः, रचिता, अपरेषु=अन्येषु, मुखपाणिपदाक्षिव्यतिरिक्तेष्विति भावः। अङ्गेषु=अवयवेषु, चम्पकैः=चम्पकपुष्पैः, रचिता=निर्मिता, सर्वत्र सादृश्याद् व्यपदेशः, तादृशी, भीमजा=दमयन्ती, स्मरपूजाकुसुमस्रजः=कामा-ऽर्चनपुष्पमालायाः, श्रियं=शोभां, स्वयम्=आत्मनैव, आदित=आत्तवती, गृहीतवती॥ ९६॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमे मुख, हाथों, चरणो और नेत्रोमे कमलोसे और मुख आदिसे अतिरिक्त और अङ्गोमें चम्पक पुष्पोसे बनायी गयी दमयन्ती, कामदेवकी पूजाके फूलोकी मालाको स्वय (खुद) ग्रहण करती थी ॥ ९६ ॥

टिप्पणी—मुखपाणिपदाक्षिण=मुख च पाणी च पदे च अक्षिणी च मुखपाणिपदाक्षि, तस्मिन् । "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इस सूत्रसे समाहार द्वन्द्व । "पदाऽङ्गाऽधिकारे तस्य च तदन्तस्य च" इससे तदन्तविधिकी अनुज्ञासे "अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्त" इससे अनङ् और "अल्लोपोऽन" इससे अल्लोप । भीमजा=भीमाज्जाता, भीम+जन्+ड+टाप् (उपपद०) । स्मरपूजाकुसुमस्रज =स्मरस्य पूजा (ष० त०), तस्या कुसुमानि (स० त०), तेषा स्रक्, तस्या (ष० त०) । आदित=आङ्-उपसर्गपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे "आङो दोऽनास्यविहरणे" इससे आत्मनेपद होकर लुङ्+त, "स्थाघ्वोरिच्च" इससे इत्व और "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्का लोप । जिस कुण्डिननगरीमे मुखमे श्वेत कमलसे, हाथोमे और चरणोमे रक्त कमलोसे तथा नेत्रोमे नीलकमलोसे एव मुख आदिसे भिन्न अङ्गोमे चम्पक पुष्पोसे बनायी गयी दमयन्ती, कामदेवकी पूजामे फूलोकी मालाकी शोभा प्राप्त करती थी अर्थात् दमयन्तीके मुख, हाथ, चरण और नेत्र कमलके समान तथा उनसे भिन्न अङ्ग चम्पक पुष्पोके समान थे, यह तात्पर्य है । इस पद्यमे कमलो और चम्पकपुष्पोसे दमयन्तीके मुखादि अङ्गोकी रचनाके असम्बन्धमे भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और एकको शोभाका दूसरेसे ग्रहणके असभव होनेसे सादृश्यका आक्षेप होकर निदर्शना, इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ।

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमा ।
ध्रुवमप्सरसोऽवतीय या शतमध्यासत तत्सखीजन ॥ ९७ ॥

अन्वय—जघनस्तनभारगौरवात् वियत् आलम्ब्य विहर्तुम् अक्षमा शतम् अप्सरस अवतीर्य तत्सखीजन याम् अध्यासत ध्रुवम् ॥ ९७ ॥

व्याख्या—जघनस्तनभारगौरवात्=नितम्बकुचभरगुरुत्वात् हेतो , वियत् =आकाशम्, आलम्ब्य=आश्रित्य, विहर्तुं=क्रीडितुम्, अक्षमा =असमर्था, शत=बहुसख्यका , अप्सरस =स्वर्वेश्या उर्वश्यादय इति भाव । अवतीर्य= अवरुह्य, स्वर्गादागत्येति भाव । तत्सखीजन =दमयन्तीवयस्यागण , दमयन्तीसख्य सत्य , या=कुण्डिननगरीम्, अध्यासत=अध्यतिष्ठन्, ध्रुव=सम्भावनायाम् । अप्सर सदृश्यो दमयन्तीसख्यो दमयन्तीमुपासत इति भाव ॥ ९७ ॥

अनुवाद—नितम्ब और कुचोंके भारकी गुरुतासे आकाशको अवलम्बन कर क्रीडा करनेके लिए असमर्थ बहुत-सी अप्सराएँ स्वर्गसे आकर दमयन्तीकी सखियाँ होकर जिस कुण्डिननगरीमें रहती है क्या ? ऐसा मालूम होता था ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—जघनस्तनभारगौरवात्=जघनं च स्तनं च जघनस्तनं, 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्' इस सूत्रसे प्राण्यङ्ग होनेसे समाहार द्वन्द्व। जघनस्तनस्य भारः (ष० त०), गुरोर्भावः गौरव, गुरु+अण्। जघनस्तनभारस्य गौरवं, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी। आलम्ब्य=आङ्+लबि+क्त्वा (ल्यप्)। विहर्तुम्=वि+हृञ्+तुमुन्। अक्षमाः=न क्षमा (नञ्०)। शतं="विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोः" इत्यमरः। अवतीर्य=अव+तॄ+क्त्वा (ल्यप्)। तत्सखीजनः=सखी चाऽसौ जनः (क० धा०), "जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्" इससे जातिमें एकवचन, याम्="अध्यासत" अधि-उपसर्गपूर्वक आस धातुके योगमें "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" इस सूत्रसे आधारकी कर्मता होनेसे द्वितीया। अध्यासत=अधि+शीङ्+आस+लङ्+झ। अप्सराओंके सदृश दमयन्तीकी सखियाँ उनकी सेवा करती थी, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है. "ध्रुवम्" यह पद उसका वाचक है ॥ ९७ ॥

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु वा कथं कलिताऽनल्पमुखाऽऽरवा न वा ॥ ९८ ॥

अन्वयः—चित्रमयी या स्थितिशालिसमस्तवर्णतां कथं न बिभर्तु ? कलिताऽनल्पमुखाऽऽरवा या स्वरभेदं कथं वा न उपैतु ॥ ९८ ॥

व्याख्या—चित्रमयी=आश्चर्यप्रचुरा आलेख्यप्रचुरा च, या=कुण्डिननगरी, स्थितिशालिसमस्तवर्णतां=मर्यादाशोभिसकलब्राह्मणादिवर्णताम् (आश्चर्यप्रचुरापक्षे), मर्यादाशोभिसकलशुक्लादिवर्णताम् (आलेख्यप्रचुरापक्षे), कथं=केन प्रकारेण, न बिभर्तु=नो धारयतु, धारयत्येवेति भावः। एवं च कलिताऽनल्पमुखाऽऽरवा=प्राप्तबहुमुखशब्दा प्राप्तचतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखशब्दा च, या=पुरी, स्वरभेदं=ध्वनिनानात्वं (प्राप्तबहुमुखशब्दापक्षे), स्वर्गात् अभेदं (प्राप्तचतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखशब्दापक्षे), कथं वा=केन प्रकारेण वा, न उपैतु=न प्राप्नोतु, उपैत्येवेति भावः ॥ ९८ ॥

अनुवाद—प्रचुर आश्चर्यवाली और प्रचुर चित्रवाली जो कुण्टिननगरी मर्यादावाले ब्राह्मण आदि वर्णोंसे युक्त और ठीक स्थानमें रहनेवाले शुक्ल-कृष्ण

आदि वर्णोंसे युक्त क्यों न हो ? मनुष्य आदिके अनेक मुखोंसे शब्दोंको प्राप्त करनेवाली जो नगरी स्वरके भेदको क्यों नहीं प्राप्त करेगी ? और बहुमुखवालों (चतुर्मुख=ब्रह्मा, पञ्चमुख=महादेव और षण्मुख=कार्तिकेय) शब्दको प्राप्त करनेवाली जो कुण्डिननगरी स्वर्गसे अभेदको क्यों नहीं प्राप्त करेगी ? ॥९८॥

टिप्पणी—चित्रमयी=प्रचुर चित्रमस्ति यस्या सा, चित्र+मयट्+ङीप् "आलेख्याऽऽश्चर्ययोश्चित्रम्" इत्यमर । स्थितिशालिसमस्तवर्णता=स्थित्या शाड (ल)न्ते तच्छीला इति स्थितिशालिन, स्थिति+शाड+णिनि । "ड" और "ल" के अभेदसे "स्थितिशालिन" ऐसा पद हुआ है । "स्थिति स्त्रियामवस्थाने मर्यादाया च सीमनि" इत्यमर । समस्ताश्च ते वर्णा (क० धा०), "वर्णो द्विजाऽऽदौ शुक्लादौ स्तुतौ, वर्णं तु वाऽक्षरे" इत्यमर । स्थितिशालिन समस्तवर्णा यस्या सा (बहु०), तस्या भाव स्थितिशालिसमस्तवर्णता, ताम् स्थितिशालिसमस्तवर्णा+तल्+टाप्+अम् । "सामान्ये नपुसकम्" इससे नपुसकलिङ्गता । बिभर्तु=डुभृञ्+लोट्+तिप् । आश्चर्यमयी इस नगरीमे ब्राह्मण आदि सपूर्ण वर्ण अपनी मर्यादामे थे, प्रचुर चित्रोंवाली इस नगरीमे चित्रोमे शुक्ल, नील आदि समस्त वर्ण (रङ्ग) ठीक स्थानमें थे । मनुष्य आदिके मुखोंके शब्दोवाली जो नगरी स्वरोके भेदको प्राप्त करती थी तथा बहुत मुखोंवालों (चतुर्मुख=ब्रह्मा, पञ्चमुख=महादेव और षण्मुख=कार्तिकेय) के शब्दोको प्राप्त करनेवाली जो नगरी (स्व अभेदम्) स्वर्गसे अभेदको प्राप्त करती थी अर्थात् जैसे स्वर्गमे चतुर्मुख, पञ्चमुख और षण्मुखके शब्द हैं, वैसे ही यहाँपर बहुत मुखोंके शब्द हैं, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें अर्थापत्ति, शब्दश्लेष और प्रकृतिश्लेषका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर और उत्तरार्द्धमें भी वैसा ही सङ्कर है । समुदायमें ससृष्टि अलङ्कार है ॥ ९८ ॥

स्वरुचाऽरुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृष ।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकर निशि माणिक्यमया यदालया ॥ ९९ ॥

अन्वय —माणिक्यमया यदालया दिन समीयुषा अर्केण उत्तृष (सन्त) निशि स्वरुचा अरुणया पताकया सुधाकर बहुधा लिलिहु ॥ ९९ ॥

व्याख्या—माणिक्यमया=पद्मरागरत्ननिर्मिता यदालया=कुण्डिननगरीगृहा, दिन=दिवस व्याप्य, समीयुषा=सङ्गतेन, अर्केण=सूर्येण हेतुना, उत्तृष=उत्पन्नपिपासा सन्त, सूर्यकिरणसम्पर्कादिति शेष । निशि=रात्रौ, स्वरुचा=आलयप्रभया, अरुणया=रक्तवर्णया, पताकया=वैजयन्त्या,

रसनायमानयेति भावः । सुधाकरम्=अमृतनिधिं, चन्द्रमित्यर्थः, बहुधा=अनेकप्रकारैः, लिलिहुः=आस्वादयामासुः । दिवसे सन्तप्ता रात्रौ शीतोपचारं कुर्वन्तीति भावः ॥ ९९ ॥

अनुवाद—पद्मराग रत्नोंसे बने हुए जिस कुण्डिननगरीके भवन, दिनभर मिले हुए सूर्यके कारण प्यासे होकर रातमें भवनकी कान्तिसे लाल रसना-(जीभ) के सदृश पताकासे चन्द्रमाको अनेक प्रकारसे आस्वादन करते थे ।

टिप्पणी—माणिक्यमयाः=माणिक्यानां विकाराः, माणिक्य+मयट् । यदालयाः=यस्याम् आलयाः (स० त०) । दिनं='कालाऽध्वनोरत्यन्त-संयोगे' इस सूत्रसे कालके अत्यन्त संयोगमें द्वितीया । समीयुषा=सम्-उपसर्ग-पूर्वक इण् धातुसे 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इस सूत्रमें 'उद्' इस उपसर्गके अविवक्षित होनेसे उपसर्गरहित वा अन्य उपसर्गसे युक्त इण् धातुसे क्वसु प्रत्य-यान्त निपातन । सम्+इण्+क्वसु+टा । उत्तृषः=उद्गता तृट् येषां ते (बहु०), स्वरुचा=स्वस्य रुक्, तया (ष० त०) । सुधाकरं=सुधाया आकरः, तम् (ष० त०) । बहुधा=बहुभिः प्रकारैः, 'बहुगणवतुडतिसंख्या' इस सूत्रसे संख्यासंज्ञा होनेसे "बहु" शब्दसे "संख्याया विधार्थे धा" इस सूत्रसे धा प्रत्यय । लिलिहुः="लिह आस्वादने" धातुसे लिट्+झि । इस पद्यमें पताकाओंके अपने शुक्लगुणका परित्याग कर माणिक्यमें स्थित अरुण गुणका ग्रहण करनेसे तद्गुण और कुण्डिनके आलयोंका चन्द्रलेहनकी उत्प्रेक्षा करनेमें इव आदि वाचक शब्दोंके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा हैं, इस प्रकार दो अलङ्कारों-का अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम् ।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्माऽमलपद्मरागजम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—अमलपद्मरागजं यन्नृपसद्म अर्ककरैः श्रितं पिपासुः (सत्) स्वरुचा जिह्वानिभया पताकया निशि सुधाकरं लिलिहे ॥ १०० ॥

व्याख्या—पूर्वोक्तमेवाऽर्थं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति-लिलिह इति । अमल-पद्मरागजं=निर्मलपुष्परागरत्ननिर्मितं, यन्नृपसद्म=कुण्डिननगरीराजभवनम्, अर्ककरैः=सूर्यकिरणैः, श्रितम्=अभिव्याप्तम्, अतिसामीप्यादिति शेषः । अत एव पिपासुः=तृषितं सत्, स्वरुचा=स्वसदृशकान्तियुक्तया, जिह्वानिभया=रसनासदृश्या, पताकया=वैजयन्त्या, निशि=रात्रौ, सुधाकरं=चन्द्रमसं, लिलिहे=आस्वादयामास ॥ १०० ॥

अनुवाद—निर्मल पुष्परागरत्नोंसे निर्मित कुण्डिननगरीका राजप्रासाद, सूर्यकिरणोंसे अभिव्याप्त अतएव प्यासा होकर अपनी कान्तिवाली जीभके समान पताकाके चन्द्रमाका आस्वादन करता था ॥ १०० ॥

टिप्पणी—अमलपद्मरागजम् =पद्मरागेभ्यो जातं पद्मरागजम्, पद्मराग+जन्+ड । अमलं च तत् पद्मरागजम् (क० धा०) । यन्नृपसद्म=नृपस्य सद्म (ष० त०), यस्याः नृपसद्म (ष० त०) । अर्ककरैः =अर्कस्य कराः, तैः (ष० त०) । श्रितं=श्रि+क्त (कर्मणि) । पिपासु=पातुम् इच्छु, पा+सन्+उ । स्वरुचा=स्वा रुक् यस्याः सा स्वरुक्, तया (बहु०) । जिह्वानिभया =जिह्वया सदृशी जिह्वानिभा, तया (तृ० त०) । लिलिहे="लिह आस्वादने" धातुसे कर्तामें लिट्+त । इस पद्यमें पहलेके समान तद्गुण, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और उपमा—इनका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है ॥ १०० ॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
वलयायितशेषशायिनः सखितामादित पीतवाससः ॥ १०१ ॥

अन्वय—पीतया यद्वलभीपताकया मिलितम् अमृतद्युतिलक्ष्म वलयायितशेषशायिनः पीतवाससः सखिताम् आदित ॥ १०१ ॥

व्याख्या—पीतया=पीतवर्णया, यद्वलभीपताकया=कुण्डिननगरीवैजयन्त्या, मिलितं=सङ्गतं, सामीप्यादिति शेषः । अमृतद्युतिलक्ष्म=चन्द्रलाञ्छनं, वलयायितशेषशायिनः =मण्डलीभूतानन्तनागे शयनशालिनः, पीतवाससः =पीताम्बरस्य, विष्णोरित्यर्थः । सखितां=सादृश्यम्, आदित=अग्रहीत ॥ १०१ ॥

अनुवाद—पीतवर्णवाली जिस कुण्डिननगरीके ऊँचे गृहकी पताकासे सगत चन्द्रमाका कलङ्क, मण्डलाकार शेषनागमें सोनेवाले पीताम्बर (विष्णु) के सादृश्यको ग्रहण करता था ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—पीतया="पीतो गौरो हरिद्राऽऽभः" इत्यमरः । यद्वलभीपताकया=यस्या वलभी (ष० त०) । "वलभी चन्द्रशालायां गृहे सौधोर्ध्ववेश्मनि" इति रभसः । यद्वलभ्याः पताका, तया (ष० त०) । अमृतद्युतिलक्ष्म=अमृतं द्युतिर्यस्य सः (बहु०) । अमृतद्युतेर्लक्ष्म (ष० त०) । वलयायितशेषशायिनः =वलयवत् आचरितं वलयायितं, "वलय" शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इससे क्यङ् प्रत्यय होकर कर्तामें क्त प्रत्यय । वलयायितश्चाऽसौ शेषः (क० धा०) । वलयायितशेषे शेते तच्छीलः वलयायितशेषशायी, तस्य, वलयायितशेष+शीङ्+णिनि (उपपद०)+ङस् । पीतवाससः =पीतं वासो यस्य सः पीतवासाः, तस्य (बहु०) । सखिताम्=सख्युर्भाव

ललिता, ताम्, ललि+तल्+टाप्+अम् । आदित=आङ्-उपसर्गपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे कर्तामें लुङ्+त । इस पद्यमें चन्द्रमाका शेषनागके साथ, उनके कलङ्कका विष्णुके साथ और पीली पताकाका पीतवस्त्रके साथ सादृश्य है। इस पद्यमें वलभीपताकाके चन्द्रकलङ्कके साथ मिलनका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका प्रतिपादन करनेसे अतिशयोक्ति और उपमा अलङ्कार है। इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ॥ १०१ ॥

अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाऽऽविर्भूतभूरिस्तवा-
ऽजिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना ।
पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलाऽऽन्दोलैरखेलद्दिवि ॥१०२॥

अन्वयः—यत्प्रासाददुकूलवल्लिः अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाऽऽविर्भूतभूरिस्तवाऽजिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना, गाधिसुतेन पूर्वं सामिघटिता मुक्ता मन्दाकिनी नु अनिलान्दोलैः दिवि अखेलत् ॥ १०२ ॥

व्याख्या—यत्प्रासाददुकूलवल्लिः=कुण्डिननगरीराजभवनपताकालता, अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाऽऽविर्भूतभूरिस्तवाऽजिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना =निरन्तरवेदपाठपवित्रजिह्वाप्रादुर्भूतप्रचुरस्तोत्राऽकुण्ठपितामहाऽऽननप्रत्यूहितनूतनसुरलोकरचनाविलासेन, गाधिसुतेन=विश्वामित्रेण, पूर्वं=प्रथमं, ब्रह्मप्रार्थनादिति शेषः सामिघटिता=अर्धसृष्टा, प्रागिति शेषः, मुक्ता=त्यक्ता, पश्चादिति शेषः । मन्दाकिनी नु=आकाशगङ्गा किम्, अनिलान्दोलैः=वायुचलनैः, दिवि=आकाशे, अखेलत्=अक्रीडत् ॥ १०२ ॥

अनुवाद—कुण्डिनपुरीके राजभवनकी पताका, लगातार वेदपाठ करनेसे पवित्र जीभसे प्रादुर्भूत प्रचुरस्तोत्रमें कुण्ठित न होनेवाले ब्रह्माजीके मुखोंसे नये स्वर्गलोककी रचनामें विघ्नवाले विश्वामित्रसे ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे पहले आधी बनायी गयी और पीछेसे छोड़ी गयी आकाशगङ्गा, वायुके आन्दोलनोंसे आकाशमें मानों खेल रही थी ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—यत्प्रासाददुकूलवल्लिः=यस्याः प्रासादः (ष० त०), दुकूलं वल्लिरिव दुकूलवल्लिः (उपमितकर्म०), यत्प्रासादे दुकूलवल्लिः (स० त०), अश्रान्तश्रुतिपाठ०=न श्रान्तः अश्रान्तः (नञ्०), श्रुतेः पाठः (ष० त०), अश्रान्तश्चाऽसौ श्रुतिपाठः (क० धा०), तेन पूताः (तृ० त०), अश्रान्तश्रुतिपाठपूताश्च ता रसनाः (क० धा०), ताभ्य आविर्भूताः (पं० त०) ।

भूरयश्च ते स्तवा (क० धा०)। अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूताश्च ते भूरिस्तवा (क० धा०), न जिह्म अजिह्म (नञ्०)। ब्रह्मणो मुखानि (ष० त०), तेषाम् ओघ (ष० त०)। अजिह्मश्चासौ ब्रह्ममुखौघ (क० धा०)। विघ्न सञ्जात अस्या सा विघ्निता, विघ्न+इतच्+टाप्। नवश्चासौ स्वर्ग (क० धा०)। तस्य क्रिया (ष०त०)। अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाऽऽविर्भूतभूरिस्तवेषु अजिह्म (स० त०), स चासौ ब्रह्ममुखौघ (क० धा०), तेन विघ्निता (तृ० त०)। सा चासौ नवस्वर्गक्रिया एव केलि यस्य, तेन (बहु०)। गाधिसुतेन=गाधे सुत, तेन (ष० त०)। सामिघटिता, 'सामि' इस सूत्रसे समास। "सामि त्वर्धे जुगुप्सिते" इत्यमर। मुक्ता=मुच्ल्+क्त+टाप्। अनिलान्दोलं =अनिलस्य आन्दोला तं (ष० त०)। अखेन्त्="खेल चलने" इस धातुसे लङ्+तिप्। सशरीर स्वग जानेके लिए यज्ञका अनुष्ठान चाहनेवाले इक्ष्वाकुवंशमे उत्पन्न त्रिशङ्कु नामके राजाको वशिष्ठके प्रत्याख्यान करनेपर विश्वामित्रने यज्ञ कराया और उनको स्वर्गमे भिजवाया, तब इन्द्रने उनको नीचे गिरा दिया। तब क्रुद्ध होकर विश्वामित्रने नये स्वर्गकी सृष्टिका आरम्भ किया। तब ब्रह्माजीने उनकी स्तुति (प्रशंसा) कर उनको उस कर्मसे विरत किया, वाल्मीकिरामायणके इस कथानकके अनुसार यह वर्णन है। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार, ओज गुण और गौडी रीति तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१०२॥

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभा शुचिवस्त्रवल्लि ।

अलभत शमनस्वसु शिशुत्व दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती ॥१०३॥

अन्वय —यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभा शुचिवस्त्रवल्लि दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती शमनस्वसु शिशुत्वम् अलभत ॥ १०३ ॥

व्याख्या —यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभा =कुण्डिननगरनिनिर्मलेन्द्रनीलनिकेतनकिरणभ्रमरसदृशकान्ति , शुचिवस्त्रवल्लि =शुक्लवसनलता, शुक्लवस्त्रपताकेति भाव । दिवसकराङ्कतले=सूर्योत्सङ्गप्रदेशे, चला=चञ्चला, लुठन्ती=परिवर्तमाना सती, शमनस्वसु =यमभगिन्या यमुनाया । शिशुत्व= शैशवम्, अलभत=प्राप्तवती, बालयमुनेव शुशुभ इति भाव । बालिकाश्च पितुरुत्सङ्गे लुठन्तीति भाव ॥ १०३ ॥

अनुवाद – जिस कुण्डिननगरीके अत्यन्त निर्मल नीलमके भवनोकी किरणों-से भ्रमरके समान नीली कान्तिवाली सफेद वस्त्रकी पताकाने (अपने पिता)

सूर्यकी गोदमें चञ्चल होकर लोट-पोट करती हुई यमुनाकी बाल्यावस्थाको प्राप्त किया ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—यदतिविमल०=नीलं च तत् वेश्म (क० धा०)। नीलवेश्मनो रश्मयः (ष० त०), अत्यन्तं विमलाः (सुप्सुपा०), अतिविमलाश्च ते नील-वेश्मरश्मयः (क० धा०), यस्याम् अतिविमलनीलवेश्मरश्मयः (स० त०)। भ्रमरः सञ्जातः अस्यां सा भ्रमरिता, भ्रमर+इतच्+टाप्। भ्रमरिता भाः यस्याः सा (बहु०)। यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभि. भ्रमरितभाः (तृ० त०)। शुचिवस्त्रवल्लिः=वस्त्रम् एव वल्लिः (रूपक०), शुचिश्चाऽसौ वस्त्रवल्लिः (क० धा०)। दिवसकराङ्कतले=दिवसं करोतीति तद्धेतुः दिवसकरः, "कृञो हेतुताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु" इस सूत्रसे दिवस-उपसर्गपूर्वक "कृ" धातुसे ट प्रत्यय (उपपद०)। अङ्कस्य तलम् (ष० त०)। दिवसकरस्य अङ्कतलं, तस्मिन् (ष० त०)। चला=चलतीति, चल+अच्+टाप्। लुठन्ती=लुठ+लट् (शतृ०)+ङीप्। शमनस्वसुः=शमनस्य स्वसा, तस्याः (ष० त०)। "कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा" इत्यमरः। शिशुत्वम्=शिशु+त्व+अम्। अलभत=लभ+लङ्+त। इस पद्यमें सफेद पताकाके नीलमणि भवनोंसे नीलगुण ग्रहण करनेसे तद्गुण अलङ्कार "भ्रमरितभाः" यहाँपर उपमा, यमुना की शिशुताको पताका कैसे प्राप्त करेगी, इस प्रकार सादृश्यका आक्षेप होनेसे निदर्शनाका पूर्वोक्त तद्गुण रूपक और उपमासे अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है, पुष्पिताग्रा छन्द है। उसका लक्षण है—"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा" ॥ १०३ ॥

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाऽभव-
द्यन्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥ १०४ ॥

अन्वयः—यत्कामिनी विमानकलितव्योमानः साक्षात् अप्सरस एव अभवत् यत् निजकेलिसौधशिखरात् स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहाय उत्सुकं पाथोदम् आरुह्य रसात् यान्ती अध्वनि अभ्रतरसा निमेषं न प्राप ॥ १०४ ॥

व्याख्या—यत्कामिनी=कुण्डिननगरीरमणी, विमानकलितव्योमानः= व्योमयानक्रान्तगगनाः, साक्षात्=प्रत्यक्षरूपाः, अप्सरस एव=दिव्याऽङ्गना एव, अभवत्=अवर्तत, यत्=यस्मात्कारणात्, निजकेलिसौधशिखरात्= स्वक्रीडागृहशृङ्गात्, स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहाय=निजवल्लभक्रीडा-

सौधमध्यभागप्राघुणिकत्वस्वीकाराय, तत्र विश्रामार्थमिति भाव । उत्सुकम् = उत्कण्ठित, पाथोद = मेघम् आरुह्य = आरोहण कृत्वा, रसात् = अनुरागात्, यान्ती = गच्छन्ती सती, अध्वनि = मार्गे, अभ्रतरसा = मेघवेगेन, निमेष = निमेषपातविलम्ब नेत्रसङ्कोच च, न प्राप = न प्राप्तवती, स्वाभाविकसौन्दर्येण विमानतुल्यमेघारोहणेन आकाशगमनेन निमेषाऽप्राप्त्या च कुण्डिननगरीरमणी अप्सर समाना सञ्जातेति भाव ॥ १०४ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीकी रमणी अटारीसे आकाशका अवलम्बन कर साक्षात् अप्सरा ही हो गयी, जो कि अपने क्रीडाभवनके उच्चभागसे अन्य प्रियतमके क्रीडाभवनमे आतिथ्यग्रहणके लिए उत्कण्ठित मेघपर आरोहण कर अनुरागसे जाती हुई मार्गमे मेघके वेगमे उसने निमेषको भी प्राप्त नही किया (पलक भी नही झुकायी) ॥ १०४ ॥

टिप्पणी—यत्कामिनी = यस्या कामिनी (ष० त०) । विमानकलितव्योमान = कलित व्योम याभिस्ता कलितव्योमान (बहु०), यहाँपर "अ बहुव्रीहे" इस सूत्रसे ङीप्‌का निषेध हुआ है । विमानेन कलितव्योमान (तृ० त०) । "अप्सरस" इसका विशेषण होनेमे बहुवचन हुआ है । अभवत् = भू + लङ् + तिप् । उद्देश्यवाचक "यत्कामिनी" इस पदके एकवचनाऽन्त होनेमे एकवचन । निजकेलिसौधशिखरात् = केले सौधम् (ष० त०), तस्य शिखरम् (ष० त०) । निज च तत् केलिसौधशिखर, तस्मात् (क० धा०) । (अपादानमे पञ्चमी) । स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहाय = प्राणानाम् ईश्वर (ष० त०) । स्वश्चासौ प्राणेश्वर (क० धा०), नर्मणो हर्म्यम् (ष० त०), स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्यम् (ष० त०), तस्य कटक (ष० त०), "कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रे" इत्यमर । अतिथय इदम् आतिथ्यम्, "अतिथि" शब्दसे "अतिथेर्ञ्य" इस सूत्रमे तादर्थ्यमे ञ्य प्रत्यय, आदिवृद्धि । आतिथ्यस्य ग्रह (ष० त०) । स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकात् आतिथ्यग्रह, तस्मै (ष० त०) । पाथोद = पाथो ददातीति पाथोद, तम्, पाथस् + दा + क (उपपद०) । आरुह्य = आङ् + रुह + क्त्वा (ल्यप्) । रसात् = हेतुमे पञ्चमी । यान्ती = यातीति, या + लट् (शतृ) + ङीप् । अभ्रतरसा = अभ्रस्य तर, तेन (ष० त०, हेतुमे तृतीया) यहाँपर कुण्डिननगरकी स्त्री अपने स्वाभाविक सौन्दर्यसे प्रियतमके पास जानेके लिए अपनी अटारीसे विमानके समान मेघपर चढनेसे आकाशमे गमन सा करनेसे प्रियतमके पास जाने की उत्कण्ठासे पलक भी न मारनेसे अप्सरा

भी हो गयी, इस बातको प्रकाशित किया है। इस पद्यमें कुण्डिननगरीकी स्त्री और अप्सराका भेद होनेपर भी अभेदका अध्यवसाय होनेसे तथा निमेषपात-विलम्ब और नेत्रसङ्कोचका भेद होनेपर भी 'निमेष' पदके श्लेषसे अभेदका अध्यवसाय होनेसे दो अतिशयोक्ति अलङ्कारोंकी संसृष्टि है, एवं कटक और शिखर दो पदोंसे नर्महर्म्योंकी और सौधोंकी अत्यन्त ऊँचाई व्यङ्ग्य होती है, इस प्रकार शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १०४ ॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
र्ब्रह्माण्डाऽऽघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताऽग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥१०५॥

अन्वय.—वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरात् उत्थितैः ब्रह्माऽण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः दिवि उत्तानगायाः कस्याः सुरसुरभेः आस्यदेशं गताऽग्रैः अंशुदर्भैः यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतम् अविश्रान्तम् उज्जृम्भते स्म।

व्याख्या—वैदर्भीकेलिशैले = दमयन्तीक्रीडापर्वते, मरकतशिखरात् = गारुत्मतरत्नशृङ्गात्, उत्थितैः = ऊर्ध्वगामिभिः, अथ ब्रह्माण्डाऽऽघातभग्नस्यदजमदतया = ब्रह्माण्डसङ्घट्टनविनाशितवेगगर्वत्वेन, ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः = लज्जाकृताऽधोमुखत्वैः, अत एव, दिवि = आकाशे, उत्तानगायाः = उत्तानगामिन्याः, ऊर्ध्वमुखाया इत्यर्थः। कस्याः, सुरसुरभेः = देवधेनोः, आस्यदेशं = मुखप्रदेशं, गताऽग्रैः = प्राप्ताऽग्रैः, अंशुदर्भैः = किरणरूपकुशैः यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतं = कुण्डिननगरीधेनुग्रासवितरणनियमपुण्यम्, अविश्रान्तं = निरन्तरम्, उज्जृम्भते स्म = वर्धते स्म ॥ १०४ ॥

अनुवाद—दमयन्तीके क्रीडापर्वतमें पन्नेकी चोटियोंसे उठे हुए, ब्रह्माण्डसे आघात होनेसे वेगका घमण्ड टूटनेसे लज्जासे अधोमुख, आकाशमें ऊँचा मुख करनेवाली किस देवताकी गायके मुखप्रदेशमें अग्रभागको जानेवाले किरणरूप कुशोंसे जिस कुण्डिननगरीका गोग्रास देनेके नियमका पुण्य लगातार बढ़ता था।

टिप्पणी—वैदर्भीकेलिशैले = विदर्भेषु भवा वैदर्भी, विदर्भ + अण् + ङीप्। केलेः शैलः (ष० त०)। वैदर्भ्या केलिशैलः, तस्मिन् (ष० त०), मरकतशिखरात् = मरकतानां शिखरं, तस्मात् (ष० त०)। "गारुत्मत मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः" इत्यमरः। उत्थितैः = उद् + स्था + क्त + भिस्। ब्रह्माऽण्डाऽऽघातभग्नस्यदजमदतया = ब्रह्मणः अण्डं (ष० त०), ब्रह्माण्डेन आघातः (तृ०

त०), तेन भग्न (तृ० त०)। स्यदात् जात स्यदज, स्य+जन्+ड। स च असौ मद (क० धा०)। ब्रह्माऽण्डाघातभग्न स्यदजमदो येषा ते (बहु०), तेषा भाव तत्ता, तया। ब्रह्माऽण्डाघातभग्नस्यदज+मद+तल्+टाप्+टा। ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः=ह्रिया धृतम् (तृ० त०)। अवाक् मुख येषा ते अवाङ्मुखा (बहु०)। तेषा भाव अवाङ्मुखत्वम्, अवाङ्मुख+त्व। ह्रीधृतम् अवाङ्मुखत्व यैस्ते, तैः (बहु०)। उत्तानगाया =उत्तान गच्छतीति उत्तानगा, तस्या, उत्तान+गम्+ड+टाप्+ङस्। "उत्ताना वै देवगवा वहन्ति" वेदके इस वचनके अनुसार यह उक्ति है। सुरसुरभे =सुरस्य सुरभि तस्या (ष० त०)। आस्यदेशम्=आस्यस्य देश, तम् (ष० त०)। गताऽग्रैः = गता अग्रा येषा ते, तैः (बहु०)। अशुदर्भैः =अशव एव दर्भा, तैः (रूपक०)। यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृत=गो ग्रास (ष० त०), तस्य प्रदान (ष० त०) तदेव व्रतम् (रूपक०), तस्य सुकृत (ष० त०), "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृत वृष" इत्यमर। यस्या गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतम् (ष० त०)। अविश्रान्त=न विश्रान्तम् (नञ०)। अविश्रान्त यथा तथा, यह क्रियाविशेषण है। उज्जृम्भते स्म=उद्—उपसर्गपूर्वक "जृभि" धातुसे "स्म" के योगमें भूतकालमें लट्+त। बहुतसे मरकत (पन्ना) रत्नोंसे बना हुआ दमयन्तीका क्रीडापर्वत है, उससे उत्पन्न किरणें ब्रह्माऽण्डतक पहुँची, ऊपर न जानेसे मानो लज्जासे लौट रही थी, उसी समय ऊपर मुख करनेवाली देवताओंकी गायोंके मुखमें पड़ी, वे कुशोंके समान हरे वर्णवाली थी, इसीको लेकर वैदर्भीके क्रीडा-पर्वतमें गोग्रास देनेके पुण्यका वर्णन किया गया है। इस पद्यमें "अंशुदर्भैः" यहाँपर रूपक है। अंशुदर्भोंका ब्रह्माण्डसे आघात आदिका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन करनेमें अतिशयोक्ति "लज्जासे अधोमुख" इस अर्थमें वाचक शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और लोकाऽतिशयसम्पत्तिका वर्णन होनेसे उदात्त अलङ्कार, इस प्रकार इन अलङ्कारोंकी ससृष्टि है। स्रग्धरा छन्द है, उसका लक्षण है—

"म्रभ्नैर्याना त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।" ॥ १०५ ॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम्।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ १०६ ॥

अन्वयः—तत्र शशिदृषदुपक्लृप्तैः (अत एव) विधुकरपरिरम्भात् आत्त-निष्यन्दपूर्णैः तरूणाम् आलवालैः विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण भैमीवनेन स हृतचित्तो व्यरचि ॥ १०६ ॥

व्याख्या— तत्र=तस्यां, कुण्डिननगर्याम् । शशिदृषदुपक्लृप्तैः=चन्द्रकान्त-शिलानिर्मितैः, अत एव, विधुकरपरिरम्भात्=चन्द्रकिरणसम्पर्कात्, आत्त-निष्यन्दपूर्णैः=गृहीतजलप्रस्रवणपूरितैः, तरूणां=वृक्षाणाम्, आलवालैः=आवापैः, विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण=व्यर्थीकृतसलिलसेचनप्रकारभारेण, भैमीवनेन=दमयन्त्युपवनेन, सः=हंसः, हृतचित्तः=आकृष्टमनाः, व्यरचि=विरचितः ।१०६।

अनुवाद— उस कुण्डिननगरीमें चन्द्रकान्त मणियोंसे बनी हुई अतएव चन्द्रकिरणके संपर्कसे गृहीत जलसे पूर्ण पेड़ोंकी क्यारियोंसे जलसेचनकी आवश्य-कतासे रहित दमयन्तीके उपवनने हंसके चित्तको आकृष्ट किया ॥ १०६ ॥

टिप्पणी— शशिदृषदुपक्लृप्तैः=शशिनो दृषत् (ष० त०), तया उप-क्लृप्तानि, तैः (तृ० त०) । विधुकरपरिरम्भात्=विधोः कराः (ष० त०), तेषां परिरम्भः, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी । "परिरम्भः" पदका अर्थ "परिष्वङ्गः संश्लेष उपगूहनम्" अमरकी ऐसी उक्तिसे "परिरम्भ" पदका अर्थ आलिङ्गन है, यहाँपर लक्षणासे सम्पर्क अर्थ किया गया है । आत्तनिष्यन्दपूर्णैः=आत्ताश्च ते निष्यन्दाः (क० धा०) । "आत्म०" ऐसे पाठमें आत्मनः=स्वस्य, निष्यन्दाः (ष० त०) । ऐसा अर्थ करना चाहिए । आत्तनिष्यन्दैः पूर्णानि, तैः (तृ० त०) । विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण=विफलं कृतं विफलितम्, विफल+णिच्+क्तः । जलस्य सेकः (ष० त०), तस्य प्रक्रिया (ष० त०), तस्या गौरवम् (ष० त०) । विफलितं जलसेकप्रक्रियागौरवं यस्य तत्, तेन (बहु०) । भैमीवनेन=भैम्या वनं, तेन (ष० त०) । हृतचित्तः=हृतं चित्तं यस्य सः (बहु०) । व्यरचि=वि+रच्=लुङ्+त (कर्ममें) । इस पद्यमें आलवालोंका चन्द्रकान्त मणिसे पिघले जलसे सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है । यहाँसे चार पद्योंतक मालिनी छन्द है, उसका लक्षण है—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" ॥ १०६ ॥

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।
उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखा-
ऽनुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

अन्वय.—अथ कनकपतत्र तत्र सदृशभासा सखीनां सदसि विस्फुरन्तीम् उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मीं तां राजपुत्रीम् अक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

व्याख्या—अथ=भैमीवनदर्शनाऽनन्तर, कनकपतत्र =सुवर्णमयपक्ष, राजहंस इत्यर्थः । तत्र=भैमीवने, सदृशभासा=स्वसदृशसौन्दर्याणा, सखीना= वयस्याना, सदसि=सभाया, विस्फुरन्तीं=विद्योतमानाम्, उडुपरिषदि= तारकासभायां, मध्यस्थायिशीतांशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मीम्=अन्तरस्थचन्द्र- कलाऽनुकारसमर्थशोभा, तां=पूर्वोक्ता, राजपुत्रीं=भीमभूपदुहितरम्, अक्षिलक्षीचकार=नयनगोचरीचकार, ददर्शेत्यर्थः ॥ १०७ ॥

अनुवाद—दमयन्तीका उपवन देखनेके अनन्तर सुनहरे पंखोवाले (उस हंस) ने उस उपवनमें तुल्यकान्तिवाली सखियोंकी सभामें शोभित होनेवाली, ताराओंकी सभामें बीचमें रहनेवाली चन्द्रकलाके अनुकरण (नकल) में समर्थ शोभावाली उस राजकुमारी (दमयन्ती) को देखा ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—कनकपतत्र =कनकस्य विकारौ कनके, ते पतत्रे यस्य स (बहु०) । सदृशभासा=सदृशी भा यासा सदृशभास, तासाम् (बहु०), "भारुछविद्युतिदीप्तय " इत्यमरः । विस्फुरन्ती=विस्फुरतीति विस्फुरन्ती, ता, वि + स्फुर् + लट्(शतृ०) + ङीप् + अम् । उडुपरिषदि=उडूना परिषद्, तस्याम् (ष० त०) । 'नक्षत्रमृक्ष भ तारा तारकाऽप्युडु वा स्त्रियाम्" इत्यमरः । मध्यस्थायिशीतांशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मी=मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थायिनी, मध्यउपपदपूर्वक स्था धातुसे णिनि प्रत्यय, "आतो युक् चिण्कृतोः" इस सूत्रसे युक् आगम और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप् । शीता अंशवो यस्य स शीतांशु (बहु०), तस्य लेखा (ष० त०), मध्यस्थायिनी चाऽसौ शीतांशुलेखा (क० धा०), तस्या अनुकरण (ष० त०) । पटु लक्ष्मी यस्या सा पटुलक्ष्मी (बहु०), समासान्तविधिके अनित्य होनेसे 'नद्यृतश्च" इससे समासान्त कप् प्रत्यय नहीं हुआ । शीतांशुलेखानुकरणे पटुलक्ष्मी, ताम् (स० त०) । राजपुत्री=पुत्र (तन्नामनरकात्) त्रायत इति पुत्री, पुत्+त्रै (त्रा)+क+ङीन् । "शार्ङ्ग- रवाद्यञो ङीन्" इससे ङीन् । "सुता तु दुहिता पुत्री" इति त्रिकाण्डशेष । राज्ञ पुत्री, ताम् (ष० त०) । अक्षिलक्षीचकार=लक्ष्यत इति लक्ष, लक्ष + घञ् । "लक्ष लक्ष्य शरव्य च" इत्यमर । अक्ष्णोर्लक्षम् (ष० त०) । अनक्षिलक्षम् अक्षि- लक्ष यथा सम्पद्यते तथा चकार अक्षिलक्षीचकार, अक्षिलक्ष + च्वि + कृ + लिट् + तिप् । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार और मालिनी छन्द है ॥ १०७ ॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
क्वचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताऽधः ।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

अन्वयः-अधो भूतले क्वचन पतनयोग्यं देशम् अन्विष्यता भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा तेन खगेन अदसीयं मुखविधुं सेवितुं लम्बमानः शशिपरिधिः इव उच्चैः मण्डलः तेने ॥ १०८ ॥

व्याख्या—अधः=निम्नभागे, भूतले=भूमितले, क्वचन=कुत्रचित्, पतनयोग्यम्=अवतरणार्ह्, देशं=स्थानम्, अन्विष्यता=गवेषमाणेन, भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा=भ्रमिवेगविक्षिप्तसुवर्णकान्तिना, तेन=पूर्वोक्तेन, खगेन=पक्षिणा, हंसेनेत्यर्थः । अदसीयं=दमयन्तीसम्बन्धिनं, मुखविधुं=वदनचन्द्रं, सेवितुं=सेवनं कर्तुं, द्रष्टुमिति भावः । लम्बमानः=स्रंसमानः, शशिपरिधिः इव=चन्द्रपरिवेष इव, उच्चैः=उपरि, मण्डलः=वलयः, तेने=वितेने ॥ १०८ ॥

अनुवाद—नीचे जमीनपर कही उतरनेके लिए उपयुक्त स्थान ढूंढनेवाले और भ्रमणके वेगसे सुनहरी कान्तिको फैलानेवाले उस पक्षी (हंस) ने दमयन्तीके मुखचन्द्रकी सेवा करनेके लिए लटककर चन्द्रमाके परिवेश के समान ऊपर मण्डल (चक्कर) फैलाया ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—भूतले=भुवः तलं, तस्मिन् (ष० त०) । पतनयोग्यं=पतने योग्यः, तम् (स० त०) । अन्विष्यता=अन्विष्यतीति अन्विष्यन्, तेन, अनु+इष+लट्(शतृ)+टा । भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा=भ्रमणस्य रयः (ष०त०), तेन विकीर्णा (तृ० त०) । स्वर्णस्य भाः (ष० त०), भ्रमणरयविकीर्णा स्वर्णभा येन, तेन (बहु०) । अदसीयम्=अमुष्या अयम् अदसीयः, तम् । अदस् शब्दसे "त्यदादीनि च" इससे वृद्धसंज्ञा होकर "वृद्धाच्छः"=सेव+तुमुन् । लम्बमानः=लबि+लट् (शानच्)+सु । शशिपरिधिः=शशिनः परिधिः (ष० त०), मण्डलः='बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु" इत्यमरः । तेने="तनु विस्तारे" धातुसे कर्ममें लिट्+त । इस पद्यमें स्वभावोक्ति, 'मुखविधुम्' यहाँपर रूपक 'शशिपरिधिः इव' यहाँपर उत्प्रेक्षा, इन अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है । मालिनी छन्द है ॥ १०८ ॥

"अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः ।"
इति मतिरुदयासीत् पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुवि सखीभिः सार्धमाबद्धखेलाम् ॥ १०९ ॥

अन्वय—विपिनभुवि सखीभिः सार्धम् आबद्धखेलां भैमीं प्रेक्ष्य पक्षिणः "सा शची घृताचीमुखाभिः सहचरीभिः सह इत्थम् उच्चैः नन्दनाऽऽनन्दं न अनुभवति" इति मतिः उदयासीत् ॥ १०९ ॥

व्याख्या—विपिनभुवि=काननभूमौ, सखीभिः=सहचरीभिः, सार्धं=सह, आबद्धखेलाम्=अनुबद्धक्रीडां, भैमीं=दमयन्तीं, प्रेक्ष्य=दृष्ट्वा, पक्षिणः= हंसस्य, सा=प्रसिद्धा, शची=इन्द्राणी, घृताचीमुखाभिः=घृताचीप्रभृतिभिः, सहचरीभिः सह=सखीभिः साधम्, इत्थम्=अनेन प्रकारेण, उच्चैः= उत्कृष्टं, नन्दनाऽऽनन्दं=नन्दनोपवनसुखं, न अनुभवति=नो निर्विशति, इति= एतादृशी, मतिः=बुद्धिः, उदयासीत्=उदियाय ॥ १०९ ॥

अनुवाद—उपवन-भूमिमें सखियोंके साथ क्रीडा करती हुई दमयन्तीको देखकर हंसको "वे (प्रसिद्ध) इन्द्राणी भी घृताची आदि सखियोंके साथ इस प्रकारसे नन्दन वनमें भी उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव नहीं करती है" ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई ॥ १०९ ॥

टिप्पणी—विपिनभुवि=विपिनस्य भूः, तस्याम् (ष० त०) । सखीभिः= "सार्धम्" पदके योगमें तृतीया । आबद्धखेलाम्=आबद्धा खेला यया सा, ताम् (बहु०) । "क्रीडा खेला च कूर्दनम्" इत्यमरः । प्रेक्ष्य=प्र+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्) । सा=यहाँपर यद् शब्द (या) के न होनेपर भी प्रसिद्ध अर्थ होनेसे अविमृष्टविधेयांश दोष नहीं होता है । शची "पुलोमजा शचीन्द्राणी" इत्यमरः । घृताचीमुखाभिः=घृताची (अप्सरोविशेष) मुखं यासां ता घृताचीमुखाः, ताभिः (बहु०) । यहाँ "मुख" शब्द अङ्गवाचक न होनेसे ङीप् प्रत्यय नहीं हुआ है । सहचरीभिः=सह चरन्तीति सहचर्यः, ताभिः सह+ चर+ट+ङीप्+भिस् । पचादिगणमें "चरट्" ऐसा पाठ होनेसे टित् होनेसे "टिड्ढाणञ्" इत्यादि सूत्रसे ङीप् । नन्दनाऽऽनन्दः=नन्दने आनन्दः, तम् (स० त०) । उदयासीत्=उद्-उपसर्गपूर्वक "या प्रापणे" धातुसे लुङ्, "यमरमनमातां सक् च" इस सूत्रसे सक् और सिच्का इट । "प्रेक्ष्य मतिः" यहाँपर मनन क्रियाकी अपेक्षासे समानकर्तृक होनेसे और पूर्वकाल होनेसे भी

"प्रेक्ष्य" इसमें क्त्वा निर्देशकी उपपत्ति है। इस पद्यमें शचीरूप उपमानसे उपमेयभूत दमयन्तीके आधिक्यकी उक्तिसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥११० ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे। तस्य प्रबन्धे चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयं द्वैतीयीकतया मित. निसर्गोज्ज्वलः सर्गः अगमत् ॥ ११० ॥

व्याख्या—व्याख्यातपूर्वः श्लोकः संक्षेपेण पुनर्व्याख्यायते। कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः=पण्डितश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणिः, श्रीहीरः, मामल्लदेवी च, जितेन्द्रियचयं=वशीकृतहृषीकसमूहं, यं श्रीहर्षं, सुतं=पुत्रं, सुषुवे=जनयामास। तस्य=श्रीहर्षस्य, प्रबन्धे=रचनायां, चारुणि=मनोहरे, नैषधीयचरिते=तदाख्ये महाकाव्ये, अयं=सन्निकृष्टस्थः, द्वैतीयीकतया=द्वितीयत्वेन, मितः=गणितः, निसर्गोज्ज्वलः=स्वभावसुन्दरः, सर्गः=अध्यायः, अगमत्=गतः, समाप्त इति भावः ॥ ११० ॥

अनुवाद—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिन श्रीहर्ष पुत्रको उत्पन्न किया, उनकी रचनामें सुन्दर नैषधीयचरित महाकाव्यमें यह द्वितीय रूपसे परिमित स्वभावसे मनोहर सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११० ॥

टिप्पणी—द्वैतीयीकतया=द्वयोः पूरणो द्वितीयः, 'द्वि' शब्दसे "द्वेस्तीयः" इससे पूरणाऽर्थक तीय प्रत्यय। द्वितीय एव द्वैतीयकः, "द्वितीय" शब्दसे "तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः" इससे ईकक् प्रत्यय। कित् होनेसे "किति च" इससे आदिवृद्धि। द्वैतीयीकस्य भावो द्वैतीयीकता, तया द्वैतीयीक+तल्+टाप्+टा। मितः=माङ्+क्तः। निसर्गोज्ज्वलः=निसर्गेण उज्ज्वलः (तृ० त०)। अगमत्=गम्+लुङ्+तिप्। च्लिके स्थानमें अङ् ॥ ११० ॥

इति चन्द्रकलाऽभिख्यायां नैषधीयचरितव्याख्यायां
द्वितीयः सर्गः।

श्लोकानुक्रमणिका

(द्वितीय सर्ग)

॥ श्री ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

तृतीयः सर्गः

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसाऽवतीर्य ।
निवेशदेशाऽऽततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥ १ ॥

अन्वय —अथ हंसः आकुञ्चिताभ्यां पक्षतिभ्यां नभोविभागात् तरसा अवतीर्य निवेशदेशाऽऽततधूतपक्षः उपभैमि भूमौ पपात ॥ १ ॥

व्याख्या —अथ = मण्डलीकरणाऽनन्तरं, हंसः = राजहंसः, आकुञ्चिताभ्यां = सङ्कुचिताभ्यां, पक्षतिभ्यां = पक्षमूलाभ्यां, नभोविभागात् = आकाशदेशात्, तरसा = वेगेन, अवतीर्य = अवरुह्य, निवेशदेशाऽऽततधूतपक्षः = उपनिवेशस्थान-विस्तारितकम्पितपतत्रः सन्, उपभैमि = दमयन्त्याः समीपे, भूमौ = भुवि, पपात = आपतितः ॥ १ ॥

अनुवाद —मण्डलीकरणके अनन्तर हंस सङ्कुचित पक्षमूलोंसे आकाशदेशसे वेगसे उतरकर बैठनेके स्थान पर पक्षोंको फैलाकर और कम्पित कर दमयन्तीके समीप उतरा ॥ १ ॥

टिप्पणी —हसतीति हंसः, "हस" धातुसे अच् प्रत्यय और "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इसके अनुसार नुम् वर्णका आगम हुआ है । "भवेद्वर्णाऽऽगमाद्धंसः" । पक्षतिभ्यां = "स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्" इत्यमरः । नभोविभागात् = नभसो विभागः, तस्मात् (ष० त०) । अवतीर्य = अव + तॄ + क्त्वा (ल्यप्) । निवेशदेशाऽऽततधूतपक्षः = निवेशस्य देशः (ष० त०). समन्तात् ततौ आततौ "कुगतिप्रादयः" इससे गतिसमास । आततौ धूतौ येन सः (बहु०) ।

निवेशदेशे आततधूतपक्षः (स० त०)। उपभैमि=भैम्याः समीपे, समीप अर्थमें अव्ययीभाव। पपात=पात+लिट्+तिप्। इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है। प्रथम चरणमें इन्द्रवज्रा और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरणमें उपेन्द्रवज्रा, इस प्रकार उपजाति छन्द है। जैसे कि—"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः" ॥ १ ॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहतायाः क्षितेस्तदा यः स्वन उच्चचार।
द्रागन्यविन्यस्तदृशः स तस्याः सम्भ्रान्तमन्तःकरणं चकार ॥ २ ॥

अन्वयः—तदा पक्षपुटाहतायाः क्षितेः आकस्मिकः यः स्वनः उच्चचार। सः अन्यविन्यस्तदृशः तस्याः अन्तःकरणं द्राक् सम्भ्रान्तं चकार ॥ २ ॥

व्याख्या—तदा=पतनसमये, पक्षपुटाहतायाः=पतत्रपुटताडितायाः, क्षितेः=पृथिव्याः, सकाशात् आकस्मिकः=अकस्माद्भवः अहेतुक इत्यर्थः। यः स्वनः=ध्वनिः, उच्चचार=उत्थितः सः=ध्वनिः, अन्यविन्यस्तदृशः=विषयान्तरनिविष्टनयनायाः, तस्याः=दमयन्त्याः, अन्तःकरणं=मनः, द्राक्=झटिति, सम्भ्रान्तं=ससम्भ्रमं, चकार=कृतवान्, आकस्मिकशब्दश्रवणाद् भैमी सभया साश्चर्या च जातेति भावः ॥ २ ॥

अनुवाद—हंसके पतनके समयमे उसके पंखोंसे ताडित पृथिवीसे अकस्मात् जो शब्द उत्पन्न हुआ, उसने दूसरे विषय मे चित्त देनेवाली दमयन्ती के अन्तःकरणको संभ्रमयुक्त बनाया ॥ २ ॥

टिप्पणी—पक्षपुटाहतायाः=पक्षयोः पुटं (ष० त०), तेन आहता, तस्याः (तृ० त०)। क्षितेः=अपादानमें पञ्चमी। आकस्मिकः=अकस्मात् भवः "तत्र भवः" इसके ठक् प्रत्यय। उच्चचार=उद्+चर+लिट्+तिप्। अकर्मक होनेसे "उदश्चरः सकर्मकात्" इससे आत्मनेपद नहीं हुआ। अन्यविन्यस्तदृशः=विन्यस्ते दृशौ यया सा (बहु०), अन्यस्मिन् विन्यस्तदृक्, तस्याः (स० त०)। सम्भ्रान्तं=सम्+भ्रम+क्त+अम्। चकार=कृ+लिट्+तिप्। इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—वैदर्भसुतासखीनां नेत्राणि विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि (सन्ति) एकं निरुपाख्यरूपं तं हंसं यतव्रतानां चेतांसि ब्रह्म इव प्रापुः ॥ ३ ॥

व्याख्या—वैदर्भसुतासखीनां=भैमीवयस्यानां, नेत्राणि=नयनानि, विमुक्त-तत्तद्विषयग्रहाणि=परित्यक्ततत्तच्छब्दादिविषयग्रहणानि सन्ति, पदमिदं "चेतांसि" इत्यत्राऽपि योजनीयम् । एकम्=एकचरं, ब्रह्मपक्षे—अद्वितीयं, निरुपाख्यरूपम्=अनिर्वाच्याकारं, ब्रह्मपक्षे—अनिर्वचनीयस्वरूपं, तं=पुरोवर्तिनं, हंसं=राजहंसं, ब्रह्मपक्षे—तत्पदार्थभूतं यतव्रतानां=योगिनां, चेतांसि=अन्तःकरणानि, ब्रह्म इव=परमात्मानम् इव, प्रापुः=आसादयामासुः, अत्यादरेण अद्राक्षुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवाद—दमयन्तीकी सखियोंके नेत्रोंने उन-उन विषयोंकी आसक्तिको छोडकर अकेले चलनेवाले, अनिर्वाच्य आकारवाले, उस हंसको, जैसे योगियोंके चित्त अद्वितीय, अनिर्वचनीय स्वरूपवाले और तत् पदके अर्थस्वरूप ब्रह्मको ग्रहण करते हैं, उसी तरह ग्रहण किया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—वैदर्भसुतासखीनां=विदर्भाणां राजा वैदर्भः, विदर्भ शब्दसे "जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' इस सूत्रसे अञ् प्रत्यय । विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि=ते च ते च तत्ते (क० धा०), तत्ते च ते विषयाः तत्तद्विषयाः (क० धा०), तत्तद्विषयाणां ग्रहाः (ष० त०), विमुक्ताः तत्तद्विषयग्रहाः यैस्तानि (बहु०) । निरुपाख्यरूपं=निर्गता उपाख्या यस्मात्तत् निरुपाख्यं (बहु०), तत् रूपं यस्य, तम् (हंसपक्षे), तत् (ब्रह्मपक्षे) (बहु०), यतव्रतानां=यतं व्रतं येषां ते यतव्रताः, तेषाम् (बहु०) । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ३ ॥

> हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ।
> ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

अन्वयः—असौ मुनेः मनोवृत्तिः इव स्विकायां तनौ सन्निहितं चरन्तं हंसम् अदरिणा शयेन (आदरिणा आशयेन वा) ग्रहीतुकामा (सती) यत्नात् निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

व्याख्या—असौ=दमयन्ती, मुनेः=योगिनः, मनोवृत्तिः इव=चित्तवृत्तिः इव, स्विकायां=स्वकीयायां, तनौ=शरीरसमीपे, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—तन्वभ्यन्तरे, सन्निहितं=निकटस्थम्, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—आविर्भूतं, चरन्तं=सञ्चरन्तं, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—वर्तमानं, हंसं=मरालं, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—परमात्मानं च, अदरिणा=निर्भयेन, शयेन=पाणिना, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—आदरिणा=आदरयुक्तेन, आशयेन=चित्तेन, ग्रहीतुकामा=आदातु-

कामा, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—साक्षात्कर्तुकामा च सती, यत्नात्=प्रयत्नात्, निश्चलतां=निश्चलाऽङ्गत्वं, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—स्थिरतां, जगाहे=जगाम ॥ ४ ॥

अनुवाद—जैसे मुनिकी मनोवृत्ति अपने शरीरके भीतर आविर्भूत होकर स्थित परमात्माको आदरयुक्त चित्तसे साक्षात्कार करने की इच्छा कर यत्न-पूर्वक स्थिर होती है, वैसे ही दमयन्ती भी अपने शरीरके समीप स्थित और चलते हुए हंसको निर्भय हाथसे ग्रहण करनेकी इच्छा कर यत्नपूर्वक निश्चल हुई ॥ ४ ॥

टिप्पणी—मनोवृत्तिः=मनसो वृत्तिः (ष० त०) । स्विकायां=स्वा एव स्विका, तस्यां, स्वा शब्दसे स्वार्थिक कन्, "प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" इससे इत्व । सन्निहितं=सम्+नि+धा+क्त+अम् । चरन्तं= चरतीति चरन्, तं, चर+लट्+शतृ+अम्, हंसं="हंसो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मत्सरे" इति विश्वः । अदरिणा=दरः अस्याऽस्तीति दरी, दर+ इनिः । न दरी अदरी (नञ्०), तेन, "दरस्त्रसो भीतिर्भीः साध्वसं भयम्" इत्यमरः । शयेन="पञ्चशाखः शयः पाणि." इत्यमरः । आदरिणा=आदरः अस्याऽस्तीति आदरी, तेन, आदर+इनि+टा । आशयेन="अभिप्रायश्छन्द आशयः" इत्यमरः । ग्रहीतुकामा=ग्रहीतुं कामः यस्याः सा (बहु०) । ग्रहीतुं=ग्रह+तुमुन् । "ग्रहोऽलिटि दीर्घः" इससे दीर्घ । "तुं काममनसोरपि" इससे मकारका लोप । निश्चलतां=निश्चलस्य भावो निश्चलता, ताम्, निश्चल+ तल्+टाप्+अम् । जगाहे="गाहू विलोडने" धातुसे लिट् । इस पद्यमें श्लेष और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४ ॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामयं न भैम्या वियदुत्पपात ।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुकं तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

अन्वयः—अयं तां भैम्या मायाम् इङ्गितैः अनुमाय अपि धैर्यात् वियत् न उत्पपात । आत्मोपरिपातुकं तत्पाणिं तु प्लुतिलाघवेन मोघं वितेने ॥ ५ ॥

व्याख्या—अयं=हंसः, तां=पूर्वोक्तां, भैम्याः=दमयन्त्याः, मायां= कपटं, स्वग्रहणाऽर्थमिति शेषः । इङ्गितैः=चेष्टितैः, अनुमाय अपि=ज्ञात्वा अपि, धैर्यात्=स्थैर्यम् आस्थाय, वियत्=आकाशं प्रति, न उत्पपात=न उड्डीनः, आत्मोपरिपातुकं=स्वोपरिपतयालुं, तत्पाणिं तु=दमयन्तीहस्तं तु, प्लुतिलाघवेन=उत्पतनकौशलेन, मोघं=निष्फलं, वितेने=कृतवान्, आशामजी-जनत् परं पाणिगतो नाऽभूदिति भावः ॥ ५ ॥

अनुवाद—हस समय तीके उस काटको, पकडनेकी उनकी चेष्टाओसे जानकर भी धैर्यपूर्वक आकाश मे नही उडा। उसने अपने ऊपर पटनेवाले उनके हाथको उडनेकी निपुणता से निष्फल बना डाला ॥ ५ ॥

टिप्पणी—अनुमाय=अनु+माङ्+क्त्वा (ल्यप्), "न ल्यपि" इस सूत्रसे ईत्वका निषेध हुआ है। धैर्यात्=धीर+ष्यञ्, "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इससे ल्यप्के लोपमें पञ्चमी। उत्पपात=उद्+पत्+लिट्+तिप्। आत्मोपरिपातुक=पतनशील पातुक, 'पत्लृ पतने' धातुसे "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ्" इससे उकञ प्रत्यय। उपरि पातुक (महसुपा०), आत्मन उपरिपातुक, तम् (ष० त०)। तत्पाणि=तस्याः पाणि, तम् (ष० त०)। प्लुतिलाघवन=प्लुतेर्लाघव, तेन (ष० त०)। वितेने=वि+तनु+लिट्+त ॥ ५ ॥

व्यर्थीकृतं पत्त्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः ।
परस्परामर्पितहस्तताल तत्कालमालीभिरहस्यताऽलम् ॥ ६ ॥

अन्वय—अस्या व्यवसाय तेन पत्त्ररथेन तथा व्यर्थीकृतम् अवसाय तत्काल परस्पराम् अर्पितहस्ततालम् आलीभि अलम् अहस्यत ॥ ६ ॥

व्याख्या—अस्या=दमयन्त्या, व्यवसायम्=उद्योग हसग्रहणरूपेति शेष। तेन=पूर्वोक्तेन, पत्त्ररथेन=पक्षिणा, हसेन। तथा=तेन प्रकारेण, उत्पतनेनेति भाव। व्यर्थीकृत=निष्फलीकृतम्, अवसाय=ज्ञात्वा, तत्काल=तस्मिन् काले, परस्परा=परस्परस्यामित्यथ, अर्पितहस्तताल=दत्तकरताडन यथा तथा, आलीभि=सखीभि, अलम्=अत्यर्थम्, अहस्यत=हसितम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—दमयन्तीके पकडनेके उद्योगको उस हससे निष्फल किया गया जानकर, उस समय परस्परमे ताली पीटकर उनकी सखियाँ बहुत हँसी ॥६॥

टिप्पणी—पत्त्ररथेन=पत्त्रम् एव रथ (यानम्) यस्य स पत्त्ररथस्तेन (बहु०), "पतत्रिपत्त्रिपतगपतत्पत्त्ररथाण्डजा" इत्यमर। व्यर्थीकृत=विगत अर्थ यस्मात् ■ (बहु०), अव्यर्थो व्यर्थो यथा सम्पद्यते तथा कृत व्यर्थीकृत, तम्, व्यथ+च्वि+कृ+क्त+अम्। तत्काल=त च त कालम्, "कालाऽध्वनोरत्यन्तसयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया "अत्यन्तसयोगे च" इससे समास। परस्परा=परा परस्याम्, यहाँपर 'कर्मव्यतिहारे सवनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्" इस वार्तिकसे "द्वित्व और बहुल" का ग्रहण करनेसे समास वद्भावके न होनेसे पूर्वपदके प्रथमाके एकवचनमें कस्कादिगणमें पढे जानेसे

समास और उत्तरपदमें एकवचनमें "स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्भावो वा वक्तव्यः" इस वार्तिकसे आम् आदेश हुआ है। अर्पितहस्ततालम्=हस्ताभ्यां तालः (तृ० त०), अर्पितो हस्ततालो यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद् यथा तथा (क्रि० वि०)। अहस्यत=हस+लङ् (भावमें)+त ॥ ६ ॥

"उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेषः।
याऽन्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव साऽत्रे"त्युपालम्भि तयाऽऽलिवर्गः ॥ ७ ॥

अन्वयः—"(हे सख्यः !) भवतीभिः एषः करतालिकानां दानात् उच्चाटनीयः ? अत्र या माम् अन्वेति सा मह्यम् एव द्रुह्यति" इति तया आलिवर्गः उपालम्भि ॥ ७ ॥

व्याख्या—(हे सख्यः !) भवतीभिः=युष्माभिः, एषः=हंसः, करतालिकानां=हस्ततालानां, दानात्=वितरणात्, वादनादिति भावः। उच्चाटनीयः=निष्कासनीयः किम्, इति प्रश्नकाकुः, न उच्चाटनीय इत्यर्थः। अत्र=आसु, भवतीषु मध्ये इति भावः। या=काचित्, मां=भैमीम्, अन्वेति=अनुसरति, अनुसरिष्यतीति भावः। सा=सखी, मह्यम् एव=सख्यै एव, द्रुह्यति=जिघांसति, ममैव द्रोहं करिष्यतीति भावः। इति=इत्थं, तया=दमयन्त्या, आलिवर्गः=सखीसङ्घः, उपालम्भि=उपालब्धः, उपालम्भेन निवारित इति भावः ॥ ७ ॥

अनुवाद—"(हे सखियो !) तुम लोग ताली पीटकर इस हंसको उड़ा दोगी क्या ? तुम लोगोंमें जो कोई मेरा पीछा करेगी, वह मेरा ही द्रोह करेगी" ऐसा कहकर दमयन्तीने सखियोंको उलाहना दिया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—करतालिकानां=करयोस्तालिकाः, तासाम् (ष० त०)। उच्चाटनीयः=उद्+चट्+णिच्+अनीयर्+सु। यहांपर "भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।" इस लक्षणके अनुसार प्रश्नाऽर्थक काकु है, अन्वेति=अनु+इण्+लट्+तिप्। द्रुह्यति=द्रुह्+लट्+तिप्। दोनों क्रियापदोंमें "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्रसे भविष्यत्कालमें लट्। मह्यम्="द्रुह्यति" द्रुह् धातुके योगमें "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः" इससे सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी। "मह्यम्" यहांपर अन्वादेशके होनेपर भी "एव" शब्दका योग होनेसे "न च वाहाहैवयुक्ते" इससे "मे" आदेश नहीं हुआ है। आलिवर्गः=आलीनां वर्गः (ष० त०)। उपालम्भि=उप+आङ्+लभ+लुङ् (कर्ममें) ॥ ७ ॥

धृताऽल्पकोपा हसिते सखीना छायेव भास्वन्तमभिप्रयातु ।
श्यामाऽथ हंसस्य कराऽनवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥ ८ ॥

अन्वय - अथ सखीना हसिते धृताऽल्पकोपा भास्वन्तम् अभिप्रयातु छाया इव श्यामा कराऽनवाप्ते मन्दाक्षलक्ष्या (सती) हंसस्य पश्चात् लगति स्म ॥ ८ ॥

व्याख्या—अथ=अनन्तर, सखीनिवारणादिति शेष । सखीना=वयस्याना, हसिते=हास्यविषये, धृताऽल्पकोपा=कृतमन्दक्रोधा भास्वन्त=सूर्यम्, अभिप्रयातु =सम्मुख गच्छत , अनुसरेत्यथ । छाया इव =अनातपरेखा इव, श्यामा=नीलवर्णा, अन्यत्र—यौवनमध्यस्था । कराऽनवाप्ते =हस्तेन अप्राप्ते , पक्षान्तरे--किरणानामप्राप्ते , मन्दाक्षलक्ष्या=अपटुनयनग्राह्या (सती), मन्दाऽक्षै (अपटुनयनै) छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भाव । पक्षान्तरे—लज्जा सती । हंसस्य=पक्षिण , सूर्यस्य वा । पश्चात्=पृष्ठभागे, लगति स्म=लग्नाऽभून्, ग्रहणाऽऽशया हंसमनुससारेति भाव ॥ ८ ॥

अनुवाद—सखियोंको उलाहना देनेके अनन्तर उनकी हंसीमे कुछ कोप करनेवाली सूर्यके सम्मुख जानेवालेकी श्याम छायाके समान श्यामा (युवती) दमयन्ती हाथसे हंसको न पानेसे लज्जायुक्त होती हुई हंसके पीछे लगी ॥ ८ ॥

टिप्पणी -हसिते=हस+क्त+ङि । धृताऽल्पकोपा=धृत अल्प कोपो यया सा (बहु०) । भास्वन्त=भास्+मतुप्+अम् । अभिप्रयातु=अभि+प्र+या+तृच्+ङस् । श्यामा=" श्यामा यौवनमध्यस्था" इत्युत्पलमाला । कराऽनवाप्ते =न अवाप्ति अनवाप्ति (नञ्०), करेण अनवाप्ति , तस्या (तृ० त०), अथवा कराणाम् (किरणानाम्) अनवाप्ति , तस्या (ष० त०), दोनो पक्षोमे हेतुमे पञ्चमी । "बलिहस्तांऽशव करा" इत्यमर । मन्दाक्षलक्ष्या=मन्दे (अपटुनी) अक्षिणी (नेत्रे) येषा ते मन्दाक्षा (बहु०), 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो स्वाङ्गात्षच्" इससे समासान्त षच् प्रत्यय । मन्दाऽक्षै लक्ष्या (तृ० त०) । मन्द नेत्रोवालोसे छाया ही देखी जाती है, प्रकाश नहीं । दूसरे पक्षमे—मन्दाऽक्षेण लक्ष्या (तृ० त०) "मन्दाक्ष ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा" इत्यमर । लज्जित होती हुई, यह तात्पर्य है । हंसस्य="पश्चात्" इस पदके योगमे "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" इससे षष्ठी । "राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितै सिता ..." — cf. "रविश्वेतच्छदौ हंसौ" इत्यमर । लगति स्म="लगे सङ्गे" धातुसे "स्म" धातुके योगमें लट्+तिप् । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ८ ॥

"शस्ता न हंसाऽभिमुखी तवेयं यात्रे"ति ताभिश्छलहस्यमाना।
साऽऽह स्म "नैवाऽशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एव हंसः" ॥ ९ ॥

अन्वयः—"तव इयं हंसाऽभिमुखी यात्रा शस्ता न" इति ताभिः छलहस्यमाना (सती) सा "भाविप्रियावेदक एष हंसो मे न अशकुनीभवेत् एव" इति आह स्म ॥ ९ ॥

व्याख्या—"(हे भैमि !) तव = भवत्याः, इयम् = एषा, हंसाऽभिमुखी = राजहंससम्मुखी सूर्यसम्मुखी च, यात्रा = गमनं, शस्ता न = प्रशस्ता न, राजहंसपक्षे—श्रमकारकत्वात्, सूर्यपक्षे—सन्तापकरत्वरूपदृष्टदोषात् शास्त्रविरुद्धत्वाच्च श्रेयस्करी नेति भावः। इति = इत्थं, ताभिः = सखीभिः, छलहस्यमाना—छलेन = व्याजोक्त्या, हस्यमाना = उपहस्यमाना सती, सा = दमयन्ती, भाविप्रियावेदकः = भविष्यत्प्रियसूचकः, मङ्गलमूर्तित्वादिति शेषः। एषः = समीपतरवर्ती, हंसः = राजहंसः। मे = मम, दमयन्त्याः। न अशकुनीभवेत् एव = न अपशकुनरूपो भवेत् एव, अथवा न अपक्षी भवेत् एव, इति = इत्यम्, आह स्म = उक्तवती। एतेन यात्रानिषेधपक्षे दोषः परिहृतः ॥ ९ ॥

अनुवाद—"(हे दमयन्ती !) आपका यह हंसके वा सूर्यके सम्मुख गमन कल्याणकारक नहीं है" ऐसा कहकर सखियोंके छलसे उपहास करने पर दमयन्तीने "आगामी प्रियका सूचक यह हंस मेरे लिए अपशकुन वा अपक्षी नहीं ही होगा" ऐसा कहा ॥ ९ ॥

टिप्पणी—हंसाऽभिमुखी = हंसस्य अभिमुखी (ष० त०), छलहस्यमाना = हस्यते इति हस्यमाना, हस + लट् (कर्ममें) + यक् + शानच् + टाप्। छलेन हस्यमाना (तृ० त०)। भाविप्रियावेदकः = भावि च तत्प्रियम् (क० धा०), तस्य आवेदकः (ष० त०), मे = "मम" के स्थानमें "ते मयावेकवचनस्य" इससे "मे" आदेश। अशकुनीभवेत् = अशकुन + च्वि + भू + लिङ् (विधिमें)। "अस्य च्वौ" इससे अवर्णके स्थानमें ईकार आदेश। "शकुनं तु शुभाशंसा निमित्ते शकुनः पुमान्" इति विश्वः। आह स्म = "ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि" धातुके स्थानमें "आह" आदेश होकर "स्म" के योगमें भूतकालमें लट्। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ९ ॥

हंसोऽप्यसौ हंसगतेः सुदत्या पुरः पुरश्चारु चलन्बभासे।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥ १० ॥

अन्वय—असौ हंस अपि हंसगते सुदत्या पुरः पुरः अग्रे चारु चलन् वैलक्ष्यहेतोः एतदीयां गतिम् अनुकृत्य उच्चैः उपहसन् इव बभासे ॥ १० ॥

व्याख्या—दमयन्तीचेष्टामभिधाय हंसव्यापारं प्रतिपादयति—हंसोऽपीति। असौ=पूर्वप्रतिपादितः, हंसः अपि=राजहंसः अपि, सुदत्या =सुन्दरदशनायाः, दमयन्त्याः इत्यर्थः। पुरः-पुरः=पुरतः-पुरतः, अग्रे=समन्तात्, चारु=रम्यं, चलन्=गच्छन्, वैलक्ष्यहेतोः=आश्चर्योत्पादनार्थम्, एतदीयां=दमयन्तीसम्बन्धिनीं, गतिं=गमनम्, अनुकृत्य=अभिनीय, उच्चैः=अतिशयेन, उपहसन् इव=उपहासं कुर्वन् इव, बभासे=बभौ, लोकेऽपि परिहासकास्तत्तच्चेष्टानुकरणेन जनानां विस्मयं जनयन्ति ॥ १० ॥

अनुवाद—वह हंस भी हंसके समान चलनेवाली दमयन्तीके आगे मनोहर ढंगसे चलता हुआ आश्चर्य उत्पन्न करनेके लिए उसकी गतिकी नकल कर मानो उपहास करता हुआ शोभित हुआ ॥ १० ॥

टिप्पणी—हंसगते=हंसस्य इव गतिर्यस्याः सा हंसगतिः, तस्याः (व्यधिकरण०)। सुदत्याः=शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती, तस्याः (बहु०)। "पुर" इस पदके योगमें "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" इस सूत्रसे षष्ठी। चलन्=चल+लट् (शतृ)। वैलक्ष्यहेतोः=वैलक्ष्यस्य हेतुः, तस्य (ष० त०), "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इससे षष्ठी, 'विलक्षो लज्जयाऽन्विते' इत्यमरः। एतदीयाम्=एतस्याः इयं एतदीया, ताम्, "त्यदादीनि च" इससे वृद्धसंज्ञा होकर "वृद्धाच्छः" इस सूत्रसे छ (ईय) प्रत्यय। उपहसन्=उप+हस+लट् (शतृ)। बभासे="भासृ दीप्तौ" धातुसे लिट्+त। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १० ॥

> पदे पदे भाविनि भाविनी तं यथा करप्राप्यमवैति नूनम्।
> तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाऽऽचकृषे कृशाङ्गी ॥ ११ ॥

अन्वय—भाविनी कृशाङ्गी भाविनि पदे पदे तं यथा करप्राप्यं नूनम् अवैति तथा सखेलं चलता तेन प्रतार्य लतासु आचकृषे ॥ ११ ॥

व्याख्या—भाविनी=हंसग्रहणभावयुक्ता अथवा प्रशस्ताऽभिप्राया, कृशाङ्गी=दमयन्ती, भाविनि=भविष्यति अनन्तरे इत्यर्थः, पदे-पदे=प्रतिपदं, तं=येन हंसं, यथा प्रकारेण, करप्राप्यं=हस्तग्राह्यं, नूनं=निश्चितम्, अवैति=जानाति, तथा=तेन प्रकारेण, सखेलं=सक्रीडं, चलता=गच्छता, तेन=हंसेन, प्रतार्य=वञ्चयित्वा, लतासु=वल्लीसमीपे, आचकृषे=आकृष्टा, एकान्तं नीतेति भावः ॥ ११ ॥

अनुवाद—हंसको पकड़नेकी इच्छा करनेवाली दमयन्ती निकटवर्ती पग-पगमें हंसको जैसे हाथसे पकड़े जानेवाला निश्चित रूपसे जानती है, वैसे क्रीडासे चलनेवाले हंसने प्रतारण कर दमयन्तीको लताओंके समीप पहुँचाया ॥ ११ ॥

टिप्पणी—भाविनी=भावयतीति, भू + णिच् + णिनि + ङीप् । कृशाङ्गी=कृशानि अङ्गानि यस्याः सा (वहु०); "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इससे ङीप् । भाविनि=भविष्यतीति भावि, तस्मिन्; भू धातुसे "भविष्यति गम्यादयः" इस सूत्रसे भविष्यत्कालमें णिनि प्रत्यय । पदे-पदे=वीप्सामें द्विरुक्ति । कर-प्राप्यं=करेण प्राप्यः, तम् (तृ० त०) । अवैति=अव + इण् + लट् + तिप् । सखेलं=खेलया सहितं यथा तथा (तुल्ययोगवहु०) । चलता=चल + लट् + (शतृ) + टा । आचकृपे=आङ् + कृप + लिट् (कर्ममें) + त ॥११॥

रुषा निषिद्धाऽऽलिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार ।
तदा श्रमाऽम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥ १२ ॥

अन्वयः—रुषा निषिद्धाऽऽलिजनाम् एनां यदा छायाद्वितीया कलयाञ्चकार तदा श्रमाऽम्भःकणभूषिताऽङ्गी तां स कीरवत् मानुषवाक् (सन्) अवादीत् ।

व्याख्या—रुषा = क्रोधेन हेतुना, निषिद्धाऽऽलिजनां=निवारितसखीजनां, एनां = दमयन्तीं, यदा = यस्मिन्समये; छायाद्वितीयां = प्रतिबिम्बमात्र-सहचरीम्, एकाकिनीमिति भावः । कलयाञ्चकार=ज्ञातवान्, तदा=तस्मिन् समये, श्रमाऽम्भःकणभूषिताङ्गी=स्वेदजलकणाऽलङ्कृताऽङ्गीं, तां=भैमीं, स = सः, कीरवत्=शुकवत्, मानुषवाक=मानववाणीयुक्तः सन्, अवादीत्=उक्तवान् ॥ १२ ॥

अनुवाद—क्रोधसे सखियोंको निवारण करनेवाली दमयन्तीको जब केवल छायासे युक्त (अकेली) जान लिया, तब पसीनेके जलकी कणोंसे अलङ्कृत शरीरवाली उनसे उस हंसने तोतेके समान मनुष्यवाणीसे भाषण किया ॥१२॥

टिप्पणी—निषिद्धाऽऽलिजनां=निषिद्धा आलिजना यया सा, ताम् (वहु०) । छायाद्वितीयां=छाया एव द्वितीया यस्याः सा (वहु०) । अथवा छायया (कान्त्या) हेतुना अद्वितीया, ताम् (तृ० त०), कान्तिसे अद्वितीय, अतिशय सुन्दरी, यह तात्पर्य है । श्रमाऽम्भःकणभूषिताङ्गी=श्रमेण अम्भःकणाः (तृ० त०), भूषितानि अङ्गानि यस्याः सा, (वहु०) । श्रमाऽम्भः-कणैः भूषिताङ्गी, ताम् (तृ० त०) । कीरवत्=कीरेण तुल्यम्, कीर + वतिः ।

मानुषवाक्=मानुषस्य वाक् इव वाक् यस्य स (व्यधिकरणबहु०)। अवादीत्=वद + लुङ् + तिप् ॥ १२ ॥

अये ! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं ? परिश्राम्यसि वा किमयम् ?
उदेति ते भीरपि किन्नु बाले ! विलोकयन्त्या न घना वनाऽऽली: ? ॥१३॥

अन्वय —अये बाले ! व्यर्थं कियत् दूर यावत् उपैषि ? वा किमर्थं परिश्राम्यसि ? घना वनाली विलोकयन्त्या ते भी अपि न उदेति किन्नु ? ॥१३॥

व्याख्या—अये बाले !=हे तरुणि ! व्यर्थं=निरर्थं, कियत्=किंपरिमाण, दूर यावत्=विप्रकृष्ट पर्यन्तम्, उपैषि=उपैष्यसि ? वा=अथवा, किमर्थं=केन प्रयोजनेन, परिश्राम्यसि=परिश्रान्ता भवसि। घना=निबिडा, वनाली=विपिनपङ्क्ती, विलोकयन्त्या=पश्यन्त्या, ते=तव, भी अपि=भयम् अपि, न उदेति किन्नु ?=न उत्पद्यते किम् ? ॥ १३ ॥

अनुवाद—हे बाले ! व्यर्थं कितनी दूरतक आ रही है ? अथवा किस लिए आप परिश्रान्त होती है ? गाढ वनपङ्क्तियोंको देखनेवाली आपको भय भी उत्पन्न नहीं होता है क्या ? ॥ १३ ॥

टिप्पणी—कियत्=किं परिमाण, किम् + वतुप्। उपैषि=उप + इण्-धातुसे "यावत्" पदके योगमें "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्रसे भविष्यत्-कालमें लट्। किमर्थं=कस्मै इदम् (चतुर्थीतत्पुरुष)। वनाली=वनानाम् आल्य, ता (ष० त०)। विलोकयन्त्या=वि + लोक् + णिच् + लट् + (शतृ) ङीप् + ङस् ॥ १३ ॥

वृथाऽपथे तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः ।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनाऽऽलिः ॥ १४ ॥

अन्वय —वृथा अपथे पदम् अर्पयन्तीं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा च इयं वनालिः आली इव प्रतिषेधति, पश्य ॥ १४ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) वृथा—व्यर्थमेव, अपथे=दुर्मार्गे, अकृत्ये च, पदं=पाद, व्यवसाय च, अर्पयन्तीम्=कुर्वती (त्वाम्), मरुल्ललत्पल्लवपाणि-कम्पैः=वायुचलत्किसलयकरवेपथुभिः, कपोतहुङ्कारगिरा=पारावतहुङ्करणवाचा च, इयम्=एषा, वनाऽऽलिः=विपिनपङ्क्तिः, आली इव=सखी इव, प्रतिषेधति=निवारयति, पश्य=विलोकय, (वाक्यार्थ कर्म)। यथा लोके कुमार्ग-प्रवृत्त जन सुहृत् पाणिना वाचा च निवारयति, तथैव इयं वनालि प्रतिषेधति इति भाव ॥ १४ ॥

अनुवाद—व्यर्थ ही दुर्मार्गमें अकृत्यमें भी पैर रखनेवाली आपको वायुसे चञ्चल पल्लवरूप हाथोंके कम्पनोंसे और कबूतरकी हुङ्कारवाणीसे भी यह वनपङ्क्ति सखीके समान निवारण कर रही है, देखिए ॥ १४ ॥

टिप्पणी—अपथे=न पन्था अपथम् (नञ्०), तस्मिन् "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अ प्रत्यय। "अपथं नपुंसकम्" इससे नपुंसकलिङ्गता। पदं="पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रिवस्तुषु" इत्यमरः। मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः=पल्लव एव पाणिः (रूपक०), ललंश्चाऽसौ पल्लवपाणिः (क० धा०), मरुता ललत्पल्लवपाणिः (तृ० त०), तस्य कम्पाः, तैः (ष० त०)। कपोतहुङ्कारगिरा=हुङ्कार एव गीः (रूपक०), कपोतानां हुङ्कारगीः, तया (ष० त०)। वनालिः=वनानाम् आलिः (ष० त०)। प्रतिषेधति=प्रति+षिध्+लट्+तिप्। इस पद्यमें रूपक और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १४ ॥

धार्यः कथङ्कारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ?।
अहो ! शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५ ॥

अन्वयः—वसुधैकगत्या भवत्या वियद्विहारी अहं कथङ्कारं धार्यः ? स्मरस्य सख्या अनेन वयसा अपि तव शिशुत्वं खण्डितं न, अहो ! ॥ १५ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) वसुधैकगत्या=भूमात्रचारिण्या, भवत्या=त्वया, वियद्विहारी=आकाशचारी, अहं=पक्षी, कथङ्कारं=केन प्रकारेण, धार्यः=ग्रहीतुं शक्यः। स्मरस्य=कामस्य, सख्या=मित्रेण, अनेन=एतेन, वयसा अपि=अवस्थया अपि, तारुण्येनापीति भावः। तव=भवत्याः, शिशुत्वं=शैशवम्, अज्ञत्वमित्यर्थः, खण्डितं न=निवर्तितं न, अहो !=आश्चर्यम् ॥ १५ ॥

अनुवाद—भूमिमात्रमें गतिवाली आपसे आकाशमें विचरण करनेवाला मैं कैसे पकड़ा जाऊँगा ? कामदेवके मित्र इस अवस्था (तारुण्य) से भी आपका बालभाव नहीं हटा है, आश्चर्य है ! ॥ १५ ॥

टिप्पणी—वसुधैकगत्या=एका गतिर्यस्याः सा एकगतिः (बहु०)। वसुधायाम् एकगतिः, तया (स० त०)। वियद्विहारी=विहरतीति तच्छीलो विहारी, वि+हृञ्+णिनिः। वियति विहारी (स० त०)। कथङ्कारम्='कथम्' उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्" इस सूत्रसे णमुल् प्रत्यय। धार्यः=धर्तुं शक्यः 'धृ' धातुसे "शकि लिङ् च" इस

सूत्रमे 'च' का पाठ होनेसे शक्य अर्थमें ण्यत् (कृत्य) प्रत्यय । इस पद्यमे अधार्यत्वमे वसुधागति और विजयद्विरारूप पदार्थहेतुक एक काव्यलिङ्ग और शौशवके अखण्डनमे पूर्ववाक्यार्थके हेतु होनेसे दूसरा काव्यलिङ्ग, इनका सजातीय सङ्कर है ॥ १५ ॥

सहस्रपत्रासनपत्त्रहंसवंशस्य पत्त्राणि पतत्त्रिणः स्मः ।
अस्मादृशां चाटुरसाऽमृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

अन्वय —पाठाऽनुसारी ॥ १६ ॥

व्याख्या—हंसः स्वपरिचयं प्रस्तौति—सहस्रेति । सहस्रपत्त्रासनपत्त्रहंसवंशस्य = ब्रह्मवाहनहंसकुलस्य, पत्त्राणि = वाहनानि, पतत्त्रिणः = पक्षिणः, स्मः = भवामः । वयमिति शेषः । अहं ब्रह्मवाहनहंसकुलोत्पन्नोऽस्मीति भावः । अस्मादृशाम् = अस्मत्सदृशानां, चाटुरसाऽमृतानि = सुभाषितशृङ्गारादिरसपीयूषाणि, स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि = देवभिन्न-(मनुष्य) दुष्प्राप्याणि, सन्तीति शेषः ॥ १६ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारि !) हम ब्रह्माजीके वाहन हंसोंके कुलमें उत्पन्न वाहन पक्षी हैं। हमारे सरीखे लोगोंके सुभाषितरसरूप अमृत, देवभिन्न मनुष्योंके लिए दुर्लभ है ॥ १६ ॥

टिप्पणी—सहस्रपत्त्रासनपत्त्रहंसवंशस्य = सहस्रं पत्त्राणि यस्य तत् सहस्रपत्त्रं (बहु०), "सहस्रपत्त्रं कमलम्" इत्यमरः । सहस्रपत्त्रम् आसनं यस्य स सहस्रपत्त्रासनः, 'विरिञ्चिः कमलाऽऽसनः" इत्यमरः । पत्त्राणि च ते हंसाः (क० धा०) । सहस्रपत्त्रासनस्य पत्त्रहंसाः (ष० त०), तेषां वंशः, तस्य (ष० त०) । पत्त्राणि = "वंशो वेणौ कुले वर्गे" "पत्त्रं स्याद्वाहने पर्णे" इति च विश्वः । अस्मादृशाम् = अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशः, तेषाम्, उपपदपूर्वक 'दृश' धातुसे 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय । चाटुरसाऽमृतानि = चाटुषु रसाः (स० त०), ते एव अमृतानि (रूपक०), स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि=स्वश्चाऽसौ लोकः स्वर्लोकः (क० धा०) । स्वर्लोके लोकाः (देवजनाः), (स० त०) । स्वर्लोकलोकेभ्य इतरे (अन्ये, मनुष्या इत्यर्थः) (प० त०) । स्वर्लोकलोकेतरैः दुर्लभानि (तृ० त०) । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १६ ॥

स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाऽग्रभुजो भजामः ।
अन्नाऽनुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ १७ ॥

अन्वयः—स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाऽग्रभुजः अन्नाऽनुरूपां तनुरूपऋद्धिं भजामः, हि कार्यं निदानात् गुणान् अधीते ॥ १७ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीनां=मन्दाकिनीसुवर्णकमलिनीना, नालामृणालाऽग्रभुजः=काण्डबिसाग्रभोजिनः, वयमिति शेषः। अन्नाऽनुरूपाम्=आहारसदृशीं, तनुरूपऋद्धिं=शरीरवर्णसमृद्धिं, भजामः=प्राप्ताः स्म इति भावः। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—कार्यमिति। हि=यस्मात् कारणात्, कार्यं=जन्यं द्रव्यं, निदानात्=उपादानकारणात्, गुणान्=रूपादिविशेषगुणान्, अधीते=प्राप्नोतीति भावः ॥ १७ ॥

अनुवाद—स्वर्गकी नदी (मन्दाकिनी) की सुवर्णकमलिनियोंके काण्ड और मृणालके अग्रभागको खानेवाले हमलोग आहारके समान शरीरके वर्णकी समृद्धिको प्राप्त किये हुए हैं, क्योंकि कार्य, कारणसे रूप आदि विशेष गुणोंको प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

टिप्पणी—स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीनां=स्वर्गे अपगा (स० त०), हेम्नो मृणालिन्यः (ष० त०), स्वर्गापगाया हेममृणालिन्यः, तासाम् (ष० त०)। नालामृणालाऽग्रभुजः=मृणालानामग्राणि (ष० त०)। नालाश्च मृणालाऽग्राणि च (द्वन्द्वः), तानि भुञ्जत इति (नालामृणालाऽग्र+भुज्+क्विप्+जस्)। अन्नाऽनुरूपाम्=अन्नस्य अनुरूपा, ताम् (ष० त०)। तनुरूपऋद्धिं=रूपस्य ऋद्धिः (ष० त०), "ऋत्यकः" इससे प्रकृतिभाव होनेसे अर्गुण नहीं हुआ। तनो रूपऋद्धिः, ताम् (ष० त०)। निदानात्="आख्यातोपयोगे" इस सूत्रसे अपादानसंज्ञा होनेसे पञ्चमी। इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १७ ॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासरः सेवितुमागतेषु।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः ॥ १८ ॥

अन्वयः—धातुः नियोगात् इह नैषधीयं लीलासरः सेवितुम् आगतेषु हैमेषु हंसेषु अहम् एक एव भूलोकविलोकनोत्कः (सन्) भ्रमामि ॥ १८ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) धातुः=ब्रह्मणः, नियोगात्=आदेशात्, इह=अस्मिन्, भूलोक इति भावः। नैषधीयं=नलीयं, लीलासरः=विलासकासारं, सेवितुम्=आलोडयितुम्, विहर्तुमिति भावः। आगतेषु=आयातेषु, हैमेषु=सौवर्णेषु, हंसेषु=चक्राङ्गेषु, अहम्, एक एव=एकाकी एव, भूलोकविलोकनोत्कः=भूमिलोकदर्शनोत्कण्ठितः सन्, भ्रमामि=पर्यटामि ॥ १८ ॥

अनुवाद—ब्रह्माजी की आज्ञासे इस भूलोकमें नलके विलासके तालाबमें विहार करनेके लिए आये हुए सुनहरे हंसो मे अकेला ही भूलोक देखने मे उत्कण्ठित होता हुआ मैं पर्यटन कर रहा हूँ ॥ १८ ॥

टिप्पणी- नैषधीय=निषधानामय नैषध , निषध+अण् । नैषधस्य इदम् "वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या" इससे वृद्धसंज्ञा होकर "वृद्धाच्छ" इससे छ (ईय) प्रत्यय । हैमेषु=हेम्नो विकार , तेषु, हेमन्+अण्+सुप । "नस्तद्धिते" इससे टिका लोप । भूलोकविलोकनोत्क =भूश्चाऽसौ लोक (क० धा०) । तस्य विलोकन (ष० त०), तस्मिन् उत्क (स त०) । "उत्क" इससे "उत्क उन्मना " इस सूत्रसे उद् उपसर्ग से कन्प्रत्ययान्त निपात । भ्रमामि= भ्रम+लट्+मिप् ॥ १८ ॥

विधे कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमाऽऽतुरेभ्य स्वमहत्तरेभ्य ।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदा तदादि श्राम्यामि नाऽविश्रमविश्वगोऽपि ॥ १९ ॥

अन्वय —कदाचित् विधे भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्य स्वमहत्तरेभ्य स्कन्धस्य विश्रान्तिम् अदा तदादि अविश्रमविश्वग अपि न श्राम्यामि ॥ १९ ॥

व्याख्या—कदाचित्=जातुचित्, विधे =ब्रह्मण , भ्रमणीविलासे=भुवनभ्रमणविनोदे, श्रमाऽऽतुरेभ्य =परिश्रमाऽऽकुलेभ्य , भारवहनादिति शेष । स्वमहत्तरेभ्य =*निजवंशवृद्धेभ्य , स्कन्धस्य=अंसस्य, विश्रान्ति=विश्रमम्,* अदा=दत्तवान् स्वमहत्तरेषु श्रान्तेषु तद्भारमहं गृहीतवानिति भाव । तदादि= तत्कालादारभ्य, अविश्रमविश्वग अपि=निरन्तरसर्वलोकगामी अपि, न श्राम्यामि=श्रान्तो न भवामि, न खिद्ये इति भाव ॥ १९ ॥

अनुवाद— किसी समय ब्रह्माजीके भ्रमणके विनोदमे परिश्रमसे आतुर अपने पूर्वजोको मैंने कन्धेका विश्राम दिया । इस कारणसे मैं उस समय से लेकर *लगातार विश्वमे भ्रमण करने पर भी परिश्रान्त नहीं होता हूँ ॥ १९ ॥*

टिप्पणी—भ्रमणीविलासे=भ्रमण्या विलास , तस्मिन् (ष० त०) । श्रमातुरेभ्य =श्रमेण आतुरा , तेभ्य (तृ० त०) । स्वमहत्तरेभ्य =अतिशयेन महान्तो महत्तरा , महत्+तरप् । स्वस्मात् महत्तरा , तेभ्य (प० त०), "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्" इससे "सम्प्रदान" संज्ञा होकर चतुर्थी । स्कन्धस्य="स्कन्धो भुजशिरोऽसोऽस्त्री" इत्यमर । अदाम्="डुदाञ् दाने" धातुसे लुङ्+मिप् । "गातिस्थाघुपाभूभ्य सिच परस्मैपदेषु" इससे सिचका लुक् । तदादि=स (काल) आदि यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद् यथा

तथा (क्रि० वि०)। अविश्रमविश्वग:=अविद्यमान: विश्रम: यस्मिन् कर्मणि (नञ्बहु०), विश्वं गच्छतीति विश्वग:, विश्व-उपपदपूर्वक गम् धातुसे "अन्यत्राऽपि दृश्यते" इससे ड प्रत्यय। अविश्रमं (यथा तथा) विश्वग: (सुप्सुपा०)। श्राम्यामि="श्रमु तपसि खेदे च" इस धातुसे लट्+मिप्। "शमामष्टानां दीर्घ: श्यनि" इससे दीर्घ। इस पद्यमें काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ १९ ॥

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुष: स्यात्।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥ २० ॥

अन्वय:—मादृशि दिव्ये तिरश्चि विरलोदयस्य नरस्य एकं स्वर्भोगभाग्यं विना कश्चित् पाशादि: बन्धाय आसादितपौरुषो न स्यात् ॥ २० ॥

व्याख्या—मादृशि=मत्सदृशे, दिव्ये=सुरलोकभवे, तिरश्चि=पक्षिणि विषये, विरलोदयस्य=दुर्लभजन्मन:, नरस्य=मनुष्यस्य, अथवा विरलोदयस्य=रेफस्थाने लकारयुक्तस्य, नरस्य=नलस्येति भाव:। एकं=मुख्यं, स्वर्भोगभाग्यं विना=स्वर्गसुखभागधेयं विना, कश्चित्=कश्चन, पाशादि:=पाशाद्युपाय:, बन्धाय=बन्धनाऽर्थम्, आसादितपौरुष:=प्राप्तपुरुषार्थ:, न स्यात्=न भवेत्, स्वर्भोगभाग्यशालिनं नरं (नलम्) विना मां ग्रहीतुं न कोऽपि समर्थ इति भाव: ॥ २० ॥

अनुवाद—मेरे सरीसे दिव्य पक्षीके विषयमें दुर्लभ जन्मवाले नरके वा 'र' के स्थानमें 'ल' से युक्त नर अर्थात् नलके मुख्य स्वर्गभोगके भाग्यको छोड़कर कुछ पाश आदि उपाय बन्धनके लिए समर्थ नहीं होगा अर्थात् नल के सिवाय मैं किसी से ग्राह्य नहीं हूँगा ॥ २० ॥

टिप्पणी—विरलोदयस्य=विरल उदयो यस्य स विरलोदय:, तस्य (बहु०)। अथवा—विगत: र: यस्मात् स: विर: (बहु०)। लस्य उदयो यस्मिन् स लोदय: (व्यधिकरणबहु०)। विरश्चाऽसौ लोदय: विरलोदय: (क० धा०)। विरलोदयस्य नरस्य='र' के स्थानमें 'ल' के उदयवाले नर अर्थात् नल का, यह तात्पर्य है। स्वर्भोगभाग्यं=स्व: भोग: स्वर्भोग: (ष० त०)। तस्य भाग्यं, तत् (ष० त०), "विना" इस पदके योगमें द्वितीया। पाशादि:=पाश आदिर्यस्य स: (बहु०) बन्धाय="तुमर्थाच्च भाववचनात्" इससे चतुर्थी। आसादितपौरुष:=आसादितं पौरुषं येन स: (बहु०)। स्यात्=अस्+विधिलिङ्+तिप् ॥ २० ॥

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्या स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः ।
महीरुहो दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

अन्वय—इष्टेन पूर्तेन वश्याः अमर्त्याः नलस्य अत्र अपि स्वर्भोगं सृजन्ति । महीरुहः दोहदसेकशक्तेः आकालिकं कोरकम् उद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

व्याख्या—नलस्य स्वर्भोगभाग्यं प्रतिपादयति—इष्टेनेति । इष्टेन=यागेन, पूर्तेन=खाताऽऽदिकर्मणा, वश्याः=वशं गताः, अमर्त्याः=देवाः, नलस्य= नैषधस्य अत्र अपि=भूलोके अपि, स्वर्भोगं=स्वर्गसुखं, सृजन्ति=सम्पादयन्ति । अत्राऽर्थे दृष्टान्तमुपन्यस्यति—महीरुह इति । महीरुहः=वृक्षाः, दोहदसेकशक्तेः= धूपादिदोहदसेचनसामर्थ्यात्, आकालिकम्=असमयभवं, कोरकं=कलिकाम्, उद्गिरन्ति=उत्पादयन्ति । दोहदसेचनादिभ्यो वृक्षा इव ईष्टपूर्तादिकर्मभ्यो देवा अपि देशकालाद्यनपेक्ष्याऽपि फलं ददतीति भावः ॥ २१ ॥

अनुवाद–याग और खात आदि कर्मसे वशीभूत होकर देवगण नलके लिए भूलोकमें भी स्वर्गसुखका सम्पादन करते हैं । वृक्ष, धूप आदि दोहद और सेचन-की शक्तिसे असमयमें भी कलिकाको उत्पन्न करते हैं ॥ २१ ॥

टिप्पणी—इष्टेन पूर्तेन=यज्+क्त+टा । पृ+क्त+टा । "अथ क्रतु-कर्मेष्टं, पूर्तं खातादिकर्मणि" इत्यमरः । "पूर्तं" यहाँ पर "न ध्याख्यापृमूर्च्छि-मदाम्" इस सूत्रसे तकारका नकार नहीं हुआ । वश्याः=वशं गताः, "वशं गतः" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय । अमर्त्याः="अमर्त्या अमृतान्धसः" इत्यमरः । दोहदसेक-शक्तेः=दोहदं च सेकश्च दोहदसेकौ (द्वन्द्व), तयोः शक्तिः, तस्याः (ष० त०) । आकालिकम्=न कालः अकालः (नञ०) अकाले भवम् आकालिकं, तम् । 'अकाल' शब्दसे अध्यात्मादिगणमें आकृतिगण होनेसे "अध्यात्मादेष्ठञिष्यते" इससे ठञ् प्रत्यय । उद्गिरन्ति=उद्+गृ+लट्+झि । इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ २१ ॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवतीर्णः ।
तं वीजयाम स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः ॥ २२ ॥

अन्वय—सुवर्णशैलात् तूर्णम् अवतीर्य स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवतीर्णैः चामर-बद्धसख्यैः पक्षैः स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयाम ॥ २२ ॥

व्याख्या—नलस्य स्वर्भोगं प्रतिपादयति–सुवर्णशैलादिति । सुवर्णशैलात्= सुमेरोः, तूर्णं=शीघ्रम्, अवतीर्य=अवरुह्य, स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवकीर्णैः= मन्दाकिनीजलबिन्दुसम्पृक्तैः, चामरबद्धसख्यैः=प्रकीर्णककृतमैत्रीकैः, चामरसदृशै-

रिति भावः । पक्षैः=पतत्रैः, स्मरकेलिकाले=रतिक्रीडासमये, तं=पूर्वोक्तं, नृपं=राजानं नलं, वीजयामः=वातं कुर्मः इति भावः । राज्ञः सुरतश्रमं निवारयाम इति भावः ॥ २२ ॥

अनुवाद—सुमेरुपर्वतसे शीघ्र उतर कर मन्दाकिनीके जलके बिन्दुओंसे सम्पर्कयुक्त चामरके समान पङ्खोंसे रतिक्रीडाके समयमें नलको हम पङ्खा झलते हैं ॥ २२ ॥

टिप्पणी—सुवर्णशैलात्=सुवर्णस्य शैलः, तस्मात् (ष० त०) । अवतीर्य= अव+तॄ+क्त्वा (ल्यप्) । स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः=वारिणः कणाः (ष० त०), स्वर्वाहिन्या वारिकणाः (ष० त०), तैः अवकीर्णाः, तैः (तृ० त०) । चामरबद्धलक्ष्यैः=बद्धं लक्ष्यं यैस्ते (बहु०) चामरेषु बद्धलक्ष्याः, तैः (स० त०) स्मरकेलिकाले=स्मरस्य केलिः (ष० त०), तस्य कालः, तस्मिन् (ष० त०) ॥ २२ ॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता, व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाऽभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमानामपदं बहु स्यात् ॥ २३ ॥

अन्वयः—साधुविभक्तिचिन्ता क्रियेत चेत्, सा व्यक्तिः प्रथमा अभिधेया । या स्वौजसां विलासैः तावत् बहु अनामपदम्, (पक्षान्तरे—नामपदं) साधयितुं क्षमा स्यात् ॥ २३ ॥

व्याख्या—साधुविभक्तिचिन्ता=सज्जनविभागविचारः, क्रियेत चेत्= विधीयेत यदि, सा=नलनामधेया, व्यक्तिः=मूर्तिः, प्रथमाऽभिधेया=प्रथमं परिगणनीया । या=नलनामधेया व्यक्तिः, स्वौजसां=निजतेजसां, विलासैः= विभवैः, बहु=प्रचुरम्, अनामपदं=परराष्ट्रं, साधयितुं=स्वायत्तीकर्तुम्, क्षमा= समर्था, स्यात्=भवेत् ॥ २३ ॥

पक्षान्तरे—साधुविभक्तिचिन्ता=सम्यग्विभक्तिविचारः, क्रियेत चेत्=विधीयेत यदि, सा=प्रसिद्धा, प्रथमा=प्रथमाऽऽख्या, व्यक्तिः=विभक्तिः, अभिधेया=कथनीया, या=प्रथमा विभक्तिः, स्वौजसां=सु-औ-जस् इत्येतेषां प्रत्ययानां, विलासैः=विस्तारैः, तावत्, बहु=अनेकं, नामपदं=सुबन्तपदं, राम इत्यादिकं पदमिति भावः । साधयितुं=निष्पादयितुं, क्षमा=समर्था ॥ २३ ॥

अनुवाद—सज्जनोंके विभागका विचार किया जायगा तो "नल" नामवाले व्यक्तिको पहले परिगणन करना चाहिए । जो अपने प्रतापके विभवोंसे प्रचुर शत्रुओंके राष्ट्रको वशमें करनेके लिए समर्थ होगा ॥ २३ ॥

दूसरे पक्षमें—सात विभक्तियोंका विचार किया जायेगा तो उस प्रथमा विभक्तिको पहले कहना चाहिए, जो (प्रथमा विभक्ति) सु औ अस् इन प्रत्ययोंके विस्तारोंसे बहुतसे सुबन्तपदोंको सिद्ध करनेके लिए समर्थ होगी ॥ २३ ॥

टिप्पणी—साधुविभक्तिचिन्ता=साधूना विभक्ति (विभाग) (ष० त०), तस्याश्चिन्ता (ष० त०)। विभक्तिपक्षमें—विभक्तीनां चिन्ता (ष० त०), साधु (यथा तथा) विभक्तिचिन्ता (सुप्सुपा०)। क्रियेत=कृ+लिङ् (कर्ममें)+त। प्रथमाऽभिधेया=प्रथमम् (यथा तथा) अभिधेया (सुप्सुपा०)। विभक्तिपक्षमें—प्रथमा= प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" इससे होनेवाली प्रथमा विभक्ति। स्वौजसा=स्वस्य ओजांसि (तेजांसि), तेषाम् (ष० त०)। विभक्तिपक्षमें—सुश्च औश्च जश्च स्वौजस, तेषाम् (द्वन्द्व)। अनामपदम्=नमन नाम, 'नम्' धातुसे भावमें घञ्। अविद्यमान नाम येषां ते अनामा (नञ्बहु०), न झुकनेवाले अर्थात् शत्रु। अनामानां पद (ष० त०) तत्। विभक्तिपक्षमें—नामपद=नाम च तत्पद, तत् (क० धा०), निरुक्तके मतके अनुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार प्रकारके पदोंमें "सत्त्वप्रधानानि नामानि" अर्थात् जिनमें सत्त्व (द्रव्य) प्रधान होते हैं उन्हें "नाम" कहते हैं, अर्थात् सुबन्त पद। छ कारकोंमें "व्यापाराश्रय कर्ता" व्यापारका आश्रय कर्ता होता है। अतः वही प्रधान होता है, उसमें प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता है, इसलिए अन्य विभक्तियोंमें उसीकी प्रधानता और प्राथम्य होता है यह तात्पर्य है। इस पद्यमें प्रस्तुत अर्थ नल व्यक्तिका बोधन कर अभिधावृत्तिका विराम होनेके अनन्तर अन्वयकी अनुपपत्ति न होनेसे लक्षणाकी अप्रसक्तिमें तात्पर्यवृत्तिके पदार्थान्वयका बोधन कर निवृत्ति होनेपर अप्रस्तुत प्रथमा विभक्तिकी प्रतीति उपमाध्वनिसे हो जाती है ॥ २३ ॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाऽध्वराऽऽज्योपमयेव राज्यम् ।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो ! शेषमशेषमन्त्यम् ॥ २४ ॥

अन्वय—यज्वा श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः स राजा अध्वराज्योपमया इव राज्य विबुधव्रजत्रा कृत्वा पूर्वं शेषम्, अन्त्य तु अशेष भुङ्क्ते अहो ॥ २४ ॥

व्याख्या—यज्वा=विधिना इष्टवान्, श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः=आश्रितच्छान्दसाधीनकृतसम्पत्ति, स=पूर्वोक्त, राजा=भूपति, नल इत्यर्थ। अध्वराज्योपमया इव=यज्ञघृतसादृश्येन इव, राज्य=राष्ट्र, विबुधव्रजत्रा=

देवविद्वदधीनं कृत्वा=विधाय, पूर्वं=पूर्वनिर्दिष्टम् अध्वरराज्यं, शेषं=हुतशेषं भुङ्क्ते, अन्यं तु=स्वात्मनिर्दिष्टं राज्यं तु, अभेदम्=अखण्डं, भुङ्क्ते=उपभुङ्क्ते, चित्रो=आश्चर्यम् ॥ २४ ॥

अनुवाद—विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले और अधिक वैदिकोंको सम्पत्ति देनेवाले वे राजा (नल) यज्ञके तुल्य समान ही राज्यको देवता और विद्वानों के अधीन कर पूर्वोक्त यज्ञके हुतका शेष भाग (हवनके अनन्तर अवशिष्ट भाग) का उपभोग करते हैं। पीछे कहे गये राज्यके अभेद (अखण्ड) भागका उप-भोग करते हैं, आश्चर्य है ॥ २४ ॥

टिप्पणी—यज्वा=यज्+ङ्वनिप्। श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः=छन्दोऽधीते इति श्रोत्रियाः, "श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते" इससे निपात। "जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते"। इस वचनके अनुसार, जिसमें जन्म, संस्कार, विद्याका जुटाव होता है, उसे 'श्रोत्रिय' कहते हैं। श्रिताश्च ते श्रोत्रियाः (क० धा०), श्रितश्रोत्रियाधीनाःकृता श्रित-श्रोत्रियसात्कृता "तदधीनवचने" इस सूत्रसे "कृ" के योगमें साति प्रत्यय। श्रित-श्रोत्रियसात्कृता श्रीर्येन सः (बहु०)। "सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च" इत्यमरः। अध्वरराज्योपम्या=अध्वरेषु राज्यम् (स० त०)। अध्वरराज्यस्य उपमा, तया (ष० त०), विबुधव्रजस्य=विबुधानां व्रजः (ष० त०)। विबुधव्रजाधीनं देयं कृत्वा ऐसा विग्रह कर "देये त्रा च" इससे विबुधव्रजसे त्रा प्रत्यय। "तद्धि-तश्चासर्वविभक्तिः" इससे अव्ययभाव। अभेदं=न भेदम्, तद् (नञ्०)। भुङ्क्ते="भुज पालनाऽभ्यवहारयोः" इस धातुसे "भुजोऽनवने" इस सूत्रसे आत्मनेपद, लट्+त। इस पद्यमें विरोधाभास अलङ्कार है ॥ २४ ॥

दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे ।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैः अर्थिसार्थे अमोघमेघव्रतं सन्तुष्टम् इष्टदेवं लोकनाथं तं के नाम इष्टानि न नाथन्ति ॥ २५ ॥

व्याख्या—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैः=दैन्यनिवर्तकधनराशिवृष्टिभिः, अर्थि-सार्थे=याचकसमूहे विषये, अमोघमेघव्रतम्=सफलवारिवाहकव्रतं, सन्तुष्टं=सन्तुष्टम्, इष्टदेवं=यजनाराधितसुरं, लोकनाथं=राजानं, तं=नलं, के नाम=जनाः, इष्टानि=अभीष्टवस्तूनि, न नाथन्ति=नो याचन्ते, सर्वेऽपि याचन्त एवेति भावः ॥ २५ ॥

अनुवाद—दरिद्रताको नष्ट करनेवाले धनसमूहकी वृष्टियोंसे याचकसमूहमे सफल मेघके समान व्रत करनेवाले सन्तुष्ट और यज्ञसे देवताओंकी आराधना करने वाले महाराज नलसे कौन जन अभीष्ट पदार्थोंकी याचना नहीं करते हैं ॥२५॥

टिप्पणी—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षे=दारिद्र्य दारयतीति दारिद्र्यदारी दारिद्र्य + दृ + णिच् + णिनि । द्रविणानाम् ओघ (ष० त०) । दारिद्र्यदारी, चाऽसौ द्रविणौघ (क० धा०) । तस्य वर्षाणि, तैः (प० त०) । अर्थिसार्थे= अर्थिना सार्थ, तस्मिन् (ष० त०) । अमोघमेघव्रतम्=न मोघम् अमोघम् (नञ्०) । मेघस्य व्रतम् (ष० त०) । अमोघ मेघव्रत यस्य स, तम् (बहु०) । इष्टदेवम्=इष्टा देवा येन स, तम् (बहु०) । लोकनाथ=लोकाना नाथ, तम् (ष० त०) । नाथन्ति=नाथृ (नाधृ) याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु" इस धातुसे लट् + झि । याचनाऽर्थक नाथ् धातु दुहादिगणमे पढे जानेसे द्विकर्मक है । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधा विधाय रम्भा चिरं भामतुला नलस्य ।
तत्राऽनुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥ २६ ॥

अन्वय –सा रम्भा नलस्य अतुला भाम् अस्मत् चिर श्रोत्रसुधा विधाय तत्र अनुरक्ता (सती) तम् अनाप्य तन्नामगन्धात् नलकूबर भेजे ॥ २६ ॥

व्याख्या—सा=प्रसिद्धा, रम्भा=देवाङ्गना, नलस्य=नैषधस्य, अतुलाम्=अनुपमा, भा=सौन्दर्यम्, अस्मत्=मत्त चिर=बहुकालपर्यन्त, श्रोत्रसुधा=कर्णामृत, विधाय=कृत्वा, अनुरागात् श्रुत्वेति भाव । तत्र= तस्मिन् नले, अनुरक्ता=अनुरागयुक्ता (सती), तम्=नलम्, अनाप्य= अप्राप्य, तन्नामगन्धात्=नलसञ्ज्ञाऽक्षरलेशात्, नलकूबर=कुबेरपुत्र, भेजे= सिषेवे ॥ २६ ॥

अनुवाद—रम्भा नामकी अप्सराने नलके अनुपम सौन्दर्यको मुझसे बहुत समयतक कानोंके अमृत बनाकर (रससे सुनकर) उनमे अनुराग कर उन्हे न पानेसे नलके नामके लेश (एक खण्ड) से कुबेरके पुत्र नलकूबरका आश्रय लिया ॥ २६ ॥

टिप्पणी—सा=यहाँ तद् शब्दके प्रसिद्ध अर्थ मे होने से यद् शब्द के न रहनेपर भी विधेयाऽविमर्श दोष नहीं हुआ । अतुलाम्=अविद्यमाना तुला (उपमा) यस्या सा अतुला, ताम् (नञ्बहु०) । अस्मत्=अस्मद् + ङसि । श्रोत्रसुधा=श्रोत्रयो सुधा, ताम् (ष० त०) । यह पद "भाम्" इस पद का

विशेष है। विधाय=वि+धा+क्त्वा (ल्यप्)। अनुरक्ता=अनु+रञ्ज+क्त+टाप्। अनाप्य=न आप्य (नञ्०), 'आप्य' यहाँ पर आङ्-उपसर्गपूर्वक "आप्लृ व्याप्तौ" धातुसे क्त्वा उसके स्थानमें ल्यप्। तन्नामगन्धात्=तस्य नाम (ष० त०) तस्य गन्धः, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी। "गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः" इति विश्वः। भेजे=भज+लिट्+त ॥ २६ ॥

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय।
हा ! हेति गायन्यदशोचि तेन नाम्नैव हा हा ! हरिगायनोऽभूत् ॥२७॥

अन्वयः—केलीषु तद्गानगुणान् निपीय इतः स्वर्लोकं प्रयातैः अस्माभिः हरिगायनः गायन् यत् "हा ! हा" इति अशोचि, ततः नाम्ना हाहा अभूत् ॥२७॥

व्याख्या—केलीषु=विनोदगोष्ठीषु, तद्गानगुणान्=नलगीतमाधुर्यादिगुणान्, निपीय=नितरां पीत्वा, सादरं श्रुत्वेति भावः। इतः=अस्माल्लोकात्, भूलोकादित्यर्थः। स्वर्लोकं=सुरलोकं प्रयातैः=प्राप्तैः, अस्माभिः=हंसैः (कर्तृभिः), हरिगायनः=इन्द्रगायकः, गायन्=गानं कुर्वन् सन्, यत्=यस्मात् कारणात्, हा हा इति अशोचि=हा हा इति शोकविषयीकृतः, नलगानाऽपेक्षया निकृष्टगानत्वादिति शेषः। ततः=तस्मात्कारणात्, नाम्ना=सञ्ज्ञया, हाहा=हाहा इत्याकारकः, अभूत=अभवद् ॥ २७ ॥

अनुवाद—विनोदगोष्ठियोंमें नलके गानके गुणोंको आदरपूर्वक सुनकर भूलोकसे स्वर्गमें गये हुये हम लोगोंने गाते हुए इन्द्रके गवैयेके प्रति 'हा ! हा !!' कहकर जो शोक किया उससे वे 'हाहा' नामवाले हो गये ॥ २७ ॥

टिप्पणी—तद्गानगुणान्=तस्य गानं (ष० त०), "गीतं गानमिमे समे" इत्यमरः। तद्गानस्य गुणाः, तान् (ष० त०), निपीय=नि+पी+क्त्वा (ल्यप्)। हरिगायनः=गायतीति गायनः "गै शब्दे" धातुसे "ण्युट् च" इस सूत्रसे ण्युट् प्रत्यय। हरेर्गायनः (ष० त०)। गायन्=गायतीति, गै+लट् (शतृ)+सु। अशोचि="शुच शोके" इस धातुसे लुङ् (कर्ममें)+त। नाम्ना="प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्" इससे तृतीया। हाहा="हाहा हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्" इत्यमरः। इस पद्यमें "हा हा" पदका निर्वचन होनेसे पीयूषवर्ष जयदेवके चन्द्रालोकके अनुसार "निरुक्त" नामका काव्यलक्षण है जैसे कि—

"निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथाऽनृतम्।"

इस पद्यमे इन्द्रके गर्वग्रेके शोकनिमित्तका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है, उससे गन्धर्वके गानसे भी नलके गानका उत्कर्षरूप वस्तुकी ध्वनि है ॥ २७ ॥

> शृण्वन्सदारस्तदुदारभाव हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजाया ।
> पुण्येन नालोकत नाकपाल प्रमोदबाष्पाऽऽवृतनेत्रमाल ॥ २८ ॥

अन्वय —नाकपाल सदार तदुदारभाव शृण्वन् प्रमोदबाष्पावृतनेत्रमाल (सन्) पुलोमजाया मुहु हृष्यत् लोम पुण्येन न आलोकत ॥ २८ ॥

व्याख्या—नाकपाल =स्वर्गाऽधिप, इन्द्र इत्यर्थ । सदार=सपत्नीक तदुदारभाव=नलौदार्यं शृण्वन्=आकर्णयन्,प्रमोदबाष्पाऽऽवृतनेत्रमाल =आनन्दबाष्पाच्छादितनयनसमूह सन्, पुलोमजाया =इन्द्राण्या, मुहु =बार बार हृष्यत्=उल्लसत् नलाऽनुरागादिति शेष । लोम=रोम, रोमाञ्चमिति भाव । पुण्येन=सुकृतेन, इन्द्राण्या भाग्येनेति भाव । न आलोकत=न अपश्यत, अन्यथा सा व्यभिचार जानीयादिति भाव ॥ २८ ॥

अनुवाद—देवराज इन्द्रने पत्नीके साथ नलकी उदारताको सुनकर हर्षकी आँसुओंसे नेत्रोंकी पङ्क्ति आच्छादित होनेसे इन्द्राणी के बारबार होनेवाले रोमाञ्चको इन्द्राणी के पुण्यसे नही देखा ॥ २८ ॥

टिप्पणी—नाकपाल =नाक पालयतीति, नाक+पाल+अण् । सदार =दारै सहित (तुल्ययोग०) । तदुदारभावम्=उदारश्चाऽसौ भाव (क० धा०), तस्य उदारभाव, तम् (ष० त०) । शृण्वन्=शृणोतीति श्रु+लट् (शतृ)+सु । प्रमोदबाष्पाऽऽवृतनेत्रमाल =प्रमोदस्य बाष्पाणि (ष० त०) तै वृता (तृ० त०) नेत्राणा माला (ष० त०) । इन्द्रके हजार नेत्र थे, इसलिए "माला" कहना ठीक है । प्रमोदबाष्पाऽऽवृता नेत्रमाला यस्य स (बहु०) । पुलोमजाया =पुलोम्नो जाता, तस्या (ष० त०) पुलोमन्+जन्+ड+टाप्+ङस् । आलोकत=आङ्+लोक+लङ्+त । इस पद्य मे भावोदय अलङ्कार है । ॥ २८ ॥

> साऽपीश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भु ।
> अभूदपर्णाऽङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ॥ २९ ॥

अन्वय —ईश्वरे प्रसह्य चेत हरत तद्गुणौघान् शृण्वति (सति) सा अर्धशम्भु अपर्णा कदा कण्डूयनकैतवेन अङ्गुलिरुद्धकर्णा न अभूत् ॥ २९ ॥

व्याख्या—ईश्वरे=शङ्करे, प्रसह्य=बलात्कारेण, चेत =चित्त, हरत =

आकर्षतः, तद्गुणौघान्=नलगुणसमूहान्, शृण्वति=आकर्णयति सति, सा= प्रसिद्धा, अर्धशम्भु=शम्भोरर्धाऽङ्गभूता, अपर्णा=पार्वती, कदा=कस्मिन्काले, कण्डूयनकैतवेन=कण्डूनिवारणच्छलेन, अङ्गुलिरुद्धकर्णा=करशाखापिहितश्रवणा, न अभूत्=न अभवत्, अभूदेवेत्यर्थः। अन्यथा चित्तचलनादिति भावः ॥ २९ ॥

अनुवाद—बलपूर्वक चित्तको आकृष्ट करनेवाले नलके गुणोंको महादेवजीके सुनने पर शम्भुकी अर्धाङ्गिनी पार्वतीने कब खुजलीके बहाने उँगलीसे कानको बन्द नहीं किया ? ॥ २९ ॥

टिप्पणी—हरतः=हरन्तीति हरन्तः, तान्, हृञ्+लट्+(शतृ)+शस्। तद्गुणौघान्=गुणानाम् ओघाः (ष० त०)। तस्य गुणौघाः, तान् (ष० त०) अर्धशम्भुः=अर्धं (शरीराऽर्धम्) शम्भोः (एकदेशि०), अपर्णा=अविद्यमानं पर्णं यस्याः सा (नञ्बहु०)। ऋषि मुनियोंने तपस्यामें वृक्षका पर्ण (पत्ता) खाया था, पार्वतीने उसे भी छोड़कर अनशन कर तपस्या की थी, अतएव उनका नाम 'अपर्णा' पड़ गया। इस बातको कविकुलगुरु कालिदासने कुमारसम्भवमें कैसे व्यक्त किया है—

"स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः" ॥ ५-२८ ॥

कण्डूयनकैतवेन=कण्डूयनस्य कैतवं, तेन (ष० त०) अङ्गुलिरुद्धकर्णा= रुद्धौ कर्णौ यया सा (बहु०), अङ्गुलिभ्यां रुद्धकर्णा (तृ० त०)। इस पद्यमें व्याजोक्ति अलङ्कार है ॥ २९ ॥

अलं सजन्धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम्।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—विधाता धर्मविधौ अलं सजन् वाणीं मौनस्य मिषेण रुणद्धि। (किन्तु) वेदजडः स ताम् तत्कण्ठम् आलिङ्ग्य रसस्य तृप्तां वक्रां न वेद ॥ ३० ॥

व्याख्या—विधाता=ब्रह्मा, धर्मविधौ=धर्माचरणे, अलम्=अत्यन्तं, सजन्=आसक्तो भवन्, वाणीं=स्वपत्नीं सरस्वतीं, वर्णात्मिकां वाचं च, मौनस्य=वाग्यमनव्रतस्य, मिषेण=कैतवेन, रुणद्धि=निवारयति, नलकथाप्रसङ्गादिति शेषः, तस्या उभय्या अपि नलाऽऽसक्तिभयादिति भावः। (किन्तु) वेदजडः=श्रुतिजडः, वेदपाठमात्रनिरतत्वाद्विचारहीन इति भावः। सः=विधाता, तां=वाणीं, स्वपत्नीं वाचं चेत्युभयीमपि, तत्कण्ठं=नलगलम्, आलिङ्ग्य=

आश्लिष्य, रसस्य तृप्ता=अनुरागसन्तुष्टा शृङ्गारादिरससन्तुष्टा च। अत एव वक्रा=प्रतिकूला, वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्ता च, न वेद=न जानाति। स्त्रीणां रक्षा दुःशकेति भावः ॥ ३० ॥

अनुवाद—ब्रह्माजी धर्मके आचरणमें अत्यन्त आसक्त होते हुए वाणी-(अपनी पत्नी सरस्वती अथवा वाणी) को मौनके बहानेसे (नलके कथा-प्रसङ्गसे) रोकते हैं। किन्तु वेदपाठमात्र करते रहनेसे जड वे (ब्रह्माजी) अपनी पत्नी सरस्वतीको और वाणीको नलके कण्ठको आलिङ्गन कर अनुरागसे अथवा शृङ्गार आदि रससे सन्तुष्ट अतएव वक्रा (प्रतिकूल अथवा वक्रोक्ति अलङ्कारसे युक्त) नहीं जानते हैं ॥ ३० ॥

टिप्पणी—धर्मविधौ=धर्मस्य विधिः, तस्मिन् (ष० त०)। सजन्=सजतीति "षञ्ज सङ्गे" धातुसे लट् (शतृ)+सु। रुणद्धि=रुध्+लट्+तिप्। वेदजडः=वेदेन जडः (तृ० त०)। तत्कण्ठं=तस्य कण्ठः, तम् (ष० त०)। आलिङ्ग्य=आङ+लिगि+क्त्वा (ल्यप्)। रसस्य=कर-णत्वकी विवक्षा न करके सम्बन्धविवक्षामें षष्ठी। वेद=विद+लट+तिप्। इस पद्यमें प्रस्तुत वाणी देवी (सरस्वती) के कथनसे अप्रस्तुत वर्णात्मक वाणी-की प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ३० ॥

> श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षतिः कापि पतिव्रतायाः।
> समस्तभूतात्मतया न भूतं तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाऽणुनापि ॥ ३१ ॥

अन्वय—पतिव्रतायाः श्रियः तद्भर्तुः समस्तभूतात्मतया तदालिङ्गनभूः कापि व्रतक्षतिः न अभूत्। (अत एव) तद्भर्तुः ईर्ष्याकलुषाऽणुना अपि न भूतम् ॥ ३१ ॥

व्याख्या—पतिव्रतायाः=सत्याः, श्रियः=लक्ष्म्याः, तद्भर्तुः=लक्ष्मीपतेः, विष्णोरित्यर्थः। समस्तभूतात्मतया=सर्वभूतस्वरूपत्वेन, तदालिङ्गनभूः=नलाऽऽश्लेषभवा, कापि=काचिदपि, व्रतक्षतिः=पातिव्रत्यभङ्गः, न अभूत्=न अजायत, नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेति भावः। अत एव तद्भर्तुः=लक्ष्मीपतेः विष्णोः, ईर्ष्याकलुषाऽणुना अपि=असहिष्णुताकालुष्यलेशेन अपि, न भूतम्=न अभावि ॥ ३१ ॥

अनुवाद—पतिव्रता लक्ष्मीका, उनके पति विष्णुके समस्त प्राणियोंके स्वरूपहोनेसे नलके आलिङ्गनसे होनेवाला कुछ भी पातिव्रत्यभङ्ग नहीं हुआ, इसीसे उनके पति विष्णुको ईर्ष्याके कालुष्यका लेश भी नहीं हुआ ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—पतिव्रतायाः=पत्यौ व्रतं यस्याः सा पतिव्रता, तस्याः (व्यधि० बहु०)। तद्भर्तुः=तस्या भर्ता, तस्य (ष० त०)। "याजकादिभिश्च" इससे समास। समस्तभूतात्मतया=समस्ताश्च ते भूताः (क० धा०)। आत्मनो भाव आत्मता, आत्मन्+तल्+टाप्। समस्तभूतानाम् आत्मता, तया (ष० त०), तदालिङ्गनभूः=तस्य (नलस्य) आलिङ्गनम् (ष० त०), तदालिङ्गनाद् भवतीति, तदालिङ्गन+भू+क्विप् (उपपद०)+सु। व्रतक्षतिः=व्रतस्य क्षतिः (ष० त०), तद्भर्तुः=तस्या भर्ता तस्य, यहां पर प्रत्ययंक भर्तृ शब्द होनेसे 'याजकादिभिश्च' इस सूत्रसे षष्ठी समास। ईर्ष्या-कलुषाङ्गुना=ईर्ष्यया कलुषं (ष० त०) तस्य अणु, तेन (ष० त०)। भूतं=भू धातुसे "नपुंसके भावे क्तः" इससे क्त प्रत्यय। यहां पर २८–३१ पद्यों तक पुलोमजा आदियोंके चित्तचाञ्चल्यकी उक्तिका नलके सौन्दर्यमें तात्पर्य होनेसे औचित्यभङ्ग नहीं समझना चाहिए। इस पद्यमें पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है॥ ३१॥

धिक् ! तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम्।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम्॥ ३२॥

अन्वयः—स्मृततन्मुखश्रीः (अपि) पर्वणि यः पूर्णम् इन्दुं निर्माति, तम् अजातलज्जं विधेः पाणिं धिक् ! यो भवमूर्ध्नि कृतार्धम् तम् औज्झत् सः विज्ञः (इति) मन्ये॥ ३२॥

व्याख्या—(हे भैमि !) स्मृततन्मुखश्रीः (अपि)=चिन्तितनलाननशोभः (अपि), पर्वणि=पूर्णिमायां, यः=विधिपाणिः पूर्णं=षोडशकलोपेतम्, इन्दुं=चन्द्रमसं, निर्माति=रचयति, तं=तादृशम्, अजातलज्जं=निर्लज्जं, विधेः=ब्रह्मणः, पाणिं=करं, धिक्=तस्य निन्देति भावः। यः=विधि-पाणिः, भवमूर्ध्नि=शिवशिरसि कृतार्धं=रचितैकदेशं, तं=चन्द्रमसम्, औज्झत्=त्यक्तवान्, सः=विधिपाणिः, विज्ञः=अभिज्ञः इति, मन्ये=चिन्तयामि, चन्द्रान्मनोहरतरं नलमुखमिति भावः॥ ३२॥

अनुवाद—नलकी मुखशोभाका स्मरण करके भी पूर्णिमामें जो (ब्रह्माका हाथ) पूर्ण चन्द्रका निर्माण करता है उस निर्लज्ज हाथको धिक्कार है, जिसने (ब्रह्माजीके हाथ ने) शिवजीके शिरमें आधा बनाये गये चन्द्रमाको छोड़ दिया। वह बुद्धिमान् है, मैं ऐसा मानता हूं॥ ३२॥

टिप्पणी—स्मृततन्मुखश्रीः=तस्य मुखं (ष० त०), तस्य श्रीः (ष० त०)

स्मृता तन्मुखश्रीर्येन स (बहु०)। अजातलज्ज=न जाता अजाता (नञ्०)। अजाता लज्जा यस्य स अजातलज्जस्तम् (बहु०)। पाणिम्="धिक्" पदके योगमें "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। भवमूर्ध्नि=भवस्य मूर्धा, तस्मिन् (ष० त०), कृतार्धं=कृत अर्धं यस्य स कृतार्धः, तम् (बहु०)। "भित्त शकलखण्डे वा पुस्यर्ध" इत्यमर। औज्झत्=उज्झ+लङ्+त "आडजादीनाम्" इससे आट् आगम और "आटश्च" इससे वृद्धि। चन्द्रमासे नलका मुख अतीव सुन्दर है, यह इस पद्यका तात्पर्य है। इस पद्यमें "प्रतीप" अलङ्कार है॥ ३२॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः।
सूरे समुद्रस्य कदाऽपि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे॥ ३३॥

अन्वय—विधुः स्वजैत्रं तस्य मुखं नः मुखात् श्रुत्वा ह्रीविधुरः (सन्) कदापि सूरे कदापि समुद्रस्य पूरे कदाचित् अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे निलीयते॥ ३३॥

व्याख्या—(हे भैमि!) विधुः=चन्द्रमा, स्वजैत्रम्=निजजेतृ, तस्य=नलस्य, मुखं=वदनं, नः=अस्माकं, मुखात्=वदनात्, श्रुत्वा=आकर्ण्य, ह्रीविधुरः=लज्जाविकलः (सन्), कदाऽपि=कदाचित् सूरे=सूर्ये, दर्शे इति भावः। कदाऽपि=कदाचित्, समुद्रस्य=सागरस्य, पूरे=प्रवाहे, अस्तकाल इति भावः। कदाचित्=जातुचित्, अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे=आकाशसञ्चरमाणमेघाऽभ्यन्तरे निलीयते=अन्तर्धत्ते, कदाऽपि अग्रतः स्थातुं न उत्सहत इति भावः॥३३॥

अनुवाद—चन्द्रमा अपनेको जीतनेवाले नलके मुखको हमारे मुखसे सुनकर लज्जासे पीड़ित होकर कभी सूर्यमें (अमावास्यामें), कभी समुद्रके प्रवाहमें (अस्तसमयमें) और कभी आकाशमें घूमते हुए मेघके भीतर छिप जाता है॥३३॥

टिप्पणी—स्वजैत्रं=जयतीति जेतृ, जि+तृन्। जेतृ एव जैत्रम्, "प्रज्ञादिभ्यश्च" इस सूत्रसे जेतृ शब्दसे स्वार्थमें अण्। स्वस्य जैत्रं, तत् (ष० त०)। ह्रीविधुरः=ह्रिया विधुरः (तृ० त०)। अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे=भ्रमच्च तद् अभ्रम् (क० धा०), "अभ्रं मेघो वारिवाहः" इत्यमर। अभ्रे भ्रमदभ्रम् (स० त०), "द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रम्" इत्यमर। अभ्रभ्रमदभ्रस्य गर्भः तस्मिन् (ष० त०)। निलीयते=नि+लीङ्+लट्+त। इस पद्यमें चन्द्रमाके स्वाभाविक सूर्य आदिमें प्रवेशमें पराजयके कारण लज्जासे छिपनेकी उत्प्रेक्षा होनेसे वाचक शब्दके अभावमें प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ३३॥

सञ्ज्ञाप्य नः स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्याऽरिरत्यब्जनलास्यनुत्यै ।
तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्जं रमते रमायाम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—दैत्याऽरिः स्वध्वजभृत्यवर्गान् नः अत्यब्जनलास्यनुत्यै सञ्ज्ञाप्य तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात् धातुः विलज्जं रमायां रमते ॥ ३४ ॥

व्याख्या—दैत्याऽरिः=विष्णुः, स्वध्वजभृत्यवर्गान्=गरुडाऽनुचरसमूहान्, नः=अस्मान्, अत्यब्जनलाऽऽस्यनुत्यै=कमलजेतृनलमुखस्तुत्यै, सञ्ज्ञाप्य=सञ्ज्ञया आज्ञाप्य, तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात्=नलस्तुतिनिमीलन्नाभिकमलतिरोहितात्, धातुः=ब्रह्मणः, विलज्जं=लज्जाराहित्यं यथा तथा, रमायां=लक्ष्म्यां, रमते =क्रीडति ॥ ३४ ॥

अनुवाद—भगवान् विष्णु अपने वाहन गरुडके अनुचर हम लोगोंको सिकुड़े हुए नाभिकमलमें ब्रह्माजीके अदृश्य होनेसे लज्जारहित होकर लक्ष्मीमें रमण करते है ॥३४॥

टिप्पणी—दैत्याऽरिः=दैत्यानाम् अरिः (ष० त०)। स्वध्वजभृत्यवर्गान् =स्वस्य ध्वजः (ष० त०), गरुड इत्यर्थः। भृत्यानां वर्गाः (ष० त०)। स्वध्वजस्य भृत्यवर्गाः, तान् (ष० त०)। अत्यब्जनलाऽऽस्यनुत्यै=अब्जम् अतिक्रान्तम् अत्यब्जम् "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इससे समास हुआ है। नलस्य आस्यम् (ष० त०)। अत्यब्जं च तत् नलास्यम् (क० धा०)। तस्य नुतिः, तस्यै (ष० त०)। "स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः" इत्यमरः। सञ्ज्ञाप्य=सम्+ज्ञा+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात्= नाभौ सरोजं (स० त०)। सङ्कुचच्च तत् नाभिसरोजम् (क० धा०)। तया (नुत्या) सङ्कुचन्नाभिसरोजं (तृ० त०) तेन पीतः, तस्मात् (तृ० त०)। पीतका "तिरोहित" अर्थ लक्षणासे हुआ है। धातुः=अपादानमें पञ्चमी। विलज्जं=विगता लज्जा यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), यथा तथा (क्रि० वि०) रमते=रम+लट्+त। इस पद्यमें विष्णुकी रमामें उस प्रकारसे रमण-का सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

रेखाभिरास्ये गणनादिवाऽस्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः ।
चतुर्दशाऽष्टादश चाऽत्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अस्य आस्ये दन्तमयीभिः द्वात्रिंशता रेखाभिः गणनात् चतुर्दश अष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र सन्ति इति वेधाः शशंस इव ॥ ३५ ॥

व्याख्या—अस्य=नलस्य, आस्ये=मुखे, दन्तमयीभिः=दशनरूपाभिः, द्वात्रिंशता=द्वात्रिंशत्सङ्ख्याभिः, रेखाभिः=लेखाभिः, गणनात्=सङ्ख्यानात्, चतुर्दश=चतुर्दशसङ्ख्यका, अष्टादश=अष्टादशसङ्ख्यका, विद्या=वेदादिविद्या सन्ति=वर्तन्ते, इति=इत्थं, शशस इव=कथयति स्म इव ॥ ३५ ॥

अनुवाद—नलके मुखमें दन्तस्वरूप बत्तीस रेखाओंसे गिनती करनेसे चौदह और अठारह विद्याएँ दो प्रकारोंसे इनमें हैं, ऐसा ब्रह्माजी मानो सूचना करते हैं ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—दन्तमयीभिः=दन्त+मयट् (स्वरूप अर्थमें)+ङीप्+भिस्। द्वात्रिंशता=द्वयधिका त्रिंशत् द्वात्रिंशत्, तया (मध्यमपद०)। "द्व्यष्टनः सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः" इससे आत्व। "रेखाभिः" इसका विशेषण होने पर भी "विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः सङ्ख्येयसङ्ख्ययोः।" इस नियमके अनुसार एकवचन। चतुर्दश=चतस्रश्च दश च (द्वन्द्व), अष्टादश=अष्टौ च दश च (द्वन्द्व), पूर्व सूत्रसे आत्व।

"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राऽङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश" ॥ १ । ३।

याज्ञवल्क्यस्मृतिके इस वचनके अनुसार पुराण (ब्राह्म आदि) न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र (मानव आदि), वेदाङ्ग ६, (जैसे–शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द ज्योतिष) तथा ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद—४ वेद कुल चौदह विद्याएँ हुईं। इनमें—

"आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव तु ॥"

विष्णुपुराणकी इस उक्तिके अनुसार आयुर्वेद, धनुर्वेद गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र इन चार उपवेदोंका सङ्कलन करनेसे अठारह विद्याएँ हो गईं। मत-भेद दिखाया गया है। द्वेधा=द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम्, द्वि शब्दसे "एधाच्च" इससे एधाच् प्रत्यय। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३५ ॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मराऽमरेन्द्रावपि न स्मरामः।
वासेन सम्यक् क्षमयोऽस्य तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥ ३६ ॥

अन्वय—तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ निरीक्ष्य स्मरामरेन्द्रौ अपि न स्मरामः। तस्मिन् क्षमयोः सम्यक् वासेन शेषबुद्धौ न दध्मः खलु ॥ ३६ ॥

व्याख्या—तस्य=पूर्वोक्तस्य, नरेन्द्रस्य=राज्ञो नलस्य, श्रियौ=सौन्दर्य-सम्पत्ती, निरीक्ष्य=दृष्ट्वा स्मरामरेन्द्रौ अपि=कामशक्रौ अपि, न स्मरामः=न चिन्तयामः, स्मरे सौन्दर्यमेव न सम्पत्तिः, इन्द्रे सम्पत्तिरेव न पुनः सौन्दर्यं नले च द्विविधे अपि श्रियौ वर्तेते अतस्तस्य आधिक्यमिति भावः । एवं च तस्मिन्=नले, क्षमयोः=क्षितिक्षान्त्योः, सम्यक्=सुष्ठु, वासेन=स्थित्या, वुद्धौ=स्वमतौ, शेषवुद्धौ=अनन्तसुगतौ, न दध्मः=न धारयामः, खलु=निश्चयेन । शेषः पृथिवीमेव धारयति न क्षान्ति, बुद्धः क्षान्तिमेव धारयति न पुनः क्षितिम् । नलस्तु उभे अपि धारयति अतस्तस्य प्रकर्षाऽतिशय इति भावः ॥ ३६ ॥

अनुवाद—नलकी दोनों श्रियों (सौन्दर्य और सम्पत्ति) को देखकरकाम-देव और इन्द्रका भी हम स्मरण नहीं करते । उसी प्रकार उन (नल) में दोनों क्षमाओं (पृथ्वी और सहनशीलता) की अच्छी तरह स्थिति होने से शेष और वुद्धको हम अपने मन में धारण नहीं करते ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—नरेन्द्रस्य=नराणाम् इन्द्रः, तस्य (ष० त०) । श्रियौ=श्रीश्च श्रीश्च श्रियौ, ते, "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इससे एकशेष समास । "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीः" इति शाश्वतः । स्मरामरेन्द्रौ=अमराणाम् इन्द्रः (ष० त०) । स्मरश्च अमरेन्द्रश्च, तौ (द्वन्द्वः) । क्षमयोः=क्षमा च क्षमा क्षमे, तयोः, पूर्वसूत्रसे एकशेष । "क्षितिक्षान्त्योः क्षमा" इत्यमरः । शेष बुद्धौ=शेषश्च बुद्धश्च, तौ (द्वन्द्वः) । दध्मः=धा+लट्+मस् । इस पद्य में दोनों श्रियों और क्षमाओंका प्रकृत (प्रस्तुत) होनेसे केवल प्रकृतश्लेष है और सौन्दर्य आदि गुणोंसे स्मर आदियोंसे नलका आधिक्य होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है । यथासंख्यके साथ इनका सङ्कर है ॥ ३६ ॥

विना पतत्रं विनतातनूजैः, समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न लङ्घिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—पतत्रं विना विनतातनूजैः, ईक्षणलक्षणीयैः समीरणैः, अनणुप्रमाणैः मनोभिः, तदश्वैः कतमा दिक् न लङ्घिता आसीत् ॥ ३७ ॥

व्याख्या—पतत्रं=पक्षं, विना=अन्तरेण, विनतातनूजैः=गरुडैः, तदश्वैरित्यत्र सम्बन्धः, एवमन्यत्राऽपि । ईक्षणलक्षणीयैः=नयनदर्शनीयैः, समीरणैः=वायुभिः (तदश्वैः), अनणुप्रमाणैः=अणुपरिमाणरहितैः, महापरिमाणैरिति भावः । मनोभिः=अन्तःकरणैः, कतमा=का, दिक्=काष्ठा,

न लङ्घिता=न अतिक्रान्ता, आसीत्=अभवत्, मर्नाऽपि दिक् लङ्घितैवासीदिति भाव ॥ ३७ ॥

अनुवाद—पङ्खके बिना गरुड, नेत्रसे देखे जानेवाले वायु और अणु-परिमाणसे रहित अर्थात् महापरिमाणवाले नलके घोडोंने कौन सी दिशाका लङ्घन नहीं किया ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—विनतातनूजै=विनतायास्तनूजा, तैं (प० त०)। ईक्षण-लक्षणीयै=ईक्षणाभ्यां लक्षणीया, तैं (तृ० त०)। अनणुप्रमाणै=अणु प्रमाणं येषां तानि (बहु०), न अणुप्रमाणानि, तैं (नञ्०)। तदश्वै=तस्य अश्वा, तै (प० त०)। कतमा=का एव, किम् शब्दसे "कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने" इस सूत्रसे डतमच्+टाप्। वेगवाले पदार्थोंमें गरुड, वायु और मन—ये तीन प्रसिद्ध हैं, परन्तु नलके घोडे बिना पङ्खके गरुड हैं। वायुका रूप नहीं है, इसलिए केवल स्पर्शसे उसका प्रत्यक्ष होता है। परन्तु नलके घोडे आँखों से देखे जानेवाले वायु हैं। इसी तरह मन अणुप्रमाण है, परन्तु नलके घोडे अणुप्रमाणसे भिन्न महाप्रमाणवाले मन हैं, इस प्रकार नल के घोडोंकी वेग-शालिता का वर्णन किया गया है। नलके घोडोंमें गरुड वायु और मन का आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है। उसमें भी गरुडमें पक्षरहितत्व, वायुमें ईक्षण-लक्षणीयत्व और मनमें अणुप्रमाणरहितत्व अधिक विशेषण होनेसे अधिकारूढ वैशिष्ट्यरूपक अलङ्कार है। जैसे कि—"अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत्।" सा० द० १०।५० ॥ ३७ ॥

सङ्ग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्रैर्नदीमातृकतां गतासु।
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभि सुभिक्षम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—अरीणाम् अस्रै नदीमातृकतां गतासु सङ्ग्रामभूमीषु तद्बाणधारा-पवनाशनानां राजव्रजीयै असुभि सुभिक्षं भवति ॥ ३८ ॥

व्याख्या—अरीणां=शत्रूणां, नलस्येति शेष। अस्रै=रुधिरै, नदीमातृ-कतां=नद्यम्बुसम्पन्नशस्याढ्यतां गतासु=प्राप्तासु, सङ्ग्रामभूमीषु=युद्धभूमिषु, तद्बाणधारापवनाशनानां=नलशरपरम्परासर्पाणां, राजव्रजीयैः=नृपसमूहसम्ब-न्धिभि, असुभि=प्राणैः, सुभिक्षं=भिक्षाणां समृद्धि, भवति=विद्यते ॥३८॥

अनुवाद—शत्रुओंके रुधिरसे नदीके जलसे शस्यसम्पन्न भावको प्राप्त युद्ध-भूमियोंमें नलके बाणधारारूप सर्पोंको राजाओंके प्राणोंसे सुभिक्ष हो जाता है।

टिप्पणी—नदीमातृकतां=नदी एव माता यासां ता नदीमातृका (बहु०),

"नद्युतश्च" इससे समासान्त कप् प्रत्यय। नदीमातृकाणां भावो नदीमातृकता, ताम्, नदीमातृका + तल् + टाप् + अम्। "त्वतलोर्गुणवचनस्य" इससे पुंवद्भाव।

"देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्" इत्यमरः। सङ्ग्रामभूमीषु=सङ्ग्रामस्य भूम्यः, तासु (ष० त०)। तद्बाणधारापवनाऽशनानां=बाणानां धाराः (ष० त०), तस्य बाणधाराः (ष० त०), ता एव पवनाऽशनाः, तेषाम् (रूपक०)। राजव्रजीयैः=राज्ञां व्रजाः (ष० त०), राजव्रजानाम् इमे राजव्रजीयाः, तैः "वृद्धाच्छः" इससे छ (ईय) प्रत्यय। सुभिक्षं=भिक्षाणां समृद्धिः, "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे समृद्धिमें अव्ययीभाव। नदीके जलसे खेती किये जानेवाले देश या भूमिको "नदीमातृक" और वृष्टिके जलसे खेती किये जाने वाले देश या भूमिको "देव-मातृक" कहते हैं। नलके शत्रु राजाओंके रुधिरसे संग्रामभूमियोंके नदीमातृक होनेपर नलके बाणधारारूप सर्पोंको नलके शत्रु राजाओंकी प्राणवायुसे सुभिक्ष होता है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ३८ ॥

यशो यदस्याऽजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगालीकूलङ्कषत्वं व्यसनं तदीयम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—संयुगेषु कण्डूलभावं भजता अस्य भुजेन यत् यशः अजनि, तदीयं दिगापगालीकूलङ्कषत्वं व्यसनं हेतोः गुणात् एव ॥ ३९ ॥

व्याख्या—संयुगेषु=युद्धेषु, कण्डूलभावं=खजूं, भजता=प्राप्नुवता, अस्य=नलस्य, भुजेन=बाहुना यत्, यशः=कीर्तिः, अजनि=जनितं तदीयं=तद्यशःसम्बन्धि, दिगापगालीकूलङ्कषत्वं=काष्ठानदीराजितटवर्षकत्वं, व्यस-नम्=आसक्तिः, हेतोः=कारणस्य, भुजस्य। गुणात् एव=कण्डूलत्वात् एव, आगतमिति शेषः ॥ ३९ ॥

अनुवाद—युद्धोंमें खुजलीको प्राप्त करनेवाली नलकी बाहुने जो यश पैदा किया, उस यशका दिशारूप नदियोंके तटको खुजलानेका व्यसन अपने कारण बाहुके गुणसे ही आ गया है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—कण्डूलभावं=कण्डूरस्याऽस्तीति कण्डूलः, शब्दसे "सिध्मादिभ्यश्च" इस सूत्रसे लच् प्रत्यय अथवा कण्डूं लाति (आदत्ते) इति कण्डूलः, "आतो-ऽनुपसर्गे कः" इससे कप्रत्यय। "कण्डूः खर्जूश्च कण्डूया" इत्यमरः। कण्डूलस्य भावः, तम् (ष० त०)। अजनि=जन् + णिच् + लुङ् + त (कर्ममें), तदीयं=तस्य इदम्, तद् + छ (ईय)। दिगापगालीकूलङ्कषत्वं=दिश एव

आपगा (रूपक०), तामग्म् आली (ष० त०)। कूलं कषतीति कूलङ्कष, कूल-उपपदपूर्वक 'कष' धातुसे "सर्वकूलाऽभ्रकरीषेषु कषः" इस सूत्रसे खच् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इससे मुम् आगम (उपपद०)। कूलङ्कषस्य भाव कूलङ्कषत्व कूलङ्कष+त्व। दिगापगाल्या कूलङ्कषत्वम् (ष० त०)। नलका यश सब दिशाओमे फैला हुआ है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्या समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारेपरार्धं गणितं यदि स्यात्, गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात् ॥ ४० ॥

अन्वय —त्रिलोकी गणनापरा स्यात् यदि, तस्या आयुष समाप्ति न स्यात् यदि, पारेपरार्धं गणित स्यात् यदि (तदा) स अपि गणेयनि शेषगुण स्यात् ॥ ४० ॥

व्याख्या—त्रिलोकी=त्रिभुवन, गणनापरा=नलगुणसङ्ख्यानतत्परा, स्यात् यदि=भवेत् चेत्। एव च तस्या =त्रिलोक्या, आयुष =जीवनकालस्य, समाप्ति =समापन, न स्यात् यदि=न भवेत् चेत्, पारेपरार्धं=परार्धात् पर, गणित=सङ्ख्यात, स्यात् यदि=भवेत् चेत्, (तदा=तर्हि) स अपि= नल अपि, गणेयनि शेषगुण =गणनीयसमस्तगुण, स्यात्=भवेत्, न तु एव, ततो नलगुणगणना कर्तुं नैव शक्येति भाव ॥ ४० ॥

अनुवाद—यदि तीनो लोक नलके गुणोको गिननेमे तत्पर हो, यदि उनकी आयुकी समाप्ति भी न हो और यदि परार्धसे ऊपर भी गणना हो सके तो नलके सब गुणोकी गणना हो सकेगी ॥ ४० ॥

टिप्पणी—त्रिलोकी=त्रयाणा लोकाना समाहार, "तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च" इससे समास, उसकी "सङ्ख्यापूर्वो द्विगु" इस सूत्रसे द्विगुसज्ञा "अकारान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रियामिष्ट" इस नियमसे "द्विगो" इस सूत्रसे ङीप्। गणनापरा=गणनाया परा (ष० त०)। पारेपरार्धं=परार्द्धस्य पारे "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" इससे अव्ययीभाव, निपातनसे एकारान्तत्व हुआ है। गणेयनि शेषगुण =गणयितु योग्या गणेया, 'गण सङ्ख्याने' धातुसे "गणेरेय" इस उणादिसूत्रसे एय प्रत्यय। स्यात्=क्रियाऽतिपत्तिकी विवक्षा न होनेसे लृङ् नही हुआ, अत सभावनामे लिङ्। इस पद्यमे गुणोके गणेयत्वके सम्बन्धमे भी असम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है। चन्द्रालोककार जयदेवके मतके अनुसार 'सभावन' अलङ्कार है ॥ ४० ॥

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः ।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयामः परमाणुमध्याः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तिरश्चाम् अवारितद्वारतया तस्य राज्ञः अन्तःपुरे निविश्य परमाणुमध्याः रम्येषु गतेषु अधिकं विशेषम् अध्यापयामः ॥ ४१ ॥

व्याख्या—अथ नलस्याऽन्तःपुरे हंसः स्वगतिं द्योतयति—अवारितेति। तिरश्चाम्=पक्षिणाम्, अवारितद्वारतया= अनिवारितप्रतीहारतया, अनिषिद्धप्रवेशत्वेनेति भावः। तस्य=पूर्वोक्तस्य, राज्ञः= नृपस्य, अन्तःपुरे=अवरोधे, निविश्य=प्रविश्य, परमाणुमध्याः=अतिकृशोदरीः, नलाङ्गना इति भावः। रम्येषु=मनोहरेषु, गतेषु=गमनेषु विषये, अधिकम्=अपूर्वं, विशेषं=भेदम्, अध्यापयामः=अभ्यासयामः, वयमिति शेषः ॥ ४१ ॥

अनुवाद—पक्षियोंके प्रवेशमें रुकावट न होनेसे राजा नलके अन्तःपुरमें प्रवेश कर परमाणुसदृश (सूक्ष्म) कमरवाली उनकी स्त्रियोंको मनोहर गतियोंमें अपूर्व भेदको हम सिखाते हैं ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—अवारितद्वारतया=न वारितम् अवारितम् (नञ्०)। अवारितं द्वारं येषां ते अवारितद्वाराः (बहु०), तेषां भावः तत्ता, तया, अवारितद्वार+तल्+टाप्+टा। निविश्य=नि+विश्+क्त्वा (ल्यप्)। परमाणुमध्याः=परमश्चाऽसौ अणुः (क० धा०), परमाणुरिव मध्यो यासां ताः (बहु०)। पदार्थोंमें सबसे सूक्ष्म पदार्थ परमाणु है, यह नैयायिकोंका सिद्धान्त है। यहाँ सूक्ष्म अर्थमें तात्पर्य है। अध्यापयामः=अधि-उपसर्गपूर्वक "इङ् अध्ययने" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लट्+मस्। दुहादिगणमें पढ़े जानेसे द्विकर्मक ॥४१॥

पीयूषधाराऽनधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयामः ।
रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजताऽऽदृताभिः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—पीयूषधाराऽनधराभिः काव्यं सृजता काव्येन आदृताभिः रम्भाऽऽदिसौभाग्यरहःकथाभिः तासाम् अन्तः रसोदन्वति मज्जयामः ॥ ४२ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) पीयूषधाराऽनधराभिः=अमृतधारान्यूनाभिः, अमृतसमानाभिरित्यर्थः। काव्यं=प्रबन्धविशेषं, सृजता=रचयित्रा काव्येन=शुक्रेण, आदृताभिः=मानिताभिः, काव्ये प्रतिपादिताभिरिति भावः रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः=रम्भाऽऽदिवाल्लभ्यरहस्यवर्णनाभिः, तासां= नलाऽन्तःपुरस्त्रीणाम्, अन्तः=अन्तःकरणं, रसोदन्वति=शृङ्गाररससमुद्रे मज्जयामः=अवगाहयामः ॥ ४२ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारी ! अमृतधाराके समान, काव्यकी रचना करनेवाले काव्य (शुक्र) से प्रतिपादित रम्भा आदि अप्सराओंके सौभाग्यकी रहस्यकथाओंसे नलके अन्तःपुरकी स्त्रियोंके अन्तःकरणको शृङ्गाररसके समुद्रमें हमलोग स्नान करा देते हैं ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—पीयूषधाराऽनघराभिः=न अघरा अनधरा (नञ्०)। पीयूषस्य धारा (ष० त०), ताभ्य अनधरा, ताभिः (ष० त०)। काव्य=कवेर्भावः कर्म वा तद्, कवि शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय। सृजता=सृजतीति सृजन्, तेन, सृज+लट् (शतृ)+टा। काव्येन=कवेरपत्यं पुमान् काव्य, तेन, कवि शब्दसे "कुर्वादिभ्यो ण्यः" इससे ण्य प्रत्यय, 'शुक्रो दैत्यगुरु काव्य" इत्यमर। आदृताभिः=आङ्+दृङ्+क्त+भिस्। रम्भाऽऽदिसौभाग्यरहःकथाभिः=रम्भा आदिर्यासां ता रम्भादयः (बहु०), तासां सौभाग्यम् (पतिवाल्लभ्यम्) (ष० त०), तस्य रहःकथा, (ष० त०) ताभिः। रसोदन्वति=रसस्य उदन्वान्, तस्मिन् (ष० त०)। मज्जयामः=(टु) मस्जो+णिच्+लट्+मस्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ४२ ॥

कामिर्न तत्राऽभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् क्रियेऽहम्।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक्, कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥ ४३ ॥

अन्वय—यद् तिर्यक् कुतः अपि न जिह्रेति एव। तिरश्चः अपि कश्चिद् न त्रपते,तेन तत्र काभिः अहम् अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् न क्रिये ॥४३॥

व्याख्या—यत्=यस्मात्कारणात्, तिर्यक्=पक्षी, कुतः अपि=कस्माद् अपि जनात्, न जिह्रेति एव=न लज्जते एव। तिरश्चः अपि=पक्षिणः अपि, कश्चित्=कोऽपि जनः, न त्रपते=न लज्जते। तेन=कारणेन, तत्र=अन्तःपुरे, काभिः=स्त्रीभिः, अहं=तिर्यक्, हंसः। अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक्=अपूर्वरतिरहस्यवृत्तान्तविश्रम्भन्यासवाणिजकः, न क्रिये=न कृतः, अपि तु क्रिये एव। अहं नलस्य अन्तःपुरवर्तिनीनां सर्वासां रमणीनां विश्वासकथापात्रमस्मीति भावः ॥ ४३ ॥

अनुवाद—जिस कारणसे कि पक्षी किसीसे भी नहीं ही लजाता है, और पक्षीसे भी कोई भी नहीं लजाता है, इस कारणसे नलके अन्तःपुरमें कौन स्त्रियाँ मुझे अपूर्व रतिरहस्यके वृत्तान्तके विश्वासका धरोहर रखनेमें वणिक् नहीं बनाती हैं ? ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—तिर्यक्=तिरः अञ्चतीति, तिरस् + अञ्च + क्विन् + सु, "तिरसस्तिर्यलोपे" इससे तिरस्‌के स्थानमें तिरि आदेश। कुतः=कस्मात् इति, किम् (कु) + तसि (तस्), "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इससे पञ्चमी। जिह्रेति=ह्री + लट् + तिप्। त्रपते=त्रपूष् — लट् + त। अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक्=स्मरस्य आज्ञा (प० त०), अभिनवा चाऽसौ स्मराज्ञा (क० धा०) विश्वासस्य निक्षेपः (ष० त०), अभिनवस्मराज्ञाया विश्वासः (ष० त०) तस्य निक्षेपः (ष० त०)। तस्य वणिक् (ष० त०)। क्रियै=कृ + लट् + इट् (कर्ममें)। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

वार्ता च साऽसत्यपि नाऽन्यमेति योगादरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे।
विरिञ्चिनानाऽऽननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—विरिञ्चिनानाऽऽननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः (अहम्) योगात् अरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे, सा वार्ता असती अपि अन्यं न एति ॥ ४४ ॥

व्याख्या—अथ हंसः स्वस्य विश्वासभाजनत्वं प्रतिपादयति—वार्तेति। विरिञ्चीत्यादिः=ब्रह्माऽनेकवदनव्याख्यानशोधितयोगशास्त्रश्रवणपूरितश्रोत्रः, अहं योगात्=उपायात्, अरन्ध्रे=छिद्ररहिते, हृदि=हृदये, यां=वार्तां, निरुन्धे=निरुणद्धि आवृणोमि, सा=तादृशी, वार्ता=लोकवार्ता, किमुत रहस्यवार्ता इति शेषः। असती अपि=असत्यभूता अपि, विनोदार्थं कथिता अपि, किमुत सतीति भावः। अन्यम्=अपरं, बोद्धव्याद्भिन्नं पुरुषमपीति भावः, न एति=गच्छति, अतोऽहमन्तःपुरस्त्रीणां परमविश्वसनीय इति भावः ॥ ४४ ॥

अनुवाद—ब्रह्माजीके अनेक मुखोंके व्याख्यानसे शुद्ध किये गये योगशास्त्रके श्रवणसे पूर्ण कर्णोंवाला मैं, छिद्ररहित हृदयमें जिस वृत्तान्तको उपायसे रोक लेता हूँ, वह वृत्तान्त भले ही झूठा क्यों न हो, दूसरेके पास नहीं पहुँचता ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—विरिञ्चिनानाननेति=विरिञ्चेः नानाऽऽननानि (ष० त०), तैः वादः (तृ० त०), तेन धौतम् (तृ० त०), तच्च तत् समाधिशास्त्रम् (क० धा०), तस्य श्रुतिः (ष० त०)। पूर्णौ कर्णौ यस्य सः (बहु०)। विरिञ्चिनानाऽऽननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुत्या पूर्णकर्णः (तृ० त०)। अरन्ध्रे=अविद्यमानं रन्ध्रं यस्य तत्, तस्मिन् (नञ्बहु०)। निरुन्धे=

ह्र्+लट्+इट । असती=न सती (नञ्०)। इस पद्यमें वार्त्तानिरोधमें विरिञ्चि इत्यादि पदार्थोंकी हेतुतासे काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ४४ ॥

> नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवाऽनवाप्यं लभते बताऽन्या ।
> कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्या ॥ ४५ ॥

अन्वय —तव अनवाप्यं त्रिदिवोपभोगम् अम्बुजिन्या दुर्लभं ज्योत्स्नोत्सवम् इन्दुपरिग्रहेण कुमुद्वती इव नलाश्रयेण अन्या लभते बत ! ४५ ॥

व्याख्या – अथ पद्यद्वयेन दमयन्त्या नलाऽनुरागमुद्दीपयति—नलाश्रयेणेति । (हे राजकुमारि !) तव=भवत्या, अनवाप्यम्=अप्राप्य, नलस्वीकाराऽभावादिति भाव । त्रिदिवोपभोग=स्वर्गोपभोग, नलस्य इन्द्रसदृशैश्वर्यत्वादिति भाव । अम्बुजिन्या =कमलिन्या, दुर्लभ=दुष्प्राप्य, ज्योत्स्नोत्सव=चन्द्रिकाभोगम्, इन्दुपरिग्रहेण=चन्द्राङ्गीकारेण, कुमुद्वती इव=कुमुदिनी इव, नलाश्रयेण=नलस्वीकरणेन, अन्या=भवत्या भिन्ना काचिद् ललना, लभते=प्राप्नोति, बत=खेदस्य विषयोऽयमिति भाव ॥ ४५ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) आपसे अप्राप्य स्वर्गका उपभोग, कमलिनीसे दुष्प्राप्य चाँदनीका भोग चन्द्रमाके अङ्गीकार करनेसे कुमुदिनीके समान नलके आश्रयसे दूसरी स्त्री प्राप्त करती है। खेद है ! ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—तव ="अनवाप्यम्" इसके योगसे "कृत्यानां कर्तरि वा" इस सूत्रसे तृतीयाके अर्थमें षष्ठी । त्रिदिवोपभोग=त्रिदिवस्य उपभोग, तम् (ष० त०)। दुर्लभ=दुर्+लभ्+खल्+अम् । ज्योत्स्नोत्सव=ज्योत्स्नाया उत्सव, तम् (ष० त०)। इन्दुपरिग्रहेण=इन्दो परिग्रह, तेन (ष० त०)। कुमुद्वती=कुमुदानि सन्ति यस्या सा, कुमुद शब्दसे "कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्" इस सूत्रसे ड्मतुप् प्रत्यय । "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य" इससे मकारके स्थानमें वकार । "उगितश्च" इस सूत्रसे ङीप् । नलाश्रयेण=नलस्य आश्रय, तेन (ष० त०)। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है । ४५ ॥

> तन्नैषधाऽनूढतया दुरापं शर्म त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म ।
> रसालवल्ल्या मधुपाऽनुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव ॥ ४६ ॥

अन्वय —तत् अस्मत्कृतचाटुजन्म शर्म त्वया अप्राप्तवसन्तया रसालवल्ल्या मधुपाऽनुविद्धं सौभाग्यम् इव नैषधाऽनूढतया दुरापम् ॥ ४६ ॥

व्याख्या—तत्=प्रसिद्धम्, अस्मत्कृतचाटुजन्म=मत्प्रयुक्तप्रियवाक्योत्पन्न, शर्म=सुख, त्वया=भवत्या, अप्राप्तवसन्तया=वसन्तानधिष्ठितया, रसाल-

वल्ल्या=आम्रश्रेण्या, मधुपाऽनुविद्धं=भ्रमरकृतं, सौभाग्यम् इव=सौन्दर्यम् इव, नैषधाऽनूढतया=नलेन अपरिणीततया, दुरापं=दुष्प्राप्यम्, नलपरिग्रहाय भवत्या यत्नः कार्य इति भावः ॥ ४६ ॥

अनुवाद—मुझसे कहे गये प्रियवाक्योंसे उत्पन्न सुख, आपसे वसन्त ऋतुको अप्राप्त आम्रोंकी श्रेणीसे भौरेसे किये गये सौन्दर्यकी तरह नलके साथ विवाह न होनेसे दुष्प्राप्य है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—अस्मत्कृतचाटुजन्म=अस्माभिः कृतानि (तृ० त०), अस्मत्कृतानि च तानि चाटूनि (क० धा०), तेभ्यो जन्म यस्य तत् (व्यधिकरण-बहु०)। अप्राप्तवसन्तया=न प्राप्तः अप्राप्तः (नञ्०)। अप्राप्तो वसन्तो यया सा अप्राप्तवसन्ता, तया (बहु०)। रसालवल्ल्या=रसालानां वल्ली, तया (ष० त०)। मधुपाऽनुविद्धं=मधु पिबन्तीति मधुपाः, मधु+पा+कः। मधुपैः अनुविद्धम् (तृ० त०)। नैषधाऽनूढतया=निषधानामयं नैषधः, निषध+अण्। अनूढया भावः अनूढता, अनूढा+तल्+टाप्। "सामान्ये नपुंसकम्" इससे नपुंसकता। नैषधेन अनूढता, तया (तृ० त०)। दुरापं=दुःखेन आप्तुं शक्यम्, दुर्+आप्+खल्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं विधेः केन मनः प्रविश्य।
अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयश्च ॥ ४७ ॥

अन्वयः—वा तस्य एव हस्तं किं न यास्यसि ? केन विधेः मन एव प्रविश्य दृष्टम् ? अजातपाणिग्रहणा असि, रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयश्च (असि) ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अथ हंसो भैम्याः पुनर्नलप्राप्त्याशां जनयति—तस्यैवेति। वा=अथवा, तस्य एव=नलस्य एव, हस्तं=पाणिं, किं, न यास्यसि=न प्राप्स्यति ? यास्यस्येवेत्यर्थः। केन=जनेन, विधेः=ब्रह्मणः, मन एव=चित्तम् एव, प्रविश्य=प्रवेशं कृत्वा, दृष्टम्=अवलोकितम्, विध्यनुकूलताऽपि सम्भावितेति भावः। यतः—अजातपाणिग्रहणा=अकृतविवाहा, असि=वर्तसे, रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयश्च=सौन्दर्यशीलप्रकर्षाऽऽधारश्च, असि=विद्यसे, योग्यगुणाश्रयत्वाच्च नलहस्तमेव गमिष्यतीति भावः ॥ ४७ ॥

अनुवाद—आप नलके ही हाथोंमें क्यों नहीं पड़ेंगी ? (पड़ेंगी ही)। किसने ब्रह्माके हृदयमें प्रवेश कर देखा है ? क्योंकि आपका विवाह भी नहीं हुआ है और आप सौन्दर्य और शीलके प्रकर्षकी आधार भी है ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—यास्यसि=या+लृट्+सिप्। अजातपाणिग्रहणा=न जातम्

अजातम् (नञ्०) । पाणेर्ग्रहणम् (ष० त०) । अजात पाणिग्रहण यस्या सा (बहु०) । रूपस्वरूपातिशयाऽऽश्रय =रूप च स्वरूप च रूपस्वरूपे (द्वन्द्व०) । तयो अतिशय (ष० त०) तस्य आश्रय (ष० त०) ॥ ४७ ॥

निशा शशाङ्क शिवया गिरीश, श्रिया हरि योजयत प्रतीत ।
विधेरपि स्वारसिक प्रयास परस्पर योग्यसमागमाय ॥ ४८ ॥

अन्वय —निशा शशाङ्क, शिवया गिरीश, श्रिया हरि योजयत विधे प्रयासोऽपि परस्पर योग्यसमागमाय एव स्वारसिक प्रतीत ॥ ४८ ॥

व्याख्या—निशा=रात्र्या, शशाङ्क=चन्द्रमस, शिवया=पार्वत्या, गिरीश=शिव, श्रिया=लक्ष्म्या, हरि=विष्णु योजयत =सयोग प्राप यत, विधे =ब्रह्मण प्रयास अपि=यत्न अपि परस्परम् =अन्योन्य योग्यसमागमाय एव=अर्हसङ्घटनाय एव, स्वारसिक =स्वानुरागप्रवृत्त, प्रतीत =प्रसिद्ध, निशाशशाङ्कादिदृष्टान्तादपि विधिसङ्कल्प सुलय इति भाव ।

अनुवाद—रात्रिके साथ चन्द्रमाको, पार्वतीसे शिवजीको, लक्ष्मीसे नारायणको मिलानेवाले ब्रह्माजीका प्रयत्न भी परस्परमें योग्योंके समागमके लिए ही अपने अनुरागसे प्रवृत्त है —ऐसा प्रतीत होता है ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—निशा="पद्न्नोमासहृन्निशसन्०" इस सूत्रसे शस् आदि विभक्तियोंके परे रहते निशाके स्थानमें निश आदेश । शशाङ्क=शश अङ्क यस्य स, तम् (बहु०) । गिरीश=गिरेरीश, तम् (ष० त०) । योजयत = योजयतीति योजयन् तस्य, युज्+णिच्+लट् (शतृ)+ङस् । योग्यसमागमाय=योग्या च योग्यश्च योग्यौ, "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष । योग्ययो समागम, तस्मै (ष० त०) । स्वारसिक =स्वस्य रस (ष० त०), "शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे राग द्रवे रस" इत्यमर । स्वरसेन चरतीति, स्वरस शब्दसे "चरति" इस सूत्रसे ठक् प्रत्यय । प्रतीत ="प्रतीते प्रथितख्यात वित्तविज्ञातविश्रुता" इत्यमर । इस पद्यमें सम अलङ्कार है, उसका लक्षण है-

"सम स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनो ।"

(सा० द० १०-९२) ॥ ४८ ॥

वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥ ४९ ॥

अन्वय —वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी (त्वम्) नलेतरेण योगयोग्या न असि । (तथाहि) मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न सन्दर्भ्यते ॥४९॥

व्याख्या—नलादितरेण भैम्याः सम्बन्धस्यानौचित्यं वैधर्म्यमूलकदृष्टान्ताऽलङ्कारेण प्रतिपादयन्ति—वेलाऽतिगेति। (हे भैमि !) वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी=निःसीमस्त्रीगुणसमुद्रप्रवाहरूपा त्वं, नलेतरेण—नलात्=नैषधात्, इतरेण=अन्येन जनेन, योगयोग्या=सम्बन्धाऽर्हा, न असि=नो वर्तसे। यतः, मृद्वी=कोमला, मल्लीमाला=भूपदीपुष्पस्रक्, भृशकर्कशेन=अतिशयकठोरेण, दर्भगुणेन=कुशतन्तुना, न सन्दर्भ्यते—न ग्रथ्यते॥ ४९॥

अनुवाद—(हे दमयन्ती !) निःसीम (असंख्य) स्त्रियोंके गुणरूप समुद्रकी प्रवाह सरीखी आप, नलसे भिन्न पुरुषसे सम्बन्धके योग्य नहीं हैं। जैसे—कोमल वेलीकी माला अत्यन्त कठोर कुशकी रस्सीसे नहीं गूँथी जाती है॥ ४९॥

टिप्पणी—वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी=वेलाम् अतिक्रम्य गच्छन्तीति वेलाऽतिगाः, वेला+अति+गम्+ड+जस्। स्त्रीणाम् इमे स्त्रैणाः, स्त्री शब्दसे "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इस सूत्रसे नञ् प्रत्यय। स्त्रैणाश्च ते गुणाः (क० धा०), ते एव अब्धिः (रूपक०), तस्य वेणी (ष० त०)। "वेलाऽब्धि, जलबन्धने काले सीम्नि च" इति 'वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति च वैजयन्ती। नलेतरेण=नलात् इतरः, तेन, नल शब्दसे 'इतर' पदके योगमें 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाऽञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इस सूत्रसे पञ्चमी विभक्ति (ष० त०)। योगयोग्या=योगस्य योग्या (ष० त०), 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः। मृद्वी=मृदु शब्दसे 'वोतो गुणवचनात्' इस सूत्रसे ङीप्। मल्लीमाला=मल्लीनां माला (ष० त०)। 'तृणशून्यं तु मल्लिका, 'भूपदीशीतभीरुश्चे'त्यमरः। भृशकर्कशेन=भृशं (यथा तथा) कर्कशः, तेन (सुप्सुपा)। दर्भगुणेन=दर्भस्य गुणः, तेन (ष० त०), 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः पवित्रम्' इत्यमरः। सन्दर्भ्यते='सम्' उपसर्गपूर्वक 'दृभ ग्रन्थे' इस धातुसे कर्ममें लट्+त। इस पद्यमें वैधर्म्यसे दृष्टान्त अलङ्कार है, उसका लक्षण—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।" (सा० द० १०–६९)॥४९॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम्।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयाऽस्य सङ्क्रीडति चक्रचक्रे॥ ५०॥

अन्वयः—विधिं तद्यानयुग्यः (सन्) नलकेलियोग्यां वधूसृष्टिम् अपृच्छम् एव। मया अस्य चक्रचक्रे सङ्क्रीडति (सति) त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीताः॥५०॥

व्याख्या—विधिं=ब्रह्माणं, तद्यानयुग्यः=ब्रह्मरथवोढा सन्, अहमिति

शेष । नलकेलियोग्या = नैषधक्रीडार्हा, वधूसृष्टि: = स्त्रीनिर्माणम्, अपृच्छम् एव = पृष्टवान् एव। तत, मया = हंसेन विधिवाहनेन, अस्य = विधे, चक्रचक्रे = रथाङ्गसमूहे सङ्क्रीडति = कूजति सति, त्वन्नामवर्णा = भवदाम्याऽक्षरा इव, कर्णपीता = श्रोत्रेन्द्रियगृहीता ॥ ५० ॥

अनुवाद — ब्रह्माजीसे उनके रथको ढोते हुए मैंने नलकी क्रीडाके योग्य कौन सी स्त्री आपने रची है — ऐसा पूछ ही लिया। तब मैंने ब्रह्माजीके रथके पहियोंकी आवाज करनेपर आपके नामके अक्षरोंको सुना हुआ सा प्रतीत होता है ॥ ५० ॥

टिप्पणी — विधिम् = प्रच्छ धातुके द्विकर्मक होनेसे यह गौणकर्म है। तद्यानयुग्य = युग वहतीति युग्य, युग शब्दसे "तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय। तस्य यानम् (ष० त०), तस्य युग्य (ष० त०)। नलकेलियोग्या = नलस्य केलि (ष० त०), तस्य योग्या, ताम् (ष० त०)। वधूसृष्टि = वध्वा सृष्टि, ताम् (ष० त०)। यह मुख्यकर्म है। अपृच्छम् = प्रच्छ + लङ् + मिप्, चक्रचक्रे = चक्राणां चक्र (समूह), तस्मिन् (ष० त०), सङ्क्रीडति = सम् + क्रीड + लट् (शतृ) + ङि, यहाँपर 'समोऽकूजने' इस वार्तिकसे कूजन होनेसे आत्मनेपद नहीं हुआ। त्वन्नामवर्णा = तव नाम (ष० त०), तस्य वर्णा (ष० त०)। कर्णपीता = कर्णाभ्यां पीता (तृ० त०)। पहियोंकी आवाजने ब्रह्माजीके वाक्यको अच्छी तरहसे नहीं सुना, यह तात्पर्य है ॥ ५० ॥

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा।
जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरी स्यात् ॥ ५१ ॥

अन्वय — वा अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मन विधातु जनापवादार्णवम् उत्तरीतुं कतमा विधा तरी स्यात् ॥ ५१ ॥

व्याख्या — वा = अथवा, अन्येन = अपरेण, नलेतरेणेति भाव । पत्या = भर्त्रा, त्वयि = भवत्या, योजितायां = घटितायां सत्यां, विज्ञत्वकीर्त्या = अभिज्ञत्वख्यात्या एव, गतजन्मन = यापितायुष, विधातु = ब्रह्मण, जनापवादार्णव = लोकनिर्वादसमुद्रम्, उत्तरीतु = निस्तरीतु, कतमा विधा = क प्रकार, तरी = नौका, स्यात् = भवेत्, न काऽपीत्यर्थ । अतो लोकापवादभीतेरपि ब्रह्मणा त्वं नलेनैव योजनीयेति भाव ॥ ५१ ॥

अनुवाद — अथवा दूसरे (नलसे भिन्न) पतिके साथ आपका योग करनेपर

"ये अभिज्ञ (जानकार) हैं" प्रसिद्धिसे ही आयुको वितानेवाले ब्रह्माजीके लिए लोकापवादस्वरूप समुद्रको पार करनेके लिए कौन-सा उपाय नौकाका काम देगा ? ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—विज्ञत्वकीर्त्या=विज्ञस्य भावो विज्ञत्वम्, विज्ञ+त्व। विज्ञत्वस्य कीर्तिः, तया (ष० त०)। गतजन्मनः='गतं जन्म यस्य स गतजन्मा' तस्य (बहु०)। जनाऽपवादाऽर्णवं=जनानाम् अपवादः (ष० त०), "अवर्णाऽऽक्षेपनिर्वादपरीवादाऽपवादवत्" इत्यमरः। जनाऽपवाद एव अर्णवः, तम् (रूपक०)। उत्तरीतुम्=उद्+तृ+तुमुन्। "वृतो वा" इससे दीर्घ। तरीः= तरन्त्यनया इति, तृ धातुसे "अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः" इस औणादिक सूत्रसे ई प्रत्यय। "स्त्रियां नौस्तरणिस्तरीः" इत्यमरः ॥ ५१ ॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं, मयाऽसि तन्वि ! श्रमिताऽतिवेलम्।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामस्तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि ॥ ५२ ॥

अन्वय—तत् आस्ताम्, अप्रस्तुतचिन्तया अलम्। हे तन्वि ! मया अतिवेलं श्रमिता असि। तत् आगः परिमार्ष्टुकामः सोऽहं किं तव ईप्सितं विदधे ? अभिधेहि ॥ ५२ ॥

व्याख्या—दमयन्त्या अभिप्रायं ज्ञातुमुपसंहरति–आस्तामिति। (हे भैमि!) तत्=पूर्वोक्तं, नलवर्णनमित्यर्थः, आस्तां=तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया= अप्रकृतविचारेण, अलं=पर्याप्तम्, अप्रस्तुतचिन्तया साध्यं नाऽस्तीति भावः। हे तन्वि=हे कृशाङ्गि ! मया=हंसेन, अतिवेलं=भृशं, श्रमिता=खेदिता, असि=वर्तसे, त्वमिति शेषः। तत्=श्रमणरूपम्, आगः=अपराधं, परिमार्ष्टुकामः=परिहर्तुकामः, सः=तादृशः, अहम्=अपराद्धा, किं, तव= भवत्याः, ईप्सितम्=अभीष्टं, मनोरथमिति भावः। विदधे=कुर्वे। अभिधेहि= ब्रूहि ॥ ५२ ॥

अनुवाद—वह वर्णन इतना ही हो। अप्रस्तुत विषयकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। हे कृशोदरि ! आप मुझसे बहुत ही परिश्रान्त बनाई गई हैं। उस अपराधको हटानेकी इच्छा करनेवाला मैं आपका कौन-सा मनोरथ पूरा करूँ ? कहिए ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—आस्ताम्="आस उपवेशने" धातुसे लोट्+त। अप्रस्तुतचिन्तया=न प्रस्तुतः अप्रस्तुतः (नञ्०)। तस्य चिन्ता, तया (ष० त०)। "अलम्" इस पदसे गम्यमान साधन क्रियाकी अपेक्षासे करण होनेसे तृतीया।

श्रमिता=श्रम्+णिच्+क्त (कर्ममें)+टाप् । आग ="आगोऽपराधो मन्तुश्च" इत्यमरः । परिमार्ष्टुकाम =परिमार्ष्टुं कामो यस्य स (बहु०), 'तु काममनसोरपि" इससे मकारका लोप । ईप्सितम्=आप्+सन्+क्त । विदधे=वि+धाञ्+लट्+इट् । अभिधेहि=अभि+धा+लोट्+सिप् ॥ ५२ ॥

इतीरयित्वा विरराम पत्त्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
ह्रदे गभीरे हृदि चाऽवगाढे शंसन्ति कार्याऽवतरं हि सन्तः ॥ ५३ ॥

अन्वय —स पत्त्री इति ईरयित्वा राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः विरराम । हि सन्तः गभीरे हृदि ह्रदे च अवगाढे (सति) कार्याऽवतरं शंसन्ति ॥ ५३ ॥

व्याख्या—स =पूर्वोक्तः, पत्त्री=पक्षी, हंसः, इति=पूर्वोक्तं वाक्यम् ईरयित्वा =उक्त्वा, राजपुत्रीहृदयं=दमयन्तीचित्तं, बुभुत्सुः=जिज्ञासुः, भैमी नले साऽनुरागाऽस्ति नो वेति जिज्ञासुः सन्निति भावः । विरराम=तूष्णीं बभूव । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति-ह्रद इति । हि=यस्मात्कारणात्, सन्तः = सज्जनाः, कार्यज्ञा इति भावः । गभीरे=अगाधे, हृदि=चित्ते, ह्रदे च= जलाशये च, अवगाढे=प्रविश्य दृष्टे सति, कार्याऽवतरं—कार्यस्य=स्नानादेः, रहस्योक्तश्च=अवतरं, तीर्थं प्रस्तावं च, शंसन्ति=कथयन्ति, अवगाहनाऽभावे सति अनर्थः स्यादिति भावः ॥ ५३ ॥

अनुवाद—वह पक्षी (हंस) ऐसा कहकर राजपुत्री (दमयन्ती) के अभिप्राय को जाननेकी इच्छा करता हुआ चुप हो गया, क्योंकि विद्वान् लोग जैसे गम्भीर जलाशय में प्रवेश कर देखने पर उतरने का प्रस्ताव करते हैं वैसे ही गम्भीर हृदयको टटोलनेपर ही रहस्य कहते हैं ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—ईरयित्वा = ईर्+णिच्+क्त्वा । राजपुत्रीहृदयं=राज्ञः पुत्री (ष० त०), तस्या हृदयं, तत् (ष० त०) । "बुभुत्सु" इस उ प्रत्ययाऽन्तपदके योगमें "न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे षष्ठी विभक्तिका निषेध,बुभुत्सु= बुध्+सन्+उ । विरराम="व्याङ्परिभ्यो रमः" इससे परस्मैपद । वि+ रम्+लिट्+तिप् । अवगाढे=अव+गाह्+क्त+ङि । कार्याऽवतरं=कार्यस्य अवतरं, तम् (ष० त०) । शंसन्ति=शंस+लट्+झि । इस पद्यमें अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार है ॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाच्यं मनसा मुहूर्तम् ।
पतत्त्रिणं सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः ॥ ५४ ॥

अन्वयः— किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिः वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः सा पृथिवीन्द्र-पुत्री मुहूर्तं मनसा वाच्यं विचिन्त्य पतत्रिणं जगाद ॥ ५४ ॥

व्याख्या—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिः=स्तोकतिर्यक्कृतचञ्चलकेशबन्धा वक्त्रेण=मुखेन, तृणीकृतेन्दुः=अधःकृतचन्द्रा, सा=पूर्वोक्ता, पृथिवीन्द्रपुत्री= राजकुमारी, दमयन्ती, मुहूर्तं=कञ्चित्कालं, मनसा=चित्तेन, वाच्यं= वक्तव्यं वचनं, विचिन्त्य=विचार्य, पतत्रिणं=पक्षिणं हंसं, जगाद= उवाच ॥ ५४ ॥

अनुवाद—चञ्चल केशबन्धको कुछ तिरछा करती हुई और मुखसे चन्द्रमा-को मात करती हुई उस राजकुमारी (दमयन्ती) ने कुछ समय तक मनसे वक्तव्य वचनका विचार कर हंसको कहा ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिः=किञ्चित्तिरश्चीना विलोला मौलिर्यस्याः सा (बहु), "चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः" इत्यमरः। तृणीकृतेन्दुः=अतृणं तृणं यथा सम्पद्यते तथा कृतस्तृणीकृतः, तृण+च्वि+कृ+क्तः। तृणीकृत इन्दुः यया सा (बहु०)। पृथिवीन्द्रपुत्री=पृथिव्या इन्द्रः (प० त०), तस्य पुत्री (प० त०)। मुहूर्तं="कालाऽध्वनोरत्यन्त-संयोगे" इससे द्वितीया। जगाद=गद्+लिट्+तिप्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ५४ ॥

धिक् चापले वत्सिमवत्सलत्वं, यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥ ५५ ॥

अन्वयः—चापले वत्सिमवत्सलत्वं धिक्! यत्प्रेरणात् उत्तरलीभवन्त्या मया समीरसङ्गात् (उत्तरलीभवन्त्या) नीरभङ्ग्या इव तटस्थः त्वम् उपद्रुतः असि ॥ ५५ ॥

व्याख्या=चापले=चपलकर्मणि, वत्सिमवत्सलत्वं=बाल्यप्रयुक्त-चापलमित्यर्थः, धिक्, यत्प्रेरणात्=चापलप्रेरणात्, उत्तरलीभवन्त्या=चपलाय-मानया, मया=भैम्या, समीरसङ्गात्=वाताऽऽघातात्, उत्तरलीभवन्त्या= चपलायमानया, नीरभङ्ग्या इव=जलतरङ्गेण इव, तटस्थः=उदासीनः, तीरं गतश्च, त्वं=हंसः, उपद्रुतः=पीडितः, असि=वर्तसे, मदीयं बालचापलं त्वया सोढव्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

अनुवाद—चञ्चल कर्ममें बालभावसे होनेवाली आसक्तिको धिक्कार है, जिसकी प्रेरणासे चञ्चल होनेवाली मुझसे वायुके आघातसे चञ्चल होनेवाली

जलकी तरङ्गसे उदासीन आप किनारेमे रहे हुए (व्यक्ति) के समान पीडित हो गये है ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—चापल्ये=चपल+अण । वत्समवत्सलत्व=वत्सम्य भावो वत्समा, वत्स+इमनिच । वत्सलस्य भावा वत्सलत्वम् । वत्सल+त्व । वत्सिम्नि वत्सलत्व, तत् (स० त०), 'उिक्' के योगमे द्वितीया । मत्प्रेरणात्=मस्य प्रेरण, तस्मात् (प० त०) । उत्तरलीभवत्या=उत्तरल+च्वि+भू+लट्+शतृ+ङीप्+टा । समीरसङ्गात्=समीरस्य सङ्ग, तस्मात् (प० त०), हेतुमे पञ्चमी । नीरभङ्गया=नीरस्य भङ्गी, तया (प० त०) । तटस्थ=तट+स्था+क । उपद्रुत=उप+द्रु+क्त । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

आदर्शता स्वच्छतया प्रयासि, सता स तावत्खलु दर्शनीय ।
आग पुरस्कुर्वति सागस मा यस्यात्मनीद प्रतिबिम्बित ते ॥ ५६ ॥

अन्वय —स्वच्छतया आदर्शता प्रयासि । यस्य ते सागस मा पुरस्कुर्वति आत्मनि इदम् आग प्रतिबिम्बितम् । स सता तावत् दर्शनीय ॥ ५६ ॥

व्याख्या—(हे हस !) स्वच्छतया=निर्मलत्वेन, आदर्शता=दर्पणत्व, प्रयासि=प्राप्नोषि । यस्य=स्वच्छस्य, ते=तव, साऽऽगस=साऽपराधा, मा=मैमी, पुरस्कुर्वति=पूजयति, "किमीप्सित विदधेऽस्मिन्हि" (३-५२), इत्यादि कथनेनेति भाव, अग्रे कुर्वाणे च, आत्मनि=बुद्धौ, स्वरूपे च, इद=मदीयम् भवद्ग्रहणोद्योगरूपमिति भाव । आग=अपराध, प्रतिबिम्बित=प्रतिफलित, पुरोवर्तिधर्माणामात्मनि सङ्क्रमणादादर्शोऽसीत्यथ । तत किम् ? इत्यत आह—स आदर्श, सता=सज्जनाना, तावत्=प्रथम, दर्शनीय=अवलोकनीय, पूज्यश्च ॥ ५६ ॥

अनुवाद—(हे हस !) तुम निर्मल होनेसे दर्पणके भावको प्राप्त कर रहे हो, अपराधिनी मुझे सत्कार करनेसे अथवा सामने रखनेसे स्वच्छ तुम्हारी बुद्धि वा स्वरूपमें मेरा अपराध प्रतिबिम्बित हुआ है, वैसा आदर्श सज्जनोंको दर्शनीय और पूजनीय है ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—स्वच्छतया=स्वच्छ+तल्+टाप्+टा । आदर्शताम्=आदर्श+तल्+टाप्+अम् । प्रयासि=प्र+या+लट्+सिप् । सागस=आगसा सहिता साऽऽगा, ताम् (तुल्ययोगबहु०) । पुरस्कुर्वति=पुरस्करोतीति पुरस्कुर्वन्, तस्मिन्, पुरस्+कृ+लट् (शतृ)+ङि । "पुरस्कृत पूजिते

स्यादभियुक्तेऽग्रतः कृते" इत्यमरः। आत्मनि="आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च" इत्यमरः। आदर्श (दर्पण) की दर्शनीयतामें प्रमाण है- "रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः" ॥ ५६ ॥

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य ! तावत्।
हंसोऽपि देवांऽशतयाऽसि वन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे सौम्य ! भवान् कुमार्या मम अनार्यम् अपि आचरितं तावत् क्षाम्यतु। हंसोऽपि (त्वम्) देवांऽशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा इव वन्द्यः असि ॥ ५७ ॥

व्याख्या—हे सौम्य!=हे सज्जन ! भवान्, कुमार्याः=शिशोः, मम, अनार्यम् अपि=अनुचितम् अपि, आचरितं=आचरणं, त्वद्ग्रहणव्यवसाय-रूपमिति भावः। तावत्=प्रथमं, क्षाम्यतु=सहताम्, हंसस्य वन्द्यतां प्रतिपादयति—हंसोऽपि=मरालोऽपि, तिर्यगपि, त्वमिति शेषः, देवांऽशतया=सुरांऽशत्वेन, मत्स्यमूर्तिः=मीनाऽवतारधारी, श्रीवत्सलक्ष्मा इव=विष्णुः इव, वन्द्यः=अभिवादनीयः, असि ॥ ५७ ॥

अनुवाद—हे सज्जन ! आप, कुमारी मेरे अनुचित आचरणको सहें। हंस होते हुए भी आप देवताके अंश होनेसे मत्स्यमूर्ति भगवान् विष्णुके समान अभिवादनके योग्य हैं ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—हे सौम्य=सोमो देवताऽस्येति सौम्यः, तत्सम्बुद्धौ "सोमाट्ट्यण्" इस सूत्रसे सोम शब्दसे टयण् प्रत्यय "सौम्यं तु सुन्दरे सोमदैवते" इत्यमरः। अनार्यम्=न आर्यम् (नञ्०)। क्षाम्यतु=क्षमूष्+लोट्+तिप्। देवांऽशतया= देवस्य अंशः (ष० त०), तस्य भावः देवांशता, तया, देवांश+तल्+टाप्। मत्स्यमूर्तिः=मत्स्यस्य इव मूर्तिर्यस्य सः (व्यधिकरणबहु०)। श्रीवत्सलक्ष्मा= श्रीवत्सो लक्ष्म यस्य सः (बहु०) ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि कां ? त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि याऽतिशेताम्।
निजाऽमृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुः सृजति प्रजानाम् ? ॥ ५८ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) कां मत्प्रीतिम् आधित्ससि ? या मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुदम् अतिशेताम्। इन्दु प्रजानां निजाऽमृतैः लोचनसेचनात् पृथक् किं वा सृजति ? ॥ ५८ ॥

व्याख्या—"तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि" इति हंसवाक्यस्य उत्तरमाह—मत्प्रीतिमिति (हे हंस !) । का=कीदृशी, मत्प्रीतिं=मत्सुखम्, आधित्ससि = आधातुम् (कर्तुम्) इच्छसि, या=प्रीतिः, मदक्ष्णोः=मन्नयनयोः, त्वदीक्षामुदं=भवदीक्षणप्रीतिम्, अतिशेताम्=अतिक्रामतु । दृष्टान्तालङ्कारेणोक्तमर्थं समर्थयते— निजाऽमृतैरिति । इन्दुः=चन्द्रः, प्रजानां=जनानां, निजाऽमृतैः = स्वीयपीयूषैः, पीयूषतुल्यैः, स्वकिरणैरिति भावः । लोचनसेचनात्=नयनसेकात्, पृथक्=अन्यत्, किं वा सृजति=किं करोति ? न किञ्चित्करोतीति भावः ॥५८॥

अनुवाद—(हे हंस !) तुम कौन सी मेरी प्रीति करनेकी इच्छा करते हो ? जो (प्रीति) मेरी आँखोंकी तुम्हारे दर्शनसे होनेवाली प्रीतिको भी मात करेगी । जैसे—चन्द्रमा अपनी अमृततुल्य किरणोंसे नेत्रोंको सेचन करनेसे अतिरिक्त और क्या करता है ? ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—मत्प्रीतिं=मम प्रीतिः, ताम् (ष० त०) । आधित्ससि= आङ्+धाञ्+सन्+लट्+सिप् । मदक्ष्णोः=मम अक्षिणी, तयोः (ष० त०) । त्वदीक्षामुदं=तव ईक्षा त्वदीक्षा (ष० त०), तस्या मुत्, ताम् (ष० त०) । अतिशेताम्=अति+शीङ्+लोट्+त । निजाऽमृतैः=निजस्य अमृतानि, तैः (ष० त०) । लोचनसेचनात्=लोचनयोः सेचनं, तस्मात् (स० त०), "पृथक्" । के योग में "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इससे पञ्चमी । सृजति= सृज+लट्+तिप् । इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

मनस्तु यं नोज्झति जातु, यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः ? ।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलाषं कथयेदभिज्ञा ? ॥ ५९ ॥

अन्वयः—मनः यं जातु न उज्झति, सः मनोरथः कण्ठपथं कथं यातु ? अभिज्ञा का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेत् ? अथवा —हे द्विज ! अभिज्ञा का नाम बाला राजपाणिग्रहाऽभिलाषं कथयेत् ? ॥ ५९ ॥

व्याख्या—मनः=मम चित्तं, यं=मनोरथं, जातु=कदाऽपि, न उज्झति= न जहाति, सः=तादृशः, मनोरथः=अभिलाषः, कण्ठपथं=गलमार्गं, वाग्विषयम्, उपकण्ठदेशं च, कथं=केन प्रकारेण, यातु=प्राप्नोतु । मनसा प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथं कण्ठपथे सञ्चरणमिति भावः । यतः—अभिज्ञा=विवेकिनी, का नाम बाला=का नाम स्त्री, द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलाषं-द्विजराजस्य=चन्द्रमसः, पाणिना=करेण, ग्रहे=ग्रहणे, अभिलाषं=मनोरथम्, कथयेत्=ब्रूयात् । अथवा हे द्विज !=हे पक्षिन् ! का नाम बाला, राजपाणिग्रहाऽभिलाषं=

नलपाणिग्रहणेच्छां, कथयेत्=ब्रूयात् । तथा च दुष्प्राप्यजनाऽभिलापश्चन्द्र-पाणिग्रहणसदृशः उपहासस्थानभूतः (सन्) लज्जावत्या कुमार्या कथं वक्तुं शक्य इति भावः ॥ ५९ ॥

अनुवाद—मेरा चित्त जिस (मनोरथ) को कभी भी नहीं छोडता है, वह मनोरथ कैसे कण्ठमार्ग (वचनविषय) को प्राप्त होगा ? विवेकवाली कौन-सी स्त्री चन्द्रमाके पाणिग्रहणके अभिलापको कहेगी ? (अथवा) हे हंस ! विवेकवाली कौन-सी स्त्री राजा (नल) के पाणिग्रहणके अभिलापको कहेगी ? ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—कण्ठपथं=कण्ठस्य पन्थाः कण्ठपथः, तम् (ष० त०), "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इससे समासान्त अ प्रत्यय । द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलापं=द्विजानां राजा द्विजराजः (ष० त०), तस्य पाणिः (ष० त०), तेन ग्रहः (तृ० त०), तस्मिन् अभिलापः, तम् (स० त०) । अथवा राजपाणिग्रहाऽभिलापं =राज्ञः पाणिग्रहः (ष० त०), तस्मिन् अभिलापः, तम् (स० त०) । कथयेत् =कथ+णिच्+विधिलिङ्+तिप् । इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ५९ ॥

वाचं तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंसः ।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे, घृणां च वीणाक्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

अन्वयः—स हंसः मृद्वीकया तुल्यरसां मृद्वीं तदीयां वाचं परिपीय परपुष्टघुष्टे, तोषं तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणां वितेने ॥ ६० ॥

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तः, हंसः=मरालः, मृद्वीकया=द्राक्षया, तुल्यरसां =समानस्वादां, मधुराऽर्थामिति भावः । मृद्वीं=कोमलां, तदीयां=दमयन्ती-सम्बन्धिनीं, वाचं=वाणीं, परिपीय=अत्यादरात् आकर्ण्य, परपुष्टघुष्टे= कोकिलकूजिते, तोषं=प्रीतिं, तत्याज=त्यक्तवान्, वीणाक्वणिते च=वल्लकी-निनादे च, घृणां=जुगुप्सां, वितेने=चकार ॥ ६० ॥

अनुवाद—उस हंसने अंगूरके समान मधुर और कोमल दमयन्तीकी वाणीको अत्यन्त आदरसे सुनकर कोयलके कूजितमें प्रीति छोड़ दी और वीनके शब्दमें भी घृणा की ॥ ६० ॥

टिप्पणी—मृद्वीकया="मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा" इत्यमरः । तुल्यरसां= तुल्यो रसो यस्याः सा, ताम् (बहु०) । मृद्वी=मृदु शब्दसे "वोतो गुणवच-नात्" इससे ङीप् । तदीयां=तस्य इयं तदीया, ताम् तद्+छ (ईय)+ टाप्+अम् । परिपीय=परि+पीङ्+क्त्वा (ल्यप्) । परपुष्टघुष्टे=परेण पुष्टः (तृ० त०) । "वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि" इत्यमरः ।

परपुष्टेन पुष्ट, तस्मिन् (तृ० त०) । तत्याज=त्यज+लिट्+तिप् । वीणाक्वणिते=वीणाया क्वणित, तस्मिन् (प० त०)। घृण="घृणा जुगुप्साकृपयो" इति विश्व । वितेने=वि+तन्+लिट्+त । इस पद्यमें प्रतीप अलङ्कार है ॥ ६० ॥

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि हंस ।
तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

अन्वय —अय हंसो मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि (सत्याम्) तच्छंसिते किञ्चन संशयालु मुखाम्भोज गिरा युयोज ॥ ६१ ॥

व्याख्या —मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्र=लज्जास्वल्पवर्णविन्यासम् (यथा तथा) उक्त्वा=अभिधाय, तस्या=दमयन्त्या, समाकुञ्चितवाचि=नियमितवचनायां सत्याम् तच्छंसिते=दमयन्तीभाषिते, किञ्चन=किञ्चित्, संशयालु =सन्दिहान सन्, मुखाम्भोज=वदनकमल, गिरा=वाण्या, युयोज=युक्तवान्, मुखेन वाणीमुवाचेति भाव ॥ ६१ ॥

अनुवाद—लज्जासे वर्णविन्यासको मन्द करके भाषण कर दमयन्तीके चुप रह जानेपर उनके वचनमें कुछ सन्देह करते हुए उस हंसने मुखकमलको वाणीसे युक्त किया अर्थात् कहा ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्र=मन्दाक्षेण मन्दा (तृ० त०), अक्षराणां मुद्रा (प० त०), मन्दाक्षमन्दा अक्षरमुद्रा यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०) । उक्त्वा=ब्रूम् (वच्)+क्त्वा । समाकुञ्चितवाचि=समाकुञ्चिता वाक् यया सा, तस्याम् (बहु०) । तच्छंसिते=तस्या शंसित, तस्मिन् (प० त०) । संशयालु =संशेते इति संशयालु, सम्-उपसर्गपूर्वक "शीङ् स्वप्ने" धातुसे "स्पृहि गृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्" इस सूत्रसे "शीङो वाच्य" इस वार्तिकसे आलुच् प्रत्यय । मुखाम्भोज=मुखम् अम्भोजम् इव तत "उपमितं व्याघ्रादिभि सामान्याप्रयोगे" इससे समास । युयोज=युज+लिट्+तिप् (णल्) । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ६१ ॥

करेण वाञ्छेव विधुं विधर्तुं यमित्थमात्थादरिणी तमर्थम् ।
पातुं श्रुतिभ्यामपि नाऽधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्णं इवाऽन्तिम किम् ? ॥ ६२ ॥

अन्वय —(हे भैमि !) करेण विधुं विधर्तुं वाञ्छा इव यम् अर्थम् इत्थम् आदरिणी (सती) आत्थ, तम् अर्थम् अन्तिमो वर्ण श्रुते वर्णम् इव श्रुतिभ्यां पातुम् अपि न अधिकुर्वे किम् ? ॥ ६२ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) करेण=हस्तेन, विधुं=चन्द्रमसं, विधर्तुं=ग्रहीतुं, वाञ्छा इव=इच्छा इव यम्, अर्थम्=अभिधेयम् "द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलापम्" इत्याद्युक्तप्रकारमित्यर्थ.। आदरिणी=आदरयुक्ता सती, आत्थ=ब्रवीपि, तं=तादृशम्, अर्थम्=अभिधेयम्, अन्तिमः=चरमः, वर्णः=शूद्र इत्यर्थः। श्रुतेः=वेदस्य, वर्णम् इव=अक्षरम् इव, श्रुतिभ्यां=कर्णाभ्यां, पातुम् अपि=पानं कर्तुम् अपि, श्रोतुम् अपीति भावः। न अधिकुर्वे किम् ?=न अधिकारी भवामि किम् ? अधिकारी अस्म्येवेत्यर्थः। सोऽर्थो वक्तव्य इति भाव.॥ ६२॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) हाथसे चन्द्रमाको ग्रहण करनेकी इच्छाके समान जिस अर्थको इस प्रकार आदरयुक्त होकर आप कहती हैं, उस अर्थको अन्तिम वर्ण (शूद्र) जैसे वेदके वर्णको सुननेके लिए अधिकारी नहीं है, वैसे मैं भी कानोसे सुननेका भी अधिकारी नहीं हूँ क्या ? ॥ ६२॥

टिप्पणी—विधर्तुं=वि+धृञ्+तुमुन्। आदरिणी=आदर+इनि+ङीप्। नारायण पण्डितने "आदरिणी" ऐसा पाठ भी माना है, उस पक्षमें निर्भया यह अर्थ है, अदर+इनि+ङीप्। आत्थ=ब्रू (आह)+लट्+सिप्। अन्तिमः=अन्ते भवः, 'अन्त' शब्दसे "अन्ताच्चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे डिमच् प्रत्यय। "स्त्रीशूद्रौ नाऽधीयेताम्" इस उक्तिके अनुसार स्त्री और शूद्रको वेदके अध्ययनमें अधिकार न होनेसे सुननेमें भी अधिकार नही है, यह तात्पर्य है, इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है॥ ६२॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या ? चित्तैकपद्यामपि वर्तते यः।
यत्राऽन्धकारः खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम्॥ ६३॥

अन्वयः—(हे भैमि !) भवत्या किं वा इयत् अर्थाप्यते ? यः चित्तैकपद्याम् अपि वर्तते। यत्र चेतसोऽपि अन्धकारः, तद् ब्रह्म अपि जिह्मेतरैः अवाप्यं खलु॥ ६३॥

व्याख्या—ननु अत्यन्तदुर्लभत्वात्तमर्थं वक्तुं जिह्मेमीत्याशङ्क्याह–अर्थाप्यत इति। (हे भैमि !) भवत्या=त्वया, किंवा, इयत्=एतावत्, यथा तथा, अर्थाप्यते=द्विजराजपाणिग्रहवत् अतिदुर्लभत्वेन आख्यायते। यः=अर्थः, चित्तैकपद्याम् अपि=मनोमार्गे अपि, वर्तते=विद्यते, अतः स कथं दुर्लभ इति भावः। तथा हि, यत्र=यस्मिन् ब्रह्मणि, चेतसोऽपि=मनसोऽपि, अन्धकारः=अग्राह्यत्वात्प्रतिबन्धः, "अवाङ्मनसगोचरम्" "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति श्रुतित इति भावः। तत्=तादृशं, दुर्लभमिति भावः। ब्रह्म

अपि=सुदुर्घेतरूप वस्त्वपि, जिह्मेतरै=अकुटिलै, कुशलबुद्धिभिरिति भाव । अवाप्य=प्राप्य, खलु=निश्चयेन, कुशलधीभिरमनोगोचर ब्रह्मापि प्राप्यते, मनोगत वस्तु प्राप्यत् इति कि वक्तव्यमिति भाव ॥ ६३ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) जो आपके चित्तरूप मार्गमे है, उसे क्यों आप दुर्लभरूप कह रही हैं, जहाँ चित्तका भी अपकार (प्रतिबन्ध) है, वह ब्रह्म भी कुशल बुद्धिवाले पुरुषसे प्राप्य है ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—अर्थाप्यते=अथ क्रियते, 'अर्थ' शब्दमे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर "अर्त्तिवेदयोरप्यापुग्वक्तव्य" इससे आपुक होकर कर्ममे लट् । चित्तैकपद्याम्=एक पादो यस्या सा एकपदी (बहु०) ' कुम्भपदीषु च" इससे निपातन, "सरणि पद्धति पद्या वर्त्यकपदीति च" इत्यमर । चित्तम् एव एकपदी, तस्याम् (रूपक०) । जिह्मेतरै=जिह्मात् इतरे, तै (प० त०) । अवाप्यम्=अवाप्तु योग्यम्, अव+आप्+यत् । इस पद्यमे अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये ! लोकेशलोकेशयलोकमध्ये ।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

अन्वय—हे ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये ! लोकेशलोकेशयलोकमध्ये अज्ञ तिर्यञ्चम् (माम्) अपि मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अञ्च ॥ ६४ ॥

व्याख्या—हे ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये !=हे ईश्वराऽणुत्वविभूतिरूपान्तराऽवलग्ने ! हे कृशोदरि ! इति भाव । लोकेशलोकेशयलोकमध्ये=ब्रह्मलोकवासिजनमध्ये, अज्ञम्=अनभिज्ञ, मूढमित्यर्थ । तिर्यञ्चम् अपि=पक्षिणमपि च, मामिति शेष । मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम्=अनृताऽनभिज्ञरसनताऽऽद्यज्ञानयशस्विनम्, अञ्च=विद्धि, मा सत्यवादिन जानीहीति भाव ॥ ६४ ॥

अनुवाद—हे ईश्वरके अणिमा ऐश्वर्यके समान सूक्ष्म कमरवाली ब्रह्माजीके लोकमे रहनेवाले प्राणियोंके मध्यमें अनभिज्ञ और पक्षी भी मुझको झूठमे अनभिज्ञ जानकारीरूप आदिज्ञान होनेसे यशवाले अर्थात् सत्यवादी जानिए ।

टिप्पणी—ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये=अणोर्भाव अणिमा, अणु+इमनिच् । ईशस्य अणिमा (प० त०), स च तत् ऐश्वर्यम् (क० धा०), तस्य विवर्त, तत्त्वत अन्यथाभाव (प० त०), ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तो मध्यो यस्या सा, तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । ईश्वरकी आठ योगसिद्धियाँ, जिन्हे ऐश्वर्य कहते हैं, वे ये हैं—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाऽष्टसिद्धयः॥

अर्थात् अणिमा (बहुत सूक्ष्म होना), महिमा (बहुत बड़ा होना), गरिमा (अत्यन्त गुरुता), लघिमा (अत्यन्त लघुता), प्राप्ति (पदार्थको पानेकी शक्ति), प्राकाम्य (सब अभिलाषोंको पानेकी शक्ति), ईशित्व (उत्कृष्ट सामर्थ्य) और वशित्व (उत्कृष्ट स्वातन्त्र्य)। लोकेशलोकेशयलोकमध्ये=लोकानाम् ईशः (ष० त०), "हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयम्भूश्चतुराननः" इत्यमरः। लोकेशस्य लोकः (ष० त०), लोकेशलोके शेरते इति लोकेशलोकेशयाः, लोकेशलोक-उपपदपूर्वक "शीङ् स्वप्ने" धातुसे "अधिकरणे शेतेः" इस सूत्रसे अच् प्रत्यय और "शयवासवासिष्वकालात्" इस सूत्रसे अलुक् समास। लोकेशलोकेशयाश्च ते लोकाः (क० धा०), "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः। लोकेशलोकेशयलोकानां मध्यं, तस्मिन् (ष० त०)। मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञं="मृषा" यह अव्यय है। मृषा अनभिज्ञा (ष० त०), मृषाऽनभिज्ञा रसज्ञा यस्य सः (बहु०), "रसज्ञा रसना जिह्वा" इत्यमरः। मृषाऽनभिज्ञ रसज्ञस्य भावः, मृषाऽनभिज्ञ+रसज्ञ+तल्+टाप्। उपज्ञायते इति उपज्ञा, उप-उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातुसे "आतश्चोपसर्गे" इससे अङ् प्रत्यय और टाप् प्रत्यय। "उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्" इत्यमरः। मृषाऽनभिज्ञताया उपज्ञा मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञम् (ष० त०), "उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्" इससे नपुंसकलिङ्गता। सम्यग्ज्ञायते इति समज्ञा, सम+ज्ञा+अङ्+टाप्, पूर्वसूत्रसे अङ् प्रत्यय। "यशः कीर्तिः समज्ञा च" इत्यमरः। मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञं समज्ञा यस्य सः, तम् (बहु०)। भज=भज+लोट्+सिप्॥ ६४॥

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः।
ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथात्र संसर्गगुणेन बद्धा॥ ६५॥

अन्वयः—प्रतिवेशिनीनां श्रुतीनां मध्ये वासवती इयं नः मुखे सरस्वती संसर्गगुणेन बद्धा (सती) ताभ्यः ह्रिया इव अद्धापथात् न चलति॥ ६५॥

व्याख्या—प्रतिवेशिनीनां=निकटगृहवासिनीनां, श्रुतीनां=वेदानां, ब्रह्ममुखस्थानामिति शेषः। मध्ये=अन्तरे, वासवती=निवसन्ती, इयं=निकटवर्तिनी, नः=अस्माकं, मुखे=वदने, सरस्वती=वाणी, संसर्गगुणेन=सङ्गतिगुणेन, बद्धा=नद्धा (सती), ताभ्यः=श्रुतिभ्यः, ह्रिया इव=

लज्जया इव, अद्धापथात्=सत्यमार्गात्, न चलति=न गच्छति, "ससर्गजा दोषगुणा भवन्ति" इति न्यायादिति भाव ॥ ६५ ॥

अनुवाद—पड़ोसिन श्रुतियोंके बीचमे रहनेवाली यह हमलोगोंकी वाणी संगतिरूप गुणसे बद्ध होती हुई उन श्रुतियोंसे मानो लज्जा कर सत्यमार्गसे विचलित नहीं होती है ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—प्रतिवेशिनीना=प्रतिविशन्तीति प्रतिवेशिन्य , तासाम्, प्रति+विश्+णिनि+ङीप्+आम् (उपपद०)। वासवती=वास+मतुप्+ङीप्+सु। सरस्वती="गीर्वाग्वाणी सरस्वती" इत्यमर। संसर्गगुणेन=संसर्ग एव गुण (धर्मे सन्तुष्ट), तेन (रूपक०)। बद्धा=बन्ध+क्त+टाप्+सु। अद्धापथात्=अद्धा पन्था अद्धापथ, तस्मात् (प० त०)। "तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम्" इत्यमर। "अद्धा" यह अव्यय है। "ऋक्पूरब्धू पथामानक्षे" इससे समासान्त अ प्रत्यय। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कताऽऽपन्नसरस्वदङ्का लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम्।
कुत्राऽपि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥ ६६ ॥

अन्वय—कुत्र अपि वस्तुनि अभिलाषि ते चित्त पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्का लङ्कापुरीम् अपि प्रयाति चेत्, तद् अपि स्वशये शयालु अवेहि ॥ ६६ ॥

व्याख्या—कुत्र अपि=कस्मिन् अपि, द्वीपान्तरस्थेऽपीति भाव। वस्तुनि=पदार्थे, अभिलाषि=साऽभिलाष, ते=तव, चित्त=मन (कर्तृ), पर्यङ्कताऽऽपन्नसरस्वदङ्का=मञ्चत्वप्राप्तसमुद्रचिह्ना, लङ्कापुरीम् अपि=सिंहलद्वीपनगरीम् अपि, प्रयाति चेत्=गच्छति यदि, तत्=वस्तु अपि, स्वशये=निजहस्ते, शयालु=स्थितम्, अवेहि=जानीहि ॥ ६६ ॥

अनुवाद—किसी भी वस्तुमे अभिलाष करनेवाला आपका चित्त, पलंगके समान समुद्ररूप चिह्नवाली लङ्कापुरीमे भी जाता है तो उस (वस्तु) को भी आप अपने हाथमें मौजूद समझिए ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—अभिलाषि=अभि+लष्+णिनि। पर्यङ्कताऽऽपन्नसरस्वदङ्का=पर्यङ्कस्य भाव पर्यङ्कता, पर्यङ्क+तल्+टाप्। पर्यङ्कताम् आपन्न, "द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्ताऽऽपन्नै" इस सूत्रसे द्वि० त०। पर्यङ्कतापन्न सरस्वान् अङ्को यस्या सा, ताम् (बहु०)। लङ्कापुरीं=लङ्का चाऽसौ पुरी, ताम् (क० धा०)। स्वशये=स्वस्य शय, तस्मिन् (ष० त०)। "पञ्चशाख शय पाणि" इत्यमर। शयालु=शेत इति, शीङ्+आलुच् ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।
"चेतो नलङ्कामयते मदीयं, नाऽन्यत्र कुत्रापि च साऽभिलापम्" ॥ ६७ ॥

अन्वयः—तेन पत्त्ररथेन इति ईरिता भैमी ह्रीणा हृष्टा च (सती) बभाण—"मदीयं चेतो लङ्कां न अयते (पक्षान्तरे श्लेषेण—मदीयं चेतो नलं कामयते)। अन्यत्र कुत्र अपि साऽभिलापं न" ॥ ६७ ॥

व्याख्या—तेन=पूर्वोक्तेन, पत्त्ररथेन=हंसेन, इति=इत्थम्, ईरिता=उक्ता, भैमी=दमयन्ती, ह्रीणा=लज्जिता, स्वाऽभिप्रायकथनसङ्कोचादिति शेषः। हृष्टा च=प्रसन्ना च, उपायलाभादिति शेषः। बभाण=जगाद। मदीयं=मामकीनं, चेतः=चित्तं, लङ्कां=सिंहलद्वीपपुरी, न अयते=नो गच्छति। (पक्षान्तरे श्लेषेण—) किन्तु नलं=नैषधं, कामयते=इच्छति। अन्यत्र=अन्यस्मिन्, कुत्र अपि=कस्मिन् अपि, वस्तुनीति शेषः। साऽभिलापम्=इच्छुकं न=नो वर्तते ॥ ६७ ॥

अनुवाद—उस हंसके ऐसा कहने पर दमयन्तीने लज्जित और प्रसन्न होकर कहा—"मेरा चित्त लङ्का नहीं जाता है" (पक्षान्तरमें श्लेषसे) "मेरा चित्त नलको चाहता है, और किसी भी वस्तुमें अभिलाष नही करता है ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—पत्त्ररथेन=पत्त्रं (पक्षः) रथो यस्य सः, तेन (बहु०), "पतत्पत्त्ररथाऽण्डजाः" इत्यमरः। ह्रीणा=ह्री+क्त+टाप्, "नुदविदोन्दत्रा·घ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे निष्ठा तकारके स्थानमें विकल्पसे नकार। हृष्टा=हृष+क्त+टाप्। बभाण=भण+लिट्+तिप् (णल्)। अयते=अय+लट्+त। कामयते=कम्+णिङ्+लट्+त। साऽभिलापम्=अभिला·षेण सहितम् (तुल्ययोगबहु०)। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ६७ ॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम्।
जगाद विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—विस्पष्टम् अभाषमाणाम् एनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रो बालाजनशील·शैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं विचिन्त्य जगाद ॥ ६८ ॥

व्याख्या—विस्पष्टम्=सुव्यक्तम्, अभाषमाणाम्=न वदन्ती, श्लेषोक्त्या सन्दिग्धमेव भाषमाणामिति भावः। एनां=दमयन्ती, सः=पूर्वोक्तः, चक्राङ्ग·पतङ्गशक्रः=हंसपक्षिश्रेष्ठः, बालाजनशीलशैलं=मुग्धाऽङ्गनास्वभावपर्वतं, लज्जा·नदीमज्जदनङ्गनागं=त्रपासरिद्ब्रुडत्कामगजं, विचिन्त्य=विचार्य, जगाद=

उवाच, लज्जापरित्यागाऽर्थं वक्ष्यमाणवाक्यमुवाचेति भाव । प्रकाशव्याख्यायाम् "आचष्टे"ति पाठ तस्य उक्तवानित्यर्थ ॥ ६८ ॥

अनुवाद—स्पष्ट रूपसे भाषण न करनेवाली दमयन्तीको उस हंसश्रेष्ठने मुग्धा स्त्रीके स्वभावरूप पर्वतमे लज्जारूप नदीमें कामदेवरूप हाथी डूब रहा है, ऐसा विचार कर कहा ॥ ६८ ॥

टिप्पणी – विस्पष्टम् = यह भाषण क्रियाका विशेषण है। अभाषमाणा = भाषत इति भाषमाणा, भाष + लट् + शानच् + टाप्। न भाषमाणा, ताम् (नञ्०) चक्राङ्गपतङ्गशक्र = चक्राङ्गश्च ते पतङ्गा (क० धा०)। "हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस" इति "पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च" इत्यमर। चक्राङ्गपतङ्गाना शक्र (ष० त०)। बालाजनशीलशैल = बाला चासौ जन (क० धा०), बालाजनस्य शीलम् (ष० त०), तदेव शैल, तम् (रूपक०)। लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम् = लज्जा एव नदी (रूपक०), अनङ्ग एव नाग (रूपक०), मज्जन् अनङ्गनागो यस्य स (बहु०), लज्जानद्या मज्जदनङ्गनाग, तम् (स० त०)। विचिन्त्य = वि + चिन्त + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। जगाद = गद + लिट् + तिप्। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ६८ ॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मन कामयते ममेति।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्या श्लोकद्वयाऽर्थं सुधिया मया किम् ॥ ६९ ॥

अन्वय—श्लेषकवे भवत्या नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा इति मम मनो नलं कामयते इति श्लोकद्वयाऽर्थं सुधिया मया न आश्लेषि किम्? (आश्लेषि एव) ॥ ६९ ॥

व्याख्या-(हे राजकुमारि!) श्लेषकवे = श्लेषभङ्ग्या कवयित्र्या श्लिष्ट-शब्दप्रयोक्त्र्या इति भाव। भवत्या = तव, नृपेण = राज्ञा, नलेन भर्त्रा, पाणिग्रहणे = करपीडने, स्पृहा = अभिलाष, इति = एव, "का नाम बाला०" (३–५९), "चेतो नल कामयते" (३–६७), श्लोकद्वयाऽर्थं = पद्यद्वितयाऽभिप्रेय, सुधिया = विदुषा, मया = हंसेन, न आश्लेषि किं = न अग्राहि किम्? गृहीत एवेति भाव ॥ ६९ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारी! श्लेषसे कविता बनानेवाली आपकी नृप (राजा) नलके साथ पाणिग्रहणमे स्पृहा (अभिलाषा) है (३–५९) और

मेरा मन नलकी कामना करता है (३–६७) ऐसा दो श्लोकोंका अर्थ क्या मैंने नहीं जाना ? (जाना है) ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—श्लेषकवेः = श्लेषेण कवेः (तृ० त०) । पाणिग्रहणे = पाणेः ग्रहणं, तस्मिन् (शेषषष्ठी तत्पु०) । कामयते = कमु + णिङ् + लट् + त । श्लोकद्वयार्थः = श्लोकयोः द्वयं (ष० त०), तस्य अर्थः (ष० त०) । सुधिया = सुष्ठु ध्यायतीति सुधीः, तेन, सु–उपसर्गपूर्वक "ध्यै चिन्तायाम्" इस धातुसे क्विप् प्रत्यय और सम्प्रसारण (उपपद०) । आश्लेषि = आङ् + श्लिष + लुङ् (कर्ममें) + त ॥ ६९ ॥

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तदज्ञ एव ।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दराऽपराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥ ७० ॥

अन्वयः—तु त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं सम्भाव्य तदज्ञ एव भावी अस्मि हि लोलशीले बालाहृदि लक्ष्ये स्मरः अपि दराऽपराद्धेषुः स्यात् ॥ ७० ॥

व्याख्या—तु=किन्तु, ' नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा", "मम मनो नलं कामयते' इति जानेऽपीति भावः । त्वच्चेतसः = भवन्मनसः, स्थैर्यविपर्ययम् = अस्थिरत्वं, सम्भाव्य = आशङ्क्य, तदज्ञ एव = श्लोकद्वयार्थाऽनभिज्ञ एव, भावी=भविष्यन्, अस्मि = भवामि । हि = यतः, लोलशीले = चञ्चलस्वभावे, बालाहृदि=तरुणीचित्ते, लक्ष्ये = शरव्ये, वेध्ये विषय इति भावः । स्मरोऽपि = कामदेवोऽपि, देवर्ष्यादिविजेता अपीति तात्पर्यम् । दराऽपराद्धेषुः = ईषच्च्युतसायकः, स्यात्= भवेद्, स्मरसदृशः कुशलधानुष्कोऽपि चञ्चललक्ष्ये अपराद्धपृषत्कः स्यादिति सम्भाव्यत इति भावः ॥ ७० ॥

अनुवाद—परन्तु "राजाके साथ पाणिग्रहणमें स्पृहा", "मेरा चित्त नलकी कामना करता है" ऐसे दो श्लोकोंका अर्थ जाननेपर भी आपके चित्तकी अस्थिरताकी आशङ्का करके मैं उस अर्थमें अनजान ही होनेवाला हूँ । क्योंकि चञ्चल स्वभाववाली तरुणीके चित्तरूप लक्ष्यमें कामदेव भी कुछ निशाना चूकनेवाला होगा ॥ ७० ॥

टिप्पणी—त्वच्चेतसः = तव चेतः, तस्य (ष० त०), स्थैर्यविपर्ययं = स्थैर्यस्य विपर्ययः, तम् (ष० त०) । सम्भाव्य = सम् + भू + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । तदज्ञः = तस्मिन् अज्ञः (स० त०) । भावी = भविष्यतीति, "भविष्यति गम्यादयः" इससे साधुः, भू + णिनि + सु । लोलशीले = लोलं शीलं यस्य तत्, तस्मिन् (बहु०) । बालाहृदि = बालाया हृत्, तस्मिन् (ष०

त०)। लक्ष्ये="लक्ष लक्ष्य शरव्य च" इत्यमर । दराऽपराद्धेषु = अपराद्ध' इषु यस्य स (बहु०), दरम् अपराद्धेषु (सुप्सुपा०)। इस पद्यमें अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार है ॥ ७० ॥

महीमहेन्द्र खलु नैषधेन्दुस्तद्‌बोधनीय कथमित्थमेव ।
प्रयोजन सांशयिक प्रतीत्य पृथग्जनेनेव = मद्विधेन ॥ ७१ ॥

अन्वय —तत् महीमहेन्द्र स नैषधेन्दु इह ईदृक् सांशयिक प्रयोजन प्रति मद्विधेन पृथग्जनेन इव इत्थम् एव कथ बोधनीय खलु ॥ ७१ ॥

व्याख्या—तत् = तस्मात्कारणात्, महीमहेन्द्र = भूदेवेन्द्र, स = प्रसिद्ध, नैषधेन्दु = नलचन्द्र, इह = अस्मिन्विषये, ईदृक् = एतादृश, सांशयिक = सशय-प्राप्त, प्रयोजन प्रति = कार्यं प्रति, मद्विधेन = मत्सदृशेन, प्रामाणिकजनेनेति भाव । पृथग्जनेन इव = मूर्खजनेन इव, इत्थम् एव = एतादृशम् एव, युक्ताऽ युक्तविचारमकृत्वैवेति भाव । कथ = केन प्रकारेण, बोधनीय = ज्ञापनीय, खलु = निश्चयेन ॥ ७१ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) उस कारणसे पृथिवीके इन्द्र, प्रसिद्ध चन्द्र-के सदृश नल इस विषयमें ऐसे सन्दिग्ध कार्यके प्रति मेरे ऐसे प्रामाणिक जनसे मूर्ख मनुष्यके समान बिना विचारके कैसे निवेदन किया जाये ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—महीमहेन्द्र = महाश्चाऽसौ इन्द्र (क० धा०), मह्या महेन्द्र (ष० त०)। नैषधेन्दु = नैषध इन्दुरिव, 'उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास । सांशयिक=सशयम् आपन्नम्, "सशय" शब्दसे "सशय-मापन्न" इस सूत्रसे ठक् (इक्) प्रत्यय और "किति च" इससे आदिवृद्धि । "सांशयिक सशयाऽऽपन्नमानस" इत्यमर । मद्विधेन=मम इव विधा (प्रकार) यस्य, तेन (व्यधिकरणबहु०)। पृथग्जनेन = "पृथग्जन स्मृतो नीचे मूर्खे च" इति विश्व । बोधनीय = बोधयितु योग्य, बुध + णिच् + अनीयर् । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ७१ ॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्य यदि वा वृणीषे ।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीति कीदृङ् मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ? ॥ ७२ ॥

अन्वय —पितु नियोगेन वा निजेच्छया अन्य युवान वृणीषे यदि, तदा निषधेश्वरस्य मयि त्वदर्थम् अर्थित्वकृतिप्रतीति कीदृक् स्यात् ? ॥ ७२ ॥

व्याख्या-अविचार्य बोधने दोष प्रतिपादयति–पितुरिति । (हे राजकुमारि !) पितु = जनकस्य, भीमभूपते, नियोगेन = आज्ञया, वा = अथवा, निजेच्छया =

स्वेच्छया, अन्यम्=अपरं, नलाद्भिन्नमित्यर्थः। युवानं=तरुणं, वृणीषे यदि=वृणोषि चेत्, तदा=तर्हि, निषधेश्वरस्य=नलस्य, मयि=हंसे विषये, त्वदर्थं=भवत्याः कृते इति भावः अर्थित्वकृतिप्रतीतिः=याचकत्वप्रयत्नविश्वासः, याचनाविश्वास इति भावः। कीदृक्=कीदृशी, स्यात्=भवेत्। तस्मादसन्दिग्धं वाच्यमिति भावः ॥ ७२ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारि !) पिताकी आज्ञासे या अपनी इच्छासे आप दूसरे (नलसे भिन्न) जवानको वरण करेंगी तो महाराज नलका मेरे विषयमें आपके लिए याचनाका विश्वास (भरोसा) कैसा होगा ? ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—निजेच्छया=निजस्य इच्छा, तया (ष० त०)। युवानं="वयःस्थस्तरुणो युवा" इत्यमरः। वृणीषे=वृञ्+लट्+थास्। निषधेश्वरस्य=निषधानाम् ईश्वरः, तस्य (ष० त०)। मयि=विषयमें सप्तमी। त्वदर्थं=तुभ्यम् इदम् (च० त०)। अर्थित्वकृतिप्रतीतिः=अर्थिनो भावः, अर्थिन्+त्व। अर्थित्वस्य कृतिः (ष० त०)। तस्यां प्रतीतिः (स० त०)। स्यात्=अस्+विधिलिङ्+तिप् ॥ ७२ ॥

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम्।
इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत् कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि ! सर्वम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—हे उर्वीपतिपुत्रि ! वा त्वया अपि किं विधातुं शङ्कितविक्रिये अस्मिन् विषये अहम् अधिक्रिये ? इतः पृथक् यत् प्रार्थयसे तत् सर्वं कुर्वे ॥७३॥

व्याख्या—हे उर्वीपतिपुत्रि !=हे राजकुमारि ! वा=अथवा, त्वया अपि=भवत्या अपि, किं, विधातुं=कर्तुं, शङ्कितविक्रिये=संशयितविकारे, अस्मिन्=इह, विषये=वैवाहिकविषये, अहं=हंसः, अधिक्रिये=विनियुज्ये, अहमस्मिन् सन्दिग्धे वैवाहिकविषये न नियोज्य इति भावः। इतः=अस्मात्, विवाहसम्पादनकार्यात्, पृथक्=अन्यत्, यत्=कार्यं, प्रार्थयसे=उपयाचसे तत्, सर्वं=सकलं, कार्यमिति शेषः, कुर्वे=करोमि ॥ ७३ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारि ! आप भी विकारके संशयवाले इस वैवाहिक कार्यमें क्या करनेके लिए मुझे नियुक्त करती हैं ? इससे भिन्न जिस जिस कार्यको करनेके लिए आप प्रार्थना करेंगी, उन सबको मैं करूँगा ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—उर्वीपतिपुत्रि=उर्व्याः पतिः (ष० त०), तस्य पुत्री, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०), शङ्कितविक्रिये=शङ्किता विक्रिया यस्मिन् सः, तस्मिन् (बहु०)।

अधिक्रिये=अधि+कृ+लट् (कर्ममें)+त। प्रार्थयसे=प्र+अर्थ+णिच्+लट्+थास् ॥ ७३ ॥

श्रव प्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना।
ऊचे ह्रिया विश्लथिताऽनुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

अन्वय—धरित्रीपुरुहूतपुत्री श्रव प्रविष्टा इव तद्गिर वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना विधूय ह्रिया विश्लथिताऽनुरोधा (सती) पुन ऊचे ॥ ७४ ॥

व्याख्या–धरित्रीपुरुहूतपुत्री=भूमहेन्द्रकुमारी, भैमीति भाव । श्रव प्रविष्टा इव=कृतकर्णप्रवेशा इव, न तु सम्यक् प्रविष्टा इति भाव । तद्गिर =हंसवाच, वैमत्यधुतेन=असम्मतिकम्पितेन, मूर्ध्ना=शिरसा, विधूय=निरस्य, प्रतिषिध्येत्यर्थ । ह्रिया=लज्जया कर्त्र्या, विश्लथिताऽनुरोधा=शिथिलिताऽनुसरणा, त्यक्तलज्जा सतीति भाव । पुन =भूय, ऊचे=उवाच ॥ ७४ ॥

अनुवाद—राजकुमारी दमयन्ती कानोंमे प्रवेश हुएके समान हंसके वचनोंको असम्मति (नामजूरी) से कम्पित शिरसे निवारण कर लज्जाको छोडकर फिर कहने लगी ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—धरित्रीपुरुहूतपुत्री=धरित्र्या पुरुहूत (ष० त०), तस्य पुत्री (ष० त०), श्रव प्रविष्टा=श्रवसी प्रविष्टा, ता (द्वि० त०)। तद्गिर = तस्य गिर, ता (ष० त०), वैमत्यधुतेन=विरुद्धा मतिर्विमति (प्रति०)। विमतेर्भावो वैमत्यम् विमति+ष्यञ्। वैमत्येन धुत, तेन (तृ० त०)। विधूय=वि+धूञ्+क्त्वा (ल्यप्)। ह्रिया=कर्तृपद। विश्लथिताऽनुरोधा= विश्लथित अनुरोध यस्या सा (बहु०)। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७४ ॥

मदन्यदान प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्या ॥ ७५ ॥

अन्वय—(हे हंस !) मदन्यदान प्रति एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेद तावत्। निश अपि सोमेतरकान्तशङ्काम् अस्य ओङ्कारम् अग्रेसर कुर्या ॥७५॥

व्याख्या—(हे हंस !) मदन्यदान प्रति=मदपरसमर्पण प्रति या, एषा=इय, कल्पना=तर्क, "पितुर्नियोगेन" इत्यादि रूप इति भाव । वेद =श्रुति तावत् एव । (तर्हि) निश अपि=रात्रे अपि, सोमेतरकान्तशङ्का=चन्द्रभिन्नवल्लभकल्पनाम्, अस्य=पूर्वोक्तस्य वेदस्य, ओङ्कार=प्रणवम्, अग्रेसरम्= आद्य, कुर्या =कुरु, पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा मत्कर्तृक नलेतरवरण त्व

वेदरूपं (सत्यम्) मन्यसे यदि तर्हि रात्रेरपि चन्द्रेतरवल्लभकल्पनं, तस्य पूर्वोक्तस्य वेदस्य पुरोवर्तिनमोङ्कारं भावय, वेदस्य ओङ्कारपूर्वकत्वादिति भावः। यथा निशायाश्चन्द्रेतरो वल्लभो न तथैव ममाऽपि नलेतरवरणं न भविष्यति हृदयम् ॥ ७५ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) नलको छोड़कर किसी दूसरेको मेरा दान होगा, ऐसी कल्पना तुम्हारे हृदयमें वेद (सत्य) ही है, तो रात्रिका भी चन्द्रसे भिन्न कान्त है, ऐसी शङ्काको उस वेदका आदिवर्ती प्रणव (ओङ्कार) बना डालो ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—मदन्यदानं=अन्यस्मै दानम् अन्यदानम् (च० त०), मम अन्यदानं, तत् (ष० त०), "प्रतिके" योगमें द्वितीया। त्वदीये=तव इदं त्वदीयं=तस्मिन्, युष्मद् (त्वत्)+छ (ईयः)। तावत्="यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे" इत्यमरः। निशः="निशा" शब्दका "पद्दन्नो-मास्हृन्निशसन्०" इत्यादि सूत्रसे निश् आदेश+ङस्। सोमेतरकान्तशङ्कां= सोमात् इतरः (प० त०), स चाऽसौ कान्तः (क० धा०), तस्य शङ्का, ताम् (ष० त०)। ओङ्कारम्="ओङ्कारप्रणवौ समौ" इत्यमरः। अग्रेसरम्=अग्रे सरतीति अग्रेसरः, तम्, अग्रे उपपदपूर्वक 'सृ' धातुसे "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः" इस सूत्रसे "अग्रे" इस एदन्तत्वका निपातन होकर ट प्रत्यय (उपपद०)। जैसे रात्रिका चन्द्रसे भिन्न कान्त नही है, वैसे ही मेरे भी नलसे अन्य कान्त नही है, यह भाव है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो ! महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः अनर्कसम्पर्कम् अतर्कयित्वा तव इयं मदन्यपाणिग्रहशङ्किता महीयः साहसिक्यम् अहो ! ॥ ७६ ॥

व्याख्या—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः=कमलिनीमनोऽनुरागस्थितेः, कमलिन्यभ्यन्तराऽरुणताप्रवृत्तेश्च, अनर्कसम्पर्कं=सूर्येतरकान्तसम्बन्धम्, अतर्कयित्वा=अनूहित्वा, तव=भवतः, इयम्=एषा, मदन्यपाणिग्रहशङ्किता=मम नलेतरपाणिपीडनसांशयिकता, महीयः=महत्तरं, साहसिक्यं=साहसिकत्वम्, अहो=आश्चर्यम् ॥ ७६ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) कमलिनीके मनकी अनुरागस्थितिका अथवा कमलिनीके भीतरकी अरुणता-स्थिति का सूर्यसे भिन्न प्रियके सम्बन्धकी तर्कना न

करके तुम्हारा यह मेरा नलसे भिन्न पुरुषके पाणिग्रहणकी शङ्का करना बहुत ही साहसका कार्य है, आश्चर्य है ॥ ७६ ॥

टिप्पणी—सरोजिनीमानसरागवृत्ते=मनसि भवो मानस , मनस् + अण् । मानसश्चासौ राग (क० धा०)। तस्य वृत्ति (ष० त०)। सरोजिन्या मानसरागवृत्ति , तस्याः (ष० त०)। अतर्कसम्पर्कम्=न अर्कं अनर्क (नञ्०), अनर्केण सम्पर्क , तम् (तृ० त०)। अतर्कयित्वा=न तर्कयित्वा (नञ्०)। मदन्यपाणिग्रहशङ्किता=पाणे ग्रह (ष० त०), अन्यस्य पाणिग्रह , पाणिग्रह + शङ्कि + णिनि (उपपद०)। अन्यपाणिग्रहशङ्किनो भाव , अन्यपाणिग्रहशङ्किन् + तल् + टाप् । मम अन्यपाणिग्रहशङ्किता (ष० त०)। महीय = अतिशयेन महत्, महत् + ईयसुन् । साहसिक्यम्=सहसा वर्तते इति साहसिक , सहस् शब्दसे "ओज सहोऽम्भसा वर्तते" इस सूत्रसे ठक् (इक्) प्रत्यय । साहसिकस्य भाव कर्म वा, साहसिक + ष्यञ् । जैसे कमलिनीकी अनुरागवृत्ति सूर्यसे भिन्न नहीं हो सकती, वैसे ही मेरा भी नलके सिवाय किसी दूसरेसे पाणिग्रहण नहीं होगा, यह भाव है ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाऽतर्कि तदेकमेव स्वेनाऽनलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषागिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

अन्वय —स्वेन अनलं संश्रयिष्ये (इति) यत् त्वया अतर्कि तत् एकम् एव साधु अतर्कि । तु अमुना विना स्वात्मनि प्रहर्तुम् (अनलं संश्रयिष्ये), नृपतौ त्वां मृषागिरं कर्तुम् अनलं न संश्रयिष्ये ॥ ७७ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) स्वेन=आत्मना, स्वेच्छयेति भाव । अनलं= नलादन्य, "निजेच्छया वे"त्याकारकत्वद्वचनाऽनुसारादिति भाव । संश्रयिष्ये= आश्रयिष्ये, प्राप्स्यामीति भाव । इति, यत्, त्वया=भवता, अतर्कि=ऊहित, तत्, एकम् एव, साधु=समीचीनम्, अतर्कि=तर्कित, तु=परन्तु, अमुना विना=नलेन विना, नलाऽलाभे इति भाव । स्वात्मनि=निजशरीरे, प्रहर्तुं= हिंसितुम्, अनलम्=अग्निं, संश्रयिष्ये=आश्रयिष्ये, नृपतौ=राज्ञि, नले विषये, त्वां=भवन्तम् । (उद्देश्यवाचकपदम्), मृषागिरम्=असत्यवाचं, कर्तुं= विधातुम्, अनलं=नलेतर, न संश्रयिष्ये=न आश्रयिष्ये, नलाऽभावे प्राणास्त्यक्ष्यामीति भाव ॥ ७७ ॥

अनुवाद—(हे हंस) "स्वेच्छासे अनल (नलसे भिन्न पुरुष) का आश्रय

करूँगी" ऐसी जो तुमने तर्कना की, वह एक ठीक तर्कना की। परन्तु नलके अलाभमे अपने शरीरको नष्ट करनेके लिए अनल (अग्नि) को प्राप्त करूँगी। राजा नलके विषयमे तुमको झूठा बनानेके लिए अनल (नल से भिन्न पुरुष) का आश्रय नही लूँगी ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—अनलं=न नलः, तम् (नञ्०)। संश्रयिष्ये=सम् + श्रि + लृट् + इट्। अतर्कि=तर्क + लुङ् (कर्ममें)+त। अमुना="विना" पदके योगमें तृतीया। स्वात्मनि=स्वस्य आत्मा, तस्मिन् (प० त०), कर्मके अधिकरणत्वकी विवक्षामें सप्तमी। प्रहर्तुम्=प्र+हृञ्+तुमुन्। अनलं="कृशानु. पावकोऽनलः" इत्यमरः। नृपतौ=नृणां पति. तस्मिन् (प० त०), मृषागिरं=मृषा गीर्यस्य स मृषागीः, तम् (बहु०)। कर्तुम्=कृ+तुमुन् ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलभ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कः स किं तत्फलवाचि मूकः ?।
अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

अन्वयः—(किञ्च) यः तर्कः मद्विप्रलभ्यं त्वाम् आह स तत्फलवाचि मूकः किम् ? अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुः वाणी वेदा न यदि (तर्हि), के तु (वेदाः) ? ॥ ७८ ॥

व्याख्या—यः, तर्क.=ऊहः, मद्विप्रलभ्यं=मया प्रतारणीयं, त्वाम्, आह=बोधयति, सः=तर्कः, तत्फलवाचि=तद्विप्रलम्भप्रयोजनकथने, मूक. किम्=अवाक् किम्, असमर्थः किमिति भावः। अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुः=शङ्काऽशक्यविप्रलिप्सालक्षणा, वाणीः=वाक्, वेदा न यदि=प्रमाणं न चेत्। तर्हि के तु वेदाः सन्तु=न केऽपीति भावः। वेदवाचोऽसत्यत्वं यदि मद्वाण्यपि तथा स्यादन्यथा नेति भावः ॥ ७८ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) जो तर्क मुझसे तुम्हारे ठगे जानेकी बात कहता है, वह तर्क ठगनेसे होनेवाले प्रयोजन कहनेमे असमर्थ है क्या ? व्यभिचारके कारणकी शङ्का नही की जा सकनेवाली वाणी यदि वेदरूप प्रामाणिक नही है तो वेद क्या है ? ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—तर्कः="अध्याहारस्तर्क ऊहः" इत्यमरः। मद्विप्रलभ्यं=मया विप्रलभ्यं, तत् (तृ० त०)। विप्रलब्धुं योग्यं विप्रलभ्यम्। वि+प्र-उपसर्ग-पूर्वक "लभ" धातुसे "पोरदुपधात्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय। तत्फलवाचि=तस्य फलं (प० त०), तस्य वाक्, तस्याम् (प० त०)। अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुः=न शक्या (नञ्०)। अशक्या शङ्का यस्य सः (बहु०)। व्यभिचारस्य हेतुः

(प० त०)। अशक्यशङ्को व्यभिचारहेतुर्यस्या सा (बहु०), यह पद "वाणी" का विशेषण है ॥ ७८ ॥

अनैषधायैव जुहोति किं मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम्।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तयाऽपि मत्प्राणनाथस्तु नलः स एव ॥ ७९ ॥

अन्वय—तातः माम् अनैषधाय एव जुहोति ? (तदा) शरीरशेषां (माम्) (तत्राऽपि) कृशानौ न जुहोति किम् ? स तनूजन्मतनोः ईष्टे, मत्प्राणनाथस्तु नलः एव ॥ ७९ ॥

व्याख्या—अथ "पितुर्नियोगेने"ति हंसप्रतिपादितमाशङ्का निरस्यति—अनैषधायैवेति। तातः=मम जनकः, मां=पुत्रीम् अनैषधाय एव=नलभिन्नाय एव, अनलाय सम्प्रदानभूताय एव, जुहोति=ददाति ? (काकुः), (तदा) शरीरशेषां=देहमात्राऽवशिष्टां मृतामित्यर्थः तादृशीं मां, न जुहोति किम् ?=हवनं न करोति किम् ? तदङ्गीकार्यमेवेति भावः। (कुतः) सः=जनकः, तनूजन्मतनोः=आत्मजाशरीरस्य, ईष्टे=ईशः (स्वामी), भवतीति भावः। परं, मत्प्राणनाथस्तु=मज्जीवनस्वामी तु, नलः एव=नैषध एव, मत्प्राणानामजनकत्वात् न जनकः, मम शरीरमात्रं पित्रधीनं, जीवनं तु नलाऽधीनमिति भावः। अतो मयि अविश्वासं मा कार्षीरिति तात्पर्यम् ॥ ७९ ॥

अनुवाद—पिताजी मुझे अनैषध (नलसे भिन्न व्यक्ति, अनल) को ही देते हैं ? तब तो देहमात्रसे अवशिष्ट मरी हुई मुझको अग्निमें हवन नहीं करते हैं क्या ? क्योंकि वे (मेरे पिता) अपनी पुत्रीके शरीरके स्वामी हैं परन्तु मेरे प्राणके स्वामी तो नल ही हैं ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—तात="तातस्तु जनकः पिता" इत्यमरः। अनैषधाय=न नैषधः, तस्मै, तदन्य अर्थमें नञ्समास। जुहोति='हु दानादानयोः' इस धातुसे लट्+तिप्। शरीरशेषां=शरीरम् एव शेषो यस्याः सा, ताम् (बहु०)। कृशानौ='कृशानुः पावकोऽनलः' इत्यमरः। तनूजन्मतनोः=तन्वा जन्म यस्याः सा तनूजन्मा (बहु०), तस्याः तनुः, तस्याः (ष० त०), "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इस सूत्रसे 'ईश' धातुके योगमें षष्ठी। ईष्टे='ईश ऐश्वर्ये' धातुसे लट्+त। मत्प्राणनाथः=मम प्राणाः (ष० त०), तेषां नाथः (ष० त०) ॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाऽऽकरेणाऽपि सुधाकरेण ? ॥ ८० ॥

अन्वयः—(हे हंस !) तदेकदासीत्वपदात् उदग्रे मदीप्सिते तव विधित्सुता साधु। नलिनी सुधाऽऽकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विधत्ते ? ॥ ८० ॥

व्याख्या—(हे हंस !) तदेकदासीत्वपदात्=नलैकसेविकात्वाऽधिकारात्, उदग्रे=उन्नते, अधिक इति भावः। मदीप्सिते=मदभीष्टे, नलपत्नीत्वरूप इति भावः। तव=भवतः, विधित्सुता=चिकीर्षुता, साधु=उचितम्। दृष्टान्ते स्वोक्तिं समर्थयते=अहेलिनेति। नलिनी=कमलिनी, सुधाऽऽकरेण अपि=अमृताधारेण अपि, अहेलिना=हेलीतरेण, सूर्यभिन्नेनेति भावः। सुधाकरेण=चन्द्रमसा, किं विधत्ते=किं करोति, यथा नलिन्याश्चन्द्रमसा तथैव ममाऽपि नलभिन्नेन यूना न प्रयोजनमिति भावः॥ ८०॥

अनुवाद—(हे हंस !) नलके एकदासीत्वरूप अधिकारसे अधिक मेरे अभीष्ट (पत्नीत्वरूप) विषयमें तुम्हारी कार्यसम्पादकता उचित है। जैसे कि कमलिनी अमृतके आधार होनेपर भी सूर्यसे भिन्न चन्द्रसे क्या करती है ? ॥८०॥

टिप्पणी—तदेकदासीत्वपदात्=एका चाऽसौ दासी (क० धा०), तस्य एकदासी (ष० त०), तस्या भावः तदेकदासीत्वम्, तदेकदासी+त्व। तदेव पदं, तस्मात् (रूपक०)। मदीप्सिते=मम ईप्सितं, तस्मिन् (ष० त०)। विधित्सुता=विधातुमिच्छुः विधित्सुः, वि+धा+सन्+उः। विधित्सोर्भावः, विधित्सु+तल्+टाप्। सुधाकरेण=सुधाया आकरः, तेन (ष० त०)। अहेलिना=न हेलिः अहेलिः, तेन (नञ्०), यहाँपर तदन्यत्व रूप अर्थमें नञ् है। "भगस्त्वष्टार्यमाहंसो हेलिस्तेजोनिधिर्हरिः।" इति भविष्यपुराणे। सूर्यनामानि यहाँपर पहला "सुधाकर" शब्द यौगिक और दूसरा अयौगिक है, इसलिए पुनरुक्ति नही है। इस पद्यमें 'दृष्टान्त' अलङ्कार है॥ ८०॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम्।
चित्ते ममैकः स नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखः स एव॥ ८१॥

अन्वयः—तदेकलुब्धे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिम् अपि लब्धुं चिन्ता न अस्ति। (तथा) वित्ते अपि मम स नलः त्रिलोकीसारः पद्ममुखः एकः एव॥ ८१॥

व्याख्या—तदेकलुब्धे=नलैकलोलुपे, मे=मम, हृदि=हृदये, अनर्घम्=अमूल्यं, चिन्तामणिम् अपि=चिन्तामणिनामकं रत्नम् अपि, लब्धुं=प्राप्तुं, चिन्ता=विचारः, न अस्ति=नो वर्तते। तथा वित्ते अपि=धने अपि, मम=दमयन्त्याः, सः=पूर्वोक्तः, प्रसिद्धो वा। नलः=नैषधः, त्रिलोकीसारः=त्रैलोक्य

श्रेष्ठ, पद्ममुख =पद्मानन, पद्मनिधिश्च, एक =प्रमुख, एव, नलादन्यत्र कुत्रापि ममाऽभिलाषो नाऽस्ति, किमुत युवान्तर इति भाव ॥ ८१ ॥

अनुवाद —नलमें एकमात्र लुब्ध मेरे हृदयमें अमूल्य चिन्तामणि रत्नको भी पानेकी चिन्ता नहीं है। उसी तरह धनके विषयमें भी मेरे वे नल, त्रैलोक्यमें श्रेष्ठ कमलतुल्य मुखवाले पद्मनिधिके समान एकमात्र हैं ॥ ८१ ॥

टिप्पणी —तदेकलुब्धे=एक च तत् लुब्धम् (क० धा०), तस्मिन् एकलुब्ध, तस्मिन् (स० त०)। अनर्घम्=अविद्यमान अर्घ यस्य, तम् (नञ् बहु०)। "मूल्ये पूजाविधावर्घ" इत्यमर। लब्धु=लभ+तुमुन्। त्रिलोकीसार = त्रयाणा लोकाना समाहार त्रिलोकी (द्विगु०), त्रिलोक्या सार (ष० त०)। पद्ममुख =पद्मम् इव मुख यस्य स (बहु०)। अथवा पद्म (निधि), मुखम् (आदि) यस्य स (बहु०)। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ८१ ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाऽद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवाऽऽस्ते द्वयमेव शेष ॥ ८२ ॥

अन्वय —(स) श्रुत मोहात् हरित्सु दृष्ट नीरन्ध्रितबुद्धिधार ध्यातश्च। अद्य मम तत्प्राप्ति असुव्ययो वा द्वयम् एव शेष तव हस्ते आस्ते ॥ ८२ ॥

व्याख्या—(स =नल) श्रुत =आकर्णित, दूतद्विजादिमुखादिति शेष। मोहात्=भ्रान्ते, हरित्सु=प्राच्यादिदिक्षु, दृष्ट =अवलोकित, नीरन्ध्रितबुद्धिधार=निरन्तरीकृतनलविषयकबुद्धिप्रवाह यथा तथा, ध्यातश्च =ध्यानगोचरीकृत, चिन्तित इति भाव। अथ अद्य=अस्मिन् दिने, मम=भैम्या, तत्प्राप्ति =नलासादनम्, असुव्ययो वा=प्राणत्यागो वा, द्वयम् एव=द्वितयम् एव, द्वयोरन्यतर एवेति भाव। शेष =कार्यशेष, तव=भवत, हस्ते=करे, आस्ते=तिष्ठति, त्वदधीन इति भाव ॥ ८२ ॥

अनुवाद—महाराज नलको मैंने दूत, ब्राह्मण आदिके मुखसे सुन लिया है और भ्रान्तिसे दशो दिशाओमें देख भी लिया है तथा नलके विषयमें बुद्धिके प्रवाहको निरन्तर लगाकर ध्यान भी किया है। आज उनकी प्राप्ति वा प्राणत्याग दोनोमेंसे एक कार्य तुम्हारे हाथमें है ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—मोहात्=हेतुमें पञ्चमी। नीरन्ध्रितबुद्धिधार=बुद्धेर्धारा (ष० त०)। नीरन्ध्रिता बुद्धिधारा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा (बहु०, क्रि० वि०)। ध्यात =ध्यै+क्त। तत्प्राप्ति =तस्य प्राप्ति (ष० त०)। असुव्यय = असुना व्यय (ष० त०)। द्वयम्=द्वि+तयप् (अयच्)। इस पद्यमें

अभिधाके प्रस्तुत अर्थके नियन्त्रणसे तत्पदार्थ (ब्रह्म) के श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे सम्पन्न पुरुषका ब्रह्मप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिरूप लक्षणवाला मोक्ष गुरुके अधीन ही है, ऐसे अर्थान्तरकी प्रतीतिरूप ध्वनि ही है ॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम् ।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का, भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृशं का ॥८३॥

अन्वयः—(हे हंस !) आश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यं सञ्चीयताम् । हे आर्य ! वृथा विशङ्का निवार्यताम् । अये ! भद्रे अपि भृशं का इयं मुद्रा ? ॥ ८३ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) आश्रुतपालनोत्थम्=अङ्गीकृतार्थाऽनुष्ठानजनितं, मत्प्राणविश्राणनजं च=मदसुदानजनितं च, नलेन सह मत्सङ्घटनादिति शेषः । पुण्यं=सुकृतं, सञ्चीयतां=सङ्गृह्यताम् । हे आर्य !=हे श्रेष्ठ ! वृथा=व्यर्थप्राया, विशङ्का=सन्देहः, "पितुर्नियोगेने"ति पद्यप्रतिपादितेति शेषः । निवार्यतां=दूरतस्त्यज्यताम् । अये !=अङ्ग, भद्रे अपि=कल्याणरूपे विषये अपि, भृशम्=अत्यर्थं, का=कीदृशी, इयम्=एषा, मुद्रा=औदासीन्यम् । श्रेयसि विषये नोदासितव्यमिति भावः ॥ ८३ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) अङ्गीकृत विषयके संपादनसे और मुझे प्राणदान कर उत्पन्न पुण्यका संचय करो । हे आर्य ! व्यर्थ सन्देहको छोड़ दो । कल्याण-विषयमें भी यह कैसी उदासीन मुद्रा है ? ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—आश्रुतपालनोत्थम्=आश्रुतस्य पालनम् (ष० त०), "अङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातम्" इत्यमरः । आश्रुतपालनात् उत्तिष्ठतीति, आश्रुतपालन+उद्+स्था+कः (उपपद०) । सञ्चीयतां—सम्+चि+लोट+यक्+त, (कर्ममें) । विशङ्का=विरुद्धा शङ्का (गति०) । निवार्यतां=नि+वृ+णिच्+लोट्+यक्+त (कर्ममें) ॥ ८३ ॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय ! विज्ञ ! याच्ञां कृत्वाऽपि वाम्यं विविधं विधेये ।
यशःपयादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वाऽस्तखलोक्तिशैलात् ॥८४॥

अन्वयः—हे प्रिय ! हे विज्ञ ! याच्ञां विलङ्घ्य अलम् । विधेये विविधं वाम्यं कृत्वा अपि अलम् । आश्रवतापदोत्थात् अस्तखलोक्तिशैलात् यशःपयात् स्खलित्वा खलु ॥ ८४ ॥

व्याख्या—हे प्रिय !=हे प्रियङ्कर ! हे विज्ञ !=हे विशेषज्ञ ! याच्ञां=प्रार्थनां, विलङ्घ्य=अतिक्रम्य, अलं=पर्याप्तं, प्रार्थना-भङ्गो न कार्य इति

भाव । विधेये=विनीतजने, विविधम्=अनेकप्रकार, वाम्य=वक्रता, कृत्वा अपि=विधाय अपि, अल=पर्याप्त, वाम्य न कार्यमिति भाव । आश्रवतापदोत्थात्=वचनस्थितत्वस्यानोत्पन्नात्, अस्तखलोक्तिखेलात्=निरस्तदुर्जनवादविनोदात् यश पथात्=कीर्तिमार्गात्, स्खलित्वा अलम्=न स्खलितव्यमिति भाव, नो चेद्धानि स्यादिति भाव ॥ ८४ ॥

अनुवाद—हे प्रिय ! हे विशेषज्ञ ! मेरी प्रार्थनाका लङ्घन मत करो। विनीतजनमे अनेक प्रकारकी कुटिलता भी मत करो। आज्ञाकारित्वपदसे उत्पन्न, दुर्जनका उक्तिरूप विनोदसे रहित कीर्तिमार्गसे तुम्हें स्खलित नही होना चाहिए ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—प्रिय=प्रीणातीति प्रिय, तत्सम्बुद्धौ, प्री+क । विज्ञ=विशेषेण जानातीति विज्ञस्तत्सम्बुद्धौ, वि+ज्ञा+क । याच्ञा=याच्+नङ्+टाप् । विधेये=' विधेयो विनयग्राही वचनेस्थित आश्रव " इत्यमर । वाम्य=वामस्य भावो वाम्य, तद्, वाम+ष्यञ् । आश्रवतापदोत्थात्=आश्रवस्य भाव आश्रवता, आश्रव+तल्+टाप् । आश्रवता एव पदम् (रूपक०) । आश्रवतापदाद् उत्तिष्ठतीति आश्रवतापदोत्थ, आश्रवतापद+उद्+स्था+क, तस्मात् । अस्तखलोक्तिखेलात्=खलस्य उक्ति (ष० त०) । खलोक्तौ खेला (ष०त०), "क्रीडा च कूर्दनम्" इत्यमर । अस्ता खलोक्तिखेला येन स, तस्मात् (बहु०)। यश पथात्=यशस पन्था यश पथ, तस्मात् (ष० त०), "ऋक्पूरब्धू पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अप्रत्यय । स्खलित्वा=प्रतिषेधार्थक "अलम्" पदके योगमे स्खल धातुसे "अलखल्वो प्रतिषेधयो प्राचा क्त्वा" इससे क्त्वा प्रत्यय, इसी तरह "कृत्वा" इस पदमे भी "अलम्" पदके योगमे क्त्वा प्रत्यय हुआ है ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टे ।
मह्यं मदीयान् मदसूनदित्सोर्धर्म कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौत ॥ ८५ ॥

अन्वय—ईदृशबद्धमुष्टे तव आर्तमुदे स्वजीवम् अपि ददद्भ्य त्रपा न ? यत् मदीयान् एव असून् मह्यम् अदित्सो तव कीर्तिधौतो धर्म करात् भ्रश्यति ॥ ८५ ॥

व्याख्या—(हे हस !) ईदृशबद्धमुष्टे =ईदृङ्नद्धमुष्टिकस्य, कृपणस्येति भाव । तव=भवत, आर्तमुदे=दीनहर्षाय, याचकाऽभिलाषपूर्त्यै इति भाव । स्वजीवम्=आत्मजीवनम् अपि, ददद्भ्य=वितरद्भ्य, स्वप्राणव्ययेन पर रक्षद्भ्य इति भाव, जीमूतवाहनादिभ्य इति शेष । त्रपा न=लज्जा न ? इति काकु ।

यत्=यस्मात् कारणात्, मदीयान् एव=मामकान् एव, असून्=प्राणान्, मह्यं=सम्प्रदानभूतायै मह्यं, अदित्सोः=दातुम् अनिच्छोः, तव=भवतः, कीर्तिधौतः=यशोधवलः, धर्मः=पुण्यं, करात्=हस्तात्, भ्रश्यति=नश्यति, तव धर्मो यशश्च नश्यति एतन्न तवाऽर्हमिति भावः ॥ ८५ ॥

अनुवाद—ऐसे बद्धमुष्टि (कृपण) तुम्हे दीन पुरुषकी प्रीतिके लिए अपना जीवन भी देनेवाले शिबि आदियोंसे लज्जा नही होती है ? क्योंकि मेरे ही प्राणोंको मुझे देनेकी इच्छा नहीं करनेवाले तुम्हारा यशसे उज्ज्वल धर्म हाथसे भ्रष्ट होता है ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—ईदृशबद्धमुष्टेः=बद्धा मुष्टिर्येन सः (बहु०), ईदृशश्चाऽसौ बद्धमुष्टिः, तस्य (क० धा०)। आर्तमुदे=आर्तानां मुत्, तस्यै (ष० त०)। स्वजीवं=स्वस्य जीवः, तम् (ष० त०)। ददद्भ्यः=दा+लट् (शतृ)+भ्यस्। दीनोंकी रक्षाके लिए अपना जीवन देनेवाले जैसे—

"कर्णस्त्वचं, शिबिर्मांसं, जीवं जीमूतवाहनः।
ददौ दधीचिरस्थीनि, किमदेयं महात्मनाम् ॥" (बृहच्छार्ङ्गधर०)

अर्थात् कर्णने सूर्यको अपना चर्म (चमड़ा), शिबिने कबूतरको बचानेके लिए अपना मांस, जीमूतवाहनने शङ्खचूड़ नामक नागको बचानेके लिए अपना जीवन और दधीचिने वज्रके लिए देवताओंको अपना अस्थिसमूह दे दिया। महात्माओंके लिए क्या अदेय है ? मदीयान्=अस्मत्+छ (ईयः)+शस्। अदित्सोः=दातुमिच्छुः दित्सुः, दा+सन्+उः। न दित्सुः, तस्य, (नञ्)। कीर्तिधौतः=कीर्त्या धौतः (तृ० त०)। भ्रश्यति="भ्रंशु अधःपतने" इस धातुसे लट्+तिप् ॥ ८५ ॥

दत्त्वात्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि, जीवाऽधिकदे तु केन ?।
विधेहि तन्मां त्वदृणेऽशोद्धुममुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) जीवदे त्वयि आत्मजीवं दत्त्वा अपि शुध्यामि, जीवाऽधिकदे तु (त्वयि) केन शुध्यामि ? तत् मां त्वदृणेषु अशोद्धुम् अमुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नां विधेहि ॥ ८६ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) जीवदे=प्राणदे, त्वयि=भवति, आत्मजीवं=स्वप्राणान्, दत्त्वा अपि=वितीर्य अपि, शुध्यामि=शुद्धा भवामि, अनृणा भवामीति भावः। परं जीवाऽधिकदे तु=प्राणाऽधिक-(नल)-दातरि तु, त्वयि =भवति विषये, केन=पदार्थेन, शुध्यामि=शुद्धा भवामि, अनृणा भवामि।

तत् = तस्मात्कारणात्, आनृण्यार्थं देयपदार्थाऽभावादिति भाव । मा = मॆमी, त्वदृणेषु = भवत्पर्युदस्त्वनेषु विषये । अशोद्धु = न अपाकर्तुम्, अमुद्रदारिद्र्यसमुद्र-मग्नाम् = अपरिमितदैन्यसागरब्रुडिता, विधेहि = कुरु, नलसङ्घट्टनेन मामृणप्रस्ता कुविति भाव ॥ ८६ ॥

अनुवाद—(हे हस !) प्राण देनेवाले तुम्हारे विषयमे अपने प्राणोको देकर शुद्ध (अनृण) हूंगी, परन्तु प्राणोसे अधिक (नल) को देनेवाले तुम्हारे विषयमे मैं किस पदार्थसे शुद्ध (अनृण) हूँगी । इस कारणसे मुझे तुम्हारे ऋणोमे शुद्ध (अनृण) न करने के लिए अपरिमित दारिद्र्यरूप समुद्रमे मग्न कर दो ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—जीवदे = जीव + दा + क (उपपद) + ङि । आत्मजीवम् = आत्मनो जीव , तम् (ष० त०) । दत्वा = दा + क्त्वा । शुद्धयामि = शुध् + लट् + मिप् । त्वदृणेषु = तव ऋणानि, तेषु (ष० त०) अशोद्धु = न शोद्धुम् (नञ्०) । अमुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् = अविद्यमाना मुद्रा (मर्यादा) यस्य स (नञ्बहु०), दारिद्र्यम् एव समुद्र (रूपक०) । अमुद्रश्चाऽसौ दारिद्र्य-समुद्र (क० धा०), तस्मिन् मग्ना, ताम् (स० त०) । विधेहि = वि + धा + लोट् + सिप् । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ८६ ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेदस्तु तदस्तु पुण्यम् ।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥ ८७ ॥

अन्वय—हे जीवेशदात ! मज्जीवितम् एव पण्य क्रीणीष्व, अन्यत् वस्तु न चेत् (तर्हि) पुण्यम् अस्तु ते दातु न प्रभवामि (चेत्) तावत् यश अपि गातु प्रभवामि ॥ ८७ ॥

व्याख्या—हे जीवेशदात ! = हे प्राणेश्वर ! मज्जीवितम् एव = मज्जीवनम् एव, पण्य = क्रेय वस्तु, क्रीणीष्व = जीवेशमूल्यरूपेण विनिमय कुरु । अन्यत् = अपरम्, एतन्मूल्यानुरूप, वस्तु = पदार्थ , न चेत् = न भवेद्यदि, तर्हि, पुण्य = धर्म , अस्तु = भवतु, ते = तुभ्य, दातु = वितरीतु, न प्रभवामि = न शक्नोमि यदि, तावत् = तर्हि, यश अपि = कीर्तिम् अपि, गातु = गान कर्तुं, प्रभवामि = शक्नोमि, प्रसिद्धिपुण्यार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थ ॥ ८७ ॥

अनुवाद—हे प्राणेश्वर (नल) को देनेवाले ! मेरे जीवनरूप क्रेय वस्तुको खरीद लो और वस्तु न होगी तो पुण्य ही हो । तुम्हें देनेके लिए समर्थ नहीं हूँ तो तुम्हारे यशको तो गानेके लिए समर्थ हूंगी ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—जीवेशदातः=जीवस्य ईशः (ष० त०), तस्य दाता, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०)। मज्जीवितं=मम जीवितं, तत् (ष० त०), क्रीणीष्व="डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये" इस धातुके लोट्के थास्का रूप। दातुं=दा+तुमुन्। प्रभवामि-प्र+भू+लट्+मिप् ॥ ८७ ॥

वराटिकोपक्रियया‌ऽपि लभ्यान्नेभ्याः कृतज्ञानयवाऽऽद्रियन्ते।
प्राणैः पणैः स्वं निपुणं भणन्तः क्रीणन्ति तानेव तु हन्त ! सन्तः ॥८८॥

अन्वयः—वराटिकोपक्रियया अपि लभ्यान् कृतज्ञान् इभ्याः न आद्रियन्ते। सन्तः तु स्वं निपुणं भणन्तः तान् एव प्राणैः पणैः क्रीणन्ति ॥ ८८ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) वराटिकोपक्रियया अपि=कपर्दिकोपकारेण अपि, कपर्दिकादानेन अपि इति भावः। लभ्यान्=सुलभान्, कृतज्ञान्=उपकारज्ञान्। तावदेव बहु मन्यमानानिति भावः। इभ्याः=धनिकाः, न आद्रियन्ते=न सत्कुर्वन्ति, न उपकुर्वन्तीति भावः। एतद्वैपरीत्येन, सन्तस्तु=सज्जनास्तु, विवेकिनस्तु इति भावः। स्वम्=आत्मानं, निपुणं=कुशलं, भणन्तः=कथयन्तः, "एते वयं त्वदधीना" इति साधु वदन्त इति भावः। तान् एव=कृतज्ञान् एव, प्राणैः=असुभिः एव, पणैः=मूल्यैः, क्रीणन्ति=विनिमयं कुर्वन्ति, आत्मसात्कुर्वन्ति, किमुत धनैरिति भावः। अतस्त्वयाऽपि सज्जनेन कृतज्ञोऽहमुपकर्तव्येति भावः। हन्त=हर्षद्योतकमव्ययम् ॥ ८८ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) कौड़ी देकर भी पाये जा सकनेवाले कृतज्ञों-(अहसानमन्दों) को धनी लोग आदर (उपकार) नहीं करते हैं। सज्जन-लोग तो "हम आपके अधीन हैं" ऐसा कहते हुए उन्ही कृतज्ञोंको प्राणरूप मूल्योंसे खरीद लेते है ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—वराटिकोपक्रियया=वराटिकाया उपक्रिया, तया (ष० त०)। लभ्यान्—लभ्+यत्+शस्। कृतज्ञान्=कृतं जानन्तीति कृतज्ञाः, तान्। कृत+ज्ञा+क (उपपद०)+शस्। इभ्याः=इभम् अर्हन्तीति, 'इभ" शब्दसे "दण्डादिभ्यो यः" इस सूत्रसे य प्रत्यय। "इभ्य आढ्यो धनी स्वामी"त्यमरः। आद्रियन्ते—आङ्+दृङ्+लट्+झ। सन्तः=अस्+लट् (शतृ)+जस्। भणन्तः=भण+लट् (शतृ)+जस्। पणैः=करणमे तृतीया। क्रीणन्ति=क्रीञ्+लट्+झि। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे तदेकाग्रधियः प्रसेदे।
न हीतरस्माद् घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाऽभूः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स भूभृत् अष्टौ अपि लोकपालाः। तदेकाग्रधियो मे तैः प्रसेदे। इतरस्मात् स्वयम् एत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः अभूः यत् तत् न घटते हि ॥ ८९ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) सः=पूर्वोक्तः, भूभृत्=राजा, नल इत्यर्थः। अष्टौ अपि=अष्टसंख्यका अपि, लोकपालाः=इन्द्रादयः इत्यर्थः, नलः इन्द्राद्यष्टलोकपालात्मकः इति भावः। अत एव तदेकाग्रधियः=नलैकतानबुद्धेः, मे=मम, तैः=अष्टाभिर्लोकपालैः। प्रसेदे=प्रसन्नम्। देवता स्वायत्ते जनस्य प्रसीदन्तीति भावः। कुतः इतरस्मात्=इतरथा, लोकपालप्रसादं विना, स्वयम्=आत्मना, एत्य=आगत्य, मम=मम्या, तदाप्तिप्रतिभूः=नलप्राप्तिलग्नकः, अभूः=भूतवान् असि, यत्, तत् न घटते=न प्रवर्तते, हि=निश्चयेन। लोकपालानुग्रहाऽभावे कुतो ममेदं श्रेय इति भावः ॥ ८९ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) वे राजा (नल) आठ लोकपालस्वरूप हैं। नलमें मेरी एकाग्रबुद्धि रहनेसे लोकपाल प्रसन्न हुए हैं। नहीं तो स्वयं आकर मेरे नलकी प्राप्तिके लिए जो तुम जामिन हो गये हो वह नहीं होता था ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—भूभृत्=भुवं बिभर्तीति, भू+भृ+क्विप् (उप०)। लोकपालाः=लोकं पालयन्तीति लोक+पाल+अच् (उपपद०)। "अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः।" (मनु० ७-५) इस उक्तिके अनुसार इन्द्र आदि लोकपालोंके आठ अंशोंसे राजा होते हैं, इस कारण नल आठ लोकपालस्वरूप हैं, यह अभिप्राय है। तदेकाग्रधियः=एकाऽग्रा धीर्यस्याः सा (बहु०), तस्मिन् एकाऽग्रधीः, तस्याः (स० त०)। प्रसेदे=प्र+सद्+लिट्+त (भाववाच्य प्रयोग)। तदाप्तिप्रतिभूः=प्रतिभवतीति प्रतिभूः, प्रति-उपसर्गपूर्वक भू धातुसे "भुवः संज्ञाऽन्तरयोः" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय। "स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः" इत्यमरः। तस्य आप्तिः (ष० त०)। तदाप्तौ प्रतिभूः (स० त०)। अभूः=भू+लुङ्+सिप्। घटते=' घट चेष्टायाम्" इस धातुसे लट्+त। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्मभुवार्जितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम्? ॥९०॥

अन्वयः—(हे हंस !) किं भवान् अकाण्डम् एव आत्मभुवा मयि अर्जि-

तस्य रणस्य मूलं भूत्वा अपि अकाण्डम् आत्मभुवा अर्जितस्य वीरणस्य मूलं भूत्वा नलदत्वम् एत्य हृदः चन्दनलेपकृत्यं न कर्ता ? ॥ ९० ॥

व्याख्या—(हे हंस !) विः=पक्षी, भवान्=त्वम्, अकाण्डम् एव= अनवसर एव, आत्मभुवा=कामेन, मयि=मद्विषये, अर्जितस्य=कृतस्य, रणस्य=गाढप्रहारलक्षणस्य युद्धस्य, अथवा रणस्य=शब्दस्य, रहस्यकथनरूपस्येति भावः। मूलं=कारणं, हंसस्योद्दीपनत्वेनेति शेषः। भूत्वा अपि, अकाण्डं= दण्डरहितं यथा तथा, आत्मभुवा=ब्रह्मणा, अर्जितस्य=सृष्टस्य, वीरणस्य= वीरतृणस्य, मूलं=मूलाऽवयवः भूत्वा, अत एव नलदत्वं=नैषधदातृत्वं, पक्षान्तरे=उशीरत्वम्, एत्य=प्राप्य, हृदः=हृदयस्य, सन्तप्तस्येति शेषः। चन्दनलेपकृत्यं=श्रीखण्डलेपनकार्यं शैत्योत्पादनमिति भावः। न कर्ता=न करिष्यति ? कर्ता एवेति भावः॥ ९० ॥

अनुवाद—(हे हंस !) जैसे ब्रह्माजीने दण्डके विना निर्मित वीरतृणका मूल उशीर होकर हृदयको चन्दनके सदृश होकर ठण्डा करता है, वैसे ही पक्षी तुम (हंस) अनवसरमें ही कामदेवसे मुझमें किये गये गाढ प्रहाररूप युद्धके कारण होकर भी नलको देनेके भावको प्राप्त कर कामसन्तप्त हृदयको चन्दनके लेपके समान होकर ठण्डा नहीं करोगे ? ॥ ९० ॥

टिप्पणी—विः="नगौकोवाजिविकिरविविष्किरपतत्रयः" इत्यमरः। अकाण्डं=काण्डस्य अभावः (अव्ययी०) तद्यथा तथा। "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया। दूसरे पक्षमें अविद्यमानः काण्डो यस्य तत् (नञ् बहु०) "मूलम्" इसका विशेषण। "काण्डोऽस्त्री दण्डबाणाऽर्ववर्गाऽवसरवारिषु" इत्यमरः। आत्मभुवा=आत्मना भवतीति आत्मभूः, तेन, आत्मन्-उपपदपूर्वक भू धातुसे "भुवः संज्ञाऽन्तरयोः" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय (उपपद०) "आत्मभूर्ना विधौ कामे" इति मेदिनी। वीरणस्य="स्याद्वीरणं वीरतृणं मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्। अभयं नलदं सेव्यम्" इत्यमरः। वीरणस्य=विर्+रणस्य, "रो रि" इससे रेफका लोप और "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इससे दीर्घ होकर वीरणस्य। नलदत्वं=नलं ददातीति नलदः, नल—उपपदपूर्वक 'दा' धातुसे "आतोऽनुपसर्गे कः" इससे क प्रत्यय (उपपद०)। नलस्य भावो नलदत्वं, तत्, नलद+त्व। एत्य=आङ्+इण्+क्त्वा (ल्यप्) चन्दनलेपकृत्यं=चन्दनस्य लेपः (ष० त०), तस्य कृत्यम् (ष० त०)। कर्ता=कृ+लुट्+तिप्। इस पद्यमें "वीरणस्य" यहाँपर शब्दश्लेष है, अन्यत्र अर्थश्लेष। "नलदत्वम् एत्य"

यहाँपर प्रकृत और अप्रकृतके अभेदाऽध्यवसायसे इसमें आरोप्यमाण उशीरका प्रकृतिके साथ तादात्म्यमें चन्दनकृत्यस्वरूप प्रकृत कार्यमें उपयोग होनेसे परिणाम अलङ्कार है, इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९० ॥

अलं विलम्ब्य, त्वरितुं हि वेला, कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः ।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमर्तिः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) विलम्ब्य अलं, हि त्वरितुं वेला । स्थैर्यसहे कार्ये विचारः किल । हि तीक्ष्णा प्रतिभा गुरूपदेशम् इव अर्तिः जातु कालं न प्रतीक्षते ॥ ९१ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) विलम्ब्य=विलम्बं कृत्वा, अलं=पर्याप्तं, न विलम्ब्यं कर्तव्यं इति भावः । हि=यस्मात्कारणात्, त्वरितुं=त्वरां कर्तुं, वेला=कालः, अयं त्वरायाः कालः इति भावः । स्थैर्यसहे=विलम्बसहे, कार्ये=कर्मणि, विचारः=विमर्शः, किल=निश्चयेन । अर्थान्तरन्यासेनोक्तमर्थं द्रढयति—गुरूपदेशमिति । हि=यस्मात्कारणात्, तीक्ष्णा=तीव्रा, शीघ्रग्राहिणीति भावः । प्रतिभा=प्रज्ञा, गुरूपदेशम् इव=आचार्योपदेशम् इव, अर्तिः=पीडा, जातु=कदाऽपि, कालं=समयं, न प्रतीक्षते=न प्रतीक्षां करोति, पीडा कालक्षेपं न सहत इति भावः ॥ ९१ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) विलम्ब नहीं करना चाहिए, शीघ्रता करनेका यह समय है । विलम्ब सहनेवाले कर्ममें विचार किया जाता है, क्योंकि तीक्ष्ण बुद्धि जैसे गुरुके उपदेशकी प्रतीक्षा नहीं करती हैं, वैसे ही पीडा कालकी प्रतीक्षा नहीं करती है ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—विलम्ब्य=वि+लबि+क्त्वा (ल्यप्), यहाँपर "अलम्" इस पदके योगमें "अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इस सूत्रसे क्त्वा प्रत्यय होकर ल्यप् आदेश हुआ है । त्वरितुं—त्वरा+तुमुन्, यहाँपर "वेला" पदके योगमें "कालसमयवेलासु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन् प्रत्यय हुआ । स्थैर्यसहे=स्थैर्यं सहत इति स्थैर्यसहः, तस्मिन्, स्थैर्य+सह+अच् (उपपद०) । गुरूपदेशं=गुरोरुपदेशः, तम् (ष० त०) । अर्तिः="अर्तिः पीडाधनुष्कोट्योः" इत्यमरः । प्रतीक्षते=प्रति+ईक्ष+लट्+तिप् । इस पद्यमें उपमा और अर्थान्तरन्यासकी संसृष्टि है ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयः स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।
प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥९२॥

अन्वयः—(हे हंस !) गतेन त्वया स राजा शुद्धान्तगतः (सन्) मदर्थं, न अभ्यर्थनीयः। हि तदा प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृतः अन्यवधूनिषेधः उदयेत् ॥९२॥

व्याख्या—अथाऽनन्तरकृत्यं सविशेषमुपदिशति श्लोकपञ्चकेन—अभ्यर्थनीय इति। (हे हंस !) गतेन=यातेन, इत इति शेषः। त्वया=भवता, सः=पूर्वोक्तः, राजा=नृपः, नल इत्यर्थः शुद्धान्तगतः=अन्तःपुरस्थितः सन्, मदर्थं=मत्प्रयोजनं, न अभ्यर्थनीय=न प्रार्थनीयः। हि=यस्मात्कारणात्। तदा=तस्मिन् समये, राज्ञोऽन्तःपुरस्थिताविति भावः। प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्य-बलात्कृतः=वल्लभामुखच्छन्दाऽनुवर्तिताप्रसभीकृतः, अन्यवधूनिषेधः=अपर-रमणीप्रतिषेधः, उदयेत्=उत्पद्येत ॥ ९२ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) यहाँसे गये हुए तुम्हे अन्तःपुर (रनिवास) में रहे हुए राजा (नल) से मेरे लिए प्रार्थना नही करनी चाहिए, क्योंकि उस समय प्यारी स्त्रियोंके सामने उनके मनके अनुसार चलनेके विचारसे जबर्दस्ती-से किया गया दूसरी स्त्रीका निषेध उत्पन्न होगा ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—शुद्धान्तगतः=शुद्धाऽन्तं गतः (द्वि० त०), "शुद्धान्तश्चावरोधश्च" इत्यमरः। मदर्थं=मह्यम् इदं यथा तथा (च० त०)। अभ्यर्थनीयः=अभि+अर्थ+णिच्+अनीयर्। प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृतः=प्रियाणाम् आस्यानि (ष० त०), तेषां दाक्षिण्यं (ष० त०), तेन बलात्कृतः (तृ० त०)। अन्यवधूनिषेधः=अन्या चाऽसौ वधूः (क० धा०), तस्या निषेधः (ष० त०)। उदयेत्=उद्+इ+विधिलिङ्+ति ॥ ९२ ॥

शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम्।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥ ९३ ॥

अन्वयः—(हे हंस) शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते नैषधे इदं कार्यं न निगाद्यम्। अपां तृप्ताय स्वादुः सुगन्धिः तुषारा वारिधारा न स्वदते हि ॥९३॥

व्याख्या—(हे हंस) शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते=अन्तःपुरस्त्रीरमणाऽ-तिशयसन्तुष्टे, नैषधे=नले, इदम्=एतत्, कार्यं=कर्म, मत्प्रार्थनारूपमिति शेषः। न निगाद्यं=नो वक्तव्यम्। तथा हि—अपां तृप्ताय=जलेन सन्तुष्टाय जनाय, स्वादुः=मधुरा, सुगन्धिः=शोभनगन्धा, कर्पूरादिनेति शेषः। तुषारा =शीतला, वारिधारा=जलधारा, न स्वदते हि=नो रोचते हि ॥ ९३ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) अन्तःपुरकी स्त्रीके समागमसे अतिशय तृप्त नलको

यह कार्य (मेरे विषयमें प्रार्थनारूप) तुम्हें नहीं कहना चाहिए। क्योंकि जलसे तृप्त पुरुषको मधुर, खुशबूदार तथा ठण्डी जलधारा भी पसन्द नहीं होती है।

टिप्पणी—शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते=शुद्धान्तस्य सम्भोग (ष० त०), यहाँ शुद्धान्तपदका शुद्धान्तकी स्त्रीमें लक्षणा करना चाहिए। नितान्त यथा तथा तृप्तः (सुप्सुपा०), शुद्धान्तसम्भोगेन नितान्ततृप्त, तस्मिन् (तृ० त०)। निगाद्यम्=निगदितुं योग्यम्, नि+गद+ण्यत्। अत्र "पूरणगुणसुहितार्थ-सदव्ययतव्यसमानाधिकरणे" इस सूत्रमें सुहितार्थक (तृप्त्यर्थक) शब्दसे षष्ठी-समासका निषेधरूप ज्ञापकसे षष्ठी हुई है। तृप्ताय=स्वद' धातु रुच्यर्थक होनेसे "रुच्यर्थानां प्रीयमाण" इस सूत्रसे सम्प्रदान संज्ञा होनेसे चतुर्थी। सुगन्धि=शोभनो गन्धो यस्या सा (बहु०), यहाँपर एकान्त नियमका कविने निरादर कर "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्य" इस सूत्रसे समासान्त इ प्रत्यय किया है। स्वदते=स्वद+लट्+त। इस पद्यमें दृष्टान्त अलङ्कार है॥ ९३॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस!॥ ९४॥

अन्वय—हे हंसकुलावतंस! नैषधस्य हृदि क्रुधा कदुष्णे (सति) मदर्था गिरो न विज्ञापनीया। पित्तेन दूने रसने सिता अपि तिक्तायते॥ ९४॥

व्याख्या—हे हंसकुलावतंस!=हे मरालवंशभूषण! नैषधस्य=नलस्य, हृदि=हृदये, क्रुधा=कोपेन, कदुष्णे=ईषदुष्णे सति, मदर्था=मत्प्रयोजना, गिर=वाच, न विज्ञापनीया=नो वेदनीया। तथाहि पित्तेन=मायुना, पित्तदोषेणेत्यर्थ। रसने=रसनेन्द्रिये, दूने=उपतप्ते दूषिते सतीति भाव। सिता अपि=शर्करा अपि तिक्तायते=तिक्ता भवति॥ ९४॥

अनुवाद—हे हंसवंशके भूषणस्वरूप! नलका हृदय क्रोधसे कुछ तप्त होनेपर मेरे लिए प्रार्थना वचनका निवेदन मत करो, क्योंकि पित्तके दोषसे रसना इन्द्रियके दूषित होनेपर चीनी भी कड़वी हो जाती है॥ ९४॥

टिप्पणी—हंसकुलावतंस=हंसानां कुलं (ष० त०), तस्य अवतंस, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०)। कदुष्णे=ईषत् उष्णं, तस्मिन्, (गति०), "कवं चोष्णे" इस सूत्रमें चकारके पाठसे 'कु' के स्थानमें "कत्" आदेश हुआ है। मदर्था=मदर्थम् इमा (ष० त०)। विज्ञापनीया=वि+ज्ञा+णिच्+अनीयर्+टाप्+जस्। दूने=दु+क्त+ङि। तिक्तायते=तिक्ता भवति, तिक्ता शब्दसे "लोहितादिडाज्भ्य क्यष्" इससे क्यष् प्रत्यय और "वा

क्यषः" इस सूत्रसे क्यषन्तसे आत्मनेपद, लट्+त। इस पद्यमें भी दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्याऽन्तरचुम्बिचित्ते।
तदाऽर्थितस्याऽनवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाऽऽचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) धरातुरासाहि कार्याऽन्तरचुम्बिचित्ते सति मदर्थयाच्ञा न कार्या। (तथा हि) तदा अर्थितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाऽऽचरणस्य मुद्रां बिभर्ति ॥ ९५ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) धरातुरासाहि=महीन्द्रे, नले, कार्यान्तरचुम्बिचित्ते=कर्मान्तरव्यासक्तमानसे सति, मदर्थयाच्ञा=मत्प्रयोजनप्रार्थना, न कार्या=नो विधेया, (तथा हि) तदा=तस्मिन् समये, कार्यान्तरव्यासङ्गकाल इति भावः। अर्थितस्य=प्रार्थितस्य जनस्य, अनवबोधनिद्रा=अज्ञानरूपस्वापः, प्रार्थितार्थज्ञानाऽभावः इति भावः। अवज्ञाऽऽचरणस्य=अनादरकरणस्य, मुद्रां=चिह्नं, बिभर्ति=धारयति, अनादरप्रतीतिं करोतीति भावः ॥ ९५ ॥

अनुवाद—(हे हंस !) पृथ्वीके इन्द्र-(नल) के दूसरे कार्यमें आसक्त होनेके अवसरमें मेरे लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उस समय प्रार्थना किये गये पुरुषका प्रार्थित विषयका अज्ञान, अनादर करनेके चिह्नको धारण करता है ॥ ९५ ॥

टिप्पणी—धरातुरासाहि=तुतोर्त्तीति तुरः, "तुर त्वरणे" धातुसे क प्रत्यय। तुरं (वेगवन्तम्) साहयति (अभिभवति) इति तुराषाट्, तुर-उपपदपूर्वक णिजन्त सह धातुसे क्विप्, "नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ" इससे पूर्वपदका दीर्घ, "सहेः साडः सः" इससे मूर्धन्य षकार। "तुराषाण्मेघवाहनः" इत्यमरः। धरायाः तुराषाट्, तस्मिन् (ष० त०)। ङि विभक्तिमें साड् रूपके न रहनेसे षका अभाव। कार्यान्तरचुम्बिचित्ते=अन्यत् कार्यं कार्यान्तरम् (रूपक०), तत् चुम्बतीति कार्यान्तरचुम्बि, कार्यान्तर+चुबि+णिनिः (उपपद)। तत् चित्तं यस्य सः कार्यान्तरचुम्बिचित्तः, तस्मिन् (बहु०)। मदर्थयाच्ञा=मह्यम् इयं मदर्था (च० त०)। सा चाऽसौ याच्ञा (क० धा०)। कार्या=कृ+ण्यत्+टाप्। अर्थितस्य=अर्थ+णिच्+क्त+ङस्। अनवबोधनिद्रा=न अवबोध (नञ्०), स एव निद्रा (रूपक०)। अवज्ञाऽऽचरणस्य=अवज्ञाया आचरणं, तस्य (ष० त०)। बिभर्ति=भृ+लट्+तिप् ॥ ९५ ॥

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाऽस्मिन्समयं समीक्ष्य।
आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्ध्योः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति ?॥९६॥

अन्वय —(हे हंस !) तस्मात् विज्ञेन त्वया समयं समीक्ष्य इदम् अस्मिन् नरेन्द्रे विज्ञाप्यम्। कार्यस्य आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्ध्योः आर्यस्य का शुभा विभाति ? ॥ ९६ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) तस्मात्=कारणात्, विज्ञेन=विशेषाऽभिज्ञेन, विवेकिना इति भावः। त्वया=भवता समयम्=अवसरं, समीक्ष्य=दृष्ट्वा, इदम्=एतत्कार्यं, मत्प्रार्थनारूपम् इति भावः। अस्मिन्=एतस्मिन्, नरेन्द्रे=राजनि नले, विज्ञाप्यं=विज्ञापनीयम्। समयप्रतीक्षायां विलम्बमाशङ्क्याह—आत्यन्तिकेति। कार्यस्य=कर्मणः, आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्ध्योः=सर्वथाऽसिद्धिदूरसिद्ध्योर्मध्ये, आर्यस्य=सभ्यस्य, विदुष इति भावः। का=कतरा विभाति=प्रतिभाति, अप्रसङ्गविज्ञापने कार्यस्य असाफल्याद्वरं विलम्बेनाऽपि कार्यसाफल्यमिति भावः ॥ ९६ ॥

अनुवाद—(हे हंस) ! इस कारणसे विवेकी तुम्हें अवसर देखकर इस कार्यको राजासे निवेदन करना चाहिए। कार्यकी ऐकान्तिक असफलता और विलम्बसे सफलता इनमेंसे विद्वान् तुम्हें कौन-सी उत्तम प्रतीत होती है ॥९६॥

टिप्पणी—विज्ञेन=वि+ज्ञा+क+टा। समीक्ष्य=सम्+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्)। नरेन्द्रे=नराणाम् इन्द्रः, तस्मिन् (ष० त०), विज्ञाप्य=वि+ज्ञा+णिच्+क्त्वा (यत्)। आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योः=न सिद्धिः असिद्धिः (नञ्०)। आत्यन्तिकी चाऽसौ असिद्धिः (क० धा०), "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" इस सूत्रसे पूर्वपदका पुंवद्भाव। विलम्बेन सिद्धिः (तृ० त०)। आत्यन्तिकाऽसिद्धिश्च विलम्बसिद्धिश्च आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्धी, तयोः (द्वन्द्व०)। आर्यस्य=ऋ+ण्यत्+ङस्। विभाति=वि+भा+लट्+तिप् ॥ ९६ ॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा, साऽनौचिती चेतसि नश्चकास्तु।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥ ९७ ॥

अन्वय —इति उक्तवत्या (तया) यत् लज्जा अलोपि, सा अनौचिती न चेतसि चकास्तु, तु तददोषतायां स्मरः साक्षी। यः ताम् उन्माद्य तत् तत् अवीवदत् ॥ ९७ ॥

व्याख्या—इति=इत्थम्, उक्तवत्या=कथितवत्या, भैम्येति शेषः, यत्

लज्जा=व्रीडा, अलोपि=त्यक्ता, सा=तादृशी, अनौचिती=अनौचित्यं, नः=अस्माकं, शृण्वतामिति शेषः। चेतसि=चित्ते, चकास्तु=प्रकाशताम्। तु=किन्तु, तददोषतायां=भैमीनिर्दोषितायां, लज्जात्यागस्येति शेषः। स्मरः=कामः, साक्षी=साक्षाद्द्रष्टा, प्रमाणमिति भावः। यः=स्मरः, तां=दमयन्तीम्, उन्माद्य=उन्मत्तां कृत्वा, तत् तत्=अनुचितं वचनम्, अवीवदत्=वादितवान्। लज्जात्यागः प्रकृतिस्थाया एव कुमार्या दोषो न तु कामोपहतचित्ताया इति भावः॥ ९७॥

अनुवाद—ऐसा कहनेवाली दमयन्तीने जो लज्जाका त्याग किया, वह भले ही हमारे चित्तमें अनौचित्य प्रकाशित हो, परन्तु दमयन्तीकी निर्दोषितामें कामदेव साक्षी है, जिसने उनको उन्मत्त बनाकर ऐसा भाषण कराया॥९७॥

टिप्पणी—उक्तवत्या=ब्रू (वच्) क्तवतु+ङीप्+टा। अलोपि=लुप्+लुङ्+त (कर्ममें)। अनौचिती=उचितस्य भाव औचिती, उचित+ष्यञ्, "हलस्तद्धितस्य" इससे यकारका लोप और "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष्। एक पक्षमें 'औचित्यम्" ऐसा रूप भी होता है। न औचिती (नञ्०)। चकास्तु=चकासृ+लोट्+तिप्। तददोषतायाम्=अविद्यमाना दोषो यस्य सः अदोषः (नञ् बहु०), अदोषस्य भावः अदोषता, अदोष+तल्+टाप्। तस्य (लज्जात्यागस्य) अदोषता, तस्याम् (ष० त०)। ताम्=वद् धातुके पूर्व कर्तृपदका णिच् होनेपर कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया। उन्माद्य=उद्+मद्+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। अवीवदत्=वद्+णिच्+चङ्+लुङ्+तिप्॥९७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमां मुदमुद्वहेते।
पूर्वः स्मरस्पर्द्धितया प्रसूनं नूनं द्वितीयो विरहाऽधिदूनम्॥ ९८॥

अन्वयः—पूर्वः हरः स्मरस्पर्द्धितया उन्मत्तं प्रसूनं, द्वितीयः स्मरश्च विरहाऽधिदूनम् उन्मत्तम् आसाद्य (इत्थम्) द्वौ अपि असीमां मुदम् उद्वहेते॥ ९८॥

व्याख्या—स्मरेण सा किमर्थमुन्मादितेति प्रश्नस्य सदृष्टान्तमुत्तरमाह—उन्मत्तमिति। पूर्वः=प्रथमः, अभ्यर्हित इति भावः। हरः=महेश्वरः, स्मरस्पर्द्धितया=कामसङ्घर्षित्वेन, उन्मत्तम्=उन्मत्तनामकं, प्रसूनं=पुष्पं, धत्तूरमिति भावः, द्वितीयः=अपरः, स्मरश्च=कामश्च, विरहाऽधिदूनं=वियोगमनोव्यथोपततम्, उन्मत्तम्=उन्मादयुक्तं जनम्, आसाद्य=प्राप्य, इत्थं च द्वौ अपि=उभौ अपि, हरस्मरावपीति भावः। असीमां=सीमारहिताम्, अपरिमितामिति भावः, मुदं=हर्षम्, उद्वहेते=धारयतः॥ ९८॥

अनुवाद—प्रथम महेश्वर, कामदेवसे स्पर्धा करनेसे उन्मत्त नामक फूल-(धतूर) को और दूसरा कामदेव भी विरहकी मनोव्यथासे सन्तप्त उन्मत्त (उन्मादयुक्त, पागल) को पाकर, इस तरह दोनो ही असीम हर्षको धारण करते हैं ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—हर = हृ + अच। स्मरस्पर्धितया = स्मरं स्पर्धते तच्छील स्मरस्पर्धी, स्मर + स्पर्ध + णिनि (उपपद०)। स्मरस्पर्धिनो भाव स्मर-स्पर्धिता, तया, स्मरस्पर्धि + तल् + टाप् + टा। उन्मत्तम् = उद् + मद् + क्त + अम्। "उन्मत्त उन्मादवति धुस्तूरमुचुकुन्दयो" इति विश्व। द्वितीय = द्वि + तीय + सु। विरहाऽधिना = विरहेण आधि (तृ० त०), तेन दून, तम् (तृ० त०)। आसाद्य = आङ् + सद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। असीमाम् = अविद्यमाना सीमा यस्या सा असीमा, ताम् (नञ् बहु०)। उद्वहेते = उद् + वह + लट् + आताम्। स्वरितकी इत्संज्ञा होनेसे वह धातु आत्मनेपदी भी है। इस पद्यमे शब्दश्लेष और अर्थश्लेष भी है और उनसे उपमा व्यङ्ग्य होती है ॥ ९८ ॥

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्रीं निर्णीय तां नैषधबद्धरागाम्।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूय ॥ ९९ ॥

अन्वय—अथ तथा अभिधात्री सा राजपुत्री नैषधबद्धरागा निर्णीय तेन विहायसा विहस्य भूय चञ्चूपुटमौनमुद्रा अमोचि ॥ ९९ ॥

व्याख्या—अथ = अनन्तर, तथा = तेन प्रकारेण, अभिधात्री = भाषमाणा, "श्रुत स दृष्टश्च ३ ८३" इत्यादिरूपेणेति भाव। तां = पूर्वोक्ता, राजपुत्री = नृपकुमारी दमयन्तीम्। नैषधबद्धरागां = नले कृतप्रणया, निर्णीय = निश्चित्य, तेन = पूर्वोक्तेन, विहायसा = पक्षिणा, हंसेन। विहस्य = हास्य विधाय, भूय = पुनरपि, चञ्चूपुटमौनमुद्रा = त्रोटिपुटतूष्णीकत्वचिह्न, वचनाऽभाव इति भाव। अमोचि = मुक्ता, पुनरपि हंसोऽवादीदिति भाव ॥ ९९ ॥

अनुवाद—उस वैसा करनेवाली उस राजपुत्री (दमयन्ती) को नलमे प्रेम करनेवाली निश्चय करके उस पक्षी-(हंस) ने हँसकर फिर मौनको भङ्ग किया (बोलने लगा) ॥ ९० ॥

टिप्पणी—अभिधात्रीम् = अभिदधातीति अभिधात्री, ताम्, अभि + धा + तृच् + ङीप् + अम्। राजपुत्री = राज पुत्री, ताम् (ष० त०), नैषधबद्धरागा = बद्धो रागो यया सा बद्धरागा (बहु०)। नैषधे बद्धरागा, ताम् (स० त०)।

निर्णीय=निर्+णीञ्+क्त्वा (ल्यप्)। विहायसा="विहायाः शकुने पुंसि गगने पुंनपुंसकम्" इति कोशः। विहस्य=वि+हस्+क्त्वा (ल्यप्)। चञ्चूपुटमौनमुद्रा=चञ्च्वोः पुटम् (ष० त०), मौनस्य मुद्रा (ष० त०)। चञ्चूपुटस्य मौनमुद्रा (ष० त०)। अमोचि=मुच्+लुङ्+त (कर्ममें)। इस पद्यमें "उक्तम्" इस पदार्थके लिए "अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा" ऐसे वाक्यार्थ की रचना होनेसे 'ओज' नामका गुण और छेक अनुप्रास है ॥ ९९ ॥

इत्थं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन्।
त्वामुच्चकैस्तापयता नृपं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—हे क्ष्मापतिपुत्रि ! इदं तत्त्वं यदि, तत् अस्मिन् स्वविधेयं न पश्यामि। त्वां नृपं च उच्चकैः तापयता पञ्चेषुणा एव इयं योजना अजनि ॥ १०० ॥

व्याख्या—हे क्ष्मापतिपुत्रि !=हे राजकुमारि ! इदं=त्वदुक्तं वचनं, तत्त्वं यदि=सत्यं चेत्, तत्=तर्हि, अस्मिन्=इह विषये। स्वविधेयं=आत्मकृत्यं, न पश्यामि=नो विलोकयामि। तर्हि कार्यं कथं भविष्यतीत्यत्राह–त्वामिति। त्वां=भवतीं, नृपं च=नैषधं च, उच्चकैः=अत्यन्तं, तापयता=सन्तापं जनयता, पञ्चेषुणा एव=मन्मथेन एव, इयम्=एषा, योजना=घटना, अजनि=उत्पादिता, अत एव, मद्व्यापारोऽत्र नाऽवशिष्यत इति भावः ॥ १०० ॥

अनुवाद—हे राजकुमारि ! आपका वचन सत्य हो तो इस विषयमें मैं अपना कार्य नहीं देख रहा हूँ, क्योंकि आपको और नलको अत्यन्त सन्तप्त करनेवाले कामदेवने ही इस योजनाको उत्पन्न किया है ॥ १०० ॥

टिप्पणी—हे क्ष्मापतिपुत्रि=क्ष्मायाः पतिः (ष० त०), तस्य पुत्री, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०)। स्वविधेयं=स्वस्य विधेयं, तत् (ष० त०)। उच्चकैः=उच्चैरेव, उच्चैस्+अकच्। तापयता=तप्+णिच्+लट् (शतृ)+टा। पञ्चेषुणा=पञ्च इषवो यस्य स पञ्चेषुः, तेन (बहु०)। अजनि=जन्+लङ् +च्लि (चिण्)+त (कर्ममें) ॥ १०० ॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) त्वद्बद्धबुद्धेः तस्य उपवासव्रतिनां तपोभिः अद्य त्वां लब्ध्वा अमृततृप्तिभाजां बहिरिन्द्रियाणां स्वं देवभूयं चरितार्थम् अस्तु ॥ १०१ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) त्वद्बद्धबुद्धे =भवन्निबद्धमते , त्वामेव ध्यायत इति भाव । तस्य=नलस्य, उपावासव्रतिनाम्=अनुपभोगव्रतयुक्ताना, विषयान्तरव्यावृत्तानामिति भाव । तपोभि =उक्तोपवासव्रतरूपै पुण्यै , अद्य= अस्मिन्दिने, त्वा=भवती, लब्ध्वा=प्राप्य, अमृततृप्तिभाजा=पीयूषसौहित्ययुक्ताना, बहिरिन्द्रियाणा=चक्षुरादीना, स्व=स्वीय, देवभूय=देवत्वम्, इन्द्रियत्व सुरत्व च, चरितार्थं=कृतकार्य, सफलमिति भाव । अस्तु=भवतु, अमृतपानैकफलत्वाद् देवभावो भवेदिति भाव ॥ १०१ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारि ! आपका ही ध्यान करनेवाले नलके उपवास व्रत करनेवाले तथा तपस्याओंसे आज आपको प्राप्त करके अमृतपानसे मिलनेवाली तृप्तिको प्राप्त करनेवाले नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंका अपना देवत्व सफल हो ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—त्वद्बद्धबुद्धे =बद्धा बुद्धिर्येन स बद्धबुद्धि (बहु०), त्वयि बद्धबुद्धि , तस्य (स० त०) । उपवासव्रतिनाम्=उपवासेन व्रतिन , तेषाम् (तृ० त०) । लब्ध्वा=लभ्+क्त्वा । अमृततृप्तिभाजाम्=अमृतेन तृप्ति (तृ० त०), ता भजन्तीति अमृततृप्तिभाञ्जि, तेषाम्, अमृततृप्ति+भज्+ण्वि+आम् (उपपद०) । बहिरिन्द्रियाणा=बहि स्थितानि इन्द्रियाणि, तेषाम् (मध्यमपद०) । देवभूय=देवस्य भाव , "भुवो भावे" इस सूत्रसे क्यप्, देव+भू+क्यप् । "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" (ऐत० २।४) इस श्रुतिवाक्यसे अर्थात् सूर्यने चक्षु होकर नेत्रोंमें प्रवेश किया । इसके अनुसार यह उक्ति है । चरितार्थम्=चरित अर्थं यस्य तत् (बहु०) । अस्तु=अस्+लोट्+तिप् ॥ १०१ ॥

तुल्याऽऽवयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं साऽस्य न ताप्यतेऽपि ।
इत्यभ्यसूयन्निव देहताप तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

अन्वय—आवयो मूर्ति तुल्या अभूत्, पर मदीया दग्धा, अस्य सा न ताप्यतेऽपि, इति असूयन् इव अतनु त्वद्विरहात् तस्य देहताप विधत्ते ॥ १०२ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) आवयो =नलस्य मम च, मूर्ति =तनु , तुल्या=सदृशी, समानरूपा इति भाव । अभूत्=जाता, पर=किन्तु, मदीया= मामकीना मूर्ति , दग्धा =भस्मीकृता, हरतृतीयनयनेनेति शेष । अस्य=नलस्य, सा=मूर्ति , न ताप्यतेऽपि=तापम् अपि न प्राप्यते, दाहस्य का कथेति शेष । इति=अस्मात् कारणात्, असूयन् इव=ईर्ष्यन् इव, अतनु =अनङ्ग काम ।

त्वद्विरहात् = भवत्या वियोगात्, तस्य = नलस्य, देहतापं = शरीरसन्तापं, विधत्ते = करोति ॥ १०२ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) हम दोनोंके (नलके और मेरे) शरीर समान थे, परन्तु मेरा शरीर जलाया गया, नलका शरीर तापको भी प्राप्त नहीं कर रहा है, इस कारणसे मानो ईर्ष्या करता हुआ अनङ्ग (कामदेव) आपके वियोगसे नलके शरीरमें ताप कर रहा है ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—अवायोः = अहं च नलश्च आवा, तयोः "त्यदादीनि सर्वैनित्यम्" इस सूत्रसे एकशेष। मूर्तिः = "मूर्तिः काठिन्यकाययोः" इत्यमरः। तुल्या = तुलया सम्मिता, "नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्रसे यत्, तुला + यत् + टाप्। मदीया = मम इयम्, अस्मद् (मत्) + छ (ईय) + टाप्। दग्धा = दह + क्त + टाप्। ताप्यते = तप + णिच् + लट् (कर्ममें) + यक् + त। अभ्यसूयन् = अभ्यसूयतीति, अभिपूर्वक "असूञ् उपतापे" इस कण्ड्वादि धातुसे "कण्ड्वादिभ्यो यक्" इस सूत्रसे यक्, अभि + असूञ् + यक् + लट् (शतृ) + सु। अतनुः = अविद्यमाना तनुः यस्य सः (नञ् बहु०)। त्वद्विरहात् = तव विरहः, तस्मात् (ष० त०)। देहतापं = देहस्य तापः, तम् (ष० त०)। विधत्ते = वि + धा + लट् + त। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०२ ॥

लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम्।
चक्षुर्जलैरार्जितमात्मचक्षूरागं स धत्ते रचितं त्वया नु ? ॥१०३॥

अन्वयः—(हे भैमि !) स नृपः भित्तिविभूषणं लिपिं त्वा दृशा आदरनिर्निमेषं पिबन् चक्षुर्जलैः आर्जितं त्वया नु रचितम् आत्मचक्षूरागं धत्ते ॥१०३॥

व्याख्या—अथ कामस्य दशाऽवस्था वर्णयन् पद्यद्वयेन नयनप्रीतिं वर्णयति—(हे भैमि !) सः पूर्वोक्तः, नृपः = राजा नलः, भित्तिविभूषणं = कुड्याऽलङ्कारभूतां, लिपिं = चित्रमयीं, त्वां = भवतीं, दृशा = नेत्रेण, आदरनिर्निमेषम् = आस्थया निमेषव्यापाररहितं यथा तथा, पिबन् = पानं कुर्वन्, प्रणयाऽतिशयेन पश्यन्निति भावः। चक्षुर्जलैः = नयनसलिलैः, अश्रुभिरिति भावः। आर्जितम् = उपार्जितं, त्वया नु = भवत्या वा, रचितं = निर्मितम्, आत्मचक्षूरागं = स्वनयनलौहित्यं निजनेत्रप्रणयं च, धत्ते = धारयति ॥ १०३ ॥

अनुवाद—(हे भैमि !) वे राजा (नल) दीवालकी अलङ्कारस्वरूप चित्रमयी आपको नेत्रोंसे आदरपूर्वक पलक भी न झुकाकर देखते हुए आँसू

उपार्जित वा आपसे रचित अपने नेत्रोंकी अरुणता (लाली) और प्रेमको धारण करते हैं ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—अब हम नलकी कामसे उत्पन्न दश अवस्थाओंका वर्णन करता है। दश अवस्थाएँ ये हैं—

> 'नयनप्रीतिः प्रथमं, चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः ।
> निद्राच्छेदस्तनुता, विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ॥
> उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ।"

अर्थात् नेत्रप्रीति, चित्तकी आसक्ति, सङ्कल्प, निद्राका नाश, कृशता, विषयोंकी निवृत्ति, लज्जाका नाश उन्माद (पागलपन) मूर्च्छा और मरण—ये दश कामकृत अवस्थाएँ है। पहले दो श्लोकोंसे नेत्रप्रीतिका वर्णन करता है। भित्तिविभूषण=भित्ते विभूषणं, तत् (ष० त०)। आदरनिर्निमेष=निर्गता निमेषा (निमेषव्यापाराः) यत्र, (बहु०)। आदरेण निर्निमेषम् (तृ० त०, क्रि० वि०)। पिवन्=पा+लट् (शतृ)+सु। चक्षुर्जलं=चक्षुषोर्जलानि, तै (ष० त०)। आत्मचक्षूरागम्=आत्मनः चक्षुः (ष० त०), तस्य रागः, तम् (ष० त०)। "राग" पदके यहाँपर दो अर्थ हैं—एक अरुणता (लाली), दूसरा अनुराग (प्रेम)। धत्ते=धा+लट्+त। इस पद्यमें राजाके नेत्रका राग निर्निमेष दृष्टिसे देखनेसे हुआ है अथवा आपसे रचित है, ऐसा सन्देह होनेसे "सन्देह" अलङ्कार है ॥ १०३ ॥

> पातुर्दृशाऽऽलेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयाऽस्ति ।
> ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः ॥१०४॥

अन्वयः—(हे राजकुमारि !) अस्तनिमीलया दृशा आलेख्यमयीं त्वाम् आदरात् पातुः नृपस्य नेत्रवृत्तेः प्रीतेः निमेषच्छिदया अश्रुणि विवादः अस्ति ।

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) अस्तनिमीलया=निमेषरहितया, दृशा=नेत्रेण, आलेख्यमयीं=चित्रस्थितां, त्वा=भवतीम्, आदरात्=प्रणयात्, पातुः=पानकर्तुः, द्रष्टुरिति भावः। तादृशस्य नृपस्य=राज्ञः नलस्य, नेत्रवृत्तेः=नयनवर्तिन्याः, प्रीतेः=प्रणयस्य, नेत्रप्रणयस्य, निमेषच्छिदया=निमेषच्छेदेन सह, अश्रुणि=नेत्रजले विषये, विवादः=कलहः, अस्ति=वर्तते ॥ १०४ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) पलक न मारनेवाले नेत्रसे चित्रमें स्थित आपको आदरसे देखनेवाले राजाके नेत्रोंमें रहनेवाली प्रीतिका नेत्रोंमें रहनेवाले निमेषविच्छेदके साथ आँसूके विषयमें कलह होता है ॥ १०४ ॥

टिप्पणी—पूर्व पद्यमे वर्णित विषयको दूसरे रूपसे कहते है। अस्तनिमी·लया=अस्तो निमीलो यस्याः सा अस्तनिमीला, तया (बहु०)। आलेख्य·मयीम्=आलेख्य+मयट् (स्वरूप अर्थमें)+ङीप्+अम्। पातुः=पिवतीति पाता, तस्य, पा+तृच्+ङस्। नेत्रवृत्तेः=नेत्रयोः वृत्तिः यस्याः सा नेत्रवृत्तिः, तस्याः (व्यधिकरण बहु०)। प्रीतेः=प्री+क्तिन्+ङस्। निमेषच्छिदया= छेदनं छिदा, "छिदिर् द्वैधीकरणे" धातुसे भिदादिगणमें पाठ होनेसे "षिद्भिदा·दिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ् प्रत्यय, टाप्। निमेषस्य छिदा, तया (ष० त०)। विवादः=विरुद्धो वादः (गति०)। इस पद्यका तात्पर्य यह है कि हे राज·कुमारि ! निर्निमेष दृष्टिसे आपके चित्रको देखनेपर राजाको जो आँसू आ गया, उसके विषयमें नेत्रप्रीति और नेत्रविच्छेदका परस्पर मेरे कारण आँसू आया है, ऐसा कहकर विवाद होता है। यह नेत्रप्रीतिरूप कामदशाका वर्णन है ॥१०४॥

त्वं हृद्गता भैमि ! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयास्यगत्या।
न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥१०५॥

अन्वयः—हे भैमि ! त्वं वहिर्गता अपि हृद्गता। कया गत्या अस्य प्राणा·यिता न असि। (किन्तु) तत्र चित्रं चित्तं न आक्रामति। यत् एतन्मनो भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

व्याख्या—अथ मनःसङ्गमाह—हे भैमि !=हे दमयन्ति ! त्वं=भवती, वहिर्गता अपि=बाह्यदेशयाता अपि, हृद्गता=अन्तर्गता, कया गत्या=केन प्रकारेण, अस्य=नलस्य, प्राणायिता=प्राणसमा, न असि=न भवसि, भवस्ये·वेत्यर्थः। अतः प्राणोऽपि नासिकया=नासिकाद्वारेण, आस्यगत्या=मुखद्वारेण उच्छ्वासनिःश्वासरूपेण वहिर्गतोऽपि अन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः। (किन्तु) तत्र=तस्मिन्, प्राणायितत्वे इति भावः। चित्रम्=आश्चर्यरसः, चित्तं= मनः, न आक्रामति=न उत्क्रम्य गच्छति, अत्र न किञ्चिच्चित्रमिति भावः। कुतः ? यत्=यस्मात् कारणात्, एतन्मनः=नलचित्तं, भवदेकवृत्ति=त्वदेकाऽव·स्थानम् ॥ १०५ ॥

अनुवाद—हे भैमि। आप बाहर रहनेपर भी नलके चित्तके भीतर गयी हुई हैं। कैसे आप नलके प्राणके समान नही हैं ? उनमे प्राणके समान होनेपर आश्चर्यरस चित्तको नही छोड़ता है। जिस कारणसे कि नलका मन आपमें ही अवस्थित है ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—हे भैमि=भीमस्य अपत्यं स्त्री भैमी, तत्सम्बुद्धौ, भीम+

अण् + ङीप् । हृद्गता = हृत् गता (द्वि० त०), "स्वान्त हृन्मानस मन" इत्यमर । प्राणायिता=प्राणवदाचरिता, 'प्राण' शब्दसे "कर्तुं क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे क्यङ होकर क्त + टा । आस्यगत्या = आस्यस्य गति , तया (ष० त०) । एतन्मन = एतस्य मन (ष० त०) । भवदेकवृत्ति = एका वृत्तिर्यस्मि-स्तत् (बहु०) । भवत्याम् एकवृत्ति (स० त०) । 'भवती' शब्दका "सर्व-नाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव" इससे पुंवद्भाव । इस पद्यमे विरोधाभास, शब्द-श्लेष और उपमाका सङ्कर है ॥ १०५ ॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम् ।
श्वासान् स वर्षत्यधिक पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य ॥ १०६ ॥

अन्वय —(हे भैमि !) दूरदीर्घां तदीया सङ्कल्पसोपानततिम् (त्वम्) अजस्र आरोहसि । यत् पुन स नल तव ध्यानात् तदा त्वन्मयताम् अवाप्य अधिक श्वासान् वर्षति ॥ १०६ ॥

व्याख्या—अथ द्वाभ्या सङ्कल्पावस्थामाह—(हे भैमि !) दूरदीर्घाम् = अत्यन्तायता, तदीया = नलसम्बन्धिनी, सङ्कल्पसोपानततिं = मनोरथारोहण-पङ्क्ति, त्वम्, अजस्र = निरन्तरम्, आरोहसि = अधिरोहसि, "कथ भैमी प्राप्नुया प्राप्ताया तस्यामहमेव करिष्यामीत्यादिक नलो विचारयतीति" भाव । यत् पुन = भूय , स = पूर्वोक्त , नल = नैषध , तव = भवत्या , ध्यानात् = चिन्तनात्, तदा = चिन्तनसमये, त्वन्मयता = त्वदात्मकत्वम्, अवाप्य = प्राप्य, अधिक = प्रचुर, यथा तथा, श्वासान् = नि श्वासान्, वर्षति = मुञ्चति ॥ १०६ ॥

अनुवाद—(हे भैमि !) नलके अत्यन्त दीर्घ मनोरथोकी सीढियोमे आप निरन्तर चढती रहती हैं । फिर वे नल आपके चिन्तनसे उस समय आपके स्वरूपको प्राप्त कर लम्बे श्वासोको छोडते हैं ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—दूरदीर्घा = दूर दीर्घा, ताम् (सुप्सुपा०) । तदीया = तस्येय, ताम् तद् + छ (ईय) + टाप् + अम् । सङ्कल्पसोपानतति = सङ्कल्पा एव सोपानानि (रूपक०) । "सङ्कल्प कर्म मानसम्" इति "आरोहण स्यात्सोपा-नम्" इति चाऽमर । सङ्कल्पसोपानाना तति , ताम् (ष० त०) । आरोहसि = आङ् + रुह + लट् + सिप् । त्वन्मयता = त्वमेव स्वरूप यस्य स त्वन्मय , युष्मद् (त्वद्) + मयट् (स्वार्थमें) । त्वन्मयस्य भावस्त्वन्मयता, ताम्, त्वन्मय + तल् + टाप् + अम् । आप्य = आङ् + आप् + क्त्वा (ल्यप्) । वर्षति = वृष + लट् + तिप् । इस पद्यमे सङ्कल्पसोपानमे आरोहणरूप कारणता दमयन्तीमे है

और श्वासवर्पणरूप कार्यता नलमें है, अतः दोनों विषयोंमें भिन्न-भिन्न अधिकरण होनेसे असङ्गति अलङ्कार है और तादात्म्यमें उत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारों का सङ्कर है ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य यां मन्त्रयते रहस्त्वां तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत् ।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

अन्वयः—तस्य हृद् यां त्वां रहो मन्त्रयते, तां त्वां मुखं व्यक्तम् आमन्त्रयते । सा तन्मुखस्य तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचिती खलु ॥ १०७ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) तस्य = नलस्य, हृद् = हृदयं, यां, त्वां = भवतीं, रहः = एकान्ते, मन्त्रयते = सम्भाषते । तां = तादृशीं, त्वां = भवतीं, मुखं = नलस्य आननं, व्यक्तं = प्रकाशम्, आमन्त्रयते = उच्चारयति, "हे प्रिये ! कुत्र गच्छसि, त्वां चिन्तयन्तं मां पश्ये"ति कथयतीति भावः । सा = तद्रहस्यप्रकाशनक्रिया, तन्मुखस्य = नलमुखस्य, तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचिती = नलशत्रुमदनसुहृदिन्दुमैत्र्यौचित्यम्, खलु = निश्चयेन ॥ १०७ ॥

अनुवाद—नलका हृदय जिन आपसे एकान्तमें मन्त्रणा करता है, उन आपसे नलका मुख स्पष्टरूप-(प्रकाशरूप) से भाषण करता है, वह रहस्यप्रकाशनकी क्रिया नलके शत्रु कामदेवके मित्र चन्द्रसे मित्रताके औचित्यके अनुसार है ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—रहः = "रहश्चोपांशु चाऽलिङ्गे" इत्यमरः । मन्त्रयते = "मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे" धातुसे णिच् होकर लट् + त । सा = विधेय "तद्वैरि···सख्यौचिती" की प्रधानतासे यह स्त्रीलिङ्गता है । तन्मुखस्य=तस्य मुखं, तस्य (ष० त०) । तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचिती=तस्य वैरी (ष० त०) । पुष्पाणि आयुधानि यस्य सः (बहु०) । तद्वैरी चाऽसौ पुष्पायुधः (क० धा०) । तस्य मित्रं (ष० त०), तेन सख्यम् (तृ० त०) । तस्य औचिती (ष० त०) । हृदयसे की गयी गुप्त मन्त्रणाको मुखके प्रकाश करनेका यह भाव है कि नलके वैरी कामदेवके मित्र चन्द्र हैं, उनके साथ नलके मुखकी मैत्री होनेसे (सादृश्यके कारण) मित्रके शत्रुका भेद-प्रकाश करना उचित ही है, यह भाव है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०७ ॥

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती ।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥१०८॥

अन्वय —रात्रौ शय्याम् अधिशय्य स्थितस्य तस्य मनो मोहे निमज्जयन्ती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वत् ऋते अङ्गना वा अधुना न ॥

व्याख्या – अर्धेन पद्येन निद्राच्छेद विषयनिवृत्तिं चाह—स्थितस्येति। रात्रौ=निशायां, शय्यां=पर्यङ्कम्, अधिशय्य=शयित्वा, स्थितस्य=विद्यमानस्य, तस्य=नलस्य, मनः=मानसं, मोहे=वैचित्ये, सुखपारवश्य इति भावः। निमज्जयन्ती=प्रापयन्ती सती या, आलिङ्ग्य=आश्लिष्य, लोचने=नेत्रे, चुम्बति=तत्र सम्बन्धं करोति, सा=तादृशी, निद्रा=स्वापक्रिया, त्वत्=भवत्या, ऋते=विना, अङ्गना वा=नायिका वा, अधुना=इदानीं, न=नास्ति, रात्रौ नलस्य निद्रा त्वां विना काऽपि नायिका च न वर्तत इति भावः। अत्र निद्रानिषेधाज्जागर अन्यस्या अङ्गनाया निषेधाद्विषयनिवृत्तिश्चोक्ता ॥

अनुवाद – (हे राजकुमारी !) रातमें पलंगपर लेटनेवाले नलके मनको मोहमें डालती हुई जो आलिङ्गन कर नेत्रोंको चूमती है, वह निद्रा अथवा आपके सिवाय कोई स्त्री अभी नहीं है ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—शय्याम्="अधिशय्या" अधि-पूर्वक शीङ् धातुके योगमें 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" इस सूत्रसे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया। अधिशय्य=अधि+शीङ्+क्त्वा (ल्यप्)। निमज्जयन्ती=नि+मस्ज+णिच्+लट् (शतृ)+ङीप्+सु। चुम्बति=चुबि+लट्+तिप्। त्वत्="ऋते" इस पदके योगमें "अन्यारादितरर्ते०" इस सूत्रसे पञ्चमी। इस पद्यमें प्रस्तुत निद्रा और अङ्गनाका चुम्बन आदि धर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है ॥ १०८ ॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥ १०९ ॥

अन्वय —(हे भैमि !) अयं स्मरेण बाणैः निस्तक्ष्य वृथा एव लावण्यशेषां कृशताम् अनायि। (अयम्) अनङ्गताम् आप्यमानोऽपि तेन सार्धं स्पर्धां न विजहाति ॥ १०९ ॥

व्याख्या—अत्र नलस्य तनुताम् (कार्श्याऽवस्थाम्) आह—स्मरेणेति। (हे भैमि !) अयं=नलः, स्मरेण=कामदेवेन, बाणैः=शरैः निस्तक्ष्य=निशाय्य, वृथा एव=व्यर्थम् एव, लावण्यशेषां=सौन्दर्याऽवशेषां, कृशतां=तनुताम्, अनायि=प्रापितः। वृथात्वं व्यनक्ति—अनङ्गतामिति। अनङ्गता=

कृशाऽङ्गताम्, आप्यमानोऽपि=नीयमानोऽपि, तेन=स्मरेण, सार्धं=समं, स्पर्धां =सङ्घर्षं, शाम्यमिति भावः। न विजहाति=न परित्यजति। अङ्गस्य कार्श्येऽपि स्पर्धाबीजलावण्यस्य कार्श्याऽभावादङ्गकर्शनं वृथैवेति भावः॥ १०९॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) नलको कामदेवने बाणोसे भेदन कर सौन्दर्यमात्र शेष रखकर कृश बना डाला। (परन्तु) वे (नल) अनङ्ग (कृश) होकर भी उन-(कामदेव) के साथ (लावण्यमें) सङ्घर्षको नही छोड़ रहे हैं॥ १०९॥

टिप्पणी—इस पद्यमें नलकी तनुता (कृश अवस्था) का वर्णन है। निस्तक्ष्य=निस्-उपसर्गपूर्वक "तक्ष त्वचने" धातुसे क्त्वाके स्थानमें ल्यप्। लावण्यशेषां=लावण्यम् एव शेषो यस्याः सा, ताम् (बहु०)। कान्तिविशेष-को "लावण्य" कहते है, उसका लक्षण है—

"मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥"

अर्थात् जैसे मोतीमें तरलता दिखाई पड़ती है, वैसे ही अङ्गोमें जो तरलता प्रतीत होती है, उसे "लावण्य" कहते है। कृशतां=कृश+तल्+टाप्+अम्। अनायि=नी+लुङ् (कर्ममें)+त। अनङ्गताम्=अविद्यमानम् अङ्गं यस्य सः (नञ्बहु०), तस्य भावः तत्ता, ताम्। अनङ्ग+तल्+टाप्+अम्। यहांपर नञ् अल्पाऽर्थक है। आप्यमानः=आप्+लट् (कर्ममें) (शानच्) यक्+मु। तेन="सार्धम्"के योगमें तृतीया। विजहाति=वि+हा+लट्+तिप्। कामदेवने नलके सौन्दर्यसे क्रुद्ध होकर उन्हें बाणोसे भेदन कर अत्यन्त कृश बना डाला, तो भी सौन्दर्यमात्र शेष होकर भी नल कामदेवके साथ स्पर्धा नही छोड़ रहे हैं, यह इस पद्यका भावार्थ है। इस पद्यमें विशेषोक्ति अलङ्कार है॥ १०९॥

त्वत्प्रापकात् त्रस्यति नैनसोऽपि, त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत्।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ?॥ ११०॥

अन्वयः—(हे भैमि !) स्मरेण तीक्ष्णैः बाणैः अतितक्ष्य अस्य स्वभावोऽपि कियान् अपि लूनः किम् ? यत् त्वत्प्रापकात् एनसः अपि न त्रस्यति, त्वयि दास्ये अपि न लज्जते एव॥ ११०॥

व्याख्या—अथ द्वाभ्यां पद्याभ्यां लज्जात्यागमाह—(हे भैमि !) स्मरेण= कामदेवेन, तीक्ष्णैः=निशितैः, बाणैः=शरैः, अतितक्ष्य=भृशं तनूकृत्य, शरीर-

मिति शेष । अस्य=नलस्य, स्वभावोऽपि=पापभीरुत्वादिरूपा प्रकृतिरपि, कियान् अपि=अल्प अपि, लून कि=छिन्न किम् ? यत्=यस्मात् कारणात्, त्वत्प्रापकात्=त्वत्प्राप्तिसाधनात् । एनस अपि=पापात् अपि, न त्रस्यति=नो बिभेति, एव च—त्वयि=भवत्या, दास्ये अपि=दासकर्मणि अपि, न लज्जते एव=नो जिह्रेति एव, स इति शेष ॥ ११० ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) कामदेवने तीखे बाणोसे अत्यन्त भेदन कर नलके स्वभावको भी कुछ छिन्न कर दिया है क्या ? जो कि नल आपको पानेके साधनभूत पापसे भी नही डरते हैं और आपके दासभावमे भी लज्जित नही हो रहे हैं ॥ ११० ॥

टिप्पणी—लना=लूञ्+क्त+सु । त्वत्प्रापकात्=तव प्रापक, तस्मात् (ष० त०) । एनस =त्रसी धातुके योगमे "भीत्रार्थानां भयहेतु" इससे अपादानसंज्ञक होकर पञ्चमी । त्रस्यति="त्रसी उद्वेगे" धातुसे "वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलष " इससे विकल्पसे श्यन्, लट्+तिप् ॥ ११० ॥

स्मार ज्वर घोरमपत्रपिष्णो सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा ॥ १११ ॥

अन्वय—घोर स्मार ज्वर चिकित्सौ सिद्धागदङ्कारचये निदानमौनात् अपत्रपिष्णो तस्य विशाला लज्जा साङ्क्रामिकी रुजा इव अविशत् ॥ १११ ॥

व्याख्या—घोर=दारुण, स्मार=स्मरसम्बन्धिन ज्वर=रोगविशेष, कामसन्तापमित्यर्थ । चिकित्सौ=रोगप्रतिकर्तरि, सिद्धागदङ्कारचये=समर्थवैद्यसमूहे, निदानमौनात्=रोगकारणाऽनभिधानात्, अपत्रपिष्णो=लज्जाशीलस्य, तस्य=नलस्य, विशाला=महती, लज्जा=व्रीडा, साङ्क्रामिकी=ससर्गजनिता, रुजा इव=रोग इव, अविशत्=प्रविष्टा ॥ १११ ॥

अनुवाद—दारुण कामसन्तापका प्रतिकार करनेवाले समर्थ वैद्यसमूहमे रोगके कारणको नही कहनेसे लज्जाशील नलकी बडी लज्जा ससर्गसे उत्पन्न रोगके समान प्रविष्ट हुई ॥ १११ ॥

टिप्पणी—स्मार=स्मरस्य अय स्मार, तम्, स्मर+अण्+अम् । चिकित्सौ=केतितुम् इच्छु चिकित्सु, तस्मिन्, "कित निवासे रोगापनयने च" इस धातुसे "गुप्तिज्किद्भ्य सन्" इससे सन् होकर "सनाशसभिक्ष उ" इससे उ प्रत्यय । सिद्धागदङ्कारचये=अगद कुर्वन्तीति अगदङ्कारा, अगद—उपपदपूर्वक कृ धातुसे "कर्मण्यण्" इससे अण् प्रत्यय । "कारे सत्यागदस्य" इससे

मुम् आगम । सिद्धाश्च ते अगदङ्काराः (क० धा०), तेषां चयः, तस्मिन् (ष० त०) । निदानमौनात् = निदानस्य मौनं तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी । अपत्रपिष्णो = अपत्रपते तच्छीलः अपत्रपिष्णु, तस्य अप + त्रपूष् + इष्णुच् । "लज्जाशीलोऽपत्रपिष्णुः" इत्यमरः । साङ्क्रामिकी = सङ्क्रमात् आगता, संक्रम शब्दसे "अध्यात्मादेष्ठञिष्यते" इससे ठञ् (इक्) प्रत्यय और "अनुशतिकादीनां च" इससे उभयपदवृद्धि । रुजा = "स्त्रीरुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामयाः" इत्यमरः । संसर्गसे उत्पन्न रोगको "साङ्क्रामिक" कहते हैं, जैसे कि—

> "अक्षिरोगो ज्वरः कुष्ठं तथाऽपस्मार एव च ।
> सहभुक्त्यादिसम्बन्धात्सङ्क्रामन्ति नरान्नरम् ॥"

अर्थात् नेत्ररोग, ज्वर (बुखार), कुष्ठ (कोढ), अपस्मार (मिरगी) ये रोग सहभोज आदि सम्बन्धसे एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यके पास संक्रान्त होते हैं । अविशत् = विश + लङ् + तिप् ॥ १११ ॥

विभेति रुष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपेत्य हसत्यकाण्डे ।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम् ॥ ११२ ॥

अन्वयः—सः अकस्मात् रुष्टा असि इति विभेति, अकाण्डे उपेत्य किल हसति, अहेतोः यान्तीम् इव त्वाम् अनुयाति, त्वया उक्त इव मोघं प्रतिवक्ति ॥ ११२ ॥

व्याख्या—अथ उन्मादाऽवस्थामाह—विभेतीति । (हे भैमि !) सः = नलः, अकस्मात् = अकाण्डे, रुष्टा = कुपिता, असि = भवसि, त्वमिति शेषः । इति = सम्भाव्य, बिभेति = त्रस्यति । अकाण्डे = अनवसरे, उपेत्य = प्राप्य, किल = इव, त्वामिति शेषः । हसति = हास्यं करोति । अहेतोः = अकारणात्, यान्तीम् इव = गच्छन्तीम् इव, त्वां = भवतीम्, अनुयाति = अनुसरति, त्वया = भवत्या उक्त इव = सम्भाषित इव, मोघं = निष्फलं, प्रतिवक्ति = प्रत्युत्तरयति । अयं सर्वोऽप्युन्मादाऽनुभावः ॥ ११२ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) वे (नल) अकस्मात् आप कुपित हैं, ऐसा समझकर डर जाते हैं । अनवसरमें ही आप प्राप्त हो गयी हैं, ऐसा विचार कर हँसते हैं । बिना कारणके ही आप जा रही हैं, ऐसा समझकर अनुसरण करते हैं और वे (नल) आपसे भाषित-से होकर उत्तर देते हैं ॥ ११२ ॥

टिप्पणी—रुष्टा = रुष् + क्त + टाप् + सु । बिभेति = भी + लट् + तिप् ।

अकाण्डे=न काण्ड (नञ्०), तस्मिन् । उपेत्य=उप+आङ्+इण्+क्त्वा (ल्यप्) । हसति=हस्+लट्+तिप् । अहेतो=न हेतु, तस्मात् (नञ्०) । यान्ती=या+लट् (शतृ)+ङीप्+अम् । प्रतिवक्ति=प्रति+वच+तिप । यह सब उन्मादका कार्य है ॥ ११२ ॥

भवद्वियोगाद् भिदुरातिधारायमस्वसुमज्जति निःशरण्य ।
मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के हा ! हा ! महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥११३॥

अन्वय —(हे भैमि !) भवद्वियोगात् भिदुरातिधारायमस्वसु मूर्च्छामय-द्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के अयं महीभृद्भटकुञ्जर निःशरण्य (सन्) मज्जति । हा ! हा ! ॥ ११३ ॥

व्याख्या—अथ मूर्च्छाऽवस्थामाह—भवदिति । भवद्वियोगात्=त्वद्विरहात् हेतो, भिदुराऽऽतिधारायमस्वसु =अविच्छिन्नदुःखपरम्परायमुनाया, मूर्च्छामय-द्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के=मूर्च्छारूपजलमध्यस्थानमहामोहकर्दमे, अयम्=एष, मही-भृद्भटकुञ्जर =राजवीरकरी, निःशरण्य =निरवलम्ब सन्, मज्जति= बुडति । हा ! हा ! इति खेदाऽतिशय ॥ ११३ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) आपके वियोगसे अविच्छिन्न दुःखधारारूप यमुनाके मूर्च्छारूप द्वीपके महामोहरूप कीचडमे पड़कर ये वीर राजा नल, हाथीके समान अवलम्बनहीन होकर डूब रहे है, हाय ! हाय ! ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—भवद्वियोगात्=भवत्या वियोग, तस्मात् (प० त०), "सर्व-नाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव" इस नियमसे पुंवद्भाव, हेतुमे पञ्चमी । भिदुराति-धारायमस्वसु =अन्तर्धारा (प० त०) । नारायणी टीकामे "भिदुरा" के स्थानमे "छिदुरा" ऐसा पाठ है, ("अच्छिदुरा" का अर्थ हुआ निरन्तर ।) भिदुरा चाऽसौ आर्तिधारा (क० धा०) । यमस्य स्वसा (प० त०) । भिदु-राऽऽर्तिधारा एव यमस्वसा, तस्या (रूपक०) । मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के= मूर्च्छा एव मूर्च्छामयम्, मूर्च्छा+मयट् (स्वरूप अर्थमे) । मूर्च्छामयं च तद् द्वीपम् (क० धा०) । अन्धस्य भाव आन्ध्यम् (अन्ध+ष्यञ्) । महच्च तद् आन्ध्यम् (क० धा०) । मूर्च्छामयद्वीपे महाऽऽन्ध्य (स० त०), तदेव पङ्क, तस्मिन् (रूपक०) । महीभृद्भटकुञ्जर =मही बिभर्तीति महीभृत्, मही+ भृ+क्विप् (उपपद०) । स चाऽसौ भट (क० धा०) । स एव कुञ्जर (रूपक०) । निःशरण्य =निर्गत शरण्यो यस्मात् स (बहु०) । मज्जति=

(दु) मस्जो+लट्+तिप् । इस पद्यमें आर्तिधारामें यमस्वसाका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है ॥ ११३ ॥

सव्याऽपसव्यत्यजनाद् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु ।
दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभः पुष्प्यतु कोरकेण ॥ ११४ ॥

अन्वयः—सव्याऽपसव्यत्यजनात् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथक् अर्जितासु दशासु शेषा या तद्दशा तया कोरकेण नभः पुष्प्यतु ॥ ११४ ॥

व्याख्या—दशमी कामदशा तु कदाऽपि मा भूदिति आह—सव्येति । (हे भैमि !) सव्याऽपसव्यत्यजनात्=वामदक्षिणहस्तमोचनात्, द्विः=द्विवारम्, उक्तैः=प्रतिपादितैः, द्विगुणीकृतैः, पञ्चेषुबाणैः=कामशरैः, दशभिरिति भावः । पृथक्=प्रत्येकम्, अर्जितासु=उत्पादितासु, दशासु=अवस्थासु, शेषा=अवशिष्टा, या तद्दशा=दशमावस्था, तया=दशमाऽवस्थया, कोरकेण=कलिकया, नभः=आकाशं, पुष्प्यतु=पुष्पितम् अस्तु, नलस्य सा दशमी (मरणरूपा) अवस्था नभःपुष्पकल्पा अस्तु, कदापि मा भूदिति भावः । त्वत्प्राप्तेरिति शेषः ॥ ११४ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) बायें और दाहिने हाथोंसे छोड़नेसे कामदेवके दुगुने (दश) बाणोंसे अलग-अलग उत्पन्न अवस्थाओंमे अवशिष्ट जो दशवीं अवस्था (मरणरूपवाली) है, उस अवस्थारूप कलीसे आकाश पुष्पित हो, अर्थात् कदाऽपि न हो ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—सव्याऽपसव्यत्यजनात्=सव्यश्च अपसव्यश्च सव्याऽपसव्यौ (द्वन्द्वः), ताभ्यां त्यजनं, तस्मात् (तृ० त०) । द्विः=द्वि शब्दसे 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इस सूत्रसे सुच् प्रत्यय । पञ्चेषुबाणैः=पञ्च इषवो यस्य सः (बहु०), पञ्चेषोः बाणाः, तैः (ष० त०) । तद्दशा=सा चाऽसौ दशा: (क० धा०), मरणरूप दशा अशुभ होनेसे उसका यद् और तद् शब्दसे निर्देश किया गया है । तया कोरकेण=उस दशमी अवस्थामें कोरकका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है । "कलिका कोरकः पुमान्" इत्यमरः । पुष्प्यतु="पुष्प विकसने" धातुसे लोट्+तिप् ॥ ११४ ॥

धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ ११५ ॥

अन्वयः—हे वैदर्भि ! धन्या असि, यया उदारैः गुणैः नैषधोऽपि समाकृष्यत । चन्द्रिकायाः यत् अब्धिम् अपि उत्तरलीकरोति, इतः का स्तुतिः खलु ॥११५॥

व्याख्या—हे वैदर्भि !=हे दमयन्ति ! हे वैदर्भिरीते ! इत्यपि गम्यते। धन्या=पुण्यवती, असि=वतसे, यया=त्वया, उदारैः=उत्कृष्टैः, गुणैः=लावण्यविनयादिभिः, अन्यत्र श्लेषप्रसादादिभिः गुणैः, नैषधोऽपि=नलोऽपि, तादृशो धीरोऽपि, समाकृष्यत=सम्यक् आकृष्टः, वशीकृत इति भावः। चन्द्रिकाया=कौमुद्या, यत्=यस्माद्धेतोः, अब्धिम् अपि=समुद्रम् अपि, गभीरमपीति भावः, उत्तरलीकरोति=क्षोभयति, इतः=अस्मात्, का स्तुतिः खलु=का वर्णना खलु। न काऽपीति भावः ॥ ११५ ॥

अनुवाद—हे विदर्भदेशकी राजकुमारी ! आप धन्य हैं, जिन आपने नलको भी आकृष्ट कर दिया है। जो चन्द्रिका समुद्रको भी क्षुब्ध कर देती है, इससे अधिक उसका क्या वर्णन किया जा सकता है ? ॥ ११५ ॥

टिप्पणी—वैदर्भि=विदर्भ+अण्+ङीप्+सु (सम्बुद्धिमें)। एक पक्षमें वैदर्भीरीति। धन्या=धन लब्धो, धन शब्दसे "धनगण लब्धा" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय, स्त्रीत्वविवक्षामें टाप्। गुणैः=वैदर्भीरीतिके पक्षमें श्लेष, प्रसाद आदि गुण लिये जाते हैं। समाकृष्यत=सम्+आङ्+कृष+लङ् (कर्ममें)+त। उत्तरलीकरोति=उत्तरल+च्वि+कृ+लट्+तिप्। इस पद्यमें प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है। जैसे कि साहित्यदर्पणमें उसका लक्षण है—

"प्रतिवस्तूपमा साम्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥" १०-६८।

इसमें समाकर्षण और उत्तरलीकरण क्रिया एक ही है। पुनरुक्ति हटानेके लिए भिन्नवाचक शब्दसे निर्देश किया गया है ॥ ११५ ॥

त्वयि स्मराधेः सतताऽस्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृताऽस्मि तेन ।
आगत्य भूतः सफलो भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्या ॥ ११६ ॥

अन्वय—त्वयि स्मराधेः सतताऽस्मितेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितः अस्मि। (अथ) आगत्य गुणलोभवत्या भवत्या भावप्रतीत्या सफलो भूतः ॥ ११६ ॥

व्याख्या—त्वयि=भवत्या विषये। स्मराधेः=मदनजनितायाः मनोव्यथायाः हेतोः। सतताऽस्मितेन—सततम्=निरन्तरं यथा तथा, अस्मितेन=मन्दहास्यरहितेन, तेन=पूर्वोक्तेन, भूमिभृता=भूपेन, नलेनेति भावः। प्रस्थापितः=प्रस्थानं कारितः। अस्मि=भवामि। अथ, आगत्य=आगमनं कृत्वा, गुणलोभवत्या—गुणेषु=शौर्यौदार्यसौन्दर्यादिषु, लोभवत्या=लोलु

पाया:, भवत्या:=तव, भावप्रतीत्या=आशयज्ञानेन, सफल:=फलसहित:, भूत:=सम्पन्न:, सिद्धप्रयोजनोऽस्मीति भाव: ॥ ११६ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारी! कामजनित मनोवेदनासे निरन्तर स्मित (मन्दहास्य) से रहित उन राजा (नल) से मैं भेजा गया हूँ। आकर गुणोंमें लोभ करनेवाली आपके अभिप्रायके ज्ञानसे सफल हो गया हूँ ॥ ११६ ॥

टिप्पणी—त्वयि=विषयमे सप्तमी। स्मराधे=स्मरजनितं आधि: स्मराधि:, तस्मात् (मध्यमपदलोपी समास), हेतुमे पञ्चमी। सतताऽस्मितेन= अविद्यमानं स्मितं यस्य स: अस्मित: (नञ्बहुव्रीहि:), सततम् अस्मितेन (सुप्सुपासमास)। भूमिभृता=भूमिं बिभर्तीति भूमिभृत्, तेन (उपपदसमास:) भूमि+भृ+क्विप्+टा। प्रस्थापित.=प्र+स्था+णिच्+क्त:। आगत्य= आङ्+गम्+क्त्वा (ल्यप्)। गुणलोभवत्या.=लोभ: अस्ति अस्या: लोभवती, लोभ+मतुप्+ङीप्, गुणे लोभवती (स० त०), तस्या:। भावप्रतीत्या= भावस्य प्रतीति:, (ष० त०), हेतुमें तृतीया। सफल:=फलेन सहित: (तुल्ययोगबहुव्रीहि) ॥ ११६ ॥

नलेन भाया: शशिना निशेव, त्वया स भायान्निशया शशीव।
पुन: पुनस्तद्युगयुग् विधाता स्वभ्यासमास्ते नु युवां युयुक्षु: ॥ ११७ ॥

अन्वय:—शशिना निशा इव (त्वम्) नलेन भाया:। स: (अपि) निशया शशी इव त्वया भायात्। पुन: पुन: तद्युगयुक् विधाता युवां युयुक्षु: स्वभ्यासम् आस्ते नु? ॥ ११७ ॥

व्याख्या—(हे भैमि!) शशिना=चन्द्रमसा, निशा इव=रात्रि: इव, (त्वं=भवती), नलेन=नैषधेन, भाया:=शोभस्व। स:=नल: अपि, निशया=रात्र्या, शशी इव=चन्द्रमा इव, त्वया=भवत्या, भायात्=शोभ-ताम्। पुन: पुन:=वारं वारं, प्रतिमासमिति भाव:। तद्युगयुक्=निशाशशि-युगलयोजक:, विधाता=ब्रह्मा, युवां=नलं त्वां च, युयुक्षु:=योजनेच्छु: सन्। स्वभ्यासं=निरन्तराऽभ्यासे। आस्ते नु=तिष्ठति किम्? ॥ ११७ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी!) चन्द्रके साथ रात्रिके समान आप नलसे शोभित हो। नल भी रात्रिके साथ चन्द्रके समान आपसे शोभित हों। इस प्रकार बारंबार रात्रि और चन्द्रकी जोड़ीको मिलानेवाले ब्रह्माजी आप दोनोंको भी मिलानेकी इच्छा करते हुए निरन्तर अभ्यास बढ़ानेमें तत्पर रहते हैं क्या? ॥ ११७ ॥

टिप्पणी—मायाः="मा दीप्तौ" धातुमे आशीर्लिङमें मिप्। तद्युगयुक्= नयोर्युग (ष० त०), तद् युनक्तीति, तद्युग+युज्+क्विप् (उपपद०)। युवा= नल च त्वा च युवा, तौ 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इससे एकशेष। युयुक्षु= योक्तुमिच्छु, युज्+सन्+उ। स्वभ्यासम्=अभ्यासस्य समृद्धौ समृद्धिः यथा- मे "अव्ययं विभक्तिसमृद्धि०" इत्यादि सूत्रमें अव्ययीभाव समास और 'तृतीया-सप्तम्योर्बहुलम्' इस सूत्रसे सप्तमी विभक्तिका विकल्पसे अम्भाव। योग्या-मुपास्ते" इस पाठान्तरमें योग्याम्=अभ्यासम्। उपास्त-करोति, यह अर्थ है। "योग्याऽभ्यासाऽयधौषितो" इति विश्व। आस्ते=आस्+लट्+त। इस पद्यमें अन्योन्य अलङ्कार, दो उपमाएँ और उत्प्रेक्षा इनका सङ्कर है ॥ ११७ ॥

स्तनद्वये तन्वि! परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिम् ॥ ११८ ॥

अन्वय—हे तन्वि! नैषधस्य अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्रावलीनां रचना समाप्ति प्राप्स्यति यदि (तर्हि) पृथौ तव एव स्तनद्वये परं प्राप्स्यति ॥ ११८ ॥

व्याख्या—हे तन्वि!=हे कृशाङ्गि! नैषधस्य=नलस्य, अनल्पवैदग्ध्य-विवर्धिनीनां=महानैपुण्योज्जृम्भमाणानां, पत्त्रावलीनां=पत्त्रपङ्क्तीनां, रचना= निर्मितिः, समाप्ति=सम्पूर्णतां, प्राप्स्यति यदि=आसादयिष्यति चेत्, तर्हि, पृथौ=विशाले, तव एव=भवत्या एव, स्तनद्वये=कुचद्वितये, परम्=उत्कर्षं यथा तथा, प्राप्स्यति=आसादयिष्यति, भवत्या अयोग्यत्वादिति भावः ॥११८॥

अनुवाद—हे कृशाङ्गि! नलकी बड़ी निपुणतासे बढ़ायी गयी पत्त्रावलियो-की रचना समाप्तिको प्राप्त करेगी तो आपके ही विशाल पयोधरोंमें उत्कर्षपूर्वक प्राप्त करेगी ॥ ११८ ॥

टिप्पणी—अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनाम्=अनल्पं च तत् वैदग्ध्यम् (क० धा०), तेन विवर्धिन्यः, तासाम् (तृ० त०)। पत्त्राऽऽवलीनां=पत्त्राणामा-वल्यः, तासाम् (ष० त०)। प्राप्स्यति=प्र+आप+लृट्+तिप्। पृथौ= पृथु शब्दके भाषितपुंस्क होनेसे 'तृतीयाऽऽदिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य" इस सूत्रसे पुंवद्भाव। स्तनद्वये=स्तनयोर्द्वयं, तस्मिन् (ष० त०)। इस पद्यमें 'सम' अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनोः।" ६–९२ ॥ ११८ ॥

एकं सुधाऽऽशुर्न कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्तन्नयनद्वयस्य।
त्वल्लोचनाऽऽसेचनकस्तदस्तु नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीयः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—एकः सुधांऽशुः त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन तृप्तिक्षमो न स्यात्, तत् नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीयः (सन्) त्वल्लोचनाऽऽसेचनकः अस्तु ॥ ११९ ॥

व्याख्या—एकः=एकाकी, सुधांशुः=चन्द्रः, त्वन्नयनद्वयस्य=भवन्नेत्रद्वितयस्य, कथञ्चन=केनाऽपि प्रकारेण, तृप्तिक्षमः=प्रीणनसमर्थः, न स्यात्=नो भवेत्, तत्=तस्मात्कारणात्, नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीयः—नलास्यशीतद्युतिना=नलमुखचन्द्रेण, सद्वितीयः=द्वितीययुक्तः सन्, त्वल्लोचनाऽऽसेचनकः—त्वल्लोचनयोः=भवन्नयनयोः, आसेचनकः=अत्यन्ततृप्तिकरः, अस्तु=भवतु ॥ ११९ ॥

अनुवाद—एक चन्द्र आपके दोनों नेत्रोंको किसी प्रकारसे तृप्त करनेमें समर्थ नहीं होगे, इस कारणसे वे (चन्द्र) नलके मुखचन्द्रके साथ दूसरे होते हुए आपके दोनों नेत्रोंको अत्यन्त तृप्ति करनेवाले हों ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—सुधांऽशुः=सुधा अंशुः यस्य सः (बहु०)। त्वन्नयनद्वयस्य=नयनयोर्द्वयम् (ष० त०), तव नयनद्वयं, तस्य (ष० त०)। तृप्तिक्षमः=तृप्तौ क्षमः (स० त०)। नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीयः=नलस्य आस्यम् (ष० त०)। शीता द्युतिर्यस्य सः (बहु०)। नलाऽऽस्यम् एव शीतद्युतिः (रूपक०)। द्वितीयेन सहितः सद्वितीयः (तुल्ययोग बहु०)। नलाऽऽस्यशीतद्युतिना सद्वितीयः (तृ० त०)। त्वल्लोचनाऽऽसेचनकः=तव लोचने (ष० त०), तयोः आसेचनकः (ष० त०)। "तदासेचनकं तृप्तेर्नाऽस्त्यन्तो यस्य दर्शनात्" इत्यमरः ॥११९॥

अहो ! तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः ।
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाऽधरो रज्यति यत्कलम्बः ॥ १२० ॥
यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवाऽऽस्ते ।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥१२१॥

अन्वयः—(हे राजकुमारि !) नलीयः तपःकल्पतरुः अहो ! (यः) त्वत्पाणिजाऽग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः यस्य त्वद्भ्रूयुगं द्विपत्री, तव अधरो यत्कलम्बो रज्यति ॥ १२० ॥ यः ते कराभ्यां नवः पल्लवितः, यः तव स्मितेन कोरकितः आस्ते । यः तव अङ्गम्रदिम्ना पुष्पितः, यः तव एव स्तनश्रिया फलितः ॥१२१॥

व्याख्या—अथ द्वाभ्यां पद्याभ्यां नलस्य तप.साफल्यमाह—अहो इत्यादिना । (हे भैमि !) नलीयः=नलसम्बन्धी, तपःकल्पतरुः=तपस्याकल्पवृक्षः, अहो=आश्चर्यस्वरूपः । (यः=कल्पतरुः), त्वत्पाणिजाऽग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः—त्वत्पाणि-

जाग्रे = स्वकराग्रे, स्फुरदङ्कुरश्री = प्रकाशमानाऽङ्कुरशोभ, यस्य = कल्पतरो, त्वद्भ्रूयुग = भवद्भ्रूयुग्म, द्विपत्री = पत्रद्वय, प्रथमोत्पन्नमिति शेष। तव = भवत्या, अधर = ओष्ठ, यत्कलम्ब = कल्पतरुनाल, रज्यति = रक्तो भवति, स्वयमेवेति शेष ॥ १२० ॥

य = नलीय कल्पतरु, ते = तव, कराभ्या = हस्ताभ्या, नव = नूतन, पल्लवित = सञ्जातपल्लव। य = कल्पतरु, तव = भवत्या, स्मितेन = मन्दहास्येन, कोरकित = सञ्जातकोरक सन्, आस्ते = तिष्ठति। य = कल्पतरु, तव = भवत्या, अङ्गम्रदिम्ना = शरीरमार्दवेन, पुष्पित = सञ्जातपुष्प। य = कल्पतरु, तव एव = भवत्या एव, स्तनश्रिया = पयोधरशोभया, फलित = सञ्जातफल आस्ते ॥ १२१ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) नलका तपस्यारूप कल्पवृक्ष आश्चर्यस्वरूप है, जो कि आपके नाखूनोंके अग्रभागोंमें इसके अङ्कुरोंकी शोभा प्रकाशित हो रही है। जिस (कल्पवृक्ष) के आपकी भौंहें दो पत्ते हैं। आपका ओष्ठ जिसका लाल नाल हो रहा है ॥ १२० ॥

जो (नलका तप सम्बन्धी कल्पवृक्ष) आपके दो हाथोंसे नया पल्लववाला है। जो आपके मन्दहास्यसे कलीसे युक्त है। जो आपके शरीरकी कोमलतासे पुष्पयुक्त है। जो नलका तपस्यारूप कल्पवृक्ष आपकी ही पयोधर-शोभासे फल सम्पन्न है ॥ १२१ ॥

टिप्पणी—नलीय = नलस्य अयम्, "वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या" इससे वृद्धसंज्ञक होकर नल शब्दमें "वृद्धाच्छ" इस सूत्रसे छ (ईय) प्रत्यय। तपःकल्पतरु = तप एव कल्पतरु (रूपक०), त्वत्पाणिजाग्रप्रस्फुरदङ्कुरश्री = पाणिभ्यां जाता पाणिजा (नखा), पाणि + जन् + ड (उपपद०)। पाणिजानाम् अग्राणि (ष० त०)। तव पाणिजाग्राणि (ष० त०)। अङ्कुराणां श्री (ष० त०)। स्फुरन्ती अङ्कुरश्रीर्यस्य (बहु०)। त्वत्पाणिजाग्रे स्फुरदङ्कुरश्री (तृ० त०)। त्वद्भ्रूयुग = भ्रुवोर्युगम् (ष० त०), तव भ्रूयुगम् (ष० त०)। द्विपत्री = द्वयो समाहार (द्विगु०)। यत्कलम्ब = यस्य कलम्ब (ष० त०) "अस्य तु नालिका कलम्बश्च" इत्यमर। रज्यति = "रञ्ज रागे" धातुसे "कुषिरजो प्राचा श्यन्परस्मैपद च" इस सूत्रसे कर्मकर्त्तामें श्यन् और परस्मैपदित्व ॥ १२० ॥

पल्लवित = पल्लवानि सञ्जातानि अस्य स, पल्लव + इतच्। कोरकित =

कोरकाः सञ्जाता अस्य सः, कोरक+इतच्। अङ्गम्रदिम्ना=मृदोर्भावो म्रदिमा, "मृदु" शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच्प्रत्यय और "र ऋतोहंलादेर्लघोः" इस सूत्रसे 'ऋ' के स्थानमें 'र' आदेश। अङ्गानां म्रदिमा, तेन (ष० त०)। पुष्पितः=पुष्पाणि सञ्जातानि अस्य सः, पुष्प+इतच्। स्तनश्रिया=स्तनयोः श्रीः, तया, (ष० त०)। फलितः=फले सञ्जाते अस्य सः, फल+इतच्। सर्वत्र "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच्प्रत्यय। यहाँपर दो श्लोकोंमें तपमें कल्पतरुत्वका और दमयन्तीके नख आदिमें अवयवत्वका आरोप करनेसे साऽवयवरूपक, तथा अवयवी परस्पर कार्यकारणभूत कल्पतरुका और अवयव नखाऽङ्कुर आदिका भिन्न देशमें रहनेसे असङ्गति अलङ्कारसे मिश्रित है, इस प्रकार सङ्कर है। असङ्गतिका लक्षण है—

"कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः।" (सा० द० १०-९०) ॥१२१॥

कंसीकृताऽऽसीद् खलु मण्डलीन्दोः संसक्तरश्मिप्रकरा स्मरेण।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥१२२॥

अन्वयः—(हे भैमि!) स्मरेण वां मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ संसक्तरश्मिप्रकरा इन्दोः मण्डली कंसीकृता आसीत्। निजा नाराचलता एव तुला (कृता आसीत्) ॥ १२२ ॥

व्याख्या—(हे भैमि!) स्मरेण=कामदेवेन कर्त्रा, वां=युवयोः, मिथोऽनुरागस्य=अन्योऽन्यप्रणयस्य, समीकृतौ=समीकरणे निमित्ते, संसक्तरश्मिप्रकरा=संयोजितकिरणसमूहा, संयोजितसूत्रसमूहा च, इन्दोः=चन्द्रमसः, मण्डली=बिम्बं, कंसीकृता=लोहपात्रीकृता, आसीत्=अभवत्। निजा=स्वकीया, नाराचलता एव=बाणवल्ली एव, तुला=तुलादण्डः कृता आसीदिति शेषः ॥ १२२ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी!) कामदेवने आप दोनोंके (नल और आपके) परस्परके अनुरागको बराबर करने के लिए चन्द्रमण्डलको तराजूका पलड़ा बनाया, चन्द्रकिरणोंको रस्सी बनाया और अपनी बाणलताको तराजूका दण्ड बना डाला ॥ १२२ ॥

टिप्पणी—संसक्तरश्मिप्रकरा=रश्मीनां प्रकरः (ष० त०)। "किरणप्रग्रहौ रश्मी" इत्यमरः। संसक्तो रश्मिप्रकरो यस्यां सा (बहु०)। कंसीकृता=अकंसः कंसो यथा सम्पद्यते तथा कृता, कंस+च्वि+कृता। "कंसोऽस्त्री लोहभाजनम्" इति शाब्दिकमण्डनम्। नाराचलता=नाराच एव लता (रूपक०)।

इस पद्यमें इन्दुदण्ड आदिमें कस आदिका रूपण शाब्द और रश्मिमें सूत्रका आरोप आर्थ होनेसे एकदेशविवर्ति रूपक अलङ्कार है, जैसे कि—

"यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।" (सा० द० १०-४६) ॥१२२॥

सत्त्वसुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु ।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्त्ररेखास्तन्निर्गतास्तत् प्रविशन्तु भूयः ॥ १२३ ॥

अन्वयः—मदनोत्सवेषु सत्त्वसुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे लग्नोत्थिताः तन्निर्गताः त्वत्कुचपत्त्ररेखाः भूयः तत् प्रविशन्तु ॥ १२३ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) मदनोत्सवेषु=रतिक्रीडासु, सत्त्वसुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे=मनोविकारजनितघर्मोदकरूपमधूच्छिष्टनिबिडे, तत्पाणिपद्मे=नलकरकमले, लग्नोत्थिताः =सङ्क्रान्तविश्लिष्टाः, तन्निर्गताः=नलपाणिकमललिखिताः, त्वत्कुचपत्त्ररेखाः =भवत्पयोधरपत्त्रावल्यः, भूयः=पुनः, तत्=नलपाणिपद्मम्, प्रविशन्तु=प्रवेशं कुर्वन्तु, कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भावः । युवयोः समागमोऽस्तु इत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) रतिक्रीडाओंमें मनोविकारसे उत्पन्न स्वेदरूप मोमसे गाढ नलके करकमलमें लगकर आपके कुच तटसे विश्लिष्ट नलके करकमलसे उत्पन्न आपके पयोधरोंको पत्त्रावलियाँ फिर नलके करकमलमें प्रवेश करें ॥ १२३ ॥

टिप्पणी—मदनोत्सवेषु=मदनस्य उत्सवाः, तेषु (ष० त०) । सत्त्वसुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे=सत्त्वेन सुतः (तृ० त०), स चासौ स्वेदः (क० धा०) । मधुनः उत्तिष्ठतीति मधूत्थम्, मधु+उद्+स्था+क (उपपद०) । सत्त्वसुतस्वेद एव मधूत्थम् (रूपक०) । तेन सान्द्रस्तस्मिन् (तृ० त०) । तत्पाणिपद्मे=पाणिः पद्मम् इव (उपमेयपूर्वपद-कर्म०) । तस्य पाणिपद्मम्, तस्मिन् (ष० त०) । लग्नोत्थिताः =पूर्वं लग्नाः पश्चात् उत्थिताः, "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाऽधिकरणेन" इससे समास । तन्निर्गताः =तेन निर्गताः (तृ० त०) । त्वत्कुचपत्त्ररेखाः =तव कुचौ (ष० त०) । तयोः पत्त्ररेखाः (ष० त०) । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १२३ ॥

बन्धाऽऽढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः ।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि ! युवां युवानौ ॥ १२४ ॥

अन्वयः—हे भैमि ! बन्धाऽऽढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः पुनरुक्तमुक्तां प्रसूनवृष्टिं युवानौ युवां प्रतीच्छतम् ॥ १२४ ॥

व्याख्या—हे भैमि !=हे दमयन्ति ! बन्धाऽऽढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः =उत्तानाद्यासनसम्पूर्णविविधसूरतमल्लसमरसन्तोपितैः, केलिवने=क्रीडोपवने, मरुद्भिः=वायुभिर्देवैश्च, पुनरुक्तयुक्तां=सान्द्रविसृष्टां, प्रसूनवृष्टिं = पुष्पवर्ष, युवानौ=तरुणौ, युवां=भवन्तौ, नलस्त्वं चेति भावः । प्रतीच्छतं=स्वीकुरुतम् । समरवीरा जना अमरैः प्रसूनवृष्ट्या सत्क्रियन्त इति भावः ॥ १२४ ॥

अनुवाद—हे दमयन्ती ! क्रीडाके उपवनमें आसनोंसे समृद्ध अनेक रतिक्रीडा-रूप मल्लयुद्धोंसे प्रसन्न बनाये गये वायुवर्ग और देवताओंसे बारंबार छोड़ी गयी पुष्पवृष्टिको तरुण और तरुणी आप दोनों (नल और आप) स्वीकार करें ॥ १२४ ॥

टिप्पणी—बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः=बन्धैः आढ्यं (तृ० त०), तच्च तत् नानारतम् (क० धा०), तदेव मल्लयुद्धं (रूपक) । तेन प्रमोदिताः, तैः (तृ० त०) । केलिवने=केलेर्वनं, तस्मिन् (प० त०) । मरुद्भिः ="मरुतौ पवनाऽमरौ" इत्यमरः । पुनरुक्तमुक्तां=पुनरुक्तं (यथा तथा) मुक्ता, ताम् (सुप्सुपा०) । प्रसूनवृष्टिं=प्रसूनानां वृष्टिः, ताम् (प० त०) । युवानौ=युवतिश्च युवा च "पुमान् स्त्रिया" इस सूत्रसे एकशेष । प्रतीच्छतं= प्रति+इष्+लोट्+थस् । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १२४ ॥

अन्योऽन्यसङ्गमवशादधुना विभातां, तस्याऽपि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे ।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्मम् ॥१२५॥

अन्वयः—(हे भैमि !) अधुना अन्योऽन्यसङ्गमवशात् विकसद्विलासे तस्य अपि ते अपि मनसी मनसिजस्य तनुं पुनः स्रष्टुं प्रवृत्तम् आदौ द्व्यणुककृत् पर-माऽणुयुग्मम् इव विभाताम् ॥ १२५ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) अधुना=इदानीम्, उभयसन्धाऽनन्तरमिति भावः । अन्योऽन्यसङ्गमवशात्=परस्परसंयोगवशात्, विकसद्विलासे=वर्धमानोल्लासे, तस्य अपि=नलस्य अपि, ते अपि=भवत्या अपि, मनसी=मानसे, मन-सिजस्य=कामस्य, तनुं=शरीरं, पुनः=भूयः, स्रष्टुम्=आरब्धुं, प्रवृत्तम्= उद्यतम्, आदौ=पूर्वकाले, द्व्यणुककृत्=द्व्यणुकाऽऽरम्भकं, परमाणुयुग्मं=पर-माणुयुगलम् इव, विभातां=शोभेताम् ॥ १२५ ॥

अनुवाद—(हे दमयन्ती !) इस समय परस्परमें संयोग होनेसे विकसित विलासवाले नलके और आपके मन आरम्भमें द्व्यणुकको बनाने वाले दो पर-माणुओंके समान कामदेवके शरीरको फिर उत्पन्न कर शोभित हों ॥ १२५ ॥

टिप्पणी—अन्योऽन्यसङ्गमवशात्=अन्योऽन्ययोः सङ्गमः (प० त०), तस्य

यत्र , तस्मात् (प०त०) । विकसद्विलासे=विकसन् विलासो ययोस्ते (बहु०) । मनसिजस्य=मनसि जायते इति मनसिज , तस्य, जन धातुसे "सप्तम्यां जनेर्डः" इस सूत्रसे ड प्रत्यय, "हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्" इससे अलुक् समास । "शम्बरारिर्मनसिजः कुसुमेषुरनन्यजः" इत्यमर । स्रष्टु=सृज+तुमुन् । द्व्यणुककृत्=द्व्यणुक करोतीति, द्व्यणुक+कृ+क्विप् (उपपद०) । परमाणुयुग्म=परमाण्वोर्युग्मम् (ष० त०) । विभाता=वि+भा+लोट्+तस (ताम्) । न्यायशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार जैसे सक्रिय दो परमाणुओंसे द्व्यणुक उत्पन्न होता है, उसी तरह आप दोनोंके मन भी मिलकर विलासपूर्ण होकर कामदेवके शरीरको उत्पन्न करें, यह अभिप्राय है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार और वसन्ततिलका वृत्त है ॥ १२५ ॥

काम कौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ ।
ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कपरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥ १२६ ॥

अन्वय —असौ कामः कौसुमचापदुर्जयम् अमुं नृपं जेतुम् अव्रणवंशजाम् अधिगुणां निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया कपरेखया इव पृष्ठे कियल्लम्बया ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया भ्राजिष्णुं त्वाम् एव धनुर्वल्लीम् आसाद्य माद्यति ॥ १२६ ॥

व्याख्या —(हे भैमि !) असौ=अयं, नलजिगीषुरिति भावः । कामः= मदनः, कौसुमचापदुर्जयं=पुष्पधनुरजय्यम्, अमुम्=इमं, नृपं=राजानं नलं, जेतुं=वशीकर्तुम्, अव्रणवंशजा=सत्कुलप्रसूता, दृढवेणुजन्या च, अधिगुणाम्= अधिकसौन्दर्यादिगुणाम्, अधिज्या च, निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया=अनुवर्तमान सिन्दूरसमशोभायुक्तया, कपरेखया=कृतघर्षणरेखया इव, पृष्ठे=ग्रीवापश्चाद्भागे, कियल्लम्बया=कियद्दीर्घया, ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया=शिरोधिभूषण कौशेयतन्तुवल्ल्या, भ्राजिष्णुं=शोभमाना, त्वाम् एव=भवतीम् एव, धनुर्वल्ली=चापलताम्, आसाद्य=प्राप्य, माद्यति=हृष्यति ॥ १२६ ॥

अनुवाद —(हे राजकुमारी !) वह कामदेव, फूलोंके धनुषसे नहीं जीते जानेवाले राजा नलको जीतनेके लिए उत्तम कुलमें उत्पन्न, सौन्दर्य आदि अधिक गुणोंवाली, सिन्दूरके सौन्दर्यसे युक्त घषणकी रेखाके समान, पीठपर कुछ लटकनेवाले ग्रीवाके भूषण रेशमी वस्त्रकी सूत्रलतासे चमकनेवाली आपको ही धनुष् के रूपमें प्राप्त कर प्रसन्न हो रहा है ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—कौसुमचापदुर्जयं=कुसुमानामयं कौसुमः, कुसुम+अण्। कौसुमश्चाऽसौ चापः (क० धा०)। तेन दुर्जयः, तम् (तृ० त०)। जितेन्द्रिय होनेसे कामदेवके फूलोंके वाणसे नहीं जीते जानेवाले राजा नलको, यह तात्पर्य है। जेतुं=जि+तुमुन्। अव्रणवंशजाम्=अविद्यमानः व्रणः (छिद्रं दोषो वा) यस्मिन् सः अव्रणः (नञ्-बहु०)। स चाऽसौ वंशः (क० धा०), तस्मिन् जाता, ताम्। अव्रणवंश+जन्+ड (उपपद०)+टाप्+अम्। दमयन्तीकेपक्षमें निर्दोष कुलमें उत्पन्न, धनुर्वल्लीपक्षमें निश्छिद्र अर्थात् दृढ़ वंशमें उत्पन्न "द्वौ वंशौ कुलमस्करौ" इत्यमरः। अधिगुणाम्=अधिकाः गुणाः यस्यां सा, ताम् (बहु०)। दमयन्तीके पक्षमें लावण्य आदि अधिक गुणोंवाली। धनुर्वल्लीपक्षमें—गुणे इति अधिगुणा, ताम् (विभक्त्यर्थमें अव्ययीभाव), प्रत्यञ्चासे युक्त धनुर्वल्ली। निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया=सिन्दूरस्य सौन्दर्यम् (ष० त०), निवसत् सिन्दूरसौन्दर्यं यस्याः सा (बहु०)। कषरेखया=कषस्य रेखा, तया (ष० त०), "शाणस्तु निकषः कषः" इत्यमरः। धनुष् लायक बाँसकी परीक्षा उसपर डाला गया सिन्दूर रगड़नेपर सिन्दूरका वर्ण मिटे तो वह परिपक्व होनेसे उत्तम माना जाता है। कियल्लम्बया=कियत् (यथा तथा) लम्बा, तया (सुप्सुपा०)। ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया=ग्रीवाया अलङ्कृतिः (ष० त०), पट्टस्य सूत्रं (ष० त०)। पट्टसूत्रम् एव लता (रूपक०)। ग्रीवाऽलङ्कृतिश्चाऽसौ पट्टसूत्रलता (क० धा०), तया। भ्राजिष्णुं=भ्राजते तच्छीला भ्राजिष्णुः, ताम् "भ्राजृ दीप्तौ" धातुसे "भुवश्च" इस सूत्रसे "च"-के पाठसे इष्णुच् प्रत्यय। धनुर्वल्ली=धनुरेव वल्ली, ताम् (रूपक०)। आसाद्य=आङ्+सद्+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। माद्यति="मदी हर्षे" धातुसे लट्+तिप्। इस पद्यमें श्लेष और रूपकका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १२६ ॥

त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि घुटिकास्तं राजहंसं विभो-
र्वेध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीम्।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानं लस-
न्नाभीमध्यबिला विलासमखिलं रोमाऽऽलिरालम्बते ॥ १२७ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) विभोः मनोभुवः त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि घुटिकाः, तं राजहंसं वेध्यं, स्वम् अपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीं विद्धि। यन्नित्या-

ऽङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानम् अखिल विलास लसद्यामीमध्यविला रोमाऽऽलि शालम्बते ॥ १२७ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) विभो =प्रभो, मनोभुव =कामस्य, पत्त्रिवेद्यु-रिति शेषः । त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि=भवद्धारविशेषमुक्ताः, घुटिकाः = गुलिकाः, तं=पूर्वोक्तं, राजहंसं=राजश्रेष्ठं नलं, कलहंसम् (अत्र श्लिष्टरूपकम्), वेध्य=लक्ष्यं, स्वम् अपि=आत्मानम् अपि, तां=वक्ष्यमाणप्रकारां, मञ्जु= मनोहरां, धनुर्मञ्जरी=चापवल्लरीं, विद्धि=जानीहि । यन्नित्याऽङ्कनिवास-लालिततमज्याभुज्यमान=यत्सततोत्सङ्गवासात्यादृतमौर्व्यानुभूयमानम्, अखिल= समस्तं, विलास=शोभां, प्रकाशयतामित्यर्थः । लसद्यामीमध्यबिला=दीप्यमा नीगुलिकाधाना, रोमालि =स्वल्लोमपङ्क्तिः, आलम्बते=भजति ॥१२७॥

अनुवाद—(हे राजकुमारि !) आपकी हारपङ्क्तियोंके मोतियोंको काम-देवकी गोलियाँ जानिए, उस राजहंस नलको लक्ष्य (निशाना) समझिए, और अपनेको कामदेवकी सुन्दर धनुर्लता जानिए, जिसकी गोद (मध्यभाग)-में नित्य निवास करनेसे अत्यन्त आदृत प्रत्यञ्चासे अनुभव की जानेवाली सम्पूर्ण शोभाको प्रकाशित नाभिरूप मध्यच्छिद्र (गोली रखनेका स्थान) से युक्त रोमपङ्क्ति आश्रय कर रही है ॥ १२७ ॥

टिप्पणी—त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि=गुच्छानाम् आवलिः, (ष० त०), "हारभेदा यष्टिभेदा गुच्छगुच्छार्धगोस्तनाः" इत्यमरः । तव गुच्छाऽऽवलिः (ष० त०), तस्या मौक्तिकानि (ष० त०) । मुक्ता एव मौक्तिकानि । मुक्ता+ ठक् । स्वार्थमें ठक् (इक) प्रत्यय । राजहंस=राजा हंस इव, तम् (उपमित-कर्म०) । तमेव राजहंसम्=हंसानां राजा, तम् (ष० त०) "राजदन्तादिषु परम्" इससे राजपदका पूर्वप्रयोग । श्लिष्टरूपक है । "राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकल-हंसयोः" इति विश्वः । वेध्य=वेधितुं योग्य, तम् । "विध विधाने" धातुसे "ऋहलोर्ण्यत्" इस सूत्रसे ण्यत्, "धातूपसर्गाणामनेकार्थाः" इस न्यायसे विध धातुका यहाँ ताडन अर्थमें प्रयोग किया गया है । स्व="स्वो ज्ञातावात्मनि स्वयम्" इत्यमरः । धनुर्मञ्जरीं=धनुषो मञ्जरी, ताम् (ष० त०) । विद्धि= विद्+लोट्+सिप् । यन्नित्याऽङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानम्=अङ्के निवास (स० त०) । नित्यम् अङ्कनिवासः (सुप्सुपा०) । यस्या नित्याऽङ्कनिवासः (ष० त०) । अत्यर्थं लालिता लालिततमा, लालित+तमप्+टाप् । लालित-तमा चाऽसौ ज्या (क० धा०) । यन्नित्याऽङ्कनिवासेन लालिततमज्या (तृ०

त०), तया भुज्यमानः, तम् (तृ० त०)। लसन्नाभीमध्यबिला=मध्यं च तत् बिलम् (क० धा०)। नाभी एव मध्यबिलम् (रूपक०), लसत् नाभी-मध्यबिलं यस्याः सा (बहु०)। रोमाऽऽलिः=रोम्णाम् आलिः (ष० त०)। आलम्बते=आङ् + लबि + लट् + त। इस पद्यमें मौक्तिक आदिमें गुटिकादि अवयवका शब्द आरोप और अवयवी काममें वेद्घृत्वका अर्थ आरोप होनेसे एक-देशविवर्ति साऽवयव रूपक अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१२७॥

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनुमनुभ्राष्ट्रं च यश्चिक्षिपे।
निर्विद्याऽऽश्रयदाश्रमं स वितनुस्त्वां तज्जयायाऽधुना
पत्त्राऽऽलिस्त्वदुरोजशैलनिलया तत्पर्णशालायते ॥ १२८ ॥

अन्वयः—यः पुष्पेषुः यज्जितः निर्विद्य ते चिकुरेषु स्वं शरचयं, भालमूले धनुः, रौद्रे चक्षुषि अनुभ्राष्ट्रं तनुं चिक्षिपे। स वितनुः (सन्) अधुना तज्जयाय त्वाम् आश्रमम् आश्रयत्। (अत एव) त्वदुरोजशैलनिलया पत्त्रालिः तत्पर्ण-शालायते।

व्याख्या-(हे भैमि !) य , पुष्पेषु =कामः, यज्जितः=नलपराभूतः, अत एव, निर्विद्य=निर्वेदमनुभूय, ईर्ष्या जीवननैष्फल्यं ज्ञात्वेति भावः। ते=तव, चिकुरेषु=केशेषु, स्वं=स्वकीयं, शरचयं=बाणसमूहं, त्वद्घृतपुष्पच्छलादिति भावः। भालमूले=त्वल्ललाटभागे, धनुः=कार्मुकं, भ्रूव्याजादिति भावः। रौद्रे= रुद्रसम्बन्धिनि, चक्षुषि=नेत्रे, तस्मिन्नेव अनुभ्राष्ट्रं=भर्जनपात्रे, तनुं च= स्वशरीरं च, चिक्षिपे=क्षिप्तवान्। पूर्वमेव दग्धतनुव्याजादिति भावः। इत्थं च सः=काम , वितनुः=अनङ्गः सन्, अधुना=इदानीं, तज्जयाय=नलविजयार्थं, त्वां=भवतीम् एव, आश्रमं=तपोवनम्, आश्रयत्=आश्रितवान्, तपश्चर्यार्थमिति भावः। अन्यथा तं कथं जेष्यतीति तात्पर्यम्। अत एव त्वदुरोजशैलनिलया= भवत्स्तनपर्वतस्थिता, पत्त्रालिः=पत्त्ररचना, पर्णसमूहश्च, तत्पर्णशालायते= कामस्य पर्णशालावत् आचरति ॥ १२८ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारी !) जिस कामदेवने नलसे पराजित होनेसे विरक्त होकर आपके केशोंमे अपने बाणोंको आपके ललाट-भागमें (भौंहोंके बहानेसे) धनुषको और रुद्रके नेत्ररूप भट्ठीमें अपने शरीरको डाल दिया है। इस प्रकार उस कामदेवने अनङ्ग (शरीररहित) होकर इस समय नलको जीतनेके लिए आश्रमके समान आपका आश्रय लिया है, इसी कारणसे आपके

पर्वतरूप पयोधरोमें रहनेवाली पत्ररचना या पर्णसमूह कामदेवकी पर्णशालाके समान आचरण कर रहा है ॥ १२८ ॥

टिप्पणी—पुष्पेषु = पुष्पाणि इषव अस्य सः (बहु०)। यज्जित = येन जित (तृ० त०)। निर्विद = निर् + विद् + क्त्वा (ल्यप्)। निर्वेदका लक्षण है—"तत्त्वज्ञानाऽऽपदीर्ष्यादिर्निर्वेदः स्वावमाननम्" (सा० द० ३-१४९) अर्थात् तत्त्वज्ञान, आपत्ति और ईर्ष्यादिसे अपना अपमान करना 'निर्वेद' कहलाता है। शरचय = शराणां चयः, तम् (ष० त०)। भालमूले = भालस्य मूलं, तस्मिन् (ष० त०)। रौद्रे = रुद्र + अण + ङि। अनुप्रावृट् = प्रावृट् इति, विभक्तिके अर्थमें "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे अव्ययीभाव समास। क्लीबेऽम्बरीष भ्राष्ट्रो ना" इत्यमरः। विक्षिपे = क्षिप् + क्तिद् + त। वितनु = विगता तनुर्यस्य सः (बहु०)। तज्जयाय = तस्य जयः, तस्मै (ष० त०)। आश्रयत् = आङ् + श्रिञ् + लङ् + तिप्। त्वदुरोजशैलनिलया = उरसि जातौ उरोजौ, उरस् + जन् + ड + औ। उरोजौ एव शैलौ (रूपक०)। तव उरोजशैलौ (ष० त०), त्वदुरोजशैलौ निलयः यस्याः सा (बहु०)। पत्त्रालि = पत्त्राणामालिः (ष० त०)। तत्पर्णशालायते = पर्णानां शाला (ष० त०), तस्य पर्णशाला (ष० त०)। तत्पर्णशाला इव आचरति, तत्पर्णशाला + क्यङ् + लट् + त। इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें शर और चाप आदिका पूर्वोक्त पुष्प आदि विषयका निगरण (अप्रतिपादन) से उनके साथ अभेदका अध्यवसाय होनेसे अभेदलक्षण अतिशयोक्ति, "तत्पर्णशालायते" कहनेसे उपमा और "त्वाम् आश्रयत्" कहनेसे रूपकसे सङ्कीर्ण, उत्प्रेक्षावाचक इव आदिका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, इनका सङ्कर और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १२८ ॥

इत्यालपत्यथ पतत्त्रिणि तत्र भैमीं
सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपरा परीयुः ।
शर्माऽस्तु ते विसृज मामिति सोऽप्युदीर्य
वेगाज्जगाम निषधाऽधिपराजधानीम् ॥ १२९ ॥

अन्वय—तत्र पतत्त्रिणि भैमीम् इति आलपति (सति) अथ चिरात् तदनुसन्धिपराः सख्यः परीयुः। सोऽपि ते शर्म अस्तु, मा विसृज इति उदीर्य वेगात् निषधाऽधिपराजधानीं जगाम ॥ १२९ ॥

व्याख्या—तत्र = तस्मिन्, पतत्त्रिणि = पक्षिणि, हंसे। इति = इत्थम्, आलपति = आभाषमाणे सति, अथ = अस्मिन् अवसरे, चिरात् = बहुकालात्, तदनुसन्धिपराः = दमयन्त्यन्वेषणपराः, सख्यः = वयस्याः, परीयुः = परिवव्रुः। सोऽपि = हंसोऽपि, ते = तव, शर्म = सुखम्, अस्तु = भवतु, मा = हंसं, विसृज =

प्रेषय, नलसमीप इति भावः। इति=एवम्, उदीर्य=उक्त्वा, वेगात्=जवात्, निषधाऽधिपराजधानीं=नलनगरीं, जगाम=वव्राज ॥ १२९ ॥

अनुवाद—हंसके दमयन्तीको ऐसा कहनेपर उस अवसरमें बहुत समयसे दमयन्तीको ढूंढती हुई सखियोंने उसको घेर लिया। हंसने भी "आपको सुख मिले, मुझे रुखसत दीजिए" ऐसा कहकर वेगपूर्वक नलकी राजधानीमें प्रस्थान किया ॥ १२९ ॥

टिप्पणी—पतत्रिणि=पतत्र+इनि+ङि। आलपति=आङ्+लप+शतृ+ङि। तदनुसन्धिपराः=तस्या अनुसन्धिः (ष० त०), तस्मिन् पराः (स० त०)। परीयुः=परि+इण्+लिट्+झि। विसृज=वि+सृज+लोट्+सिप्। उदीर्य=उद्+ईर+क्त्वा (ल्यप्)। निषधाऽधिपराजधानीं=निषधानाम् अधिपः (ष० त०)। राज्ञा धीयतेऽस्यामिति राजधानी, राजन्+धा+ल्युट्+ङीप् (उपपद०)। निषधाऽधिपस्य राजधानी, ताम् (ष० त०)। इस पद्यमें ओजगुण और वसन्ततिलका छन्द है ॥ १२९ ॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रयत्
प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात्।
स्वादं स्वादमसीम मृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ॥ १३० ॥

अन्वयः—सा चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिः व्यामिश्रताम् आश्रयत्, असीम मृष्टसुरभि प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् स्वादं स्वादं तृप्तिं प्राप्ता अपि अन्तः नितान्तं तापं न प्राप, अतुलां मूर्च्छाम् अपि न आनर्च्छ ॥ १३० ॥

व्याख्या—सा=दमयन्ती, चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिः=कामबाणभूतपुष्परसैः क्षौद्रैश्च, व्यामिश्रतां=मेलनम्, आश्रयत्=प्राप्नुवत्, मिश्रं सदिति भावः। असीम=सीमारहितम्, अपरिमितमिति भावः। मृष्टसुरभि=शुद्धसुरभि, प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं=नलसन्देशहरराजहंसवाणीघृतं, रसात्=अनुरागात्, स्वादं स्वादं=पुनः पुनरास्वाद्य, तृप्तिं=सौहित्यं, प्राप्ता अपि=प्राप्तवत्यपि, अन्तः=अन्तःकरणे, नितान्तम्=अविरतं, तापं=सन्तापं, न प्राप=न प्राप्तवती, अतुलाम्=अनुपमां, मूर्च्छाम् अपि=मोहम् अपि, न आनर्च्छ=न प्राप ॥ १३० ॥

अनुवाद—दमयन्तीने कामदेवके वाणभूत फूलोंके रससे वा शहदसे मिश्रणको प्राप्त करते हुए अपरिमित शुद्ध और सुगन्धित, प्रियतम नलके दूत पक्षि·

श्रेष्ठ हंसकी वाणीरूप मक्खनको अनुरागसे आस्वादन कर तृप्तिको पाकर भी अन्तःकरणमें अत्यन्त तापको नहीं पाया और अनुपम मूर्च्छाको भी नहीं पाया।

टिप्पणी—चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिः=चेतसो जन्म यस्य स चेतोजन्मा, वामनाचार्यके "अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः" इस नियमके अनुसार व्यधिकरण बहु०। शरा एव प्रसूनानि (रूपक०), चेतोजन्मन शरप्रसूनानि (ष० त०), तेषां मधूनि, तैः (ष० त०)। मधुका अर्थ यहाँपर पुष्परस और शहद है। "मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि" इत्यमरः। आश्रयत्=आङ्+श्रिञ्+लङ् (धातु)+सु। असीम=अविद्यमाना सीमा यस्य, तत् (नञ् बहु०)। मृष्टसुरभि=मृष्टं च तत् सुरभि (क० धा०), तत्। प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन=प्रेयसो दूतः (ष० त०), स चाऽसौ पतङ्गः (क० धा०)। पुमाश्चाऽसौ गौः पुङ्गवः (क० धा०), "गोरतद्धितलुकि" इससे समासान्त टच् प्रत्यय। प्रेयोदूतपतङ्गश्चाऽसौ पुङ्गवः (क० धा०), तस्य गौः (वाणी), प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवी (ष० त०), पूर्वसूत्रसे टच् और "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप्। ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनं "हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्" इस सूत्रसे निपात। "तत्तु हैयङ्गवीनं यद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्" इत्यमरः। प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवी एव हैयङ्गवीनं, तत् (रूपक०)। स्वादं स्वादं="स्वद आस्वादने" धातुसे आभीक्ष्ण्य द्योत्य होनेपर "नित्यवीप्सयोः" इससे द्विर्वचन और "आभीक्ष्ण्ये णमुल् च" इससे णमुल्। चकार पाठसे एक पक्षमें क्त्वा प्रत्यय भी होता है। तृप्ति=तृप्+क्तिन्+अम्। अतुलाम्=अविद्यमाना तुला यस्याः सा अतुला, ताम् (नञ् बहु०)। आनर्च्छ=ऋच्छ+लिट्+तिप्। इस पद्यमें "पतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनम्" इससे रूपक और मधुसे मिश्रित घृत विष होता है, उसका पान करनेसे भी तापका अभाव कहनेसे विरोध अलङ्कार है, इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥ १३०॥

तस्या दृशो वियति बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तद्बाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टेराराद्पि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः॥१३१॥

अन्वयः—वियति बन्धुम् अनुव्रजन्त्या तस्या दृशः तद्बाष्पवारि चिरात् न अवधिः बभूव। तत् अनेन दृष्टेः पार्श्वे अपि विप्रचकृषे, चित्तवृत्तेस्तु आरात् अपि न व्यवदधे॥ १३१॥

व्याख्या—वियति=आकाशे, बन्धुं=बान्धवभूतं हंसमित्यर्थः। अनु-

व्रजन्त्याः=अनुगच्छन्त्याः, तस्याः=भैम्याः, दृशः=दृष्टेः, तद्वाष्पवारि=तन्नयनजलं, चिरात्=बहुकालं यावत्, न अवधिर्बभूव=न सीमारूपं बभूव, "ओदकान्तमनुव्रजेत्" इति शास्त्रात् अग्रे गन्तुं न ददौ इति भावः। तत्=तस्मात्कारणात्, अनेन=हंसेन, पार्श्वे अपि=समीपे अपि, विप्रचकृपे=विप्रकृष्टेन बभूवे। चित्तवृत्तेस्तु=मनोवृत्तेस्तु, आरात् अपि=दूरे अपि, न व्यवदधे=व्यवहितेन न बभूवे ॥ १३१ ॥

अनुवाद—आकाशमें बन्धु हंसका दृष्टिसे अनुगमन करनेवाली दमयन्तीके नेत्रोंके जल बहुत समयतक अवधिभूत नहीं हुए। इस कारणसे दमयन्तीके नेत्रोंसे निकटमें भी हंस दूर हुआ और दूर होनेपर भी व्यवहित नहीं हुआ ॥१३१॥

टिप्पणी—अनुव्रजन्त्याः=अनु+व्रज+लट् (शतृ)+ङीप्+ङस्। तद्वाष्पवारि=तस्या वाष्पम् (ष० त०), तस्य वारि (ष० त०)। आकाशमें अपने बन्धुको देखनेवाली दमयन्तीकी आँखोंसे वियोगके दुःखसे उत्पन्न आँसू बहुत समयतक उनकी दृष्टिके सीमाभूत नही हुए अर्थात् अपने बन्धुका कुछ दूर तक अनुगमनमें "ओदकान्तमनुव्रजेत्" अर्थात् जलाशयतक अनुगमन करे, ऐसी शास्त्राज्ञा है। दमयन्तीकी आँखोमे आँसू आ जानेसे वह हंसका अनुगमन न कर सकी, यह अभिप्राय है। विप्रचकृपे=वि+प्र+कृ+लिट् (भावमें)+त। चित्तवृत्तेः=चित्तस्य वृत्तिः, तस्याः (ष० त०)। आरात्="आराद् दूरसमीपयोः" इत्यमरः। व्यवदधे=वि+अव+धा+लिट् (भावमें)+त। हंसके जानेपर दमयन्तीकी आँखोमें आँसू आ जानेसे हंस निकट होनेपर भी ओझल हुआ परन्तु दूर होनेपर भी चित्तवृत्तिसे ओझल नहीं हुआ, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें निकटस्थकी दूरता और दूरस्थकी निकटस्थताका वर्णन होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है ॥ १३१ ॥

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन्पक्षयोः कम्पभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे।
कान्तारे निर्गताऽसि प्रियसखि! पदवी विस्मृता किं नु मुग्धे!
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—अथ एकः पक्षयोः कम्पभेदैः कार्यसिद्धेः अस्तित्वं स्फुटं कथयन् एतत् सर्वं वृत्तं निषधनरपतौ आख्यातुं प्रतस्थे। अन्यां वयस्याः "हे प्रियसखि! हे मुग्धे! कान्तारे निर्गता असि, पदवी विस्मृता किं नु? मा रोदीः। एहि यामः" इति उपहृतवचसः (सत्यः) (एनाम्) निन्युः ॥ १३२ ॥

व्याख्या—अथ=अनन्तरम्, एक=अन्यतर अनयोरिति शेष, हस इत्यर्थ । पक्षयो=पतत्रयो, कम्पभेदै=वेपथुरूपचेष्टाविशेषै, कार्यसिद्धे=कृत्यासाफल्यस्य, अस्तित्व=सत्ता, स्फुट=व्यक्त, कथयन्=सूचयन्, एतत्=इद, सर्वे=सकल, वृत्त=व्यतीत, दमयन्त्या सह सलापादिकमिति भाव । निषध नरपतौ=नले विषये, आख्यातु=कथयितु, प्रतस्थे=प्रस्थित । अन्याम्=अपराम्, अनयोरिति शेष । दमयन्तीमित्यर्थ । वयस्या=सख्य, "हे प्रियसखि !=हे वल्लभवयस्ये ! हे मुग्धे !=हे मूढचित्ते ! कान्तारे=दुर्गमे वर्त्मनि, निर्गता=निष्क्रान्ता, असि=वर्तसे, पदवी=मार्ग, विस्मृता किं नु=प्रस्मृता किं नु, त्वयेति शेष । मा रोदी=रोदन मा कुरु । एहि=आगच्छ । याम=गच्छाम, सर्वा मिलित्वेति शेष, इति=इत्यम्, उपहृतवचस=दत्तवचना सत्य, निन्यु=प्रापयामासु, राजप्रासादमिति शेष ॥ १३२ ॥

अनुवाद—तब उन दोनोमे एक (हस) ने पखोकी कम्परूप चेष्टाओसे कार्य साफल्यकी सत्ताको स्पष्ट रूपसे जताकर यह सब व्यतीत सभाषणरूप वृत्तान्तको महाराज नलको कहनेके लिए प्रस्थान किया । दमयन्तीको उनकी सखियाँ "हे प्रियसखि ! हे मूढचित्तवाली ! आप दुर्गम मार्गमें निकली हैं, राहको भूल गयी हैं क्या ? मत रोइए । आइए, हम सब चलें" इस प्रकारके वचनोको कहती हुई दमयन्तीको राजप्रासादमे ले गयी ॥ १३२ ॥

टिप्पणी—कम्पभेदै=कम्पस्य भेदा, तै (ष० त०), कार्यसिद्धे=कार्यस्य सिद्धि, तस्या (ष० त०) । अस्तित्वम्=विद्यमानका समानार्थक "अस्ति" अव्ययसे त्वप्रत्यय । कथयन्=कथ+णिच्+लट् (शतृ)+सु । निषधनरपतौ=नराणा पति (ष० त०), निषधाना नरपति, तस्मिन् (ष० त०), विषयमे सप्तमी । आख्यातुम्=आङ्+ख्या+तुमुन् । प्रतस्थे=प्र–उपसर्गपूर्वक स्था धातुसे "समवप्रविभ्य स्थ" इस सूत्रसे आत्मनेपदमे लिट्+त । वयस्या=वयसा तुल्या, वयस् शब्दसे "नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्रसे यत् प्रत्यय और टाप् । प्रियसखि=प्रिया चाऽसौ सखी (क० धा०), तत्सम्बुद्धौ । कान्तारे="कान्तार वर्त्म दुर्गमम्" इत्यमर । विस्मृता=वि+स्मृ+क्त+टाप्+सु । मा रोदी—माङ्के योगमे "रुदिर् अश्रुविमोचने" धातुसे अट्के अभावपक्षमें "माङि लुङ्" इससे लुङ्+सिप् । "न माङ्योगे" इससे अट्का अभाव । याम=या+लट्+मस् । उपहृतवचस=उपहृत वचो याभिस्ता (बहु०) । निन्यु=नी+लिट्+झि ॥ १३२ ॥

सरसि नृपमपश्यद्यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकाऽनोकहस्योपमूलम् ।
किसलयदलतल्पम्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौलेः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—स यत्र सरसि नृपम् अपश्यत्, तत्तीरभाजः ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौलेः अशोकाऽनोकहस्य उपमूलं किसलयदलतल्पम्लापिनं तं प्राप ।

व्याख्या—सः=हंसः, यत्र=यस्मिन्, सरसि=कासारसमीपे, नृपं=राजानं नलम्, अपश्यत्=दृष्टवान्, तत्तीरभाजः=तत्तटरुहस्य, ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौलेः=दीप्यमानकामबाणसङ्घर्षिकुसुमसमृद्धिशिखरस्य, अशोकाऽनोकहस्य=अशोकवृक्षस्य, उपमूलं=मूलं समीपे, स्मरतरलं=कामचञ्चलं, किसलयदलतल्पम्लापिनं=पल्लवपत्रशयनम्लानिकारकं, तं=नृपं नलं, प्राप==प्राप्तवान् ॥१३३ ॥

अनुवाद–उस हंसने जिस तालावके समीपमें राजा नलको देखा था, उसके तीरमें उत्पन्न और चमकते हुए कामबाणोंसे स्पर्धा करनेवाले फूलोंसे युक्त चोटीवाले अशोक वृक्षके नीचे कामदेवसे चञ्चल, पल्लवोंके पत्तेकी सेजको म्लान करने वाले राजाको प्राप्त किया ॥ १३३ ॥

टिप्पणी—अपश्यत्=दृश्+लङ्+तिप् । तत्तीरभाजः=तस्य तीरं (ष० त०), तत् भजतीति तत्तीरभाक्, तस्य, तत्तीर+भज्+ण्वि+(उपपद०)+ङस् । ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौलेः=न समाः (नञ्०) । असमाः शरा यस्य सः (बहु०), तस्य इषवः (ष० त०) । ज्वलन्तश्च ते असमशरेषवः (क० धा०) । तान् स्पर्धत इति ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिनी, ज्वलदसमशरेषु+स्पर्ध+णिनि+ङीप् (उपपद०), पुष्पाणाम् ऋद्धिः (ष० त०) । ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिनी चाऽसौ पुष्पर्द्धिः (क० धा०), सा मौलौ यस्य सः (व्यधिकरणबहु०), तस्य । अशोकाऽनोकहस्य=अशोकश्चाऽसौ अनोकहः, तस्य (क० धा०) । उपमूलं=मूलस्य समीपे, "अव्ययं विभक्तिसमीप०" इत्यादि सूत्रसे समीप अर्थमें अव्ययीभाव । स्मरतरलं=स्मरेण तरलः, तम् (तृ० त०) । किसलयदलतल्पम्लापिनं=किसलयानां दलानि (ष० त०), तेषां तल्पं (ष० त०), तत्, म्लापयतीति तच्छीलः, तम्, किसलयदलतल्प+म्लै+णिच्+पुक्+णिनिः (उपपद०)+अम् । प्राप=प्र+आप्+लिट्+तिप् । मालिनी छन्द है ॥ १३३ ॥

"परवति दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनम किं माम्राह सा ? शास हंस ! " ।
इति वदति नलेऽसौ तच्छशासोपनम्र
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहायां विलम्बः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—'परवति हे दमयन्ति ! त्वां किञ्चित् न वदामि' । 'हे हंस ! द्रुतम्, उपनम सा मा किम् आह ? शास" । इति वदति नले असौ उपनम्र (सन्) तत् शशास । हि सुकृतां प्रियम् अनु स्वस्पृहायां (एव) विलम्बः ॥ १३४ ॥

व्याख्या—परवति=हे पराऽधीने ! हे दमयन्ति !=हे भैमि ! त्वां=भवतीं, किञ्चित्=किमपि, न वदामि=न कथयामि, मत्सविधे शीघ्रं प्रणयसन्देशं किमर्थं न प्रहित इति कृत्वा नोपालम्भ इति भावः । हे हंस !=हे राजहंस ! द्रुतं= शीघ्रम्, उपनम=समीपम् आगच्छ । सा=दमयन्ती, मा=नलं, किम्, आह= वदति, शास=कथय, तदिति शेषः । इति=एवं, वदति=भाषमाणे, नले= नैषधे, असौ=हंसः, उपनम्र=समीपमागतः सन्, तत्=वृत्तान्तजातं, शशास= कथयामास । हि=यतः, सुकृतां=पुण्यात्मनां, प्रियम् अनु=इष्टार्थं प्रति, स्वस्पृहायां=निजेच्छायाम् एव, विलम्बः=समयाविक्यम्, न तु इच्छाऽनन्तरं तत्सिद्धेविलम्ब इति भावः ॥ १३४ ॥

अनुवाद—"हे पराधीने दमयन्ति ! मैं तुम्हें कुछ भी नहीं कहता हूँ" । "हे हंस ! तुम शीघ्र मेरे पास आओ । दमयन्तीने मुझे क्या कहा ? कहो ।" नलके ऐसा कहनेपर उस हंसने राजाके समीप आकर सब वृत्तान्त बतलाया, क्योंकि पुण्यात्माओंको अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए अपनी इच्छा मात्रका विलम्ब होता है (इच्छाके अनन्तर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता है) ।

टिप्पणी—परवति=पर+मतुप्+ङीप् (सम्बुद्धिमें), "परतन्त्रः पराऽधीनः परवान्नाथवानपि" इत्यमरः । वदामि=वद+लट्+मिप् । उपनम= उप+नम्+लोट्+सिप् । शास=शास्+लोट्+सिप् । वदति=वद+लट् (शतृ)+ङि । शशास=शास+लिट्+तिप् । सुकृतां=शोभनं, कृतवन्त इति सुकृतः, तेषाम्, सु-उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे "सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय । प्रियम्="अनु" इस पद की "अनुर्लक्षणे" इस सूत्रसे कर्मप्रवचनीय संज्ञा होनेसे उसके योगमें "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इससे द्वितीया । स्वस्पृहायां=स्वस्य स्पृहा, तस्याः (ष० त०) । इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । मालिनी छन्द है ॥१३४॥

कथितमपि नरेन्द्रः शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः ।
अधिगतमतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तयाऽन्वाचचक्षे ॥ १३५ ॥

अन्वयः—स नरेन्द्रः कथितम् अपि प्रियाया भाषितं किमिति किमिति पृच्छन् हंसं शंसयामास । (किञ्च) अतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः (सन्) अधिगतं तत् स्वयम् अपि शतकृत्वः अन्वाचचक्षे ॥ १३५ ॥

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तः, नरेन्द्रः=राजा नलः, कथितम् अपि=उक्तम् अपि, प्रियायाः=दयितायाः, दमयन्त्या इत्यर्थः । भाषितं=वचनं, किमिति किमिति=कीदृक् कीदृक् इति, पृच्छन्=अनुयुञ्जानः सन्, हंसं=राजहंसं, शंसयामास=पुनः आख्यापयामास । (किञ्च) अतिवेलाऽऽनन्दमार्द्वीकमत्तः= अत्यन्तप्रमोदद्राक्षामदयुक्तः (सन्), अधिगतं=सम्यग्गृहीतं, तत्=हंसप्रतिपादितं दमयन्तीभाषितं, स्वयम् अपि=आत्मना अपि, शतकृत्वः=शतवारम्, अन्वाचचक्षे= अनूदितवान्, मत्तोऽपि उक्तमेव वचनं भूयो भूयो वक्तीति भावः ॥ १३५ ॥

अनुवाद—राजा नलके हंससे कहे गये भी दमयन्तीके वचनको कैसा ? कैसा ? ऐसा पूछकर हंससे फिर कहलवाया । अत्यन्त आनन्दस्वरूप द्राक्षामद्यसे मत्त होकर सुने गये, हंससे प्रतिपादित दमयन्तीके वचनका स्वयं भी सैकड़ों वार अनुवाद किया ॥ १३५ ॥

टिप्पणी—नरेन्द्रः=नराणाम् इन्द्रः (ष० त०) । पृच्छन्=प्रच्छ+लट् (शतृ)+सु । हंसम्=शंस धातुके शब्दकर्मक होनेसे णिच्के न होनेपर कर्तृ-संज्ञक हंससे णिच् होनेपर "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माऽकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" इससे कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया । शंसयामास=शंस+णिच्+लिट्+तिप् । अतिवेलाऽऽनन्दमार्द्वीकमत्तः=अतिवेलश्चासौ आनन्दः (क० धा०) । मृद्वीकायाः (द्राक्षायाः) विकारो मार्द्वीकम्, मृद्वीका शब्दसे "तस्य विकारः" इससे अण्, आदिवृद्धि । अतिवेलाऽऽनन्द एव मार्द्वीकं (रूपक०), तेन मत्तः (तृ० त०) । शतकृत्वः=शतवारम्, शत शब्दसे "संख्यायाः क्रियाऽऽभ्यावृत्ति-गणने कृत्वसुच्" इस सूत्रसे कृत्वसुच् प्रत्यय । अन्वाचचक्षे=अनु+आङ्+चक्षिङ्+लिट्+त । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार और मालिनी छन्द है । १३५।

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे । तस्य प्रबन्धे चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयं तार्तीयीकतया मितः निसर्गोज्ज्वलः सर्गः अगमत् ॥ १३६ ॥

व्याख्या—व्याख्यातपूर्वं श्लोकं सक्षेपेण पुनर्व्याख्यायते । कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः=पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणिः श्रीहीरः, मामल्लदेवी च, जितेन्द्रियचयं=वशीकृतहृषीकसमूहं, यं श्रीहर्षं, सुतं=पुत्रं, सुषुवे=जनयामास । तस्य=श्रीहर्षस्य प्रबन्धे—रचनायां, चारुणि=सुन्दरे नैषधीयचरिते=तदाख्ये महाकाव्ये, अयं=सन्निकृष्टः, तार्तीयीकतया=तृतीयत्वेन, मितः=परिमितः, निसर्गोज्ज्वलः=स्वभावसुन्दरः, सर्गः=अध्यायः, अगमत्=गतः, समाप्त इति भावः ॥ १३६ ॥

अनुवाद—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके हीरकस्वरूप श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिन श्रीहर्ष पुत्रको उत्पन्न किया, उनकी रचनामें सुन्दर, नैषधीयचरित महाकाव्यमें यह तृतीयरूपसे परिमित, स्वभावसे सुन्दर सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३६ ॥

टिप्पणी—तार्तीयीकतया=त्रयाणां पूरणः तृतीयः, 'त्रि' शब्दसे "त्रेः सम्प्रसारणं च" इससे तीय प्रत्यय और सम्प्रसारण । तृतीय एव तार्तीयीकः, 'तृतीय' शब्दसे "तृतीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः" इस वार्तिकसे स्वार्थमें विकल्पसे ईकक् प्रत्यय और कित् होनेसे "किति च" इस सूत्रसे आदिवृद्धि । तार्तीयीकस्य भावः तार्तीयीकता, तया, तार्तीयीक+तल्+टाप्+टा । शेष भाग पहलेके समान ॥ १२६ ॥

इति श्रीचन्द्रकलाऽभिख्यायां नैषधीयचरितव्याख्यायां तृतीयः सर्गः ।

छात्रप्रबोधकरणाऽर्थमयं प्रयास-
स्टीकाकृतोऽत्र नहि कोऽपि मतिप्रकाशः ।
स्यात्सम्भ्रमभ्रमकृतं मम दूषणं चेत्
क्षाम्यन्तु तद्बुधवराः सुकृतं प्रतीक्ष्याः ॥

श्लोकानुक्रमणिका

(तृतीय सर्गः)

॥ श्री ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

चतुर्थः सर्गः

योगादिनाऽप्यसुलभो पृथयत्नभाजा-
मास्ते तथाऽपि विदितो निजभक्तिवश्य ।
धर्माऽवनिप्रणतरक्षणसक्षणो यो
दूरीकरोतु दुरित मतत स ईश ॥

अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभू सुरभि तस्य यश कुसुम धनु ।
श्रुतिपथोपगत सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम् ॥ १ ॥

अन्वय—अथ आत्मभू नलस्य गुण गुण, सुरभि तस्य यश कुसुम धनु, सुमनस्तया श्रुतिपथोपगत तम् इषु विधाय ताम् आशु जिगाय ।

व्याख्या—अथ राज्ञ स्वयवराऽर्थमुपोद्घातत्वेन भैम्या मदनाऽवस्था वर्णयितुमारभते—अथेति । अथ=भैम्या नलसन्देशश्रवणाऽनन्तरम्, आत्मभू = काम, नलस्य=नैषधस्य, गुण=शौर्यसौन्दर्यादिक धर्म, गुण=मौर्वी, विधाय= कृत्वा, सुरभि=सुगन्धि मनोहर च, तस्य=नलस्य, यश कुसुम=कीर्तिपुष्प, धनु =कार्मुक, विधाय, सुमनस्तया=सुमनस्कत्वेन, पुष्पत्वेन च, श्रुतिपथोपगत=वार वार भैम्या श्रुतमित्यर्थ, कर्णपर्यन्तमाकृष्ट च, त=नलम् एव, इषु=बाण, विधाय, ता=भैमीम्, आशु=शीघ्र, जिगाय=जितवान्, भैमी नलैकासक्तचित्ता चकारेति भाव ।

अनुवाद—दमयन्तीसे नलका सन्देश सुननेके बाद कामदेवने नलके शौर्य और सौन्दर्य आदि गुणको प्रत्यञ्चा, उनके खुशबूदार और मनोहर कीर्तिरूप

पुष्पको धनुष् और उत्तम मन होनेसे और फूल होनेसे दमयन्तीके कर्णमार्गमें प्राप्त अथवा कानतक खींचे गये नलको बाण बनाकर दमयन्तीको शीघ्र जीत लिया (दमयन्तीको नलमें आसक्त बनाया) ।

टिप्पणी—सुरभि='सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत्सुरभिः स्मृतः' इति विश्वः । यशःकुसुमं=यश एव कुसुमं, तत् (रूपक०) । सुमनस्तया=शोभनं मनो यस्य स सुमनः (बहु०), सुमनसो भावः सुमनस्ता, तया, सुमनस्+तल्+टाप्+टा । दूसरे पक्षमें—सुमनसो भावः, "स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्" इत्यमरः । श्रुतिपथोपगतं=श्रुत्योः पन्थाः श्रुतिपथः, (ष० त०), समासान्त अप्रत्यय श्रुतिपथम् उपगत, तम् (द्वि० त०) । विधाय=वि+धा+क्त्वा (ल्यप्) । जिगाय=जि+लिट्+तिप् । 'सन्लिटोर्जेः' इससे कुत्व । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है । द्रुतविलम्बित छन्द है, उसका लक्षण है—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' ॥ १ ॥

यदतनुज्वरभाक् तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम् ।
सपदि तस्य चिराऽन्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत ॥ २ ॥

अन्वयः—सा अतनुज्वरभाक् (सती) यत् प्रियकथासरसीरसमज्जनं तनुते स्म । (तदा) तस्य सपदि चिराऽन्तरतापिनी विषमा परिणतिः समपद्यत ।

व्याख्या—सा=दमयन्ती, अतनुज्वरभाक्=कामज्वरयुक्ता, अधिकज्वरयुक्ता (सती), यत् प्रियकथासरसीरसमज्जनं=नलकथाकासारजलस्नानं, तनुते स्म=चकार । ((तदा) तस्य=मज्जनस्य, सपदि=तत्क्षणं, चिराऽन्तरतापिनी=दीर्घसमयाऽभ्यन्तरतापकारिणी, विषमा=उद्दीपनस्वरूपा, परिणतिः=परिपाकः, समपद्यत=सञ्जाता ।

अनुवाद—दमयन्तीने कामज्वरसे युक्त होकर जो प्रिय(नल)के कथा रूप तालाबमें स्नान किया, उस समय उस स्नानका उसी क्षण बहुत समयतक मनको सन्तप्त करनेवाला विषम परिणाम उत्पन्न हुआ ।

टिप्पणी—अतनुज्वरभाक्=अविद्यमाना तनुः (शरीरम्) यस्य सः अतनुः (नञ्-बहु०), अतनु अर्थात् अनङ्ग, कामदेव । अतनोः ज्वरः (ष० त०) । तम् भजतीति, अतनुज्वर+भज्+ण्विः (उपपद०) । दूसरे पक्षमें—न तनुः अतनुः (नञ्०), तनु=थोड़ा, अतनुश्चाऽसौ ज्वरः (क० धा०) । प्रियकथासरसीरसमज्जनं=प्रियस्य कथा (ष० त०), सा एव सरसी (रूपक०), तस्य रसः, तस्यां मज्जनं, तत् (स० त०) । चिराऽन्तरतापिनी=अन्तरं तापयतीति अन्तर-

तापिनी, अन्तर + तप् + णिच् + ङीप् + सु (उप०), समपद्यत=सम् + पद + लङ + त । जैसे ज्वरवाले मनुष्यको स्नान करनेसे विषम ज्वर होता है, उसी तरह कामज्वरवाली दमयन्तीको प्रिय नलके कथारूप तालाबमें स्नान करनेसे विषम परिणाम हुआ, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें ज्वरको हटानेके लिए जलमें स्नान करनेसे और भी ज्वरके वृद्धिरूप अनर्थकी संघटनासे विषम अलङ्कार हुआ है। जैसे कि उसका लक्षण है—

"गुणौ क्रिये वा यत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ॥
विरूपयोः सङ्घटना या च तद्विषमं मतम् । (सा० द० १०-६१)

बारह प्रकारकी कामदशाओंके पक्षमें यह नवमी सज्वरावस्था है। बारह कामदशाएँ जैसे कि—

"चक्षुःप्रीतिर्मनःसङ्गः सङ्कल्पोऽथ प्रलापिता ।
जागरः कार्श्यमरतिर्लज्जात्यागोऽथ सज्वरः ॥
उन्मादो मूर्च्छनं चैव मरणं चरमं विदुः ॥ २ ॥

ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतिवेगतः ।
स्थितिविरोधकरीं द्रघणुकोदरी, तदुदितः स हि यो यदनन्तरः ॥ ३ ॥

अन्वय—द्रघणुकोदरी इयं स्थितिविरोधकरीम् अधीरतां दयितदूतपतद्गतिवेगतः अधीतवती । हि यो यदनन्तरः स तदुदितः ।

व्याख्या—द्रघणुकोदरी=अतिकृशोदरी, इयं=दमयन्ती, स्थितिविरोधकरीं=स्त्रीमर्यादाविरोधहेतुम्, अवस्थानविरोधकारणं च, अधीरतां=चपलताम्, एकस्थानाऽनवस्थानं च, दयितदूतपतद्गतिवेगतः=प्रियदूतपक्षिगमनवेगात्, अधीतवती=गृहीतवती, प्राप्तवतीति भावः। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—तदुदित इति। हि=यतः, यः=जनः, यदनन्तरः=यत्सन्निहितः, सः=जनः, तदुदितः=तदुत्पन्नः, ध्रुवं=किमु।

अनुवाद—अत्यन्त कृश उदरवाली यह (दमयन्ती) मर्यादा वा स्थितिका विरोध करनेवाले चञ्चल भाव (अस्थिरता) को प्रिय नलके दूत पक्षी (हंस)के गतिवेगसे प्राप्त हुई, क्योंकि जो (भाव) जिसके निकट रहता है, वह उससे उत्पन्न हुआ है क्या ? ऐसा जाना जाता है।

टिप्पणी—द्रघणुकोदरी=द्रघणुकम् (इव) उदरं यस्याः सा (बहु०)। स्थितिविरोधकरी=स्थितेर्विरोधः (ष० त०), "संस्था तु मर्यादा धारणा

स्थितिः" इत्यमरः । स्थितिविरोधं करोतीति तद्वेतुः, ताम् । स्थितिविरोध+कृ+ट+ङीप्+अम् (उपपद०) । अधीरतां=न धीरा अधीरा (नञ्०), तस्या भावः तत्ता, ताम्, अधीर+तल्+टाप्+अम् । दयितदूतपतद्गतिवेगतः=दयितस्य दूतः (प० त०), स चाऽसौ पतत् (क० धा०), "पतत्पत्त्ररथाऽण्डजाः" इत्यमरः । दयितदूतपततः गतिः (प० त०), तस्या वेगः (प० त०), तस्मात् । दयितदूतपतद्गतिवेग+तसिः । अधीतवती=अधि+इङ्+क्तवतु+ङीप् । यदनन्तरः=यस्य अनन्तरः (प० त०) । तदुदितः=तस्माद् उदितः (प० त०) । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यासका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है ॥ ३ ॥

अतितमां समपादि जडाशयं स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम् ।
अजनि पङ्गुरपाङ्गनिजाऽङ्गणभ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः ॥ ४ ॥

अन्वयः—तदाननं स्मितलवस्मरणेऽपि अतितमां जडाशयं समपादि । तदीक्षणखञ्जनः अपाङ्गनिजाऽङ्गणभ्रमिकणे अपि पङ्गुः अजनि ।

व्याख्या—तदाननं=दमयन्तीमुखं, स्मितलवस्मरणेऽपि=मन्दहासलेशस्मृतावपि, अतितमाम्=अतिमात्रं, जडाशयं=मूढाऽभिप्रायं, समपादि=सम्पन्नं, हासलेशप्रकाशनेऽप्यनभिज्ञं जातमिति भावः । तथा च तदीक्षणखञ्जनः=दमयन्तीनेत्रखञ्जरीटः, अपाङ्गनिजाऽङ्गणभ्रमिकणेऽपि=नेत्रप्रान्तस्वचत्वरभ्रमणलेशेऽपि, पङ्गुः=असमर्थः, अजनि=जातः । कामज्वरवेगाद्दमयन्त्याः स्मितकटाक्षनिरीक्षणे लुप्तप्राये सञ्जाते इति भावः ।

अनुवाद—दमयन्तीका मुख मन्दहास्यके लेशमात्रके स्मरणमें भी अत्यन्त जड आशयवाला हो गया और उनके नेत्ररूप खञ्जनपक्षी अपाङ्गरूप अपने आँगनमें भ्रमणके लेशमें भी असमर्थ हो गये ।

टिप्पणी—तदाननं=तस्या आननम् (प० त०) । स्मितलवस्मरणे=स्मितस्य लवः (प० त०), तस्य स्मरणं, तस्मिन् (प० त०) । जडाशयं=जड आशयो यस्य तत् (बहु०) । दमयन्तीका मुख थोड़ेसे मन्दहास्यके स्मरणमें भी जड हो गया, करनेमें फिर क्या कहना ? यह अभिप्राय है । समपादि=सं+पद+लुङ्+त (कर्तामें) । तदीक्षणखञ्जनः=ईक्षणम् एव खञ्जनः (रूपक०), "खञ्जरीटस्तु खञ्जनः"

इत्यमर । तस्या ईक्षणमञ्जन (ष० त०)। अपाङ्गनिजाऽङ्गणभ्रमिकर्णे = निज च तत् अङ्गणम् (क० धा०)। "अङ्गण चत्वराऽजिरे" इत्यमर । अपाङ्ग एव निजाऽङ्गणम् (रूपक०)। तस्मिन् भ्रमि (स० त०), तस्या कर्ण, तस्मिन् (ष० त०)। अजनि = जन + लुङ् + त (कर्तामें)। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ ४ ॥

किमु तदन्तरुभौ भिषजौ दिव स्मरनलौ विशत स्म विगाहितुम् ।
तदभिकेन चिकित्सितुमाशु सा मखभुजामधिपेन नियोजितौ ? ॥ ५ ॥

अन्वय —तदभिकेन मखभुजाम् अधिपेन ताम् आशु चिकित्सितु नियोजितौ उभौ दिव भिषजौ स्मरनलौ (सन्तौ) विगाहितु तदन्त विशत स्म किमु ?

व्याख्या—तदभिकेन = दमयन्तीकामुकेन, मखभुजा = देवानाम्, अधिपेन = स्वामिना, देवेन्द्रेणेत्यर्थ । ता = दमयन्तीम्, आशु = शीघ्र, चिकित्सितु = भेषजीकर्तुं, नियोजितौ = आज्ञप्तौ, प्रेषिताविति भाव । उभौ = द्वौ, दिव = स्वर्गस्य, भिषजौ = चिकित्सकौ, अश्विनीकुमाराविति भाव । स्मरनलौ = कामनैषधौ सन्तौ, विगाहितु = प्रवेष्टु, रोगनिदान निश्चेतुमिति भाव । तदन्त = दमयन्त्यन्त करण, विशत स्म किमु = प्रविष्टौ किमु । एतेन नलस्य कामदेवाश्विनीकुमारसदृशसौन्दर्यं व्यज्यते ।

अनुवाद—दमयन्तीके कामुक इन्द्रसे दमयन्तीको शीघ्र चिकित्सा करनेके लिए भेजे गये दोनो स्वर्गके वैद्य अश्विनीकुमारोने कामदेव और नल होकर, रोगनिदानका निश्चय करनेके लिए दमयन्तीके अन्त करणमे प्रवेश किया है क्या ?

टिप्पणी—तदभिकेन = तस्या अभिक, तेन (ष० त०), अभिक शब्द "अनुकाऽभिकाऽभीक कमिता" इस सूत्रसे निपातित हुआ है । चिकित्सितु = कित + सन् + तुमुन् । स्मरनलौ = स्मरश्च नलश्च (द्वन्द्व)। विगाहितु = वि + गाह + तुमुन् । तदन्त = तस्या अन्त, तत् (ष० त०)। इस पद्यमे चिन्ता नामक व्यभिचारी भाव है । उसका लक्षण है—"ध्यान चिन्तेप्सिताऽनाप्ते शून्यताश्वासतापकृत् ।—सा० द० ३–१८० ॥ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५ ॥

कुसुमचापजतापसमाकुल कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम् ।
अहरहर्बहदन्यविकाधिका रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—कुसुमचापजतापसमाकुलम् अहरहः अभ्यधिकाऽधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोः विधां वहत् कमलकोमलं तन्मुखम् ऐक्ष्यत ।

व्याख्या—अथ चिन्ताऽनुभावं सन्तापं वर्णयति—कुसुमेत्यादि । कुसुमचापजतापसमाकुलं=कामजन्यसन्तापविह्वलम्, (अतएव) अहरहः=प्रतिदिनम्, अभ्यधिकाऽधिकाम्=अत्यन्ताऽधिकां, रविरुचिग्लपितस्य=सूर्यकिरणम्लापितस्य, विधोः=चन्द्रमसः, विधां=प्रकारं, तादृशीमवस्थामिति भावः । वहत्=प्राप्नुवत्, कमलकोमलं=पद्मसममृदुलं, तन्मुखं=दमयन्त्याननम्, ऐक्ष्यत=दृष्टं, सखीजनेनेति शेषः ।

अनुवाद—कामजन्यसन्तापसे विह्वल, अतएव प्रतिदिन अत्यन्त अधिक सूर्यके तेजसे मुरझाये हुए चन्द्रमाकी अवस्थाको प्राप्त करता हुआ दमयन्तीका मुख दिखाई पड़ता था ।

टिप्पणी—कुसुमचापजतापसमाकुलं=कुसुमानि चापो यस्य सः (बहु०), कुसुमचापाज्जातः कुसुमचापजः, कुसुमचाप+जन्+डः (उपपद०)। स चाऽसौ तापः (क० धा०), तेन समाकुलम् (तृ० त०)। अहरहः=वीप्सामें द्विरुक्ति, अत्यन्तसंयोगमें द्वितीया, "रोऽसुपि" इस सूत्रसे नकारके स्थानमें रेफ आदेश । अभ्यधिकाऽधिकाम्=अभ्यधिकाया अधिका, ताम् (प० त०)। रविरुचिग्लपितस्य=रवेः रुचिः (प० त०), तया ग्लपितः, तस्य (तृ० त०)। विधां="विधा विधौ प्रकारे चे"त्यमरः । वहत्=वह+लट् (शतृ)+सु । कमलकोमलं=कमलम् इव कोमलम् (उपमानकर्म०)। तन्मुखं=तस्य मुखम् (प० त०)। ऐक्ष्यत=ईक्ष+लङ् (कर्ममें)+त । इस पद्यमें "कमलकोमलम्" यहाँपर उपमा और एककी विधाको दूसरा कैसे प्राप्त करेगा, ऐसे आक्षेपसे निदर्शना, इस प्रकारसे अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६ ॥

> तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम तत्कुचकुम्भयुगं तया ।
> अनलसङ्गतितापमुपैतु नो कुसुमचापकुलालविलासजम् ? ॥ ७ ॥

अन्वयः—तत्कुचकुम्भयुगं तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम कुसुमचापकुलालविलासजम् अनलसङ्गतितापं नो उपैतु ?

व्याख्या—तत्कुचकुम्भयुगं=दमयन्तीस्तनकलशयुग्मं, तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम=तारुण्यातपकृतदृढत्वं, कुसुमचापकुलालविलासजम्=मदनकुम्भ-

कारव्यापारजन्यम्, अनलसङ्गतिताप=नलसङ्गत्यभावसन्ताप, वह्निसङ्गमसन्ताप नो उपैतु=न प्राप्नोतु, प्राप्नोत्येवेति भाव ।

अनुवाद—दमयन्तीके दो स्तनकलश, तारुण्यरूप सूर्यतापसे दृढ बनाये गये, कामदेवरूप कुम्भकारके कर्मसे उत्पन्न नलकी सङ्गतिके अभावरूप अग्निसंगतिसे तापको प्राप्त नहीं करेंगे ? (करेंगे ही) ।

टिप्पणी—तत्कुचकुम्भयुग=कुचौ एव कुम्भौ (रूपक०), तस्या कुचकुम्भौ (ष० त०), तयोर्युगम् (ष० त०) । तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम= दृढस्य भावो द्रढिमा, दृढ शब्दसे "वर्णदृढादिभ्य ष्यञ्च" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय और "र ऋतो हलादेर्लघो" इससे ऋकारके स्थानमें "र" आदेश । तरुणस्य भावस्तरुणता, तरुण+तल+टाप् । तपनस्य द्युति (ष० त०)। तरुणता एव तपनद्युति (रूपक०), निर्मितो द्रढिमा यस्य तत् (बहु०)। तरुणतातपनद्युत्या निर्मितद्रढिम (तृ० त०) । कुसुमचापकुलालविलासज= कुसुमानि चापो यस्य स (बहु०), कुसुमचाप एव कुलाल (रूपक०), तस्य विलास (ष० त०), कुसुमचापकुलालविलासात् जात, तम् । कुसुमचापविलास+जन्+ड (उपपद०) अम् । अनलसगतिताप=नलस्य सगति (ष० त०), न नलसगति (नञ्०), अनलसगति (नलसगत्यभाव) एव अनलसगति (अग्निसगति), इस प्रकारसे यहाँ श्लिष्टरूपक अलङ्कार है । नो उपैतु ?=यहाँपर काकु है, उपैतु एव । जैसे कुम्भकार (कुम्हार) कच्चे घडेको दृढ बनानेके लिए पहले घाममें सन्तप्त कर पीछे अग्निमें तपाता है । वैसे ही कामदेव भी यौवनके तापसे दृढ बनाये गये दमयन्तीके कुचोंकी नलकी सगति न होनेसे अग्नितापके तुल्य और अधिक सन्तप्त नहीं करेगा ? करेगा ही, यह तात्पर्य है ॥ ७ ॥

अधृत यद्विरहोष्मणि मज्जित मनसिजेन तदूरुयुग तदा ।
स्पृशति तत्कदन कदलीतरुर्यदि मरुज्ज्वलदूपरदूषित ॥ ८ ॥

अन्वय —तदा यत् तदूरुयुग मनसिजेन विरहोष्मणि मज्जितम् अधृत । कदलीतरु मरुज्ज्वलदूपरदूषित यदि, तत्कदन स्पृशति ।

व्याख्या—तदा=तस्मिन् समये, यत् तदूरुयुग=दमयन्तीसक्थियुगम्, मनसिजेन=कामदेवेन, विरहोष्मणि=वियोगदाहे, मज्जित=स्थापित सत्, अधृत=अवस्थितम् । कदलीतरु=रम्भावृक्ष, मरुज्ज्वलदूपरदूषित=धन्वप्रदेशतप्यमानोषरक्षेत्रविकारित, यदि=चेत्, तत्कदनम्=ऊरुयुगकलहम् तदूरुयुगसाम्यमिति भाव । स्पृशति=प्राप्नोति ।

अनुवाद—उस समय जो दमयन्तीके ऊरुओंको कामदेवने विरहके सन्ताप-में डाल दिया, केलेका स्तम्भ मरुदेशके जलते हुए ऊपरक्षेत्रसे दूषित हो तो उन ऊरुओंसे समता प्राप्त करेगा।

टिप्पणी—तदूरुयुगम्=ऊर्वोर्युगम् (ष० त०), तस्या ऊरुयुगम् (ष० त०)। मनसिजेन=मनसि जातः, तेन, मनस्+जन्+डः (उपपद०), "हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्" इससे अलुक्। विरहोष्मणि=विरहस्य ऊष्मा, तस्मिन् (ष० त०)। अधृत=धृङ्+लुङ्+त, "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्-का लोप। कदलीतरुः=कदली चाऽसौ तरुः (क० धा०)। मरुज्वलदूषर-दूषितः=ज्वलच्च तत् ऊषरम् (क० धा०), मरौ ज्वलदूषरं (स० त०), तेन दूषितः (तृ० त०)। तत्कदनं=तेन कदनं, तत् (तृ० त०)। स्पृशति=स्पृश+लट्+तिप्। इस पद्यमें प्रसिद्ध उपमान कदलीतरुको उपमेय बनानेसे प्रतीप अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाऽभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते" ॥सा० द० १०-१०३॥

स्मरशराहतिनिर्मितसञ्ज्वरं करयुगं हसति स्म दमस्वसुः ।
अनपिधानपतत्तपनाऽऽतपं तपनिपीतसरःसरसीरुहम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—स्मरशराहतिनिर्मितसञ्ज्वरं दमस्वसुः करयुगम् अनपिधान-पतत्तपनाऽऽतपं तपनिपीतसरःसरसीरुहं हसति स्म।

व्याख्या—स्मरशराहतिनिर्मितसञ्ज्वरं = कामबाणाघातजनितसन्तापं, दमस्वसु =दमयन्त्याः, करयुगं=हस्तयुगलम्, अनपिधानपतत्तपनाऽऽतपम्= अनावरणप्रविशत्सूर्यद्योतं, तपनिपीतसरःसरसीरुहं=ग्रीष्मशोषितकासारकमलं, हसति स्म=हसितवत्, तत्सदृशमभूदिति भावः।

अनुवाद—कामबाणोंके आघातसे सन्तापयुक्त दमयन्तीके दोनों हाथ, आव-रणके न होनेसे सूर्यके तापसे युक्त ग्रीष्मऋतुसे सुखाये गये कमलका उपहास करते थे।

टिप्पणी—स्मरशराहतिनिर्मितसंज्वरं=स्मरस्य शराः (ष० त०), तेषाम् आहतिः (ष० त०), निर्मितः संज्वरो यस्य तत् (बहु०), स्मरशराहत्या निर्मितसंज्वरम् (तृ० त०)। दमस्वसुः=दमस्य स्वसा, तस्याः (ष० त०)। करयुगं=करयोर्युगम् (ष० त०)। अनपिधानपतत्तपनातपम्=न अपिधानं (नञ्०), तपनस्य आतपः (ष० त०), पतत् तपनातपः यस्मिंस्तत् (बहु०)।

अनपिधानात् पतत्तपनातप, तत् (ष० त०) । तपनिपीतसर.सरसीरुह= तपेन निपीतम् (तृ० त०), "निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमस्तप" । इत्यमर । तपनिपीत च तत् सर (क० धा०), तस्मिन् सरसीरुहम् (स० त०), इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ९ ॥

मदनतापभरेण विदीर्य नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसु ।
निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा समपराधमधात्प्रतिबध्नती ॥ १० ॥

अन्वय —दमनस्वसु हृदा मदनतापभरेण विदीर्य यत् नो उदपाति । तम् अपराध प्रतिबध्नती निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा अधात् ।

व्याख्या—दमनस्वसु =दमयन्त्या , हृदा=हृदयेन, मदनतापभरेण= कामज्वराबाहुल्येन, विदीर्य=स्फुटित्वा, यत्, नो उदपाति=न उत्पतितम् । त=तादृशम्, अपराधम्=आग , अनुत्पतनरूपमिति भाव । प्रतिबध्नती= निरुन्धती, निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा=घनपीवरस्तनद्वितयबन्ध , अधात्= धृतवती ।

अनुवाद——दमयन्तीका हृदय कामसन्तापके आधिक्यसे विदीर्ण होकर जो नहीं उडा, उस अपराधको रोकनेवाला गाढ और पुष्ट दो कुचोंके बन्धनने धारण किया ।

टिप्पणी—दमनस्वसु =दमनस्य स्वसा, तस्या , (ष० त०) । मदन- तापभरेण=मदनस्य ताप , (ष० त०), तस्य भर , तेन (ष० त०) । विदीर्य=वि+दृ+क्त्वा (ल्यप्) । उदपाति=उद्+पत्+लुङ् (भाव- मे)+त । प्रतिबध्नती=प्रति+बन्ध+श्ना+लट् (शतृ)+ङीप्+सु । निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा=कुचयोर्द्वयम् (ष० त०), निबिड च तत् पीन (क० धा०), निबिडपीन च तत् कुचद्वय (क० धा०), तस्य यन्त्रणा (ष० त०) । अधात्=धाञ्+लुङ्+तिप् । इस पद्यमें अत्यन्त दाह होनेपर भी हृदयका जो विदीर्ण न होना है, उसमे वायुके रोध होनेसे कुचके प्रतिबन्धन- की उत्प्रेक्षा की गई है । व्यञ्जक "इव" आदि शब्दके न होनेसे प्रतीयमानो- त्प्रेक्षा है ॥ १० ॥

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम् ।
मृदुतनोर्वितनोतु कथ न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थित ? ॥ ११ ॥

अन्वय —शूकशिखा पदे निविशते यदि, सा कियतीम् इव व्यथा न सृजति । तु अवनिभृत् हृदि निविश्य स्थित (सन्) मृदुतनो ता कथ न वितनोतु ।

व्याख्या—शूकशिखा=कण्टकाग्रं, पदे=चरणे, निविशते यदि=प्रविशति चेत्, सा=प्रविष्टा शूकशिखा, कियतीम् इव=किं परिमाणाम् इव, व्यथां=व्यथां, पीडामित्यर्थः। न सृजति=न उत्पादयति, महतीं व्यथां सृजतीति भावः। तु=परन्तु। अवनिभृत्=राजा (नलः) पर्वतश्च, हृदि=हृदये, दमयन्त्या इति शेषः। निविश्य=प्रविश्य, स्थितः=वर्तमानः (सन्), मृदुतनोः=कोमलाङ्ग्याः, दमयन्त्या इत्यर्थः, तां=तथाविधां, व्यथामिति भावः, कथं=केन प्रकारेण, न वितनोतु=न सृजतु, वितनोत्वेवेति भावः।

अनुवाद—कांटेकी नोक भी पैरमें घुस जाती है तो वह कैसी पीडा नही करती है (करती है)। परन्तु राजा (एक पक्षमें पर्वत) हृदयमें घुसकर अवस्थित होते हुए कोमल शरीरवाली दमयन्तीको वैसी पीडा क्यों नही करेंगे ?

टिप्पणी—शूकशिखा=शूकस्य शिखा (ष० त०)। "शूकोऽस्त्री श्लक्ष्णतीक्ष्णाग्रे" इत्यमरः। निविशते=नि+विश्+लट्+त, "नेर्विशः" इस सूत्रसे आत्मनेपद हुआ है। इव=यह पद वाक्यालङ्कारमें है। अवनिभृत्=अवनिं बिभर्तीति, अवनि+भृ+क्विप् (उपपद०)+सु। निविश्य=नि+विश्+क्त्वा (ल्यप्)। मृदुतनोः=मृदुः तनुः यस्याः सा, तस्याः (बहु०)। वितनोतु=वि+तनु+लोट्+तिप्। इस पद्यमें पैरमें सूक्ष्म कण्टकके घुसनेमें भी दुःख दुःसह होता है तो कोमलाङ्गी दमयन्तीके हृदयमें महाकाय राजा नलके प्रवेश करनेसे क्या कहना है ? इस प्रकारसे कैमुत्यन्यायसे अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ११ ॥

मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितुं नयनयोः स्पृहयाऽन्तरुपेतयोः।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि ॥ १२ ॥

अन्वयः—मनसि सन्तं प्रियम् ईक्षितुं स्पृहया अन्तः उपेतयोः इव इदमीययोः नयनयोः सम्मुखवास्तुनि अपि वस्तुनि ग्रहणशक्तिः न अभूत्।

व्याख्या—मनसि=हृदये, सन्तं=वर्तमानं, प्रियं=वल्लभं नलम्, ईक्षितुं=द्रष्टुं, स्पृहया=इच्छया, अन्तः=अभ्यन्तरं, हृदयदेशमित्यर्थः, उपेतयोः इव=प्रविष्टयोः इव, इदमीययोः=अस्याः (दमयन्त्याः) सम्बन्धिनोः, नयनयोः=नेत्रयोः, सम्मुखवास्तुनि अपि=पुरोवर्तिनि अपि, वस्तुनि=पदार्थे, ग्रहणशक्तिः=साक्षात्कारसामर्थ्यं, न अभूत्=न अभवत्, भैमी नलव्यामङ्गाम किञ्चिदन्यदद्राक्षीदिति भावः।

अनुवाद—मनमे स्थित प्रिय नलको देखनेके लिए इच्छासे हृदयके भीतर प्रविष्टके समान दमयन्ती नेत्रोके समीपमे विद्यमान पदार्थमे भी साक्षात्कार करनेकी सामर्थ्य नहीं हुई।

टिप्पणी—ईक्षितुम्=ईक्ष+तुमुन्। उपेतयो=उप+इण्+क्त+ओस्। इदमीययो=अस्या इमे इदमीये, तयो इदम्+छ (ईय)+ओस्। सम्मुखवास्तुनि=सम्मुख वास्तु (स्थानम्) यस्य तत्, तस्मिन् (बहु०)। ग्रहणशक्ति=ग्रहणस्य शक्ति (प० त०)। अभूत्=भू+लुङ्+तिप्। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। चिन्ता व्यभिचारी भाव है॥ १२॥

हृदि दमस्वसुरश्रुसरप्लुते प्रतिफलन्विरहात्तमुखाऽऽनते।
हृदयभाजमराजत चुम्बितुं नलमुपेत्य किलाऽऽगमितं मुखम्॥ १३॥

अन्वय—विरहात्तमुखाऽऽनते दमस्वसु मुखम् अश्रुसरप्लुते हृदि प्रतिफलत् (सत्) हृदयभाज नल चुम्बितुम् उपेत्य आगमित किल अराजत।

व्याख्या—विरहाऽऽत्तमुखाऽऽनते=विरहप्राप्तवदननमनाया, विरहेण नम्रमुखाया इति भाव। दमस्वसु=दमयन्त्या, मुख=वदनम्, अश्रुसरप्लुते=नयनजलप्रवाहसिक्ते, हृदि=हृदये, प्रतिफलत्=प्रतिबिम्बित सत्, हृदयभाज=हृत्स्थित, नल=नैषध, चुम्बितु=चुम्बन कर्तुम्, उपेत्य=गत्वा, आगमित किल=सञ्जातागमन किल, प्रत्यागतम्। अराजत=रराज, विरहेण भैम्या मुख नम्र जातमश्रु च निर्गतमिति भाव।

अनुवाद—वियोगसे नम्र मुखवाली दमयन्तीका मुख आँसुओंके प्रवाहसे सिक्त हृदयमे प्रतिबिम्बित होता हुआ हृदयमे वर्तमान नलको चुम्बन करनेके लिए जाकर लौटे हुएके समान शोभित हुआ।

टिप्पणी—विरहाऽऽत्तमुखाऽऽनते=विरहेण आत्ता (तृ० त०), मुखस्य आनति (प० त०), विरहात्ता मुखानतिर्यया सा, तस्या (बहु०)। अश्रुसरप्लुते=अश्रूणा सर (प० त०), तेन प्लुत, तस्मिन् (तृ० त०)। प्रतिफलत्=प्रति+फल+लट् (शतृ)+सु। हृदयभाज+हृदय भजतीति हृदयभाक्, तम्। हृदय+भज+ण्वि (उपपद०)+अम्। आगमितम्=आगम सञ्जात अस्य, तत् (आगम+इतच्)। किल="वार्तासम्भाव्ययो किल" इत्यमर। अराजत=राज+लङ्+त। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ १३॥

सुहृदमन्तिमुदश्चयितुं स्मर मनसि गन्धवहेन मृगीदृश।
अकलि नि श्वसितेन विनिर्गमाऽनुमितनिह्नुतवेशनमायिता॥ १४॥

अन्वयः—गन्धवहेन सुहृदं मृगीदृशो मनसि स्मरम् अग्निम् उदञ्चयितुं निःश्वसितेन विनिर्गमाऽनुमितनिह्नुतवेशनमायिता अकलि (नूनम्) ।

व्याख्या—गन्धवहेन=वायुना, बाह्येनेति शेषः । सुहृदं=सखायं, मृगीदृशः=हरिणाक्ष्याः, भैम्या इति भावः । मनसि=हृदये, स्थितमिति शेषः । स्मरम्=कामम् एव, अग्निम्=अनलम्, उदञ्चयितुम्=उद्दीपयितुं, निःश्वसितेन=निःश्वासवायुच्छलेन, विनिर्गमाऽनुमितनिह्नुतवेशनमायिता=बहिर्निःसारणाऽनुमितिविषयीकृतप्रागज्ञातान्तःप्रवेशमायावित्वम्, अकलि=प्राप्तं, नूनमिति शेषः ।

अनुवाद—(बाहरके) वायुने सुन्दरी दमयन्तीके मनमें स्थित मित्र कामदेवरूप अग्निको उद्दीप्त करनेके लिए निःश्वास वायुके छलसे बाहर निकलनेसे अनुमति गुप्त प्रवेशमें मायावीका भाव प्राप्त कर लिया है क्या ? ऐसा मालूम होता है ।

टिप्पणी—मृगीदृशः=मृग्या इव दृशौ यस्याः सा मृगीदृक्, तस्याः (व्यधिकरणबहु०) । उदञ्चयितुम्=उद्+अञ्च+णिच्+तुमुन् । विनिर्गमाऽनुमितनिह्नुतवेशनमायिता=विनिर्गमेन अनुमितम् (तृ० त०), निह्नुतं च तद् वेशनम् (क० धा०), माया अस्याऽस्तीति मायी, माया शब्दसे "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय, मायिनो भावः, मायिन्+तल्+टाप् । विनिर्गमाऽनुमितं च निह्नुतवेशनं (क० धा०), तस्मिन् मायिता (स० त०) । अकलि=कल+लुङ् (कर्ममें)+त । जैसे किसीके घरमें आग लगानेवाला गुप्त रूपसे प्रवेश करके प्रकाश रूपसे बाहर निकलता है, उसी प्रकार वायु भी निःश्वासके बहानेसे वैसा करके निकला । इस प्रकारसे यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १४ ॥

विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः ।
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिता ॥ १५ ॥

अन्वयः—तद्दृक् लिपिकरी विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः दश दिशः (भित्तीः) नलरूपकचित्रिताः अकल्पयत् खलु ।

व्याख्या—तद्दृक्=दमयन्तीदृष्टिः (एव), लिपिकरी=चित्रकरी, विरह-पाण्डिम-राग-तमोमषीशितिम-तन्निजपीतिमवर्णकैः = वियोगशरीरश्वैत्याऽनुराग-रक्तिम-मोहमषीनीलिम-भैमीस्वकनकवर्णकैः (चित्रसाधनैः), दश=दश-

सख्यका, दिश =काष्ठा (एव भित्ती), नलरूपकचित्रिता = नैषधप्रतिकृतिसञ्जातचित्रा, अकल्पयत्=असृजत्, खलु।

अनुवाद—दमयन्तीकी दृष्टिरूप चित्रकारीने विरहसे शरीरके शैत्य, अनुरागरूप रक्तता, मोहरूप मसी (स्याही) की नीलता और दमयन्तीके अपनी पीततारूप चित्रके साधनोसे दश दिशाओ (भित्तियो) को नलकी प्रतिकृतियो से चित्रित कर दिया।

टिप्पणी—तद्दृक्=तस्या दृक् (ष० त०)। लिपिकरी=लिपिं करोतीति, लिपि शब्द पूर्वक कृ धातुसे "दिवाविभानिशा०" इत्यादि सूत्रसे ट प्रत्यय, "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप्। विरहपाण्डिमरागेत्यादि =विरहेण पाण्डिमा (तृ० त०), राग एव राग (श्लिष्टरूपकम्), तम एव मषी (रूपक०), तस्या शितिमा (ष० त०), निजश्चासौ पीतिमा (क० धा०), तस्या निजपीतिमा (ष० त०), विरहपाण्डिमा च रागश्च तमोमषीशितिमा च तन्निजपीतिमा च (द्वन्द्व), पीतिमान, ते एव वर्णका, तैं (रूपक०)। दिश =यह कर्म पद है। नलरूपकचित्रिता =नलस्य रूपकाणि (ष० त०), तैं चित्रिता (तृ० त०)। अकल्पयत्=कृप्+णिच्+लङ्+तिप्। दमयन्तीने निरन्तर नलकी चिन्तासे उत्पन्न भ्रान्तिसे प्रत्येक दिशामे मिथ्या नलको देख लिया, यह तात्पर्य है। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥१५॥

स्मरकृति हृदयस्य मुहुर्दशा बहु वदन्निव निश्वसिताऽनिल ।
व्यधित वाससि कम्पमद श्रिते, त्रसति क सति माऽऽश्रयबाधने ? ॥१६॥

अन्वय—निश्वसिताऽनिल स्मरकृति हृदयस्य दशा बहु वदन् इव अद श्रिते वाससि कम्प मुहु व्यधित। आश्रयबाधने सति को न त्रसति ?

व्याख्या—निश्वसिताऽनिल =निश्वासवायु, दमयन्त्या इति शेष। स्मरकृति=कामसृष्टिरूपा, हृदयस्य=हृत्पिण्डस्य, दमयन्त्या इति शेष। दशाम्=अवस्था, बहु=अधिक, बहुवारमित्यर्थ। वदन् इव="एव कम्पते" इति कथयन् इव, अद श्रिते=हृदयाऽऽश्रिते। वाससि=वसने, कम्प=चलन, तत्कारण त्रास च, मुहु =बार बार, व्यधित=विहितवान्, उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—त्रसतीति। आश्रयबाधने सति=आधारबाधाया सत्या, क =जन, न त्रसति=नो बिभेति ? सर्वोऽपि त्रसत्येवेति भाव।

अनुवाद—दमयन्तीके निश्वास वायुने कामदेवकी रचनारूप हृदयकी अवस्थाको बहुत बार कहते हुए के समान हृदयको आश्रित वस्त्रमें कम्प और

उसके कारण त्रासको भी वारम्वार किया, क्योंकि आधारकी वाधा होनेपर कौन त्रस्त नहीं होता है ? (सभी त्रस्त होते हैं) ।

टिप्पणी—निःश्वसिताऽनिलः=निःश्वसितस्य अनिलः (प० त०) । स्मरकृति=स्मरस्य कृतिः, ताम् (प० त०) । "स्मरकृताम्" यह नारायणपण्डितका पाठ है, उस पक्षमें स्मरेण कृता, ताम् (तृ० त०) । अदःश्रिते=अदःश्रितं, तस्मिन् (द्वि० त०) । अथवा "अदः" यह व्यस्त पद है । व्यधित=वि+धा+लुङ्+त । 'स्थाघ्वोरिच्च" इससे इकार और "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्का लोप । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १६ ॥

करपदाननलोचननामभिः शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे ।
रविमहो वहु पीतचरं चिरादनिशतापमिषादुदसृज्यत ॥ १७ ॥

अन्वयः—करपदाऽऽननलोचननामभिः शतदलैः चिरात् पीतचरं वहु रविमहः सुतनोः विरहज्वरे अनिशतापमिषात् उदसृज्यत (नूनम्) ।

व्याख्या—करपदाऽऽननलोचननामभिः=हस्तपादमुखनयनसंज्ञकैः, शतदलैः=कमलैः, चिरात्=वहुकालात् प्रभृति, पीतचरं=रसवशात् पूर्वपीतं, वहु=भूरि, रविमहः=सूर्यतेजः, सुतनोः=सुन्दर्या दमयन्त्याः, विरहज्वरे=वियोगज्वराऽवस्थायाम्, अनिशतापमिषात्=निरन्तरोष्मच्छलात्, उदसृज्यत=उत्सृष्टम् (नूनम्) ।

अनुवाद—हाथ, पैर, मुख और नेत्र नामवाले कमलोंने चिरकालसे पहले पीये गये अधिक सूर्यके तेजको दमयन्तीके वियोगज्वरकी अवस्थामें निरन्तर तापके वहानेसे छोड़ दिया है क्या ? ऐसा प्रतीत होता है ।

टिप्पणी—करपदाऽऽननलोचननामभिः=करौ च पदे च आननं च लोचने च करपदाऽऽननलोचनं, "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इस सूत्रसे प्राण्यङ्ग होनेसे समाहारमें द्वन्द्वसमास, करपदाऽऽननलोचनं नामानि येषां तानि, तैः (वहु०) । शतदलैः=शतं दलानि येषां तानि, तैः (वहु०) । यहाँपर शत पद वहुत्वका उपलक्षक है । "सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्" इत्यमरः । पीतचरं=पूर्वं पीतम्, पीत शब्दसे "भूतपूर्वे चरट्" इस सूत्रसे चरट् प्रत्यय । रविमहः=रवेर्महः (प० त०) । सुतनोः=शोभना तनुर्यस्याः सा सुतनुः, तस्याः (वहु०) । विरहज्वरे=विरहस्य ज्वरः, तस्मिन् (प० त०) । अनिशतापमिषात्=अनिशं (यथा तथा) तापः (सुप्सुपा०), तस्य मिषं, तस्माद् (प० त०) । उदसृज्यत=उद्+सृज+लङ् (कर्ममें) । इस पद्यमें कमलोंका

दमयन्तीके कर-चरण आदिमें नाममात्रका भेद है, रूपभेद नहीं है—इस प्रकारसे अभेदकी उक्तिसे अतिशयोक्ति है, अतिशयोक्तिमूल पूर्वपीत सूर्यतेजके वमनकी उत्प्रेक्षा है, वह तापके बहानेसे कहनेसे अपह्नुति है। इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है ॥ १७ ॥

उदयति स्म तदद्भुतमालिभिर्धरणिभृद्भुवि तत्र विमृश्य यत् ।
अनुमितोऽपि च बाष्पनिरीक्षणाद्व्यभिचचार न तापकरो नलः ॥१८॥

अन्वय—आलिभिः तत्र धरणिभृद्भुवि विमृश्य बाष्पनिरीक्षणात् अनुमितः अपि तापकरः नलः (अनलो वा) यत् न व्यभिचचार तत् अद्भुतम् उदयति स्म ।

व्याख्या—आलिभिः=सखीभिः, तत्र=तस्यां, धरणिभृद्भुवि=राजपुत्र्यां भैम्यां, पर्वतभूमौ च, विमृश्य=विचार्य, व्याप्तिमनुसन्धायेति भावः । बाष्पनिरीक्षणात्=अश्रुलिङ्गदर्शनात् धूमदर्शनात् च, अनुमितः अपि=तर्कितः अपि, लिङ्गाऽवधारितः अपि, तापकरः=सन्तापजनकः, नलः=नैषधः, पक्षान्तरे अनलः (अग्निः), यत्, न व्यभिचचार=न अन्यथा बभूव, निश्चयस्थानं बभूवेति भावः । तत्, अद्भुतम्=आश्चर्यम्, उदयति स्म=उदपद्यत ।

अनुवाद—जैसे पर्वतकी भूमिमें व्याप्तिका अनुसन्धान करके धूमको देखनेसे अनुमित, ताप करनेवाले अग्निका निश्चय किया जाता है, वैसे ही सखियोंने राजकुमारी दमयन्तीमें विचार करके आँसूको देखनेसे तर्कित, सन्ताप करनेवाले नलका निश्चय कर लिया, यह आश्चर्य हुआ है ।

टिप्पणी—धरणिभृद्भुवि=धरणिं बिभर्तीति धरणिभृत्, धरणि+भृ+क्विप् (उपपद०), पर्वत वा राजा भीम । धरणिभृतो भवतीति धरणीभृद्भू, तस्याम्, धरणिभृत्+भू+क्विप् (उपपद०)+ङि । पर्वतभूमिमें वा राजकुमारी दमयन्तीमें । विमृश्य=वि+मृश+क्त्वा (ल्यप्) । बाष्पनिरीक्षणात्=बाष्पस्य (धूमस्य, अश्रुणः वा) निरीक्षणं, तस्मात् (ष० त०) । धूमको देखनेसे वा आँसूको देखनेसे । अनुमितः=अनु+मा+क्त । तापकरः=तापं करोतीति तद्धेतुः, ताप+कृ+ट, "कृञो हेतुताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु" इससे ट प्रत्यय । व्यभिचचार=वि+अभि+चर+लिट्+तिप् । उदयति स्म=उद्-उपसर्गपूर्वक "*अय गतौ*" धातुसे '*स्म*' के योगमें भूत अर्थमें लट् । "अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्" इस परिभाषाको आश्रय करके परस्मैपद हुआ है, यह महामहोपाध्याय मल्लिनाथका मत है । नारायण पण्डित

के मतमें "इट किट कटी गतौ" यहाँपर कटि + ई ऐसा न्यास कर 'इ' धातुसे परस्मैपदमें लट्। यह मत भट्टोजिदीक्षितसे भी सम्मत है। दमयन्तीका यह सन्ताप नलकी चिन्तासे उत्पन्न है, यह बात उनके आँसूको देखनेसे सखियोंने भाँप लिया, यह अभिप्राय है। धूमरूप लिङ्गको देखनेसे अनल (अग्नि) का ज्ञान होता है, वह अव्यभिचारी (अविसंवादी) है, ऐसे विरोधका अश्रुरूप लिङ्गसे सन्ताप करनेवाले नलका निश्चय किया, ऐसा आभास होनेसे विरोधाऽऽभास अलङ्कार है। वह श्लेषसे अनुप्राणित है। "तापकरो नलः" यह शब्दश्लेष है। अन्यत्र अर्थश्लेष है। अपि विरोधका द्योतक है ॥ १८ ॥

हृदि विदर्भभुवं प्रहरञ्शरैः रतिपतिर्निषधाऽधिपतेः कृते।
कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिरमूर्च्छदलं खलु ॥ १९ ॥

अन्वयः—निषधाऽधिपतेः कृते विदर्भभुवं हृदि शरैः प्रहरन् रतिपतिः कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिः अलम् अमूर्च्छत् खलु।

व्याख्या—निषधाऽधिपतेः=नलस्य, कृते=निमित्ते, विदर्भभुवं=वैदर्भीं, दमयन्तीम्, हृदि=हृदये, शरैः प्रहरन्=प्रहारं कुर्वन्, रतिपतिः=कामः, कृततदन्तरगस्वदृढव्यथाः=विहितभैमीहृद्गताऽऽत्मगाढदुःखः, अत एव फलदनीतिः=उत्पद्यमानदुर्नीतिः सन्, अलम्=अत्यन्तम्, अमूर्च्छत्=अवर्द्धत, मूर्च्छितश्च, खलु=निश्चयेन।

अनुवाद—नलको प्रहार करनेके लिए दमयन्तीको हृदयमें प्रहार करता हुआ कामदेव दमयन्तीके हृदयमें स्थित अपनेको भी दृढ व्यथा उत्पन्न कर दुर्नीति प्रकट होनेसे अत्यन्त बढ़ गया, (मूर्च्छित) हुआ।

टिप्पणी—निषधाऽधिपतेः=निषधानाम् अधिपतिः, तस्य (ष० त०)। कृते="अर्थे कृते च शब्दौ द्वौ तादर्थ्येऽव्ययसंज्ञितौ।" विदर्भभुवं=विदर्भाद् भवतीति विदर्भभूः, ताम्, विदर्भ + भू + क्विप् + अम् (उपपद०)। प्रहरन्=प्र + हृ + लट् (शतृ)। रतिपतिः=रतेः पतिः (ष० त०)। कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः=तस्या अन्तरम् (ष० त०), तस्मिन् गच्छतीति तदन्तरगः, तदन्तर + गम् + डः (उप०), तदन्तरगश्चासौ स्वः (क० धा०), दृढा चाऽसौ व्यथा (क० धा०), तदन्तरगस्वस्य दृढव्यथा (ष० त०), कृता तदन्तरगस्वदृढव्यथा येन सः (बहु०)। फलदनीतिः=न नीतिः अनीतिः (नञ्०), फलन्ती अनीतिर्यस्य सः (बहु०)। अमूर्च्छत्="मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः" इस

धातु से लट् + त। इस पद्यमें श्लेष और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभाव-में सङ्कर है ॥ १९ ॥

विधुरमानि तया यदि भानुमान्, कथमहो ! स तु तद्धृदय तथा।
अपि वियोगभराऽस्फुट स्फुटीकृतदृषत्त्वमजिज्वलदशुभि ॥ २० ॥

अन्वय – तया विधु भानुमान् अमानि यदि। तु स वियोगभराऽस्फुटन० स्फुटीकृतदृषत्त्व तद्धृदयम् अपि कथ तथा अशुभि अजिज्वलत् अहो !

व्याख्या—तया = दमयन्त्या, विधु = चन्द्र, भानुमान् = सूर्य, अमानि यदि = यतश्चेत् विरहिण्यास्तत्र चित्रम्। तु = किन्तु, स = विधु, दमयन्त्या सूर्यत्वाऽभिमत इति भाव। वियोगभराऽस्फुटनस्फुटीकृतदृशत्त्व = विरहभाराविदारणव्यक्तीकृतसूर्यकान्तत्व तद्धृदय = दमयन्तीहृद्, तद्रूप सूर्यकान्तमपीत्यर्थ। कथ = केन प्रकारेण, तथा = तेन प्रकारेण, सूर्यवदित्यर्थ। अशुभि = स्वतेजोभि, अजिज्वलत् = ज्वलितवान्, अहो = आश्चर्यम् !

अनुवाद—दमयन्तीने चन्द्रमाको सूर्य मान लिया है, परन्तु उन चन्द्रमाने वियोगके भारसे विदीर्ण न होनेसे स्पष्ट रूपसे सूर्यकान्त मणिरूप दमयन्तीके हृदयको भी कैसे सूर्यके समान अपने तेजोंसे जला दिया है ? आश्चर्य है !

टिप्पणी – भानुमान् = प्रशस्ता भानव सन्ति यस्य स, भानु + मतुप् + सु। "भानु करो मरीचि स्त्रीपुसयोर्दीधिति स्त्रियाम्" इत्यमर। अमानि = मन् + लुङ् (कर्मणि) + त। वियोगभराऽस्फुटनस्फुटीकृतदृषत्त्व = वियोगस्य भर (ष० त०), तेन अस्फुटनम् (तृ० त०), अस्फुट स्फुट यथा सम्पद्यते तथा कृत स्फुटीकृत, स्फुट + च्वि + कृ + क्त। दृषदो भावो दृषत्त्वम्, दृषद् + त्व। स्फुटीकृत दृषत्त्व यस्य तत् (बहु०), वियोगभराऽस्फुटनेन स्फुटकृतदृषत्त्व (तृ० त०), तत्। तद्धृदय = तस्या हृदयम् (ष० त०)। अजिज्वलत् = ज्वल + णिच् + लुङ् + तिप्। चन्द्रमा विरहियोंको उद्दीपक होनेसे भले ही सूर्यके समान ताप करे, परन्तु सूर्यकान्त मणिके समान दमयन्तीके हृदयको तपाना आश्चर्यकी बात है, यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

हृदयदत्तसरोरुहया तया क्व सदृगस्तु वियोगनिमग्नया।
प्रियधनु परिरभ्य हृदा रति किमनुमर्तुमचेति चितार्चिषि ? ॥ २१ ॥

अन्वय – वियोगनिमग्नया हृदयदत्तसरोरुहया तया सदृक् क्व अस्तु ? (यद्वा) रति हृदा प्रियधनु परिरभ्य अनुमर्तुं चितार्चिषि अचेति किम् ?

व्याख्या—वियोगनिमग्नया=विरहाऽग्निमग्नया, अत एव हृदयदत्त-सरोरुहया=वक्षोनिक्षिप्तपद्मया, तया=दमयन्त्या, सदृक्=सदृशी स्त्री, क्व=कुत्र, अस्तु=भवतु, न क्वापीति भावः। यद्वा रति=कामपत्नी, हृदा=वक्षसा, प्रियधनुः=दयितपुष्प, कमलमिति भावः, परिरभ्य=आलिङ्ग्य, अनुमर्तुम्=अनुमरणं कर्तुं, चितार्चिषि=चिताऽनले, अशेत किम्=शयिता किम्? मृतं पतिमनुगतुं चिताऽग्नौ शयाना साक्षाद्रतिरेवेयमित्युत्प्रेक्षा। काम-ज्वराऽनलस्तया प्रज्वलतीति भावः।

अनुवाद—नलके विरहमे निमग्न अत एव हृदयमें कमलको रखनेवाली दमयन्तीके सदृश कहाँ होगी? अथवा यह रति ही हृदयसे प्रियके धनु (कमल)-को आलिङ्गन कर प्रिय(कामदेव)का अनुगमन करनेके लिए चिताकी आगमें सोई थी क्या?

टिप्पणी—वियोगनिमग्नया=वियोगे निमग्ना, तया (स० त०)। हृदया-दत्तसरोरुहया=हृदये दत्तम् (स० त०), हृदयदत्तं सरोरुहं यया सा, तया (बहु०)। सदृक्=समाना दृश्यते इति, समान उपपद-पूर्वक दृश् धातुसे "समानान्ययोश्चेति वाच्यम्" इस वार्तिकसे क्विन् प्रत्यय और "दृग्दृशवतुपु" इससे समान शब्दके स्थानमें "स"भाव। प्रियधनु.=प्रियस्य धनुः, तत् (ष० त)। परिरभ्य=परि+रभ्+क्त्वा (ल्यप्)। अनुमर्तुम्=अनु+मृङ्+तुमुन्। चितार्चिषि=चिताया अर्चि, तस्मिन् (ष० त०)। अशेत=शीङ्+लङ्+त। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २१ ॥

अनलभावमियं स्वनिवासिनो न विरहस्य रहस्यमबुद्धयत।
प्रशमनाय विधाय तृणान्यसूञ्ज्वलति तत्र यदुज्झितुमैहत ॥ २२ ॥

अनुवाद—इयं स्वनिवासिनो विरहस्य रहस्यम् अनलभावं न अबुद्धयत। यत् तत्र ज्वलति (सति) प्रशमनाय असून् तृणानि विधाय उज्झितुम् ऐहत।

व्याख्या—इयं=दमयन्ती, स्वनिवासिनः=आत्मनिष्ठस्य, विरहस्य=नलवियोगस्य, रहस्यं=निगूढं, शमीवह्निवदिति शेषः। अनलभावम्=अग्नित्वं, नलरहितत्वं च, न अबुद्धयत=न अजानत्। यत्=यस्मात्कारणात्, तत्र=तस्मिन् विरहे, ज्वलति=दीप्यमाने सति, प्रशमनाय=निर्वापनाय, प्रज्वलनप्रतिकाराऽर्थमिति भावः। असून्=निजप्राणान्, तृणानि विधाय=तृणप्रायान्कृत्वा। उज्झितुं=त्यक्तुं प्रक्षिप्तुं च। ऐहत=ऐच्छत्। विरहस्य

अग्नित्वज्ञाने कथं तच्छान्त्यै तत्र तृणप्रक्षेप इति भावः। विरहदुःखान्मर्तुमैच्छदिति तात्पर्यार्थः।

अनुवाद—दमयन्तीने अपनेमें विद्यमान वियोगके गुप्त वह्निभावको अथवा नलरहित तत्त्वको नहीं जाना, क्योंकि वियोगरूप अग्निके जलनेपर उसको बुतानेके लिए अपने प्राणोंको तृणप्राय बनाकर छोड़नेके वा झोंकनेके लिए इच्छा की।

टिप्पणी—स्वनिवासिनं=स्वे निवसतीति स्वनिवासी, तस्य, स्व+नि+वस+णिनि+ङस् (उपपद०)। रहस्य=रहसि भव, तम्, रहस्+यत्+अम्। अनलभावम्=अनलस्य भाव, तम् (ष० त०), अथवा नलस्य भाव (ष० त०), न नलभाव, तम् (नञ्०)। अबुध्यत=बुध+लङ्+त। ज्वलति=ज्वल+लट (शतृ)+ङि। विधाय=वि+धा+क्त्वा (ल्यप्)। ऐहत=ईह+लङ+त। दमयन्ती नलके विरहको अग्नि जानती तो क्यों उसमें अपने प्राणरूप तृणको डाल देती? दमयन्तीने विरहके दुःखसे मरनेकी इच्छा की, यह तात्पर्य है॥ २२॥

> प्रकृतिरेतु गुणः स न योषितां कथमिमां हृदयं मृदु नाम यत्?
> तदिषुभिः कुसुमैरपि धुन्वता सुविवृतं विबुधेन मनोभुवा॥ २३॥

अन्वय—योषितां हृदयं मृदु नाम (इति) यत् स प्रकृतिः गुणः इमां कथं न एतु? तत् कुसुमैः अपि धुन्वता विबुधेन मनोभुवा सुविवृतम्।

व्याख्या—योषितां=स्त्रीणां, हृदयम्=अन्तःकरण, मृदु=कोमल, नाम=प्रसिद्धौ, इति यत्, स, प्रकृति=प्रकृतिसिद्ध, गुण=मार्दवगुण, इमां=दमयन्तीं, कथं=केन प्रकारेण, न एतु=न प्राप्नोतु, प्राप्नोत्वेवेत्यर्थ। कुतः? तत्=मृदुत्व, कुसुमैः अपि=पुष्पैरपि बाणैः, धुन्वता=कम्पयता, "दुन्वता" इति पाठे पीडयता इत्यर्थ। विबुधेन=देवेन विदुषा च, मनोभुवा=कामेन, सुविवृत=सम्यग्व्याख्यातम्।

अनुवाद—स्त्रियोंका हृदय कोमल होता है, ऐसी जो प्रसिद्धि है, वह प्रकृतिसिद्ध मार्दवरूप गुण दमयन्तीको क्यों नहीं प्राप्त करेगा? (प्राप्त ही करेगा) उस कोमलताको फूलरूप बाणोंसे भी कम्पित करनेवाले देवता वा विद्वान् कामदेवने अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया।

टिप्पणी—स=यहाँपर विधेय गुणका प्रधानतासे पुंलिङ्गता है। एतु=इण्+लोट्+तिप्। धुन्वता=धुनोतीति धुन्वन्, तेन, धूञ्+लट् (शतृ)+

टा । "दुन्वता" ऐसे पाठमें दुनोतीति दुन्वन्, तेन, (टु) दु + लट् (शतृ) + टा । सुविवृतम् = सु + वि + वृ + क्त । दमयन्तीका हृदय फूलसे भी सुकुमार है, यह इस पद्यका तात्पर्य है ॥ २३ ॥

रिपुतरा भवनादविनिर्यतीं विधुरुचिर्गृहजालबिलैर्नु ताम् ।
इतरथाऽऽत्मनिवारणशङ्कया ज्वलयितुं बिसवेषधराऽविशत् ॥ २४ ॥

अन्वयः—रिपुतरा विधुरुचिः भवनात् अविनिर्यतीं तां ज्वलयितुम् इतरथा आत्मनिवारणशङ्कया बिसवेषधरा (सती) गृहजालबिलैः अविशत् नु ?

व्याख्या—रिपुतरा = शत्रुतरा, अतिद्वेषिणीति भावः । विधुरुचिः = चन्द्रप्रभा, भवनात् = निकेतनात्, अविनिर्यतीम् = अनिर्गच्छन्ती, तां = दमयन्तीं, ज्वलयितुं = सन्तापयितुम्, इतरथा = निजरूपेण प्रवेशे, आत्मनिवारणशङ्कया = स्वप्रवेशनिषेधभीत्या, बिसवेषधरा = मृणालनेपथ्यधारिणी सती, गृहजालबिलैः = गवाक्षच्छिद्रैः, अविशत् नु = प्रविष्टा किम् ?

अनुवाद—दमयन्तीका अत्यन्त द्वेष करनेवाली चन्द्रकान्ति अपने रूपसे प्रवेश करनेपर अपने निवारणकी आशङ्कासे मृणालका वेश धारण करके भवनसे बाहर न निकलनेवाली दमयन्तीको सन्ताप करनेके लिए भवनकी खिड़कीके छेदसे प्रविष्ट है क्या ? ऐसा मालूम होता है ।

टिप्पणी—रिपुतरा = रिपु + तरप् + टाप् । विधुरुचिः = विधोः रुचिः (ष० त०) । भवनात् = अपादानमें पञ्चमी । अविनिर्यती = न विनिर्यती, ताम् (नञ्०) । ज्वलयितुं = ज्वल + णिच् + तुमुन् । इतरथा = इतर + थाल् । आत्मनिवारणशङ्कया = आत्मनो निवारणं (ष० त०), तस्य शङ्का, तया (ष० त०) । बिसवेषधरा = बिसस्य वेषः (ष० त०), तस्य धरा (ष० त०) । गृहजालबिलैः = गृहस्य जालं (ष० त०), तस्य बिलानि, तैः (ष० त०) । अविशत् = विश + लङ् + तिप् । मदन-तापको हटानेके लिए शीतोपचारके कारणभूत मृणालके अङ्कुर भवनके भीतर रही हुई दमयन्तीको पीड़ित करनेके लिए गुप्त रूपसे प्रविष्ट चन्द्रकिरणों के समान प्रतीत होते थे, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २४ ॥

हृदि विदर्भभुवोऽश्रुभृति स्फुटं विनमदास्यतया प्रतिबिम्बितम् ।
मुखदृगोष्ठमरोपि मनोभुवा तदुपमाकुसुमान्यखिलाः शराः ॥ २५ ॥

अन्वयः—विदर्भभुवो विनमदास्यतया अश्रुभृति हृदि स्फुटं प्रतिबिम्बितं मुखदृगोष्ठ मनोभुवा तदुपमाकुसुमानि अखिलाः शराः अरोपि ।

व्याख्या—विदर्भभुवः=वैदर्भ्याः, दमयन्त्याः। विनमदास्यतया=नम्रा ननत्वेन हेतुना, अश्रुभृति=नयनजलधारिणि, अश्रुसिक्त इति भावः। हृदि= उरःस्थले, स्फुटं=व्यक्तं, प्रतिबिम्बितं=प्रतिफलितं वैमल्यादिति शेषः। मुखदृगोष्ठं=वदननयनाधरं, मनोभुवा=कामेन, तदुपमाकुसुमानि=तदौपम्यपुष्पाणि, कमलं, नीलकमले, बन्धूकपुष्पे च, पञ्चधा स्थितानीति भावः। अखिलाः=समस्ताः, पञ्चाऽपीति भावः। शराः=बाणाः, अरोपि=रोपितम्।

अनुवाद—दमयन्तीके नम्रमुख होनेसे आँसुओंसे सिक्त हृदयमें व्यक्त रूपसे प्रतिबिम्बित मुख, नेत्र और ओष्ठको कामदेवने उनके उपमाके फूलोंको (कमलको दो नीलकमलोंको और दो बन्धूक पुष्पोंको) पाँचों बाणोंके रूपमें आरोपित कर दिया।

टिप्पणी—विदर्भभुवः=विदर्भ+भू+क्विप्+ङस्। विनमदास्यतया= विनमत् आस्यं यस्याः सा विनमदास्या (बहु०), तस्या भावस्तत्ता, तया विनमदास्या+तल्+टाप्+टा। अश्रुभृति=अश्रु बिभर्तीति, तस्मिन् अश्रु+भृ+क्विप्+ङि। मुखदृगोष्ठ=मुखं च दृशौ च ओष्ठौ च, प्राण्यङ्ग होनेसे "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" इस सूत्रसे समाहारमें द्वन्द्व। तदुपमाकुसुमानि=उपमायाः कुसुमानि (ष० त०), तस्य उपमाकुसुमानि (ष० त०)। अरोपि=रुह्+णिच्+लुङ्+त (कर्ममें)। दमयन्तीके अश्रुसिक्त वक्षःस्थलमें प्रतिबिम्बित मुख, दो नेत्र और दो ओष्ठ—ये पाँच अवयव कामदेवके आरोपित पाँच बाणोंके समान देखे गये, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २५ ॥

विरहपाण्डुकपोलतले विधुर्व्यधित भीमभुवः प्रतिबिम्बितः।
अनुपलक्ष्यसिताऽसुतया मुखं निजसखं सुखमङ्कमृगार्पणात् ॥ २६ ॥

अन्वयः—विधुः भीमभुवो विरहपाण्डुकपोलतले प्रतिबिम्बितः अनुपलक्ष्यसिताऽसुतया मुखम् अङ्कमृगाऽर्पणात् मुखं निजसखं व्यधित।

व्याख्या—विधुः=चन्द्रः, भीमभुवः=दमयन्त्याः, विरहपाण्डुकपोलतले= वियोगपाण्डुरगण्डफलके, प्रतिबिम्बितः=प्रतिफलितः सन्, अनुपलक्ष्यसिताऽसुतया=दुर्लक्ष्यशुभ्रकिरणतया, सुखम्=अनायासम्, अङ्कमृगार्पणात्= कलङ्कहरिणसमर्पणात्, मुखं=दमयन्तीवदनं, निजसखं=स्वमित्रं, स्वसदृशं कलङ्किं, व्यधित=विहितवान्।

अनुवाद—चन्द्रमाने वियोगसे पाण्डुवर्णवाले दमयन्तीके कपोलमें प्रतिबिम्बित होकर समानवर्ण होनेसे सफेद किरणोंके नहीं देखे जानेसे अनायासपूर्वक अपने कलङ्करूप मृगको अर्पण कर दमयन्तीके मुखको अपना मित्र (स्वसदृश कलङ्कयुक्त) बनाया।

टिप्पणी—भीमभुवः=भीमाद्भवतीति भीमभूः, तस्याः भीम+भू+क्विप् (उपपद०)+ङस् । विरहपाण्डुकपोलतले=विरहेण पाण्डु (तृ० त०), कपोलस्य तलम् (ष० त०), विरहपाण्डु च तत् कपोलतलं, तस्मिन् (क० धा०)। अनुपलक्ष्यसितांऽशुतया=न उपलक्ष्याः (नञ्०), अनुपलक्ष्याः सिता अंशवो यस्य सः अनुपलक्ष्यसितांऽशुः (बहु०), तस्य भावस्तत्ता, तया, अनुपलक्ष्यसितांऽशु+तल्+टाप्+टा । सुखं (क्रि० वि०)। अङ्कमृगाऽर्पणात् =अङ्कश्चाऽसौ मृगः (क० धा०), तस्य अर्पणं, तस्मात् (ष० त०)। निजसखं=निजस्य सखि, तद् (ष० त०)। व्यधित=वि+धा+लुङ्+त । दोषी लोग अपने संसर्गी निर्दोषको भी अपने दोषको संक्रान्त करके अपने समान बनाते है, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें चन्द्रमाकी दमयन्तीके कपोलकी सदृशतासे सामान्य अलङ्कार है। जैसे कि "सामान्यं प्रकृतस्याऽन्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः।" १०+११६ (सा० द०) ॥ २६ ॥

विरहतापिनि चन्दनपांसुभिर्वपुषि सार्ऽपितपाण्डिमण्डना।
विषधराऽऽभविसाऽऽभरणा दधे रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकाम् ॥२७॥

अन्वयः—सा विरहतापिनि वपुषि चन्दनपांसुभिः अर्पितपाण्डिममण्डना विषधराऽऽभविसाऽऽभरणा (सती) रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकां दधे।

व्याख्या—सा=दमयन्ती, विरहतापिनि=वियोगसन्तप्ते, वपुषि=स्वशरीरे, चन्दनपांसुभिः=श्रीखण्डरजोभिः, अर्पितपाण्डिममण्डना=सम्पादितपाण्डुत्वाऽलङ्कारा, विषधराऽऽभविसाऽभरणा=सर्पतुल्यमृणालाऽलङ्कारा सती, रतिपतिं प्रति=कामदेवं प्रति, शम्भुविभीषिकां=शम्भुरेवेयमिति भयोत्पादनं, दधे=दधार, नूनमिति शेषः।

अनुवाद—दमयन्तीने वियोगसे सन्तप्त अपने शरीरमें चन्दनके चूर्णोंसे पाण्डुत्वरूप अलङ्कारको सम्पादित कर सर्पके सदृश मृणालको आभरण बनाती हुई कामदेवके प्रति "यह शम्भु ही है" इस प्रकार मानो भयको उत्पन्न किया।

टिप्पणी—विरहतापिनि=विरहेण तपतीति तच्छीलं विरहतापि, तस्मिन्, विरह+तप+णिनि (उपपद०)+ङि। चन्दनपांसुभिः=चन्दनस्य पांसवः,

तं (ष० त०) । अर्पितपाण्डिममण्डना=पाण्डोर्भाव पाण्डिमा, पाण्डु शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच प्रत्यय । अर्पित पाण्डिमा एव मण्डन यस्या सा (बहु०) । विषधराऽऽभबिसाऽऽभरणा=धरतीति धर, धृञ्+अच् विषस्य धर (ष० त०), विषधरस्येव आभा यस्य तत् (व्यधिकरण बहु०), विषधराऽऽभ विसम् एव आभरण यस्या सा (बहु०) । रतिपति=रते पति, तम् (ष० त०), "प्रति"के योगमे द्वितीया । शम्भु-विभीषिका=शम्भोर्विभीषिका ताम् (ष० त०) । दधे=धा+लिट्+त । इस पद्यमे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ॥ २७ ॥

> विनिहित परितापिनि चन्दन हृदि तया धृतबुद्बुदमावभौ ।
> उपनमन् सुहृद हृदयेशय विधुरिवाऽङ्कगतोडुपरिग्रह ॥ २८ ॥

अन्वय —तया परितापिनि हृदये विनिहित धृतबुद्बुद चन्दन सुहृद हृदये-शयम् उपनमत् अङ्कगतोडुपरिग्रह विधु इव आवभौ ।

व्याख्या—तया=दमयन्त्या, परितापिनि=विरहसन्तप्ते, हृदये=वक्षसि, विनिहित=निक्षिप्त, धृतबुद्बुदम्=भनिववाष्पजल, चन्दन=श्रीखण्डद्रव, सुहृद=मित्र, हृदयेशय=कामदेवम्, उपनमत्=उपसर्पत् । अङ्कगतोडुपरिग्रह =निकटस्थतारकापरिकर, विधु इव=चन्द्र इव, आवभौ =शुशुभे ।

अनुवाद—दमयन्तीने विरहसे स तप्त अपने हृदयमे रक्खा गया बुलबुला वाला चन्दनका द्रव अपने मित्र कामदेवके पास जाता हुआ निकटस्थ तारामोंसे युक्त चन्द्रमाके समान शोभित हुआ ।

टिप्पणी—परितापिनि=परि+तप+णिनि+ङि । धृतबुद्बुद=धृतौ बुद्बुदौ येन तत् (बहु०) । हृदयेशयम्=हृदये शेत इति हृदयेशय, तम् । हृदय उपपदपूर्वक "शीङ् स्वप्ने" धातुसे "अधिकरणे शेते" इस सूत्रसे अच प्रत्यय (उपपद०)+अम् । "शयवासवासिष्वकालात्" इससे अलुक् । उपनमत् =उप+नम्+लट् (शतृ०)+सु । अङ्कगतोडुपरिग्रह =अङ्क गत (द्वि० त०), अङ्कगत उडूनि एव परिग्रह यस्य स (बहु०) । आबभौ=आङ्+भा+लिट्+तिप् । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ २८ ॥

> स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहु सरस सरसीरुहम् ।
> श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—स्मरहुताऽशनदीपितया तया बहु सरसं सरसीरुहं मुहुः श्रयितुम् अर्धपथे कृतम् अन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरम् उज्झितम् ।

व्याख्या—स्मरहुताऽशनदीपितया=कामाऽग्नितप्तया, तया=दमयन्त्या, बहु=अधिकं, सरसम्=आर्द्रं, सरसीरुहं=कमलं, मुहुः=वारं वारं, श्रयितुं=सेवितुं, शैत्यायेति शेषः । अर्धपथे=अर्धमार्गे, कृतम्=आनीतं सत्, अन्तरा=मध्ये, श्वसितनिर्मितमर्मरं=दमयन्तीनिःश्वासकृतमर्मरशब्दं सत्, उज्झितं=त्यक्तं, वैरस्यादिति शेषः । तयोष्णो दमयन्त्या निःश्वास इति भावः ।

अनुवाद—कामाऽग्निसे संतप्त दमयन्तीसे अधिक आर्द्र कमलको बारंबार शैत्यके लिए सेवा करनेके लिए आधे मार्गमे लाये जानेपर मध्यमें उनके लम्बे श्वाससे सूखकर मर्मर शब्दवाले उसको उन्होने छोड़ दिया ।

टिप्पणी—स्मरहुताऽशनदीपितया=स्मर एव हुताशनः (रूपक०), तेन दीपिता, तया (तृ० त०) । श्रयितुं=श्रिञ्+तुमुन् । अर्धपथे=पथ अर्धम् अर्धपथम्, तस्मिन्, "अर्धं नपुंसकम्" इस सूत्रसे समास, "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इससे समासाऽन्त अप्रत्यय । श्वसितनिर्मितमर्मरं=श्वसितेन निर्मितः (तृ० त०), श्वसित निर्मितो मर्मरो यस्य तत् (बहु०), "अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्" इत्यमरः । उज्झितम्=उज्झ+क्तः (कर्ममें) । इस पद्यमे दमयन्तीके गर्म निःश्वासमे सूखकर कमलका मर्मर शब्दयुक्त होनेके असम्बन्धमें भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ २९ ॥

प्रियकरग्रहमेवमवाप्स्यति स्तनयुगं तव ताम्यति किन्त्विति ।
जगदतुर्निहिते हृदि नीरजे दवथुकुड्मलनेन पृथुस्तनीम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—हृदि निहिते नीरजे दवथुकुड्मलनेन पृथुस्तनी "तव स्तनयुगम् एवं प्रियकरग्रहम् अवाप्स्यति किं तु ताम्यति" इति जगदतुः (नूनम्) ।

व्याख्या—हृदि=वक्षसि, निहिते=न्यस्ते, दमयन्त्येति शेषः । नीरजे=कमले, दवथुकुड्मलनेन=परितापमुकुलनेन, पृथुस्तनी=विशालकुचां, दमयन्तीमिति भावः । तव=भवत्या, स्तनयुगं=कुचयुग्मम् (कर्तृपदम्), एवम्=अनेन प्रकारेण, प्रियकरग्रहं=नलपाणिसम्बन्धम्, अवाप्स्यति=प्राप्स्यति, किं नु=किमर्थं, ताम्यति=ग्लायति, इति, जगदतुः=कथयामासतुः, नूनमिति शेषः ।

अनुवाद—दमयन्तीके वक्षःस्थलमें रक्खे गये दो कमलोंने सन्तापसे सिकुड़ कर दमयन्तीको "तुम्हारे दो पयोधर इसी प्रकारसे प्रियके हाथके ग्रहणको प्राप्त करेंगे, क्यों ग्लानियुक्त हो रहे हैं ?" मानो ऐसा वचन कहा ।

टिप्पणी—नीरजे = नीर + जन् + ड (उपपद०) + औ । दवथुकुड्मल-नेन = दवन दवथु , "(टु) दु उपतापे ' इस धातुसे टित् होनेसे "ट्वितोऽथुच्" इस सूत्रसे अथुच् प्रत्यय । दवथुना कुड्मलन, तेन (तृ० त०) । पृथुस्तनीं = पृथू स्तनौ यस्याः सा, ताम् (बहु०) पृथुस्तन + ङीप् । स्तनयुग = स्तनयो-र्युगम् (ष० त०) । प्रियकरग्रह = प्रियस्य कर (ष० त०), तेन ग्रह , तम् (तृ० त०) । अवाप्स्यति = अव + आप् + लृट् + तिप् । सम्पति = सम + लट् + तिप । इस पद्यमे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३० ॥

त्वदितरो न हृदाऽपि मया धृत पतिरितीव नल हृदयेशयम् ।
स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म सा विरहपाण्डुतया निजशुद्धताम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—सा हृदयेशय नल "त्वदितर पति मया हृदा अपि न धृत" इति इव निजशुद्धता विरहपाण्डुतया स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म ।

व्याख्या—सा = दमयन्ती, हृदयेशय = चित्तस्थित, नल = नैषध, त्वदितर = भवद्भिन्न , पति = स्वामी, मया = दमयन्त्या, हृदा अपि = चित्तेन अपि, किमुत बाह्येन्द्रियेणेति भाव , न धृत = न चिन्तित , इति = इत्थम्, इव निजशुद्धता = स्वनिर्दोषता पाण्डुत्व च, विरहपाण्डुतया = वियोगपाण्डुत्वव्याजेन, स्मरहविर्भुजि = कामाऽनले, बोधयति स्म = बोधितवती, मदनाऽनलनिमग्ना भैमी अग्निदिव्येन सीता राममिव नल स्वशुद्धि बोधयामासेवेति भाव ।

अनुवाद—दमयन्तीने अपने हृदयमे स्थित नलको "आपसे भिन्न पतिको मैंने मनसे भी चिन्तन नही किया" इस प्रकार अपनी निर्दोषता या पाण्डुरता (पीलापन)को वियोगमे पाण्डुभाव होनेसे कामरूप अग्निमे जताया ।

टिप्पणी—हृदयेशय = हृदये शेते इति हृदयेशय , तम् (हृदय + शीङ् + अच् + अम्) । त्वदितर = त्वत् इतर (प० त०) । निजशुद्धता = शुद्धस्य भाव । शुद्ध + तल् + टाप् । निजस्य शुद्धता, ताम् (ष० त०) । विरहपाण्डुतया = पाण्डोर्भाव , पाण्डु + तल् + टाप्, विरहेण पाण्डुता, तया (तृ० त०) । स्मरहविर्भुजि = स्मर एव हविर्भुक् तस्मिन् (रूपक०) । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा और रूपककी संसृष्टि है ॥ ३१ ॥

विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिषद्दलमुष्टिभिः ।
किमपनेतुमचेष्टत किं पराभवितुमैहत तद्दवथुं पृथुम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः— विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिषद्दलमुष्टिभिः पृथुं तद्दवथुम् अपनेतुम् अचेष्टत किम् ? पराभवितुम् ऐहत किम् ?

व्याख्या— विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता = वियोगसन्तप्तदमयन्तीशरीरनिहिता, कमलिनी = पद्मलता, निमिषद्दलमुष्टिभिः=आनमत्पत्रमुष्टिबन्धैः (करणैः), पृथुं=महान्तं, तद्दवथुं = दमयन्तीसन्तापम्, अपनेतुं=दूरीकर्तुम्, अचेष्टत किम् = उद्योगं चकार किम् ? पराभवितुं = तिरस्कर्तुम्, ऐहत किम् = अचेष्टत किम् ? वस्तुतस्तु न किञ्चित्कर्तुं शशाक, प्रत्युत स्वयमेव दग्धेत्यर्थः ।

अनुवाद— वियोगसे सन्तप्त दमयन्तीके शरीरमें रक्खी गई कमलिनीने सङ्कुचितपत्ररूप मुक्केमे बढ़े हुए उनके सन्तापको हटानेकी वा तिरस्कार करनेकी इच्छा की ?

टिप्पणी— विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता = विरहेण तप्तम् (तृ० त०), तस्या अङ्गम् (ष० त०), विरहतप्तं च तदङ्गम् (क० धा०), तस्मिन् निवेशिता (स० त०) । निमिषद्दलमुष्टिभिः=निमिषन्ति च तानि दलानि (क० धा०), निमिषद्दलानि एव मुष्टयः, तैः (रूपक०) । तद्दवथुं=तस्या दवथुः, तम् (ष० त०) । अपनेतुम् = अप + नी + तुमुन् । अचेष्टत=चेष्ट + लङ् + त । पराभवितुं = परा + भू + तुमुन् । ऐहत = ईह + लङ् + त । इस पद्यमें विषय और उत्प्रेक्षा अलङ्कारका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३२ ॥

इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषाऽवशा ।
शशिकलेव खरांऽशुकराऽर्दिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम् ? ॥ ३३ ॥

अन्वयः— इयम् अनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषाऽवशा खरांऽशुकराऽर्दिता शशिकला इव कं करुणनीरनिधौ न निदधौ ?

व्याख्या— इयं = दमयन्ती, अनङ्गशराऽऽवलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषाऽवशा = कामबाणपङ्क्तिसर्पदंशनव्यापिविरहगरलविह्वला सती, खरांऽशुकराऽर्दिता = सूर्यकिरणपीडिता, शशिकला इव = चन्द्रकला इव, कं = जनं, करुणनीरनिधौ = शोकसमुद्रे, न निदधौ = नो निहितवती, सर्वमपि निदधावेवेति भावः ।

अनुवाद—दमयन्तीने कामदेवकी बाणपङ्क्तिरूप सर्पके दशनसे फैलनेवाले वियोगरूप विषसे विह्वल होकर सूर्यकी किरणोंसे पीडित चन्द्रकलाकी तरह किस पुरुषको शोक समुद्रमें नहीं डाला ?

टिप्पणी—अनङ्गेत्यादि =अनङ्गस्य शरा (ष० त०), तेषाम् आवलि (ष० त०), सा एव पन्नगा (रूपक०), तेषां क्षत (ष० त०), तेन विसारि (तृ० त०)। वियोग एव विषम् (रूपक०), अनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारि च तत् वियोगविषम् (क० धा०), तेन अवशा (तृ० त०)। खराऽशुकरार्दिता=खरा (तीक्ष्णा) अंशवो यस्य स (बहु०)। तस्य करा (ष० त०), तै० अर्दिता (तृ० त०)। शशिकला=शशिन कला (ष० त०)। करुणनीरनिधौ=नीराणा निधि (ष० त०), करुण एव नीरनिधि , तस्मिन् (रूपक०)। निदधौ=नि+धा+लिट्+त। इस पद्यमें रूपक और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तयार्द्रमृणाललतार्पिता।
स्वजयिनोस्त्रपया सविधस्थयोर्मलिनतामभजद् भुजयोर्भृशम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—तया मन्मथवेदनया ज्वलति निजे हृदि अर्पिता आर्द्रमृणाललता स्वजयिनो सविधस्थयो भुजयो त्रपया भृश मलिनताम् अभजत्।

व्याख्या—तया=दमयन्त्या, मन्मथवेदनया=मदनज्वरदुःखेन, ज्वलति=सन्तप्ते, निजे=स्वकीये, हृदि=वक्षसि, अर्पिता=निहिता, आर्द्रमृणाललता=सरसबिसवल्ली, स्वजयिनो =आत्मजेत्रो , सविधस्थयो =समीपस्थितयो , भुजयो =दमयन्तीबाह्वो , त्रपया=लज्जया इव, भृशम्=अत्यर्थं, मलिनता=मलीमसता, विवर्णतामिति भाव । अभजत्=प्राप्तवती।

अनुवाद—कामज्वरके सन्तापसे जलती हुई अपनी छातीमें दमयन्तीसे रक्खी गई सरस कमललताने अपनेको जीतनेवाले समीपमें स्थित दमयन्तीके दोनों बाहोंकी मानो लज्जासे अत्यन्त विवर्णताको धारण किया।

टिप्पणी—मन्मथवेदनया=मन्मथस्य वेदना, तया (ष० त०)। ज्वलति=ज्वल+लट् (शतृ)+ङि। आर्द्रमृणाललता=मृणालस्य लता (ष० त०), आर्द्रा चाऽसौ मृणालता (क० धा०)। स्वजयिनो =स्वा जयत इति स्वजयिनौ, तयो , स्व+जि+इनि+ओस्। सविधस्थयो =सविधे तिष्ठत इति सविधस्थौ, तयो , सविध+स्था+क+ओस् (उपपद०)। मलिनता=मलिनस्य भाव , तत्ता, ताम्, मलिन+तल्+अम्। अभजत्=भज+लङ्+

तिप् । दमयन्तीके बाँहोंने मृणाललताको जीत लिया था, इसलिए उन्होंने शीतलताके लिए उनसे छातीमें रक्खी गई मृणाललता लज्जासे मानों विवर्ण हो गई, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ॥ ३४ ॥

पिकरुतश्रुतिकम्पिनि शैवलं हृदि तया निहितं विचलद् बभौ ।
सततत्द्गतहृच्छयकेतुना हृतमिव स्वतनूघनघर्षिणा ॥ ३५ ॥

अन्वयः—तया पिकरुतश्रुतिकम्पिनि हृदि निहितं विचलत् शैवलं स्वतनूघनघर्षिणा सततत्दगतहृच्छयकेतुना हतम् इव बभौ ।

व्याख्या—तया = दमयन्त्या, पिकरुतश्रुतिकम्पिनि = कोकिलकूजितश्रवणकम्पमाने, विरहत्वादिति शेषः । हृदि = वक्षसि, निहितं = निक्षिप्तं, शैत्यार्थमिति शेषः । विचलत् = कम्पमानं सत्, आधारचलनादिति भावः । शैवलं = शैवलः, स्वतनूघनघर्षिणा = शैवलशरीरभृशसङ्घर्षिणा, शैवलमत्स्ययोर्द्वयोरपि जलचरत्वादिति भावः । सततत्दगतहृच्छयकेतुना = निरन्तरभैमीहृदयस्थकामध्वजेन, मत्स्येनेति भावः, हृतम् इव = ताडितम् इव, मत्स्यो हि शैवले घर्षणं करोतीति भावः । बभौ = शुशुभे ।

अनुवाद—कोयलका कूजित सुननेसे कम्पित अपनी छातीमें दमयन्तीसे रक्खा गया शैवल (सेवार), आधारभूत दमयन्तीकी छातीके कम्पित होनेसे कम्पित होता हुआ अपने शरीरको अत्यन्त रगड़नेवाली, निरन्तर दमयन्तीके हृदयमें स्थित कामदेवके ध्वजभूत मछलीसे मानों ताडित होकर शोभित हुआ ।

टिप्पणी—पिकरुतश्रुतिकम्पिनि = पिकस्य रुतं (ष० त०), तस्य श्रुतिः (ष० त०), तया कम्पते तच्छीलं, तस्मिन्, पिकरुतश्रुति + कपि + णिनि + टा (उपपद०) । विचलत् = वि + चल + लट् + शतृ + सु । स्वतनूघनघर्षिणा = स्वस्य तनूः (ष० त०), घनं घर्षतीति तच्छीलः घनघर्षी, घन + घृष + णिनि + सु (उपपद०), स्वतन्वा घनघर्षी, तेन (तृ० त०) । सततत्दगतहृच्छयकेतुना = तद् गतः (द्वि० त०), सततं तद्गतः (सुप्सुपा०), हृदि शेते इति हृच्छयः, हृद् + शीङ् + अच् (उपपद०), सततत्दगतश्चाऽसौ हृच्छयः (क० धा०), तस्य केतुः, तेन (ष० त०) । हतं = हन् + क्त + सु । बभौ = भा + लिट् + तिप । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३५ ॥

न खलु मोहवशेन तदाननं नलमनः शशिकान्तमबोधि तत् ।
इतरथाऽभ्युदये शशिनस्तत कथमसुस्रवदश्रुमयं पयः ॥ ३६ ॥

अन्वय —नलमन मोहवशेन तदानन शशिकान्त न अबोधि खलु ? इतरथा शशिन अभ्युदये तत अश्रुमय पय कथम् असुस्रुवत् ?

व्याख्या—नलमन =नलचित्त, मोहवशेन=अज्ञानवशेन, विरहप्रयुक्तेनेति शेष । तदानन=दमयन्तीमुख (कर्म), शशिकान्तम्=इन्दुसुन्दर चन्द्रकान्तमणि च, न अबोधि खलु=न अबुद्ध किम् ? अबुध्यत एवेति भाव । इतरथा=अस्य असत्यत्वे, शशिन =चन्द्रमस , अभ्युदये=उदये सति, तत =दमयन्तीमुखात्, अश्रुमयम्=बाष्परूप, पय =जल, कथ=केन प्रकारेण, असुस्रुवत्= स्रवति स्म ।

अनुवाद—नलके मनने विरहके कारण मोहवश दमयन्तीके मुखको चन्द्रकान्त (चन्द्रमाके समान सुन्दर और चन्द्रकान्तमणि) नहीं समझा क्या ? अर्थात् समझा ही । नहीं तो चन्द्रमाके उदयमे दमयन्तीके मुखसे आँसूस्वरूप जल कैसे टपका ?

टिप्पणी—नलमन =नलस्य मन (ष० त०), यह कर्तृपद है । मोहवशेन=मोहस्य वश , तेन (ष० त०) । तदानन =तस्या आनन, तत् (ष० त०) । अबोधि=बुध+लुङ्+त । इतरथा=इतर+थाल्, अश्रुमयम् =अश्रु+मयट्+सु । असुस्रुवत्=स्रु+लुङ्+च्लि (चङ्)+तिप् । चन्द्रमाके उदयमे दमयन्तीके मुखमण्डलसे जल निकलनेसे दमयन्तीका मुख चन्द्रकान्त मणि है, यह सत्य है । चन्द्रोदयमे कामतापकी अधिकतासे दमयन्ती रोयी, यह तात्पर्य है ॥ ३६ ॥

रतिपतेर्विजयाऽस्त्रमिषुर्यथा जयति भीमसुताऽपि तथैव सा ।
स्वविशिखानिव पञ्चतया ततो नियतमैहत योजयितुं स ताम् ॥ ३७ ॥

अन्वय —रतिपते यथा इषु विजयाऽस्त्र जयति, तथा एव सा भीमसुता अपि (विजयाऽस्त्र स सती जयति) । तत स्वविशिखान् इव ता पञ्चतया योजयितुम् ऐहत नियतम् ।

व्याख्या—रतिपते =कामस्य, यथा=येन प्रकारेण, इषु =बाण , पुष्परूप इति भाव । विजयाऽस्त्र=विजयाऽऽयुध, जयति=सर्वोत्कर्षेण वर्तते, तथा एव=तेन प्रकारेण एव, सा=पूर्वोक्ता प्रसिद्धा वा, भीमसुता अपि= दमयन्ती अपि, विजयाऽस्त्र सती जयतीति शेष । तत =तस्मात्कारणात्, स =रतिपति काम । स्वविशिखान् इव=आत्मबाणान् इव, ता=दमयन्ती,

पञ्चतया=पञ्चसंख्यत्वेन, मरणेन च, योजयितुं=संयोजयितुम्, ऐहत=अचेष्टत, नियतं=सत्यम् ।

अनुवाद—कामदेवका बाण (पुष्प) जैसे विजयका साधनभूत अस्त्र होकर उत्कर्षपूर्वक रहता है, वैसे ही ये दमयन्ती भी कामदेवके विजयका साधनभूत अस्त्र होकर उत्कर्षपूर्वक रहती हैं। इस कारणसे कामदेवने अपने बाणोंकी तरह उनको भी पाँच संख्याओंके तौरपर वा मरणसे संयुक्त करनेके लिए मानों चेष्टा की है।

टिप्पणी—रतिपतेः=रतेः पतिः, तस्य (ष० त०)। विजयाऽस्त्रं=विजयस्य अस्त्रम् (ष० त०)। भीमसुता=भीमस्य सुता (ष० त०)। स्वविशिखान्=स्वस्य विशिखाः, तान् (ष० त०)। पञ्चतया=पञ्चानां भावः पञ्चता, तया, पञ्चन्+तल्+टाप्+टा। "पञ्चता पञ्चभावे स्यात् पञ्चता मरणेऽपि च" इति विश्वः। योजयितुं=युज+णिच्+तुमुन्। ऐहत=ईह+लङ्+त। नियतम्=यह उत्प्रेक्षाका वाचक शब्द है। इस पद्यमें उपमा और उत्प्रेक्षाका सङ्कर अलङ्कार है॥ ३७॥

शशिमयं दहनाऽस्त्रमुदित्वरं मनसिजस्य विमृश्य वियोगिनी।
झटिति वारुणमश्रुमिषादसौ तदुचितं प्रतिशस्त्रमुपाददे॥ ३८॥

अन्वयः—वियोगिनी असौ उदित्वरं शशिमयं मनसिजस्य दहनाऽस्त्रं विमृश्य झटिति अश्रुमिषात् वारुणं तदुचितं प्रतिशस्त्रम् उपाददे।

व्याख्या—वियोगिनी=विरहिणी, असौ=दमयन्ती, उदित्वरम्=उद्यत् शशिमयं=चन्द्ररूपं, मनसिजस्य=कामदेवस्य, दहनास्त्रम्=आग्नेयाऽस्त्रं, विमृश्य=आलोच्य, झटिति=सत्वरम्, अश्रुमिषात्=बाष्पच्छलात्, वारुणं=वरुण दैवतं, तदुचितम्=आग्नेयास्त्रप्रतिकारयोग्यं, प्रतिशस्त्रं=प्रतिकूलमायुधम्, उपाददे=उपगृहीतवती, प्रयुक्तवतीति भावः। चन्द्रोदयस्य असह्यत्वात्केवलमरोदीदिति भावः।

अनुवाद—विरहिणी दमयन्तीने उदित चन्द्ररूप कामदेवके आग्नेय अस्त्रको विचार करके झटपट आँसूके बहानेसे वरुण देवतावाले आग्नेय अस्त्रको हटानेमें समर्थ प्रतिकूल शस्त्रका ग्रहण किया।

टिप्पणी—वियोगिनी=वियोग+इनि+ङीप्+सु। उदित्वरम्=उद्-उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे "इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्" इस सूत्रसे क्वरप् प्रत्यय। शशिमयं=शशी एव, तद्, शशिन्+मयट् (स्वरूप अर्थमें)+सु।

मनसिजस्य=मनसि जायत इति मनसिज , तस्य, मनस्+जन्+ड (उपपद०) +ङस् । अलुक् समास । दहनाऽस्त्र=दहनस्य अस्त्र, तत् (ष० त०) । विमृश्य=वि+मृश्+क्त्वा (ल्यप्) अश्रुमिषात्=अश्रुणा मिष, तस्मात् (ष० त०) । वारुण=वरुणो देवता अस्य, तत्, वरुण शब्दसे "साऽस्य देवता" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय । तदुचित=तस्य उचित, तत् (ष० त०) । प्रतिशस्त्र=प्रतिकूल शस्त्र, तत् (गति०) । उपाददे=उप+आङ्+दा+लिट् +त । इस पद्यमे अपह्नुति और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३८ ॥

> अतनुना नवमम्बुदमाम्बुद सुतनुरस्त्रमुदस्तमवेक्ष्य सा ।
> उचितमायतनिःश्वसितच्छलाच्छ्वसनमस्त्रममुञ्चदमुं प्रति ॥ ३९ ॥

अन्वय —सा सुतनु नवम् अम्बुदम् (एव) अतनुना उदस्तम् आम्बुदम् अस्त्रम् अवेक्ष्य आयतनिःश्वसितच्छलात् अमु प्रति उचित श्वसनम् अस्त्रम् अमुञ्चत् ।

व्याख्या —सा=प्रसिद्धा, सुतनु=सुन्दरी भैमी । नव=नूतनम्, अम्बुद=मेघम् एव, अतनुना=अनङ्गेन, कामदेवेन, उदस्तम्=उत्क्षिप्तम्, आम्बुद=मेघदैवतम्, अस्त्रम्=आयुध, पर्जन्याऽस्त्रमिति भाव । अवेक्ष्य=दृष्ट्वा, आयतनिःश्वसितच्छलात्=दीर्घनिःश्वासमिषात् । अमु प्रति=अम्बुद प्रति, उचित=योग्य, प्रतीकारसमर्थमिति भाव । श्वसन=वायुस्वरूपम्, अस्त्रम्=आयुधम्, अमुञ्चत्=अत्यजत्, प्रयुक्तवतीति भाव । मेघदर्शनात्प्रदीप्तमदनज्वरा सा दीर्घमुष्ण च निःश्वसितवतीति भाव ।

अनुवाद—सुन्दरी दमयन्तीने कामदेवसे प्रेरित मेघरूप पर्जन्य अस्त्रको देखकर लम्बे निःश्वासके छलसे मानो उस(पर्जन्य अस्त्र)के प्रति उचित वायव्य अस्त्रको छोडा ।

टिप्पणी—सुतनु=शोभना तनु यस्या सा (बहु०) । अम्बुदम्=अम्बु+दा+क+अम् (उपपद०) । अतनुना=अविद्यमाना तनु यस्य स , तेन (नञ्बहु०) । उदस्तम्=उद्+असु+क्त+अम् । आम्बुदम्=अम्बुद+अण्+अम् । अवेक्ष्य=अव+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्) । आयतनिःश्वसितच्छलात्=आयत च तत् निःश्वसितम् (क० धा०) । तस्य छल, तस्मात् (ष० त०) । अमुञ्चत्=मुच्लृ+लङ्+तिप् । इस पद्यमे अपह्नुति और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाका सङ्कर है ॥ ३९ ॥

रतिपतिप्रहिताऽनिलहेतितां प्रतियती सुदती मलयाऽनिले ।
तदुरुतापभयात्तमृणालिकामयमियं भुजगाऽस्त्रमिवाऽऽदित ॥ ४० ॥

अन्वय.—सुदती इयं मलयाऽनिले रतिपतिप्रहिताऽनिलहेतितां प्रतियती तदुरुतापभयाऽऽत्तमृणालिकामयं भुजगाऽस्त्रम् आदित इव ।

व्याख्या—सुदती=सुन्दरदन्तयुक्ता सुन्दरी, इयं=दमयन्ती, मलयाऽनिले =दक्षिणपवने विषये, रतिपतिप्रहिताऽनिलहेतितां=कामप्रेरितवायव्याऽस्त्रतां, प्रतियती=जानती, तदुरुतापभयाऽऽत्तमृणालिकामयं=वायव्यास्त्रबहुसन्तापभीतिगृहीतबिसलतास्वरूपं, भुजगाऽस्त्रं=पन्नगाऽस्त्रम् आदित इव=गृहीतवती किम् ?

अनुवाद—सुन्दर दन्तोंवाली दमयन्तीने मलय पर्वतकी हवाको कामदेवसे प्रेरित वायव्यास्त्र जानकर उस अस्त्रके बहुत सन्तापके भयसे पद्मलतारूप सर्पाऽस्त्रको मानों ले लिया ।

टिप्पणी सुदती=शोभना दन्ता यस्या सा (बहु०), "वयसि दन्तस्य दतृ" इस सूत्रसे दन्तके स्थानमें दतृ आदेश और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप् । मलयाऽनिले=मलयस्य अनिलः, तस्मिन् (ष० त०), विषयमें सप्तमी । रतिपतिप्रहिताऽनिलहेतितां=रतेः पतिः (ष० त०), अनिलस्य हेतिः (ष० त), "हेतिः शस्त्रं प्रहरणं ह्यायुधं चाऽस्त्रमेव च" इति हलायुधः । रतिपतिना प्रहिता (तृ० त०), रतिपतिप्रहिता चाऽसौ अनिलहेतिः (क० धा०), तस्या भावः तत्ता, ताम्, रतिपतिप्रहिताऽनिलहेति+तल्+टाप्+अम् । प्रतियती= प्रत्येतीति, प्रति+इण्+लट् (शतृ)+ङीप्+सु । तदुरुतापभयाऽऽत्तमृणालिकामयम्=उरुश्चाऽसौ तापः (क० धा०), तस्याः (अनिलहेतेः), उरुतापः (ष० त०), तस्मात् भयं (पं० त०), तेन आत्ता (तृ० त०), सा चाऽसौ मृणालिका (क० धा०), तदेव, तत्, तदुरुतापभयाऽऽत्तमृणालिका+मयट् (स्वार्थमें)+अम् । भुजगास्त्रं=भुजगस्य अस्त्रं, (ष० त०) । आदित=आङ्–उपसर्गपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे लुङ्+त, "स्थाघ्वोरिच्च" इससे इकार और "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्का लोप । दमयन्तीने मलयकी हवाको कामदेवसे छोड़ा गया वायव्यास्त्र जानकर उसको हटानेके लिए कमललतारूप सर्पाऽस्त्रको ले लिया । सर्प हवाको पीता है, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षाका सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४० ॥

न्यधित तद्धृदि शल्यमिव द्वय विरहिता च तथाऽपि च जीवितम् ।
किमथ तत्र निहृत्य निखातवान् रतिपति स्तनबिल्वयुगेन तत् ॥ ४१ ॥

अन्वय —रतिपति तद्धृदि विरहिता तथा अपि जीवित च (इति) द्वय शल्यम् इव न्यधित। अथ तत् स्तनबिल्वयुगेन तत्र निहृत्य निखातवान् किम् ?

व्याख्या—रतिपति =कामदेव , तद्धृदि=दमयन्तीहृदये, विरहिता= वियोगिता, तथाऽपि=विरहितायां सत्याम् अपि, जीवित च=जीवन च, (इति) द्वय=द्वितय, शल्यम् इव=शङ्कुम् इव, न्यधित=निखातवान् । अथ=निखननाऽनन्तर, तत्=शल्यद्वय, स्तनबिल्वयुगेन=कुचश्रीफलयुग्मेन, तत्र=दमयन्तीहृदये, निहृत्य=आहृत्य, निखातवान् किम् ?=न्यधित किम् ? यथा लोके निखात शङ्कु दार्ढ्याय पाषाणेन घ्नन्ति तद्वदिति भाव ।

अनुवाद—कामदेवने दमयन्तीके हृदयमे वियोगिभाव और जीवन—इन दोनोको कीलके समान रख दिया। तब उन दोनोको स्तनरूप दो बेलके फलो-से दमयन्तीके हृदयमे ठोककर स्थिर कर दिया है क्या ?

टिप्पणी—रतिपति =रते पति (ष० त०) । तद्धृदि=तस्या हृत्, तस्मिन् (ष० त०) । विरहिता=विरहिण्या भावो विरहिता, ताम्, विरहिणी+तल+टाप्+अम् । द्वय=द्वि+तयप (अच्)+अम् । न्यधित= नि+धा+लुङ+त । 'स्थाघ्वोरिच्च' इससे इकार, "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्का लोप । स्तनबिल्वयुगेन=स्तनौ एव बिल्वे (रूपक०), तयोयुग, तेन (ष० त०) । निहृत्य=नि+हृन्+क्त्वा (ल्यप्) । निखातवान्=नि+ खन्+क्तवतु+सु । इस पद्यमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमे दो उत्प्रेक्षाएँ और रूपक—इनका समृष्टि अलङ्कार है ॥ ४१ ॥

अतिशरव्ययता मदनेन तां निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् ।
स्फुटमकारि फलान्यपि मुञ्चता तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा ॥ ४२ ॥

अन्वय —ताम् अतिशरव्ययता निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् फलानि अपि मुञ्चता मदनेन तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा अकारि स्फुटम् ।

व्याख्या—ता=दमयन्तीम्, अतिशरव्ययता=अतितरां लक्ष्य कुर्वता, (अत एव) निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात्=सकलकुसुमरूपनिजबाणक्षयात्, फलानि अपि=सस्यानि अपि, मुञ्चता=क्षिपता, मदनेन=कामेन, तदु रसि=दमयन्तीवक्षसि, स्तनतालयुगार्पणा = कुचरूपतालफलयुग्मार्पणम्,

अकारि = कृता, स्फुटम् = इव, धानुष्का = शरसमाप्तौ पाषाणादिनाऽपि वैरिणं प्रहरन्तीति भावः ।

अनुवाद—दमयन्तीको अत्यन्त निशाना बनानेवाले और सम्पूर्ण पुष्परूप अपने बाणोंके समाप्त होनेसे फलोंको भी छोड़ते हुए कामदेवने दमयन्तीकी छातीमें मानों कुचरूप दो ताड़के फलोंका अर्पण भी कर दिया है ।

टिप्पणी—अतिशरव्ययता = अतिशरव्ययं करोतीति अतिशरव्ययम्, तेन, अति–उपपदपूर्वक शरव्य शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इस सूत्रसे णिच् + लट् (शतृ) + टा । निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् = पुष्पाणि एव पुष्पमयाः, पुष्प + मयट् (स्वार्थमें) + जस् । स्वस्य शराः (ष० त०), पुष्पमयाश्च ते स्वशराः (क० धा०), निखिलाश्च ते पुष्पमयस्वशराः (क० धा०), तेषां व्ययः, तस्मात् (ष० त०) । मुञ्चता = मुच्लृ + लट् (शतृ०) + टा । तदुरसि = तस्या उरः, तस्मिन् (ष० त०) । स्तनतालयुगाऽर्पणा = स्तनौ एव तले (रूपक०), तयोः युगम् (ष० त०), तस्य अर्पणा (ष० त०) । अकारि = कृ + लुङ् (कर्ममें) + त । स्फुटम् = यह उत्प्रेक्षाका द्योतक शब्द है । इस पद्यमें रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ४२ ॥

अथ मुहुर्बहुनिन्दितचन्द्रया स्तुतविधुन्तुदया च तया बहु ।
पतितया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सखी ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अथ स्मरतापमये गदे पतितया (अत एव) मुहुः बहुनिन्दितचन्द्रया मुहुः स्तुतविधुन्तुदया च तया अश्रुविमिश्रमुखी सखी निजगदे ।

व्याख्या—अथ = अनन्तरं, स्मरतापमये = कामज्वररूपे, गदे = रोगे, पतितया = निमग्नया, अत एव, मुहुः = वारं वारं, बहुनिन्दितचन्द्रया = अधिकगर्हितसोमया, मुहुः = वारं वारं, स्तुतविधुन्तुदया च = प्रशंसितसैंहिकेयया च, तया = दमयन्त्या अश्रुविमिश्रमुखी = नयनजलमिश्रतानना, सखी = स्वकीया वयस्या, निजगदे = निगदिता ।

अनुवाद—तब कामज्वररूप रोगमें निमग्न अत एव वारंवार चन्द्रमाकी निन्दा करनेवाली और वारंवार राहुकी तारीफ करनेवाली दमयन्तीने आँसुओंसे मिश्रित मुखवाली (रोती हुई) अपनी सखीको कहा ।

टिप्पणी—स्मरतापमये = स्मरस्य तापः (ष०त०), स्मरताप एव स्मरतापमयः, तस्मिन्, स्मरताप + मयट् (स्वार्थमें) + ङि । गदे = "रोगव्याधिगदाऽऽमयाः" इत्यमरः । पतितया = पत + क्त (कर्त्तामें) + टाप् + टा । बहु-

निन्दितचन्द्रया=निन्दित चन्द्र यया सा (बहु०), बहु (यथा तथा) निन्दित-चन्द्रा, तया (सुप्सुपा०) । स्तुतविधुन्तुदया=विधु तुदतीति विधुन्तुद , विधु-उपपदपूर्वक तुद धातुसे "विध्वरुषोस्तुद" इस सूत्रसे खश् प्रत्यय, 'अरुर्द्विषद-जन्तस्य मुम्' इस सूत्रसे मुम् आगम (उपपद०), स्तुतो विधुन्तुदो यया सा, तया (बहु०) । अश्रुविमिश्रमुखी=अश्रुभिर्विमिश्रम् (तृ० त०), तद् मुख यस्या सा (बहु०) । निजगदे=नि + गद + लिट् (कममें) + त ॥४३॥

> नरसुराऽब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युग यदनेहसा ।
> विरहिणामपि तद्रतवद्युवक्षणमित न कथ गणिताऽऽगमे ? ॥ ४४ ॥

अन्वय —नरसुराऽब्जभुवाम् इव यावता अनेहसा यस्य यद् युग भवति, गणिताऽऽगमे, विरहिणा तत् कथ रतवद्युवक्षणमित न ?

व्याख्या—नरसुराऽब्जभुवाम् इव=मनुष्य देव ब्रह्मणाम् इव, यावता=यत्परिमाणेन, अनेहसा=कालेन, यस्य=प्राणिन, यत्, युग=निर्दिष्टकाल, भवति गणितागमे=गणितशास्त्रे, तत्सर्वं वक्तव्यमिति शेष । विरहिणा=वियोगिना, तद्=युग, कथ=किमिति, रतवद्युवक्षणमितम्=अवियुक्ततरुण-कालगणित, न=न वर्तते ?

अनुवाद—मनुष्य, देवता और ब्रह्माजीके समान जितने कालसे जिस प्राणीका युग होता है, गणितशास्त्रमे वियोगियोके युगकी क्यो न बिछुडे हुए तरुणोके कालसे गणना की गयी ?

टिप्पणी—नरसुराऽब्जभुवाम्=अब्जात् भवतीति अब्जभू , अब्ज + भू + क्विप् (उपपद०), नराश्च सुराश्च अब्जभूश्च नरसुराऽब्जभुव, तेषाम् (द्वन्द्व) । गणिताऽऽगमे=गणितस्य आगम , तस्मिन् (ष० त०) । विरहिणा= विरह + इन् + आम् । रतवद्युवक्षणमित=युवतयश्च युवानश्च युवान , "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष । रतम् (सुरतम्) अस्ति येषा ते रतवन्त , रत + मतुप्, रतवन्तश्च ते युवान (क० धा०), तेषा क्षण (ष० त०), तेन मितम् (तृ० त०) । जैसे मनुष्योके एक वर्षमे देवताओका एक दिन होता है। बारह हजार दिव्य वर्षोकी एक चौकडी होती है । वैसी एक हजार चौकडीमे ब्रह्माका एक दिन होता है और वैसी ही चौकडीमे एक रात होती है, यह सब परिगणन किया है, परन्तु वियोगियोका वह युग, सयुक्त दम्पतियोंके कालके समान क्यो परिगणित नही हुआ । वियोगियोको एक क्षण भी वियोगके कारण

युगके समान होता है, संयोगियोंको एक युग भी संयोगके कारण एक क्षणके समान प्रतीत होता है, यह तात्पर्य है ॥ ४४ ॥

> जनुरधत्त सती स्मरतापिता हिमवतो न तु तन्महिमादृता ।
> ज्वलति फालतले लिखितः सतीविरह एव हरस्य न लोचनम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सती स्मरतापिता (सती) हिमवतो जनुः अधत्त, तन्महिमादृता तु न अधत्त । हरस्य फालतले लिखितः सतीविरह एव ज्वलति लोचनं न (ज्वलति) ।

व्याख्या—सती=दक्षपुत्री, स्मरतापिता=कामसन्तापिता, विरहाऽग्नितप्ता सतीति भावः । हिमवतः=हिमालयात्, जनुः=जन्म, अधत्त=धृतवती, अङ्गीकृतवतीति भावः । तन्महिमादृता=हिमालयमहत्त्वेन सञ्जाताऽऽदरा सती तु, न अधत्त=जन्म नो धृतवतीति भावः । एवं च हरस्य=शिवस्य, फालतले=भालतले, लिखितः=विन्यस्तः, सतीविरह एव=दाक्षायणीवियोग एव, ज्वलति=दीप्यते, लोचनं=नेत्रम्, अग्निरूपं तृतीयं नेत्रमिति भावः, न=नो ज्वलति ।

अनुवाद—सतीने कामदेवसे सन्तप्त होकर (तापशान्तिके लिए) हिमालयसे जन्म लिया, न कि हिमालयके महत्त्वमें आदर कर (जन्म लिया)। इसी तरह महादेवके ललाटमें लिखा गया सतीका विरह ही जल रहा है, न कि अग्निरूप तृतीय नेत्र (जल रहा है)।

टिप्पणी—स्मरतापिता=स्मरेण तापिता (तृ० त०), हिमवतः=हि+मतुप्+ङस् । जनुः="जनुर्जननजन्मानि" इत्यमरः । अधत्त=धाञ्+लङ्+त । तन्महिमादृता=तस्य महिमा (ष० त०), तस्मिन् आदृता (स० त०)। हरस्य=हृञ्+अच्+ङस् । फालतले=फालस्य तलं, तस्मिन् (ष० त०)। सतीविरहः=सत्या विरहः (ष० त०)। ज्वलति=ज्वल+लट्+तिप् । इस पद्यमें अपह्नुति अलङ्कार है ॥ ४५ ॥

> दहनजा न पृथुर्दवथुव्यथा, विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम् ।
> दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—दहनजा दवथुव्यथा पृथुः न, (किन्तु) विरहजा एव पृथुः । ईदृशं न यदि, स्त्रियः अपासु प्रियम् उपासितुम् उद्धुराः (सत्यः) कथम् आशु दहनं विशन्ति ?

व्याख्या—दहनजा=अग्निजन्या, अग्निदाहजन्येति भाव । दवथुव्यथा=तापदुःख, पृथुः=अधिका, न, (किन्तु) विरहजा एव=वियोगजन्या एव, दवथुव्यथेति शेष । पृथु=अधिका । ईदृश न यदि=इदम् इत्थ न चेत्, स्त्रिय=नार्य, अपासु=मृत, प्रिय=भर्तारम्, उपासितु=सेवितु, प्राप्तुमिति भाव । उद्धुरा=निष्प्रतिबन्धा सत्य । कथ=किमर्थम्, आशु=शीघ्र, दहनम्=अग्नि, विशन्ति=प्रविशन्ति ।

अनुवाद—अग्निसे उत्पन्न तापका दुःख अधिक नहीं है, किन्तु वियोगसे उत्पन्न तापका दुःख ही अधिक है, ऐसा नहीं होता तो स्त्रियाँ मरे हुए पतिको प्राप्त करनेके लिए बिना रुकावटके ही कैसे शीघ्र अग्निमे प्रवेश करती ।

टिप्पणी—दहनजा=दहनाज्जाता, दहन+जन्+ड+टाप्+सु । दवथुव्यथा=दवथोर्व्यथा (ष० त०) । विरहजा=विरह+जन्+ड+टाप्+सु । अपासुम्=अपगता असवो यस्य स, तम् (बहु०) । उपासितुम्=उप+आस्+तुमुन् । उद्धुरा=उद्गता धूः यासा ताः (बहु०) "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अकार । इस पद्यमे कार्यसे कारणका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

हृदि लुठन्ति कला नितरामयूर्विरहिणीवधपङ्ककलङ्किता ।
कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृता, सखि ! विलोकय दुर्विनय विधो ॥४७॥

अन्वय—विरहिणीवधपङ्ककलङ्किता अमू कला हृदि नितरां लुठन्ति । कुमुदसख्यकृतस्तु कला बहिष्कृता । हे सखि ! विधो दुर्विनय विलोकय ।

व्याख्या—विरहिणीवधपङ्ककलङ्किता=वियोगिनीहिंसापापसञ्जातकलङ्का, अमू=दृश्यमाना, कला=षोडशभागा, हृदि=हृदये, अभ्यन्तर इति भाव । नितरा=भृशम्, लुठन्ति=वर्तन्ते । पर कुमुदसख्यकृतस्तु=कैरवमैत्रीकारिण्यस्तु विशुद्धा इति भाव । कला=षोडशभागा, बहिष्कृता=दूरत एव धृता । हे सखि=हे वयस्ये ! विधो=चन्द्रमस, दुर्विनय=दौर्जन्य, विलोकय=पश्य, दुर्जना पापान् समीपे स्थापयन्ति सुकृतिनो बहिष्कुर्वन्तीति भाव ।

अनुवाद—वियोगिनियोकी हत्याके पापसे कलङ्कित चन्द्रमाकी ये कलाएँ हृदयमे रहती हैं, परन्तु कुमुदोके साथ मित्रता करनेवाली कलाओको उसने बाहर कर दिया है । हे सखि ! चन्द्रमाकी दुर्जनताको देखो ।

टिप्पणी—विरहिणीवधपङ्ककलङ्किताः=विरहिणीनां वधः (ष० त०), तेन पङ्कः (तृ० त०), तेन कलङ्किताः (तृ० त०)। कुमुदसख्यकृतः= कुमुदैः सख्यं (तृ० त०), तत् कुर्वन्तीति, कुमुदसख्य+कृ+क्विप् (उपपद०)+जस्। विलोकय=वि+लोकृ+णिच्+लोट्+सिप्। दुर्जन-लोग पापियोंको भीतर रखते हैं, सज्जनोंका बहिष्कार करते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ४७ ॥

अयि ! विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता ?
ग्लपितशम्भुगलाद् गरलात् त्वया किमुदधौ जड ! वा वडवाऽनलात् ? ॥४८॥

अन्वयः—अयि ! विधुं परिपृच्छ। "हे जड ! त्वया दाहवदान्यता किं ग्लपितशम्भुगलात् गरलात् वा उदधौ वडवाऽनलात् कुतो गुरोः स्फुटम् अशिक्ष्यत ?

व्याख्या—अयि=हे सखि ! विधुं=चन्द्रमसं, परिपृच्छ=अनुयुङ्क्ष्व, हे जड=हे मूढ ! त्वया=भवता, दाहवदान्यता=सन्तापदायकत्वं, दाह-कत्वमिति भावः। किं, ग्लपितशम्भुगलात्=ग्लापितशिवकण्ठात्, गरलात्= विषात्, कालकूटादिति भावः। वा=अथवा, उदधौ=समुद्रे, वडवाऽनलात्= वडवाऽग्नेः, कुतः=कस्मात्, गुरोः=शिक्षकात्, स्फुटं=व्यक्तं, यथा तथा, अशिक्ष्यत=शिक्षिता, अभ्यस्तेति भावः।

अनुवाद—हे सखि ! चन्द्रमासे पूछो—"हे मूढ ! तुमने यह दाहकत्व क्या शिवजीके गलेको जलानेवाले विष(कालकूट)से अथवा समुद्रमें वडवाऽग्निसे किस गुरुसे स्पष्ट रूपसे सीख लिया ?

टिप्पणी—दाहवदान्यता=दाहस्य वदान्यता (ष० त०)। ग्लपित-शम्भुगलात्=शम्भोर्गलः (ष० त०), ग्लपितः शम्भुगलो येन तत्, तस्मात् (बहु०)। वडवाऽनलात्=वडवामुखोऽनलो वडवाऽनलः, तस्मात् (मध्यम-पदलोपी०)। गुरोः="आख्यातोपयोगे" इससे अपादानसंज्ञा होकर पञ्चमी। अशिक्ष्यत="शिक्ष विद्योपादाने" धातुसे लङ्+त (कर्ममें) ॥ ४८ ॥

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते।
शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाऽधिकतारकिताऽम्बरः ॥४९॥

अन्वयः—अयम् अयोगिवधूवधपातकैः भ्रमिम् अवाप्य शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाऽधिकतारकिताऽम्बरः (सन्) दिवः, पात्यते खलु।

व्याख्या—अयं=विधुः, अयोगिवधूवधपातकैः=वियोगिस्त्रीहिंसापापैः (करणैः), भ्रमिं=भ्रमणम्, अवाप्य=प्राप्य, शितिनिशादृषदि=कृष्णपक्षरात्रिरूपशिलायां स्फुटदुत्पतत्कणगणाऽधिकतारकिताऽम्बरः=विदलदुच्छलल्लेशसमूहप्रचुरतारकवत्कृताकाशः सन्, दिवः=अन्तरिक्षात्, पात्यते=निपात्यते, खलु=निश्चयेन ।

अनुवाद—यह चन्द्रमा वियोगिनी स्त्रियोंकी हिंसाके पापोंसे घुमाया जाकर कृष्णपक्षकी रात्रिरूप शिलामें फूटकर ऊपर उछलते हुए खण्डोंसे आकाशको अधिक तारायुक्त करता हुआ आकाशसे पटका जाता है ।

टिप्पणी—अयोगिवधूवधपातकैः=न योगः अयोगः (नञ्०), सोऽस्ति यासां ता अयोगिन्यः, अयोग+इनि+ङीप्, अयोगिन्यश्च ता वध्वः (क० धा०), तासां वधः (ष० त०), तस्य पातकानि, तैः (ष० त०) । अवाप्य=अव-उपसर्गपूर्वक णिजन्त 'आप्लृ' धातुसे क्त्वा (ल्यप्) "विभाषाऽऽपः" इससे विकल्प होनेसे एक पक्षमें अय् आदेश नहीं हुआ । शितिनिशादृषदि=शितिश्चाऽसौ निशा (क० धा०), "शिती धवलमेचकौ" इत्यमरः । शितिनिशा एव दृषद्, तस्याम् (रूपक०) । स्फुटदुत्पतत्कणगणाऽधिकतारकिताऽम्बरः=कणानां गणाः (ष० त०), स्फुटन्तश्च ते उत्पतन्तः (क० धा०), ते च ते कणगणाः (क० धा०), तारकितम् अम्बरं यस्मात् सः (बहु०), अधिकं (यथा तथा) तारकिताऽम्बरः (सुप्सुपा०), स्फुटदुत्पतत्कणगणैः अधिकतारकिताऽम्बरः (तृ० त०) । दिवः=अपादानमें पञ्चमी । पात्यते=पद्+णिच्+लट्+त (कर्ममें) । इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है । उत्कट पाप करनेवाले लोग घट्टरमें घुमाकर पत्थरपर पटककर मारे जाते हैं, यह भाव है ॥ ४९ ॥

स्वमभिधेहि विधुं सखि ! मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया ।
न गणितं यदि जन्म पयोनिधौ, हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता ? ॥ ५० ॥

अन्वयः—हे सखि ? त्वं मद्गिरा विधुम् अभिधेहि—"त्वया इदम् ईदृक् किम् अधिक्रियते ? पयोनिधौ जन्म न गणितं यदि, हरशिरःस्थितिभूः अपि विस्मृता ?

व्याख्या—हे सखि=हे वयस्ये ! त्वं, मद्गिरा=मद्वचनेन, विधुं=चन्द्रमसम्, अभिधेहि=वद, उपालभस्वेति भावः ? त्वया=भवता, महाकुलप्रसूतेनेति भावः । इदम्=एतत्, ईदृक्=एतादृशं, स्त्रीवधरूपं कर्मेति भावः ।

किं=किमर्थम्, अधिक्रियते=अनुष्ठीयते। पयोनिधौ=क्षीरसागरे, जन्म=जननं, न गणितं यदि=नो विचारितं चेत्, हरशिरःस्थितिभूः अपि=शिवमस्तकनिवासभूमिः अपि, विस्मृता=प्रस्मृता? महाकुलोत्पत्तिः सत्सङ्गतिश्चेति द्वयमपि त्वया कथं विस्मृतमिति भावः।

अनुवाद—हे सखि! तुम मेरे वचनसे चन्द्रमाको कहो—आप यह ऐसा (स्त्रीहत्यारूप कर्म) क्यों कर रहे है? आप क्षीरसागरमें अपने जन्मका भले ही विचार न करें, पर शिवजीके शिरमे अपनी स्थितिको भी भूल गये हैं क्या?

टिप्पणी—मद्गिरा=मम गीः, तया (ष० त०)। अभिधेहि=अभि+धा+लोट्+सिप्। अधिक्रियते=अधि+कृ+लट्+त (कर्ममें)। पयोनिधौ=पयसां निधिः, तस्मिन् (ष० त०)। हरशिरःस्थितिभूः=हरस्य शिर (ष० त०), स्थितेः भूः (ष० त०), हरशिर एव स्थितिभूः (रूपक०)। विस्मृता=वि+स्मृ+क्त (कर्ममें)+टाप्॥ ५०॥

निपतताऽपि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन! चूर्णितः।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत! गतोऽसि न पीतपयोनिधेः॥ ५१॥

अन्वयः—हे शशलाञ्छन! त्वम् उदधौ निपतता मन्दरभूभृता अपि न चूर्णितः पीतपयोनिधेः मुनेः जठरार्चिषि अपि जीर्णतां न गतः असि, बत!

व्याख्या—हे शशलाञ्छन=हे शशाऽङ्क! हे सकलङ्केत्यर्थः। त्वं=भवान्, उदधौ=समुद्रे, निपतता=निपतनं कुर्वता, मन्थनसमय इति शेषः। मन्दरभूभृता अपि=मन्दरपर्वत अपि, न चूर्णितः=न चूर्णीकृतः, पीतपयोनिधेः=आचान्तसमुद्रस्य, मुनेः=ऋषेः अगस्त्यस्येति भावः। जठरार्चिषि अपि=उदराऽनले अपि, जीर्णतां=नाशं, न गतः असि=न प्राप्तः असि, बत=खेदः। मद्भाग्यविपर्यय एवेति भावः।

अनुवाद—हे शशाङ्क (कलङ्कयुक्त चन्द्र)! तुम समुद्रमें गिरते हुए मन्दर पर्वतसे भी चकनाचूर नही हुए, समुद्रको पीनेवाले मुनि (अगस्त्य) के उदरकी आगमें भी जीर्ण नही हुए? हाय!

टिप्पणी—शशलाञ्छन=शशो लाञ्छनं यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। निपतता=नि+पत+लट् (शतृ)+टा। मन्दरभूभृता=मन्दरश्चाऽसौ भूभृत्, तेन (क० धा०)। पीतपयोनिधेः=पयसां निधिः (ष० त०),

पीत पयोनिधिर्येन, तस्य (बहु०)। जठरार्चिषि=जठरस्य अर्चि, तस्मिन् (ष० त०)। जीर्णता=जीर्ण+तल्+टाप्+अम् ॥ ५१ ॥

किमसुभिर्गलितैर्जड ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामन ?।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिका नलमुखेन्दुपरां विबुधस्मर ॥ ५२ ॥

अन्वय—हे जड ! गलितैः असुभिः भीमसुतामनो मयि निमज्जतु (इति) मन्यसे किम् ? विबुधस्मर तदर्थिका श्रुति नलमुखेन्दुपरा मम आह।

व्याख्या—हे जड=हे मूढ (चन्द्र) ! गलितैः=गतैः, असुभिः=प्राणैः, स्वमारणेनेति भाव। भीमसुतामन=दमयन्तीमन मयि=चन्द्रे, निमज्जतु= निमज्जेत्, (इति) मन्यसे किं=जानासि किम् ? विबुधस्मर=सुरकाम, तदर्थिका="मृतमनश्चन्द्रम् एति" इत्यभिधेया, श्रुतिः=वेदवाक्य, नलमुखेन्दुपरा=नैषधवदनचन्द्रपरा, न सामान्यचन्द्रपरामिति भाव। मम=मामित्यर्थ। आह किल=ब्रूते खलु। विबुधोक्तोऽर्थ एव ग्राह्य इत्यर्थ। परलोकेऽपि मे भर्ता नल एव नान्य इति भाव।

अनुवाद—हे मूढ (चन्द्र) ! मरनेपर दमयन्तीका मन मुझमे लीन होगा, ऐसा समझते हो क्या ? देवता अथवा विद्वान् कामदेवने मुझे "मरे हुए व्यक्तिका मन चन्द्रको प्राप्त होता है" ऐसे अर्थवाले वेदवाक्यको नलके मुखचन्द्रका प्रतिपादन करनेवाला कहा है।

टिप्पणी—भीमसुतामन=भीमस्य सुता (ष० त०), तस्या मन (ष० त०)। निमज्जतु=नि+मस्ज+लोट्+तिप्, सभावनामें लोट्। विबुधस्मर=विबुधश्चासौ स्मर (क० धा०)। तदर्थिका=सोऽर्थो यस्या सा तदर्थिका, ताम् (बहु०)। "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासान्त कप् और "प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुप" इससे इत्व। नलमुखेन्दुपरा=मुखम् एव इन्दु (रूपक०)। नलस्य मुखेन्दु (ष० त०), तस्मिन् परा ताम् (स० त०)। यह पद "श्रुतिम्" का विधेय विशेषण है। हे मूढ चन्द्र ! वेदके 'यत्रास्य पुरुषस्याग्नि वाक०" इत्यादि मन्त्रके अनुसार मरनेपर जीवके तत् तत् इन्द्रियोके तत्तद् देवोमें प्राप्त होनेके प्रसङ्गमे 'मन चन्द्रको प्राप्त होता है" ऐसा कहा है, इसी कारण दमयन्तीका मन मुझे प्राप्त होगा, ऐसा समझते हो क्या ? परन्तु उस वाक्यका नलके मुखचन्द्रमे तात्पर्य है, अत मरनेपर दूसरे जन्ममे मेरा मन नलके मुखचन्द्रको प्राप्त करेगा, यह तात्पर्य है। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

मुखरयस्व यशोनवडिण्डिमं जलनिधेः कुलमुज्ज्वलयाऽधुना।
अपि गृहाण वधूवधपौरुषं, हरिणलाञ्छन! मुञ्च कदर्थनाम्॥ ५३॥

अन्वयः—हे हरिणलाञ्छन! यशोनवडिण्डिमं मुखरयस्व, अधुना जलनिधेः कुलम् उज्ज्वलय, वधूवधपौरुषम् अपि गृहाण, कदर्थनां मुञ्च।

व्याख्या—हे हरिणलाञ्छन=हे मृगाऽङ्क! यशोनवडिण्डिमं=कीर्तिप्रकाशकं नूतनवाद्यविशेषं, मुखरयस्व=मुखरं कुरु। अधुना=इदानीं, जलनिधेः=समुद्रस्य, कुलं=वंशम्, उज्ज्वलय=प्रकाशय। किं बहुना वधूवधपौरुषम् अपि=स्त्रीहननशौर्यम् अपि, गृहाण=स्वीकुरु। किन्तु कदर्थनां=पीडां, मुञ्च=त्यज, मां शीघ्र जहि, न तु पीडयेति भावः।

अनुवाद—हे मृगलाञ्छन! कीर्तिप्रकाशक नये डिण्डिमवाद्यको बजाओ, इस समय समुद्रके वंशको उज्ज्वल करो और स्त्रीहत्याके पुरुषार्थको भी स्वीकार करो, परन्तु पीड़ा मत दो।

टिप्पणी—हरिणलाञ्छन=हरिणो लाञ्छनं यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। यशोनवडिण्डिमं=नवश्चाऽसौ डिण्डिमः (क० धा०), यशसो नवडिण्डिमः, तम् (ष० त०)। मुखरयस्व=मुखरं कुरु, मुखर+क्यङ्+लोट्+थास्। जलनिधेः=जलानां निधिः, तस्य (ष० त०)। उज्ज्वलय=उज्ज्वल+णिच्+लोट्+सिप्। वधूवधपौरुषं=वध्वाः वधः (ष० त०), स एव पौरुषं, तत् (रूपक०), गृहाण=ग्रह+लोट्+सिप्। कदर्थनां = कुत्सितोऽर्थः कदर्थः (गति०), "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" इस सूत्रसे 'कु'के स्थानमें कत् आदेश। कदर्थीकरणं कदर्थना, कदर्थ शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर युच्+टाप्+अम। मुञ्च=मुच्+लोट्+सिप्। इस पद्यमें आक्षेप अलङ्कार है॥ ५३॥

निशि शशिन्! भज कैतवभानुतामसति भास्वति तापय पाप! माम्।
अहमहन्यवलोकयितास्मि ते पुनरहर्पतिनिर्धुतदर्पताम्॥ ५४॥

अन्वयः—हे शशिन्! हे पाप! निशि भास्वति असति कैतवभानुतां भज, मां तापय। (किन्तु) अहम् अहनि ते अहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् अवलोकयिताऽस्मि।

व्याख्या—हे शशिन्=हे चन्द्र! हे पाप=हे क्रूर! निशि=रात्रौ, भास्वति=सूर्ये, असति=अविद्यमाने, कैतवभानुतां=कपटसूर्यत्वं, भज=

अङ्गीकुरु, मां=दमयन्तीं, तापय=ज्वालय। (किन्तु) अहं=दमयन्ती, अहनि=दिवसे, ते=तव, अहर्पतिनिर्धुतदर्पतां=सूर्यनिवारितगर्वताम्, अवलोकयितास्मि=द्रष्टास्मि। पापिष्ठा आसन्नं स्वनाशमपश्यन्त परान्हिंसन्तीति भावः।

अनुवाद—हे चन्द्र ! हे क्रूर ! रातमें सूर्यके न होनेपर कपटसे सूर्य बनो और मुझे सन्तप्त बना डालो, किन्तु मैं दिनमें सूर्यसे तोड़े गये तुम्हारे गर्वको देख लूँगी।

टिप्पणी—शशिन्=शश+इनि+सु (सम्बुद्धिमें)। पाप="नृशंसो घातुकः क्रूरः पापः" इत्यमरः। भास्वति=भास्+मतुप्+ङि। कैतवभानुता=भासोभावो भानुता, भानु+तल्+टाप्। कैतवेन भानुता, ताम् (तृ० त०)। तापय=तप+णिच्+लोट्+सिप्। अहर्पतिनिर्धुतदर्पताम्=अह्न पतिः अहर्पतिः (ष० त०), "अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः" इससे विकल्पसे रेफ आदेश, पक्षान्तरमें "अहःपतिः" और "अहर्पतिः" ऐसे रूप भी होते हैं। निर्धुतो दर्पो यस्य सः (बहु०), तस्य भावः, निर्धुतदर्प+तल्+टाप्। अहर्पतिना निर्धुतदर्पता, ताम् (तृ० त०)। अवलोकयितास्मि=अव+लोकृ+णिच्+लुट्+मिप्। पापी लोग निकटमें होनेवाले अपने नाशको नहीं देखते हुए दूसरोंकी हिंसा करते हैं, यह भाव है॥ ५४॥

शशकलङ्क ! भयङ्कर ! मादृशां ज्वलसि यन्निशि भूतपतिं श्रितः।
तदमृतस्य तवेदृशभूतताऽद्भुतकरी परमूर्धविधूननी॥ ५५॥

अन्वय—हे शशकलङ्क ! मादृशां हे भयङ्कर ! यत् भूतपतिं श्रितः (सन्) निशि ज्वलसि। तत् अमृतस्य तव परमूर्धविधूननी ईदृशभूतता अद्भुतकरी।

व्याख्या—हे शशकलङ्क=हे शशाङ्क, मादृशां=मत्सदृशीनां, वियोगिनीनामिति भावः। हे भयङ्कर=हे भीतिजनक ! यत्=यस्मात्कारणात्, भूतपतिं=शिवं, पिशाचपतिं च, श्रितः=आश्रितः (सन्), निशि=रात्रौ, ज्वलसि=प्रदीप्यसे। तत्=तस्मात्कारणात्, अमृतस्य=अमृतमयस्य, मृतेतरस्य च, तव=भवतः, परमूर्धविधूननी=एकत्र आश्चर्यात् अन्यत्र आवेशाच्च शिरःकम्पकरी, ईदृशभूतता=इत्यम्भूतता, ईदृशपिशाचता च, अद्भुतकरी=विस्मयकारिणी, अस्तीति शेषः।

अनुवाद—हे शशकलङ्क (शशरूप लाञ्छनवाले) ! मुझ जैसी विरहिणियोंको भय करनेवाले ! जिस कारणसे कि शिवजीका अथवा पिशाचस्वामीका

आश्रय लेते हुए रातमें तुम जलते हो, उस कारणस अमृतमय और मृतसे इतर (जीते हुए) तुम्हारी आश्चर्यसे और आवेशसे शिरको कम्पित करनेवाली ऐसी स्थिति वा ऐसी पिशाचता आश्चर्य पैदा करनेवाली है।

टिप्पणी—शशकलङ्क=शश एव कलङ्कः (चिह्नम्) यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। भयङ्कर=भयं करोतीति, तत्सम्बुद्धौ, भय–उपपदपूर्वक कृञ् धातुसे "मेघर्तिभयेषु कृञः" इससे खच् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इससे मुम् आगम। भूतपति=भूतानां पतिः, तम् (ष० त०)। अमृतस्य= अविद्यमानं मृतं (मरणम्) यस्मात् तत्, तस्य (नञ्बहु०)। दूसरे पक्षमें न मृतः, तस्य (नञ्०)। परमूर्धविधूननी=परेषां मूर्धानः (ष० त०), तान् विधूनयतीति, परमूर्धन् + वि + धूञ् + णिच् + णिनि + ङीप् (उपपद०) + सु। ईदृशभूतता=भूतस्य भावः, भूत + तल् + टाप्। ईदृशी चाऽसौ भूतता (क० धा०)। अद्भुतकरी=अद्भुतं करोतीति तद्धेतुः, अद्भुत–उपपदपूर्वक कृ धातुसे "कृञो हेतुताच्छील्याऽनुलोम्येषु" इससे ट प्रत्यय और "टिड्ढाणञ्०" इस सूत्रसे ङीप्। हे चन्द्र ! शिवजीका आश्रय लेते हुए तुम जो रातको (पिशाचकी नाईं) जलते हो। पिशाच तो आविष्ट होकर मनुष्यके सिरको कम्पित करता है, परन्तु पिशाचपतिका आश्रय लेकर तुम्हारा जीवित अवस्थामें ही दूसरेके मस्तकको कम्पित कराना आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है, यह तात्पर्य है। शिवजीके शिरके मणिस्वरूप अमृतमय तुम्हारा प्रज्ज्वलनस्वरूप होना आश्चर्यजनक है, यह वाक्यार्थ है। जीवित अवस्थामें ही तुम्हारा यह जलनेवाले पिशाचका भाव आश्चर्यजनक है, यह व्यङ्ग्याऽर्थ है ॥ ५५ ॥

श्रवणपूरतमालदलाऽङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि ! निक्षिप।
किमपि तुन्दिलितः स्थगयत्वमुं सपदि तेन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—हे सखि ! श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे निक्षिप। तेन सपदि किमपि तुन्दिलितः (सन्) अमुं स्थगयतु, तत् क्षणम् उच्छ्वसिमि।

व्याख्या—हे सखि=हे वयस्ये ! श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं=कर्णावतंसतापिच्छपल्लवं, शशिकुरङ्गमुखे=चन्द्रमृगवक्त्रे, निक्षिप=अर्पय। तेन= दलाङ्कुरेण, सपदि=सद्यः, किमपि=किञ्चिदपि, तुन्दिलितः=तुन्दिलीकृतः, स्थूलीकृतः सन्निति भावः। अमुं=शशिनं, स्थगयतु=आच्छादयतु, तत्= तस्माद्धेतोः, क्षणं=कञ्चित्कालम्, उच्छ्वसिमि=प्राणिमि।

अनुवाद—हे सखि ! कर्णभूषण तमालके पल्लवको चन्द्रमाके मृगके मुखमें रख दो, उससे कुछ स्थूल होकर चन्द्रमाको आच्छादित करेगा तो कुछ समय तक श्वास लूँ।

टिप्पणी—श्रवणपूरतमालदलाऽङ्कुर=श्रवणयो पूर (ष० त०), तमालस्य दल (ष० त०), स एव अङ्कुर (रूपक०), श्रवणपूरश्चाऽसौ तमालदलाऽङ्कुर, तम् (क० धा०)। शशिकुरङ्गमुखे=शश अस्याऽस्तीति शशी, शश+इनि, शशिन कुरङ्ग (ष० त०), तस्य मुख, तस्मिन् (ष० त०)। निधिप=नि+क्षिप+लोट+सिप्। तुन्दिलित=तुन्दिल कृत, तुन्दिल शब्दसे 'तत्करोति तदाचष्टे' इससे णिच् होकर क्त प्रत्यय। स्थगयतु=स्थग+णिच्+लोट्+तिप्। उच्छ्वसिमि=उद्+श्वस+लट्+मिप्। "रुदादिभ्य सार्वधातुके" इससे इट आगम ॥ ५६ ॥

असमये मतिरुन्मिषति ध्रुव करगतैव गता यदि कुहू।
पुनरुपैति निरुध्य निवास्यते सखि ! मुख न विधो पुनरीक्ष्यते ॥ ५७ ॥

अन्वय—हे सखि ! असमये मति उन्मिषति ध्रुवम्। यद् इय कुहू करगता एव गता। पुन उपैति चेत्, निरुध्य निवास्यते, विधो मुख पुन न ईक्ष्यते।

व्याख्या—हे सखि=हे वयस्ये ! असमये=अकाले, मति=बुद्धि, कार्यबुद्धिरित्यर्थ। उन्मिषति=उदेति, न तु योग्यकाल इति भाव। ध्रुव=निश्चितम्। यद्=यस्मात्कारणात्, इयम्=एषा, कुहू=नष्टचन्द्रकला अमावास्या, करगता एव=स्वाऽधीना एव, हस्तनक्षत्रगता च, गता=याता। पुन=भूय, उपैति चेद्=आगच्छति चेद्। निरुध्य=निवार्य, गमनव्यापारादिति शेष। निवास्यते=स्थाप्यते। तस्य फलमाह—विधो=चन्द्रमस, मुखम्=आनन, पुन=भूय, न ईक्ष्यते=न अवलोक्यते, कुह्वाश्चन्द्रनाशकत्वादिति भाव, पापिष्ठस्य तस्याऽदर्शनमेव फलमित्यर्थ।

अनुवाद—हे सखि ! असमयमें कार्यकी बुद्धि प्रकट होती है, यह निश्चित है। जो कि यह कुहू (जिसमें चन्द्रकला नहीं होती है, वैसी अमावस्या) हाथमें आती हुई ही अथवा हस्त नक्षत्रमें आयी हुई ही चली गई। फिर आयेगी तो रोककर रक्खूँगी, जिससे कि चन्द्रमाका मुख नहीं देखा जायेगा।

टिप्पणी—असमये=न समय, तस्मिन् (नञ्)। कुहू="सा नष्टेन्दुकला कुहू" इत्यमर। करगता=कर (हस्त हस्तनक्षत्र वा) गता (द्वि० त०)।

निरुध्य=नि+रुध्+क्त्वा (ल्यप्)। निवास्यते=नि+वस्+णिच्+लट्+त (कर्ममें)। ईक्ष्यते=ईक्ष+लट् (कर्ममें)+त ॥ ५७ ॥

अयि ! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम् ?
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः कति शीकराः ? ॥५८॥

अन्वयः—अयि ! एष मम चकोरशिशुः सिन्धुपिबस्य मुनेः शिष्यतां न व्रजति ? अब्धिम् अशितुम् अधीतवतः पिबतः अस्य शशिकराः कति वा शीकराः ?

व्याख्या—अयि=हे सखि ! एषः=समीपतरवर्ती, मम=दमयन्त्याः। चकोरशिशुः=बालचकोरः, सिन्धुपिबस्य=समुद्रपायिनः। मुनेः=ऋषेः अगस्त्यस्य, शिष्यतां=छात्रतां, न व्रजति=न गच्छति, काकुः व्रजतीत्यर्थः। अब्धिम्=समुद्रम्, अशितुं=भक्षयितुं, पातुमिति भावः। अधीतवतः=अभ्यस्तवतः, अत एव पिबतः=धयतः, अब्धिपानप्रवृत्तस्येत्यर्थः। अस्य=चकोरशिशोः, कति वा शीकराः=कियन्तो वा अम्बुकणाः ?

अनुवाद—हे सखि ! यह मेरा चकोरबालक समुद्र पीनेवाले मुनि-(अगस्त्य)का शिष्य नहीं होगा ? समुद्रको पीनेके लिए अभ्यास करनेवाले पीते हुए इसके लिए चन्द्रमाकी किरणें कितने अम्बुकण होंगे ?

टिप्पणी—चकोरशिशुः=चकोरस्य शिशुः (ष० त०), विषकी परीक्षाके लिए राजभवनमें चकोरशिशुको रखते हैं। विषको देखनेसे चकोरके नेत्र लाल होते हैं, ऐसा कामन्दकने कहा है। सिन्धुपिबस्य=पिबतीति पिबः, पा धातुसे "पाघ्राध्माधेट्दृशः शः" इस सूत्रसे श प्रत्यय, सिन्धोः पिबः, तस्य (ष० त०)। अशितुम्=अश्+तुमुन्। अधीतवतः=अधि+इङ्+क्तवतु+ङस्। पिबतः=पा+लट्+शतृ+ङस्। शशिकराः=शशिनः कराः (ष० त०)। इस पद्यमें अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

कुरु करे गुरुमेकमयोघनं बहिरितो मुकुरं च कुरुष्व मे।
विशति तत्र यदैव विधुस्तदा सखि ! सुखादहितं जहि तं द्रुतम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—हे सखि ! एकं गुरुम् अयोघनं करे कुरु, इतो बहिः मे मुकुरं च कुरुष्व। तत्र यदा विधुः विशति (तदा एव) सुखात् अहितं तं द्रुतं जहि।

व्याख्या—हे सखि=हे वयस्ये ! एकं गुरुं=महान्तम्, अयोघनं=मुद्गरं, करे=हस्ते, कुरु=विधेहि, बिभृहीत्यर्थः। इतः=अस्मात्, मत्प्रकोष्ठात् इति भावः। बहिः=बहिर्भागे, मे=मम, मुकुरं च=दर्पणं च, कुरुष्व=विधेहि।

तत्र = तस्मिन् मुकुरे, यदा = यस्मिन् समये, विधु = चन्द्र, विशति = प्रविशति। तदा एव सुखात् = अनायासात्, अहितम् = अहितकारक शत्रुमित्यर्थं। त = विधु, द्रुत = शीघ्र, जहि = मारय।

अनुवाद—हे सखि! एक बडे लोहेके हथौडेको हाथमे ले लो, मेरे प्रकोष्ठसे बाहर मेरे दर्पणको रक्खो। उसमे जब चन्द्र प्रवेश करता है, उसी समय अनायास ही शत्रु रूप उस चन्द्रको शीघ्र मार डालो।

टिप्पणी—अयोघनम् = अयो हन्यते अनेन इति अयोघन, तम्, अयस्-उपपदपूर्वक हन् धातुसे "करणेऽयोविद्रुषु" इससे अप् प्रत्यय और घन आदेश। इत = इदम् + तसिल्। अहितम् = अविद्यमान हित यस्य, तम् (नञ्बहु०)। जहि = हन् + लोट् + सिप्, "हन्तेर्ज" इससे ज आदेश ॥ ५९ ॥

उदर एव धृत किमुदन्वता न विषमो वडवाऽनलवद्विधु ?
विषवदुज्झितमप्यमुना न स स्मरहर किममु बुभुजे विभु ? ॥ ६० ॥

अन्वय—विषमो विधु उदन्वता वडवाऽनलवत् उदरे एव किं न धृत ? (अथवा) अमुना उज्झितम् अपि अमु विभु स्मरहर विषवत् किं न बुभुजे ?

व्याख्या—विषम = क्रूर, विधु = चन्द्रमा, उदन्वता = समुद्रेण, वडवाऽनलवत् = वडवाऽग्निना तुल्यम्, उदरे एव = कुक्षौ एव, किं न धृत = किं न धारित ? अथवा, अमुना = उदन्वता, उज्झितम् अपि = त्यक्तम् अपि, अमु = विधु, विभु = समर्थ, स्मरहर = महादेव, विषवत् = कालकूटेन तुल्य, किं न बुभुजे = किं न भुक्तवान्, उभयथाऽपि वध विरहिण्यो जीवेमेति भाव।

अनुवाद—क्रूर चन्द्रमाको समुद्रने वडवाऽग्निके समान अपने गर्भमे ही क्यो नही धारण किया ? (अथवा) समुद्रसे छोडे गये उस चन्द्रमाको समर्थ महादेवने कालकूटके समान क्यो नही खाया ?

टिप्पणी—उदन्वता = उदकम् अस्ति यस्य स उदन्वान्, तेन "उदन्वानुदधौ च" इस सूत्रसे निपातन। वडवाऽनलवत् = वडवाऽनल + वति। स्मरहर = स्मर हरतीति, स्मर + हृञ् + अच् (उपपद०) + सु। बुभुजे = भुज + लिट् + त। "भुजोऽनवने" इससे आत्मनेपद ॥ ६० ॥

असितमेकसुराऽशितमप्यभूत् पुनरपि पुनर्विषदं विषम्।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षय स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—आर्णवम् असितं विषम् एकसुराऽशितम् अपि पुनः न अभूत्। एष आर्णवं विशदं विषं (तु) सुरैः निपीय जनितक्षयम् अपि स्वयं नवं पुनः उदेति।

व्याख्या—आर्णवं = सामुद्रं, समुद्रोत्पन्नम् इत्यर्थः, असितं = कृष्णं, विषं = गरलं, कालकूटाख्यमित्यर्थः, एकसुराऽशितम् अपि = एकदेवभक्षितम् अपि, एकेन महादेवेन भक्षितम् अपीति भावः। पुनः = भूयः, न अभूत् = न अजनि। एषः = चन्द्रो नाम, आर्णवं = सामुद्रं, समुद्रादुत्पन्नमिति भावः। विशदं = शुक्लं, विषं = गरलं तु, सुरैः = देवैः, वह्न्यादिभिरिति भावः। निपीय = पीत्वा, जनितक्षयम् अपि = कृतनाशम् अपि, स्वयम् = आत्मना, नवं = नूतनं सत्, पुनः = भूयः, उदेति = आगच्छति।

अनुवाद—समुद्रसे उत्पन्न काला विष (कालकूट) तो एक देव (महादेव) से खाये जानेपर फिर उत्पन्न नहीं हुआ। यह चन्द्रनामक समुद्रसे उत्पन्न विष तो अग्नि आदि देवताओंसे पान कर नष्ट होकर भी स्वयं नया होकर फिर उत्पन्न होता है।

टिप्पणी—आर्णवम् = अर्णवे जातं, तत् "तत्र जातः" इससे अण् प्रत्यय। असितं = न सितम् (नञ्०)। एकसुराऽशितम् = एकश्चाऽसौ सुरः (क० धा०), तेन अशितम् (तृ० त०)। निपीय = नि + पीङ् + क्त्वा (ल्यप्)। 'प्रथमं पिबते वह्निः" इत्यादि श्लोकके अनुसार प्रथम कलाको वह्नि (अग्नि) पान करते हैं, इत्यादि क्रमसे दिवसोंसे पान करके भी यह तात्पर्य है। जनितक्षयं = जनितः क्षयो यस्य तत् (बहु०)। उदेति = उद् + इण् + लट् + तिप्। इस पद्यमें व्यतिरेक अलङ्कार है॥ ६१॥

विरहिवर्गवधव्यसनाऽऽकुलं कलय पापमशेषकलं विधुम्।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं, ग्रहविदो विपरीतकथाः कथम्?॥ ६२॥

अन्वयः—(हे सखि!) विरहिवर्गवधव्यसनाऽऽकुलम् अशेषकलं विधुं पापं कलय, सुरनिपीतसुधाकं विधुम् अपापकं कलय। ग्रहविदः कथं विपरीत-कथाः?

व्याख्या—(हे सखि!) विरहिवर्गवधव्यसनाऽऽकुलम् = वियोगिसमूहहननाऽऽसक्तिव्यग्रम्, अशेषकलं = परिपूर्णकलं, विधुं = चन्द्रं, पापं = पापग्रहं, कलय = विद्धि। सुरनिपीतसुधाकम् = अग्न्यादिदेवपीतकलं, क्षीणमिति भावः। विधुं = चन्द्रम्, अपापकं = पुण्यवन्तं, सौम्यमिति भावः, कलय = विद्धि।

किन्तु ग्रहविद =ज्योतिर्विद, कथ=केन प्रकारेण, विपरीतकथा=विरुद्धवाच ? सन्तीति शेष ।

अनुवाद—(हे सखि !) वियोगियोकी हत्याकी आसक्तिसे आकुल, पूर्ण कलाओसे युक्त चन्द्रमाको तुम पापग्रह जानो। किन्तु देवताओने क्रमसे जिसके कलारूप अमृतका पान कर लिया है, ऐसे चन्द्रमाको पापरहित अर्थात् शुभग्रह जानो, किन्तु ज्योतिषीलोग कैसे उलटा कथन करनेवाले हैं ?

टिप्पणी—विरहिवर्गवधव्यसनाऽऽकुल=विरहिणा वर्ग (ष० त०), तस्य वध (ष० त०) तस्मिन् व्यसन (स० त०), तेन आकुल , तम् (तृ० त०) । अशेषकलम्=अशेषा कला यस्य, तम् (बहु०) । कलय=कल + णिच + लोट + सिप् । सुरनिपीतसुधाक=सुरैर्निपीता (तृ० त०), सुरनिपीता सुधा यस्य स , तम् (बहु०) । "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासान्त कप प्रत्यय । "आपोऽन्यतरस्याम्" इससे वैकल्पिक ह्रस्वका अभाव । अपापकम्=न पापक , तम् (नञ्०) । विरहियोको दुख देनेसे पूर्ण चन्द्र ही पापग्रह है, क्षीण चन्द्र नही । परन्तु "क्षीणेन्द्वर्ककुिभूपुत्रा पापा" इत्यादि वचन कहनेवाले ज्योतिषी पूर्ण चन्द्रको शुभग्रह और क्षीण चन्द्रको पापग्रह कहते हैं, वे लोग उलटा ही वचन कहते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ६२ ॥

विरहिभिर्बहुमानमवापि य स बहुल खलु पक्ष इहाऽजनि ।
तदमिति सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथि क्रिममा कृता ? ॥ ६३ ॥

अन्वय—य पक्षो विरहिभि बहुमानम् अवापि, स पक्ष इह बहुल अजनि खलु । यत्र तै सकलै अपि तदमिति व्यरचि, सा तिथिश्च अमा कृता किम् ?

व्याख्या—(हे सखि !) य , पक्ष =मासार्द्धभाग । विरहिभि =वियोगिभि , बहुमानम्=अधिकसत्कारम्, अवापि=प्रापित , चन्द्रस्य क्षीयमाणत्वादिति भाव । विरहिभि =वियोगिभि , स =पूर्वोक्त , पक्ष =कृष्णपक्ष , इह = अस्मिन् लोके, बहुल =वियोगिबहुसम्मानग्राहकत्वात् बहुल इति भाव । अजनि=जात , खलु=इव । किञ्च यत्र=यस्या तिथौ, तै =पूर्वोक्तै , सकलै अपि =समस्तैर्विरहिभि अपि, तदमिति =मानाऽपरिमिति , व्यरचि= विरचिता, कृतेति भाव । सा=तादृशी, तिथिश्च=तिथी च, अमा कृता किम् =अमानाम्नी निहिता किम् ?

४ नै० च०

अनुवाद—जिस पक्षने वियोगियोंसे बहुत मान (सम्मान) पाया, वह पक्ष इस लोकमें "बहुल पक्ष" हुआ। जिस तिथिमें उन सम्पूर्ण वियोगियोंने सम्मानकी अपरिमिति (अपरिमितता) पायी, उस तिथिको अमा बनाया है क्या ?

टिप्पणी—विरहिभिः = विरह + इनि + भिस्। बहुमानं = बहुश्चाऽसौ मानः, तम् (क० धा०)। अवापि=अव + आप् + णिच् + लुङ् (कर्ममें) + त। बहुलः = बहु (अधिकं) यथा तथा लाति = आदत्ते इति, बहु + ला + कः (उपपद०)। अजनि = जन् + लुङ् + त। विरहियोंसे अधिक मान-(सम्मान)को लेनेसे "बहु लाति" इस व्युत्पत्तिसे कृष्णपक्ष "बहुल" हो गया है क्या ? यह तात्पर्य है, यत्र = यस्याम् इति, यद् + त्रल्। तदमिति = न मितिः अमितिः (नञ्०), तस्य (बहुमानस्य) अमितिः (ष० त०)। व्यरचि=वि + रच् + णिच् + लुङ् + त। अमा = अविद्यमाना (मानस्य) मा (मितिः) यस्यां सा अमा (नञ्बहु०), जिस तिथिमें उन सब विरहियोंने मानकी अमिति (अपरिमितता) की, उस तिथिको "अविद्यमाना मा यस्या सा" इस व्युत्पत्तिसे "अमा" नामवाली बनाया है क्या ? सूर्य और चन्द्रके अमा(सहभाव)से "अमा" नाम नहीं हुआ है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है और निरुक्त नामका लक्षण है ॥ ६३ ॥

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात्किमु विधुं ग्रसते न विधुन्तुदः ? ।
निपतितं वदने कथमन्यथा बलिकरम्भनिभं निजमुज्झति ? ॥ ६४ ॥

अन्वयः—विधुन्तुदः विधुं स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् न ग्रसते किमु ? अन्यथा वदने निपतितं निजं बलिकरम्भनिभं कथम् उज्झति ?

व्याख्या—विधुन्तुदः = राहुः, विधुं = चन्द्रमसं, स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शन-विभ्रमात् = निजशत्रुनिशितचक्रभ्रान्तेः, न ग्रसते किमु = नो भक्षयति किम् ? तालुच्छेदभयादिति भावः। अन्यथा = भयाऽभावे सति, वदने = मुखे, निपतितम् = अन्तर्गतं, निजं = स्वकीयं, बलिकरम्भनिभम् = उपहारदधिसक्तुसदृशं, कथं = केन प्रकारेण, उज्झति = उद्गिरति।

अनुवाद—राहु चन्द्रमाको अपने शत्रु विष्णुके तीक्ष्ण सुदर्शनचक्रकी भ्रान्ति होनेसे ग्रास नहीं करता है क्या ? नहीं तो मुखमें पड़े हुए उपहाररूप दहीसे उपसिक्त सत्तूके गोलेके सदृश उसको कैसे छोड़ देता है ?

टिप्पणी—स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् = स्वस्य रिपुः (ष० त०), तीक्ष्णं च तत् सुदर्शनम् (क० धा०), स्वरिपोः (विष्णोः) तीक्ष्णसुदर्शनम् (ष० त०), तस्य विभ्रमः, तस्मात् (ष० त०), हेतुमें पञ्चमी। बलिकरम्भनिभ = बलेः करम्भः (ष० त०), "करोपहारयोः पुंसि बलिः प्राण्यङ्गजे स्त्रियाम्।" इति "करम्भा दधिसक्तवः" इत्यप्यमरः। बलिकरम्भेण सदृशः, तम् (तृ० त०)। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ६४ ॥

वदनगर्भगतं न निजेच्छया शशिनमुज्झति राहुरसंशयम्।
अशित एव गलत्ययमत्यय सखि ! विना गलनालबिलाऽध्वना ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हे सखि ! (यद्वा) राहुः वदनगर्भगतं शशिनं निजेच्छया न उज्झति, असंशयम्। (किन्तु) अयम् अशित एव अत्ययं विना गलनालबिलाऽध्वना गलति।

व्याख्या—हे सखि = हे वयस्ये ! (यद्वा = अथ वा) राहुः = विधुन्तुदः, वदनगर्भगतं = मुखाऽभ्यन्तरप्रविष्टं, शशिनं = चन्द्रमसं, निजेच्छया = स्वेच्छया, न उज्झति = न त्यजति, असंशयं = संशयो नाऽस्तीति भावः। (किं तु) अयं = शशी, अशित एव = गिलित एव, अत्ययं विना = नाशं विना, गलनालबिलाऽध्वना = कण्ठनालविवरमार्गेण, गलति = निःसरति। राहोः शिरोमात्रत्वेन कण्ठनालविवरमार्गेणोदरसंयोगाऽभावेन दुःखप्रदस्य शशिनो भूयोऽभ्युदय इति भावः।

अनुवाद—हे सखि ! अथवा राहु, मुखके भीतर पड़े हुए चन्द्रमाको अपनी इच्छासे नहीं छोड़ता है, इसमें संशय नहीं है। किन्तु चन्द्रमा राहुके निगलनेके साथ ही बिना कष्टके (पेटके न होनेसे) कण्ठनालके छिद्रके मार्गसे निकल जाता है।

टिप्पणी—वदनगर्भगतं = वदनस्य गर्भः (ष० त०), तं गतः, तम् (द्वि० त०)। निजेच्छया = निजस्येच्छा, तया (ष० त०)। असंशयं = संशयस्याऽभावः, अर्थाऽभावमें अव्ययीभाव। अशितः = अश् + क्त। गलनालबिलाऽध्वना = गलस्य नालः (ष० त०), तस्य बिलः (ष० त०), तस्य अध्वा, तेन (ष० त०)। गलति = गल् + लट् + तिप्। इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ॥ ६५ ॥

ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम्।
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न ! क्व नु शशी यदि तज्जठराऽनलः ? ॥६६॥

अन्वयः—ऋजुदृशः पुराविदो मधुभिदं राहुशिरश्छिदं कथयन्ति किल। विरहिमूर्धभिदं न निगदन्ति, तज्जठराऽनलो यदि, शशी क्व नु ?

व्याख्या—ऋजुदृशः=सरलदृष्टयः यथादृष्टग्राहिण इति भावः। पुराविदः=पुराणज्ञाः, मधुभिदं=मधुदैत्यभेदकं, विष्णुमिति भावः। राहुशिरश्छिदं=राहुमस्तकच्छेदकं, कथयन्ति=वदन्ति, किल=इति वार्ता। विरहिमूर्धभिदं=वियोगिशिरश्छिदं, न निगदन्ति=न कथयन्ति, वस्तुतस्तथैव कथनीयमिति भावः। तदेव प्रतिपादयति—क्वेति। तज्जठराऽनल =राहूदराऽग्निः, यदि=चेत्, अस्तीति शेषः, शशिः=चन्द्रः, क्व नु=कुत्र नु, राहुजठराऽनलजीर्णत्वात्कुत्राऽपि न स्यादिति भावः।

अनुवाद—सरल दृष्टिवाले पुराणोंके जानकार, मधुको भेदन करनेवाले विष्णुको "राहुके शिरको काटनेवाला" कहते हैं, वियोगियोंके शिरको काटनेवाला नहीं कहते हैं। यदि राहुका उदराऽग्नि होता तो चन्द्रमा कहाँ रहते ? (कहीं भी नहीं)।

टिप्पणी—ऋजुदृशः = ऋजुं पश्यन्तीति, ऋजु + दृश् + क्विप् (उपपद०) + जस्। मधुभिदं=मधुं भिनत्तीति मधुभिद्, तम्, मधु + भिद् + क्विप् (उपपद०) + अम्। राहुशिरश्छिदं=राहोः शिरः (ष० त०), तत् छिनत्तीति राहुशिरश्छित्, तम्, राहुशिरस् + छिद् + क्विप् (उपपद०) + अम्। विरहिमूर्धभिदं =विरहिणां मूर्धानः (ष० त०), तान् भिनत्तीति विरहिमूर्धभित्, तम् विरहिमूर्धन् + भिद् + क्विप् (उपपद०) + अम्। तज्जठराऽनलः=जठरे अनलः (स० त०), तस्य जठराऽनलः (ष० त०), विष्णुके राहुशिरको छेदन करनेसे उसका उदराऽग्नि नहीं रहा, अतः वियोगियोंको मारनेवाले चन्द्रको उज्जीवित करनेवाले विष्णुको "वियोगियोंके शिरको काटनेवाला" कहना चाहिए, राहुके शिरको काटनेवाले नहीं कहना चाहिए, यह अभिप्राय है ॥ ६६ ॥

स्मरसखो रुचिभिः स्मरवैरिणा मखमृगस्य यथा दलितं शिरः।
सपदि सन्दधतुर्भिषजौ दिवः, सखि ! तथा तमसोऽपि करोतु कः ? ॥ ६७ ॥

अन्वयः—हे सखि ! रुचिभिः स्मरसखौ दिवो भिषजौ स्मरवैरिणा दलितं मखमृगस्य शिरः यथा सपदि सन्दधतुः, (किन्तु) कः तमसोऽपि तथा करोतु ?

व्याख्या—हे सखि=हे वयस्ये ! रुचिभि =कान्तिभि , कायस्येति शेष । स्मरसखौ=कामसदृशौ, काममित्रे, दिव =स्वर्गस्य, भिषजौ=वैद्यौ अश्विनीकुमारावित्यथ । स्मरवैरिणा=कामशत्रुणा, हरेणेत्यर्थ । दलित—भिन्न, मखमृगस्य=यज्ञहरिणस्य, मृगरूपधारिणो मखस्येत्यर्थ । शिर =मस्तक, यथा=येन प्रकारेण, सपदि=तत्क्षणे, सन्दधतु =समयोजयामासतु । (किन्तु), क =जन , तमसोऽपि=राहोरपि, तथा=शिर सयोजन, करोतु=विदधातु, न कोऽपीत्यथ ।

अनुवाद—हे सखि ! शरीरकी कान्तियोसे कामदेवके सदृश और उनके मित्र स्वगके वैद्य अश्विनीकुमारोने कामदेवके शत्रु महादेवसे काटे गये मृगरूप लेनेवाले यज्ञके शिरको जैसे शीघ्र जोड दिया, किन्तु कौन राहुके शिरको भी उस तरह जोड देगा ?

टिप्पणी—स्मरसखौ=स्मरस्य सखायौ (ष० त०)। स्मरवैरिणा=स्मरस्य वैरी, तेन (ष० त०)। मखमृगस्य=मख एव मृग , तस्य (रूपक०), सन्दधतु=सम्+धा+लिट्+तस । महादेवके यज्ञमृगके शिर काटनेके विषयमे पुराण प्रमाण है, उसी तरह अश्विनीकुमारोने उसके शिरको जोड दिया, इस विषयमे "ततो वै तौ यज्ञस्य शिर प्रत्यधत्ताम्" यह श्रुति प्रमाण है ॥ ६७ ॥

नलविमस्तकितस्य रणे रिपोर्मिलति किं न कबन्धगलेन वा ।
मृतिभिया भृशमुत्पततस्तमोग्रहशिरस्तदसृग्दृढबन्धनम् ॥ ६८ ॥

अन्वय —वा रणे नलविमस्तकितस्य (तथाऽपि) मृतिभिया भृशम् उत्पतत रिपो कबन्धगलेन (सह) तमोग्रहशिर तदसृग्दृढबन्धन (सद्) किं न मिलति ?

व्याख्या—वा=अथवा, रणे=युद्धे, नलविमस्तकितस्य=नलेन छिन्नमस्तकस्य, तथाऽपि मृतिभिया=मरणभयेन, भृशम्=अत्यर्थम्, उत्पतत =उद्गच्छत , रिपो =शत्रो , कबन्धगलेन=अपमूधकलेवरकण्ठेन सह, तमोग्रहशिर =राहुशीर्ष, तदसृग्दृढबन्धन=कबन्धगलरक्तनिबिडसयोग सत्, किं न मिलति=किं न सङ्गच्छते ?

अनुवाद—अथवा युद्धमे नलसे काटे गये शिरवाले तो भी मरणके भयसे अतिशय ऊपर उछलते हुए शत्रुके शिरोहीन कण्ठके साथ राहुका शिर, कबन्धके लहू से दृढ बन्धनवाला होता हुआ क्यो नहीं मिल जाता है ?

टिप्पणी—नलविमस्तकितस्य=विगतो मस्तको यस्मात् स विमस्तकः (बहु०), विमस्तकः कृतो विमस्तकितः, विमस्तक+णिच्+क्तः। नलेन विमस्तकितः, तस्य (तृ० त०)। मृतिभिया=मृतेर्भी. मृतिभीः, तया (प० त०)। उत्पतत =उद्+पत्+लट् (शतृ०)+ङस्। कबन्धगलेन=कबन्धस्य गलः, तेन (ष० त०)। तमोग्रहशिरः=तमश्चाऽसौ ग्रहः (क० धा०), तस्य शिरः (ष० त०)। तदसृग्दृढबन्धनं=तस्य असृक् (ष० त०), दृढं बन्धनं यस्य तत् (बहु०), तदसृजा दृढबन्धनम् (तृ० त०)। कबन्धके गलेके खूनसे राहुका शिर कबन्धके धड़से जुड़ जाता तो उसके उदराग्निसे चन्द्र जीर्ण हो जाता, यह तात्पर्य है ॥ ६८ ॥

सखि ! जरां परिपृच्छ तमःशिरः सममसौ दधताऽपि कबन्धताम् ।
मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना ? ॥ ६९ ॥

अन्वयः—हे सखि ! जरां परिपृच्छ। असौ कबन्धतां दधता केतुना समं तमःशिरः अपि मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतीसीव्यति ?

व्याख्या—हे सखि=हे वयस्ये ! जरां=जरानाम्नीं राक्षसीं, परिपृच्छ=अनुयुङ्क्ष्व, त्वमिति शेषः। असौ जरा, कबन्धताम्=शिरोरहितशरीरतां, दधता=धारयता, केतुना समं=केतुग्रहेण सह, तमःशिरः अपि=राहु-मस्तकम् अपि, मगधराजवपुर्दलयुग्मवत्=जरासन्धशरीरार्धभागयुगलम् इव, किमिति=केन कारणेन, न प्रतिसीव्यति=न सन्धत्ते।

अनुवाद—हे सखि ! तुम जरा राक्षसीसे पूछो। वह (जरा) शिरसे हीन शरीरको धारण करते हुए केतु ग्रहके साथ राहुके शिरको भी जरासन्धके शरीरके दो भागोंके समान क्यों नहीं मिला देती है ?

टिप्पणी—कबन्धतां=कबन्धस्य भावः कबन्धता, ताम्, कबन्ध+तल्+टाप्+अम्। दधता=धा+लट् (शतृ)+टा। तमःशिरः=तमसः शिरः, तत् (ष० त०)। "तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः" इत्यमरः। मगधराजवपुर्दलयुग्मवत्=मगधानां राजा मगधराजः, वपुषः दले (ष० त०), मगधराजस्य वपुर्दले (ष० त०), तयोर्युग्मं (ष० त०), तेन तुल्यं, मगधराजवपुर्दलयुग्म+वतिः। प्रतिसीव्यति=प्रति+षिवु+लट्+तिप्। शिरका भागमात्र राहु और शरीर (धड़) मात्र केतु, उनको जोड़ देनेसे पहलेके समान स्थित उदराऽग्निसे चन्द्रमा जीर्ण हो जाता, यह तात्पर्य है।

जरा नामकी राक्षसीने जरासन्धके शरीरके दो भागोंको जोड दिया, ऐसी कथा महाभारतमें है ॥ ६९ ॥

वद विधुन्तुदमालि ! मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधिया रिपुम् ?
किमु दिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निपेव्य हि वारुणीम् ॥ ७० ॥

अन्वय —हे आलि ! मदीरितैः विधुन्तुदं वद । रिपुं द्विजराजधिया त्यजसि किम् ? यत् एष वारुणीं निपेव्य ईदृशः पतितः पुनः दिवम् एति किमु ?

व्याख्या—हे आलि=हे सखि ! मदीरितैः =मद्वचनैः, विधुन्तुदं=राहुं, वद=ब्रूहि, रिपुं=शत्रुं चन्द्रमित्यर्थः । द्विजराजधिया=चन्द्रबुद्ध्या, ब्राह्मण-श्रेष्ठबुद्ध्या वा, त्यजसि किं=मुञ्चसि किमु ? यत्=यस्मात्कारणात्, एष= चन्द्रः, वारुणीं=प्रतीचीं (दिशम्) सुरां च, निपेव्य=गत्वा, पीत्वा च । ईदृशः=एतादृशः पतितः=च्युतः महापातकयुक्तश्च, पुनः=भूयः, दिवम्= अन्तरिक्षं स्वर्गं च, एति किमु=आगच्छति किम् ?

अनुवाद—हे सखि ! मेरे वचनोंसे तुम राहुको कहो—तुम शत्रु चन्द्रको चन्द्रबुद्धिसे वा "यह श्रेष्ठ ब्राह्मण है" ऐसी बुद्धिसे छोडते हो क्या ? जिस कारण से कि यह चन्द्र वारुणी पश्चिम दिशाको जाकर और मदिराको पीकर ऐसा पतित (च्युत) और महापातकवाला होकर फिर आकाश और स्वर्गको आता है क्या ?

टिप्पणी—मदीरितैः=मम ईरितानि (ष० त०) । द्विजराजधिया= द्विजाना राजा द्विजराजः (ष० त०) तस्य धीस्तया (ष० त०) । वारुणी= वरुणस्येयं वारुणी, ताम् वरुण+ङीप्+अम् । "वारुणी गन्धदूर्वायां प्रतीची-सुरयोरपि" इति विश्वः । निपेव्य=नि+सेव्+क्त्वा (ल्यप्) । यह चन्द्र पश्चिम दिशाको जाकर वा मदिराको पीकर पतित हो गया, ऐसा पुरुष क्या फिर स्वर्गको आता है ? पतितको न ऊर्ध्वगति न स्वर्गगति ही प्राप्त होती है, इसलिए ऐसे पतितको मारनेमें दोष कैसे होगा ? यह भाव है । पञ्च महा पातकोंमें एक महापातक ब्राह्मणका सुरापान भी है ॥ ७० ॥

दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद् द्विजवासनयोज्झितः ? ।
प्रकृतिरस्य विधुन्तुद ! दाहिका मयि निरागसि का वद विप्रता ? ॥ ७१ ॥

अन्वय —हे विधुन्तुद ! अयं द्विजवासनया गरुडवत् ते कण्ठं दहति खलु । तेन उज्झितः किम् ? अस्य विप्रता का ? वद । (तथा हि) अस्य प्रकृतिः निरागसि मयि दाहिका ।

व्याख्या—हे विधुन्तुद=हे राहो ! अयं=विधुः, द्विजवासनया=ब्राह्मणबुद्धया, गरुडवत्=गरुडस्य इव, ते=तव, राहोः, कण्ठं=गलं, दहति=तापयति, खलु=निश्चयेन, तेन=दाहेन कारणेन, उज्झितः किं=त्यक्तः किम् ? अस्य=विधोः, विप्रता का=ब्राह्मणता का ? न काऽपीति भावः। वद=ब्रूहि, तथा हि—अस्य=विधोः, प्रकृतिः=स्वभावः, निरागसि=निरपराधायां, मयि, दाहिका=दग्ध्री, न तु ब्राह्मी शक्तिरिति भावः।

अनुवाद—हे राहो ! यह (चन्द्र) ब्राह्मणकी वासनासे गरुडके समान तुम्हारे कण्ठको जलाता है, उस(दाह)से छोड़ देते हो क्या ? इसकी ब्राह्मणता क्या है ? कहो। इसका स्वभाव ही निरपराध (बेकसूर) मुझमे दाह करनेवाला है।

टिप्पणी—द्विजवासनया=द्विजस्य वासना, तया (ष० त०)। यह ब्राह्मण है, ऐसी वासनासे, व्यक्तिके पतित होनेपर भी उसमें जाति रहती ही है, यह तात्पर्य है। गरुडवत्=गरुडस्य इव, "तत्र तस्येव" इस सूत्रसे वति प्रत्यय। पूर्व कालमे गरुडजी भूखसे पिता कश्यपकी आज्ञासे निषादोको खाने लगे, उनमें निषादके साथ संसर्ग करनेवाला एक ब्राह्मण भी उनके गलेके भीतर पड़कर जलाने लगा, तब गरुडने उसको उगल दिया। महाभारतकी इस कथाके अनुसार यह उक्ति है। विप्रता=विप्र+तल्+टाप्। निरागसि=निर्गतम् आगो यस्याः सा, तस्याम् (बहु०)। दाहिका=दहतीति, दह+ण्वुल्+टाप्। चन्द्र स्वभावसे ही दाहक है, ब्राह्मणत्वसे नहीं। निरपराध स्त्री मुझको जलानेवाले इसमें ब्राह्मणता ही नहीं है, यह अभिप्राय है ॥ ७१ ॥

सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय यमाय विनिर्मितः।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—विधुः सकलया कलया (एव) दंष्ट्रया यमाय समवधाय विरहिणीगणचर्वणसाधनं विनिर्मितः किल। अतः "द्विजराजः" इति श्रुतः।

व्याख्या—विधुः=चन्द्रः, सकलया=सम्पूर्णया, कलया=भागेन (एव), दंष्ट्रया=दशनविशेषेण, यमाय=अन्तकार्थं, समवधाय=सम्यक् अवधानं कृत्वा, विरहिणीगणचर्वणसाधनं=वियोगिनीसमूहभक्षणकारणं, विनिर्मितः=रचितः, ब्रह्मणेति शेषः। किल=निश्चयेन, अतः=अस्मात् कारणात्, दंष्ट्राविशेषवत्त्वादिति भावः। द्विजराजः=द्विजराजसंज्ञकः, इति=इत्थं,

श्रुत = आकर्णित । चन्द्र ब्राह्मणराजत्वान्न, दंष्ट्राविनपवत्वात् "द्विजराज" इति संज्ञा प्राप्तवानिति भाव ।

अनुवाद—चन्द्र सम्पूर्ण कलाएँ हो, दंष्ट्रा(दाढों)से यमराजके लिए एकाग्रचित्त होकर ब्रह्माजीसे विरहिणियोंके भक्षणका कारणस्वरूप बनाया गया है। इसलिए इसका "द्विजराज" (दन्तराज) ऐसा नाम सुना गया है।

टिप्पणी—सकलया कलया = सकलाभि कलाभि, दंष्ट्रया = दंष्ट्राभि, जातिमे एकवचन। समवधाय = सम् + अव + धा + क्त्वा (ल्यप्)। विरहिणीगणचर्वणसाधन = विरहिणीना गण (ष० त०), तस्य चर्वण (ष० त०), तस्य साधनम् (ष० त०)। विनिर्मित = वि + निर् + मा + क्त। द्विजराज = द्विजाना राजा (ष० त०), "दन्तविप्राऽण्डजा द्विजा" इत्यमर। इस पद्यमे निरुक्त नामका काव्यलक्षण है ॥ ७२ ॥

स्मरमुख हरनेत्रहुताऽशनाज्ज्वलदिव विधिना चकृपे विधु ।
बहुविधेन वियोगिवधनसा शशमिषादथ कालिमयाऽङ्कित ॥ ७३ ॥

अन्वय—अथ विधु इव स्मरमुख ज्वलत् (एव) विधिना हरनेत्रहुताऽशनात् चकृपे। (अथवा) बहुविधेन वियोगिवधैनसा कालिकया शशिमिषात् अङ्कित।

व्याख्या—अथ = अथवा, विधु = चन्द्र, इव = पुरोवर्ति, स्मरमुख = कामवदन, ज्वलत् = प्रज्वलत् एव विधिना = ब्रह्मणा, हरनेत्रहुताऽशनात् = रुद्रनयनाऽग्ने, चकृपे = आकृष्ट। अथवा बहुविधेन = अनेकप्रकारेण, वियोगिवधैनसा = विरहिमारणपापेन, कालिकया = श्यामिकया, शशमिषात् = मृगव्याजात्, अङ्कित = चिह्नित। चन्द्रमसि दाहस्य वा पापस्य कालिमा मृगच्छलाद् दृश्यत इति भाव।

अनुवाद—अथवा यह चन्द्रमा, कामदेवका मुख है। जलते हुए इसको ब्रह्माजीने रुद्रके नेत्राऽग्निसे खींच लिया है। अथवा यह अनेक प्रकारके वियोगियोंकी हत्याके पापसे, शशके छलसे कालिमासे चिह्नित हो गया है।

टिप्पणी—स्मरमुख = स्मरस्य मुखम् (ष० त०)। ज्वलत् = ज्वल + लट् (शतृ) + सु। हरनेत्रहुताऽशनात् = हरस्य नेत्र (ष० त०), तदेव हुताऽशन, तस्मात् (रूपक०)। चकृपे = कृप + लिट् (कर्ममे) + त। बहुविधेन = बहु विधा (प्रकार) यस्य तत्, तेन (बहु०)। वियोगिवधैनसा = वियोगिना वध (ष० त०), तेन एन, तेन (तृ० त०)। शशमिषात् = शशस्य मिष,

तस्मात् (प० त०)। इस पद्यमें दो प्रतीयमान उत्प्रेक्षाएँ और अपह्नुतिका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ७३ ॥

द्विजपतिग्रसनाऽऽहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः ।
विरहिणीवदनेन्दुजिघत्सया स्फुरति राहुरयं न निशाकरः ॥ १ ॥

अन्वयः—द्विजपतिग्रसनाऽऽहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः अयं राहुः विरहिणीवदनेन्दुजिघत्सया स्फुरति निशाकरः न।

व्याख्या—प्रक्षिप्तमिदं पद्यं मल्लिनाथेन न व्याख्यातं, परं तिलकमुखाऽवबोधव्याख्ययोर्दृश्यमानत्वात्संक्षेपेण व्याख्यायते।

द्विजपति०=चन्द्ररूपब्राह्मणग्रासप्राप्तपापोत्पन्नकुष्ठधवलीकृतशरीरः, अयं=पुरोवर्ती, राहुः=सैंहिकेयः, विरहिणीवदनेन्दुजिघत्सया=वियोगिनीमुखचन्द्रभक्षणेच्छया, स्फुरति=उदेति, निशाकरो न=चन्द्रो न।

अनुवाद—हे सखि ! चन्द्ररूप ब्राह्मणको ग्रास करनेसे प्राप्त पातकसे उत्पन्न कुष्ठ (कोढ) रोगसे सफेद शरीरवाला यह राहु वियोगिनीके मुखचन्द्रको खानेकी इच्छासे चमक रहा है, चन्द्रमा नहीं।

टिप्पणी—इस पद्यमें अपह्नुति अलङ्कार है ॥ १ ॥

इति विधोर्विविधोक्तिविगर्हणं व्यवहितस्य वृथेति विमृश्य सा।
अतितरां दधती विरहज्वरं, हृदयभाजमुपालभत स्मरम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अतितरां विरहज्वरं दधती सा इति व्यवहितस्य विधोः विविधोक्तिविगर्हणं वृथा इति विमृश्य हृदयभाजं स्मरम् उपालभत।

व्याख्या—अतितराम्=अतिमात्रं, विरहज्वरं=वियोगसन्तापं, दधती=धारयन्ती, सा=दमयन्ती, इति=इत्थं, पूर्वोक्तप्रकारेणेति भावः। व्यवहितस्य=दूरस्थस्य, विधोः=चन्द्रमसः, विविधोक्तिविगर्हणम्=विविधोक्तिभिः (बहुप्रकारवचनैः) विगर्हणं (निन्दा), वृथा=व्यर्थप्रायम्, इति=एवं, विमृश्य=विचार्य, हृदयभाजं=मनःस्थितं, सन्निहितमिति भावः। स्मरं=कामम्, उपालभत=उपालब्धवती, निनिन्देत्यर्थः।

अनुवाद—अत्यन्त वियोगसन्तापको धारण करती हुई दमयन्ती इस प्रकारसे दूरस्थित चन्द्रमाकी अनेक प्रकारके वचनोंसे निन्दा करना व्यर्थ है, ऐसा विचार कर हृदयमें स्थित (निकटवर्ती) कामदेवकी निन्दा करने लगीं।

टिप्पणी—अतितराम्=अति+तरप्+आमु। विरहज्वर=विरहस्य ज्वर, तम् (ष० त०)। विविधोक्तिविगर्हणं=विविधाश्च ता उक्तय (क० धा०) ताभि विगर्हणम् (तृ० त०)। हृदयभाज=हृदय+भाज+ण्वि+अम् (उपपद०)। उपालभत=उप+आङ्+लभ+लङ्+त ॥७४॥

हृदयमाश्रयसे यत ! मामक, ज्वलयसीत्यमनङ्ग ! तदेव किम् ?
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धन क्व भवितासि ? हताश ! हुताऽशवत् ॥ ७५ ॥

अन्वय—हे अनङ्ग ! मामक हृदयम् आश्रयसे, तदेव इत्थं किं ज्वलयसि ? वत ! हे हताश ! स्वयं हुताऽशवत् क्षणदग्धनिजे धन (सन्) क्व भवितासि ?

व्याख्या—हे अनङ्ग=हे काम ! मामक=मदीय, हृदय=हृद्, आश्रयसे=आश्रित्य वससे, तद् एव=मद्धृदयम् एव, इत्थम्=अनेन प्रकारेण, किं ज्वलयसि=किं दहसि ? हे हताश=हे नष्टाऽभिलाष ! दुर्बुद्धे इति भाव। स्वयं स्वम्, हुताऽशवत्=अग्निवत्, क्षणदग्धनिजे धन=अल्पक्षणभस्मीकृतस्वाश्रय सन्, क्व=कुत्र, भवितासि=भविष्यसि ?

अनुवाद—हे काम ! मेरे हृदयका आश्रय लेते हो, उसीको इस प्रकार क्यों जलाते हो ? हाय ! हे दुर्बुद्धे ! तुम अग्निके समान क्षणभरमें अपने आश्रय (मुझ) को जलाकर कहाँ रहोगे ?

टिप्पणी—मामक—मम इद, तत्, अस्मद् शब्दके स्थानमें "तवकममकावेकवचने" इस सूत्रसे ममक आदेश। हताश=हता आशा यस्य स, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। हुताऽशवत्=हुतम् अश्नातीति हुताश, हुत+अश+अण् (उपपद०)। हुताऽशेन तुल्य, हुताश+वति। क्षणदग्धनिजेन्धन=निज च तद् इन्धनम् (क० धा०), क्षण दग्धम् (सुप्सुपा०), क्षणदग्ध निजे धन येन स (बहु०)। भवितासि=भू+लुट्+सिप्। हे कामदेव ! दूसरेकी हिंसा करनेके व्यसनसे तुम अपने नाशको नहीं देखते हो, इस आशयसे "हताश" ऐसे सम्बुद्धिपदका प्रयोग किया गया है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥७५॥

पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यता त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया।
स्मर ! निरंश्यत कस्यचनाऽपि न त्वयि किमक्षिगते नयनैस्त्रिभि ?॥७६॥

अन्वय—हे स्मर ! त्वम् (अक्षिगत) पुरभिदा त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया अदृश्यता गमित। (किंतु) कस्यचन अपि अक्षिगते त्वयि त्रिभि नयनै किं न निरंश्यत ?

व्याख्या—हे स्मर=हे काम ! त्वं=भवान्, अक्षिगत इति शेषः। पुरभिदा=हरेण, त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया=तृतीयलोचनवैयर्थ्यभयेन, अदृश्यताम्=अदर्शनीयतां, गमितः=प्रापितः, नाशं प्रापित इति भावः। किन्तु कस्यचन अपि=यस्य कस्यचिदपि जनस्य, अक्षिगते=दृग्गोचरे, द्वेष्ये च, त्रिभिः=त्रिसंख्यकैः, नयनैः=नेत्रैः, किं न निरैक्ष्यत=किमिति न निरीक्षितम् ? कोपस्य तृतीयनेत्रस्थानीयत्वात्त्वयि द्वेष्ये सति सर्वोऽपि जनस्त्रिनयनो जात इति भावः।

अनुवाद—हे कामदेव ! तुम द्वेष्य होकर रुद्रसे तृतीय नेत्र(अग्नि)के व्यर्थ होनेके भयसे नाशको प्राप्त कराये गये हो। किन्तु जिस किसी भी जनके तुम्हारे नेत्रमें पड़ने पर (वा द्वेष्य होने पर) तीन नेत्रोंसे (क्रोधके साथ दोनों नेत्रोंसे) क्या नहीं देखा ?

टिप्पणी—पुरभिदा=पुरं भिनत्तीति पुरभित्, तेन, पुर+भिद्+क्विप्+टा (उपपद०)। त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया=त्रीणि नयनानि यस्य सः (बहु०), तस्य भावः, त्रिनयन+त्व, तस्य परिप्लुतिः (ष० त०), तस्याः शङ्का, तया (ष० त०)। अदृश्यताम्=अदृश्य+तल्+टाप्+अम्, गमितः=गम्+णिच्+क्तः। अक्षिगते=अक्षि गतः, तस्मिन् (द्वि० त०)। निरैक्ष्यत=निर्+ईक्ष+लङ् (भावमें)+त। धातुके सकर्मक होने पर भी यहाँ पर कर्मकी विवक्षा "प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया।" इस वचनके अनुसार नहीं हुई है ॥ ७६ ॥

सहचरोऽसि रतेरिति विश्रुतिस्त्वयि वसत्यपि मे न रतिः कुतः ?
अथ न सम्प्रति सङ्गतिरस्ति वामनुमृता न भवन्तमियं किल ॥ ७७ ॥

अन्वयः—(हे स्मर !) "रतेः सहचरोऽसि" इति विश्रुतिः। त्वयि वसति अपि मे कुतो रतिर्न ? अथ सम्प्रति वां सङ्गतिर्न अस्ति, इयं भवन्तं न अनुमृता किल।

व्याख्या—(हे स्मर !) रतेः = रतिदेव्याः सन्तुष्टेश्च। सहचरः= सहचारी, असि=वर्तसे, इति=एवं, विश्रुतिः=प्रसिद्धिः। परं त्वयि= भवति, वसति अपि=वासं कुर्वति अपि, हृदयस्थे सत्यपीति भावः। मे=मम, कुतः=कस्मात्कारणात्, रतिः न=प्रीतिः न, अथ=अथवा, सम्प्रति= अधुना, वां=युवयोः। सङ्गतिः=सहचरता, न अस्ति=नो वर्तते, कुतः ?

इव=रति, भवन्त=त्वा, न अनुमृता=अनुमरणं न कृतवती, किल=इय वार्ता, अनुचरणाऽभावादसङ्गतियुक्तेति भाव ।

अनुवाद—(हे कामदेव ?) तुम रतिदेवीके वा सन्तुष्टिके सहचर हो, ऐसी प्रसिद्धि है, पर मेरे हृदयमे तुम्हारे रहनेपर भी मुझे किस कारणसे रति (प्रीति) नही है । अथवा इस समय तुम दोनोकी सङ्गति नही है, इस(रति)ने तुम्हारे मरनेपर साथ नहीं दिया ।

टिप्पणी—रते ="रति कामप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च" इति विश्व । सहचर =सह चरतीति, सह+चर+अच् । वसति=वस+लट् (शप्) + ति । अनुमृता=अनु+मृङ्+क्त (कर्तरि)+टाप्+सु । इस पद्यमे प्रीतिरूप रतिका कामप्रियाके साथ अभेद अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ७७ ॥

रतिवियुक्तमनात्मपरज्ञ ! किं स्वमपि मामिव तापितवानसि ? ।
कथमतापभृतस्तव सङ्गमादितरथा हृदयं मम दह्यते ? ॥ ७८ ॥

अन्वय —हे अनात्मपरज्ञ ! माम् इव रतिवियुक्त स्वम् अपि त्व तापितवान् असि किम् ? इतरथा अतापभृत इव सङ्गमात् मम हृदय कथ दह्यते ?

व्याख्या—हे अनात्मपरज्ञ=हे स्वपराज्ञानिन् ! सर्वघातुक मारेति भाव । माम् इव=भैमीम् इव, रतिवियुक्त=रतिविरहित, स्वम् अपि=आत्मानम् अपि, तापितवान् असि किम्=दग्धवान् असि किम् ? इतरथा=नो चेद्, स्वाऽसन्तापन इति भाव । अतापभृत =तापरहितस्य, तव=भवत, सङ्गमाद् =सम्पर्कात्, मम=मैम्या, हृदय=हृद्, कथ=केन प्रकारेण, दह्यते= सन्ताप्यते, तप्तस्पर्शात्तापो नाऽतप्तस्पर्शादिति भाव ।

अनुवाद—अपनेको और दूसरेको नही जाननेवाले हे कामदेव ! मेरे समान रतिसे रहित अपनेको भी तुमने सन्तप्त किया है क्या ? नही तो ताप रहित तुम्हारे सम्पर्कसे मेरा हृदय कैसे जल रहा है ?

टिप्पणी—अनात्मपरज्ञ=आत्मा च परश्च आत्मपरौ (द्वन्द्व), तौ जाना तीति आत्मपरज्ञ, तत्सम्बुद्धौ, आत्मपर+ज्ञ+क (उपपद०) । रतिवियुक्त= रत्या वियुक्त, तम् (तृ० त०) । तापितवान्=तप+णिच्+क्तवतु+सु । इतरथा=इतरेण प्रकारेण, इतर+थाल । अतापभृत =ताप बिभर्तीति ताप-भृत्, ताप+भृ+क्विप् (उपपद०) । न तापभृत् तस्य (नञ्०) । दह्यते= दह्+लट्+त (कर्मकर्तरि) ॥ ७८ ॥

अनुममार न मार ! कथं नु सा रतिरितिप्रथिताऽपि पतिव्रता ? ।
इयदनाथवधूवधपातकी दयितयाऽपि तयाऽसि किमुज्झितः ? ॥ ७९ ॥

अन्वयः—हे मार ! पतिव्रता इति प्रथिता अपि सा रतिः कथं न अनुममार ? (अथवा) इयदनाथवधूवधपातकी (त्वम्) दयितया अपि तया उज्झितः असि किम् ?

व्याख्या—हे मार=हे मारक, काम इत्यर्थः । पतिव्रता=सती, इति, प्रथिता अपि=प्रख्याता अपि, सा=प्रसिद्धा, रतिः=तव प्रिया, कथं=केन प्रकारेण, न अनुममार=न अनुमृता, त्वामिति शेषः । अथवा, इयदनाथवधूवधपातकी=एतावद्वियोगिस्त्रीहिंसापापी, त्वमिति शेषः । दयितया अपि=प्रियया अपि, तया=रत्या, उज्झितः=त्यक्तः, असि किं=वर्तसे किम् ? "आ शुद्धेः सम्प्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः ।" इति स्मरणादिति भावः, (या० स्मृ० आचार० ७७) ।

अनुवाद—हे हत्यारे कामदेव ! पतिव्रता ऐसी प्रसिद्धिवाली रतिने भी कैसे तुम्हारा अनुमरण नही किया ? अथ वा इतनी वियोगिनी स्त्रियोके वधके पातकी तुम्हें उन्होंने छोड़ दिया है क्या ?

टिप्पणी—पतिव्रता=पत्यौ व्रतं यस्याः सा (व्यधि० बहु०) । अनुममार =अनु+मृङ्+लिट्+तिप् । "म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च" इस नियमसे आत्मनेपदका अभाव । इयदनाथवधूवधपातकी=इदं परिमाणमस्ति यासां ता इयत्यः, इदम्+वतुप् (घः)+ङीप्, अविद्यमानो नाथो यासां ता अनाथाः (नञ्-बहु०), अनाथाश्च ता वध्वः (क० धा०), इयत्यश्च ता अनाथवध्वः (क० धा०), तासां वधः (ष० त०), तेन पातकी (तृ० त०) । इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । इतनी वियोगिनी स्त्रियोके वधके पातकी कामदेवको रतिने छोड़ दिया है क्या ? यह भाव है ॥ ७९ ॥

सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत् ।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः ॥ ८० ॥

अन्वयः—जितेन्द्रियः सुगतः एव विजित्य तव उरुकीर्तितनुं यत् अनाशयत् । ततः अवशिष्टवतीं भूतमयीं तव तनूं समिति हरः अहरत् ।

व्याख्या—(हे काम !) जितेन्द्रियः=वशी, सुगत एव=बुद्ध एव, विजित्य=विजयं कृत्वा, तव=भवतः, उरुकीर्तितनुं=महायशः शरीरं, यत्=यस्मात् कारणात्, अनाशयत्=नाशितवान् । ततः=तस्मात्कारणात्, अव-

शिष्टवतीम् = अवशिष्टा, भूतमयी = पाञ्चभौतिकी, तव — भवत, तनू = शरीर, समिति = युद्धे, हर = रुद्र, अहरत् = हृतवान्, भस्मीचकारेति भाव ।

अनुवाद—जितेन्द्रिय बुद्धने ही जीतकर तुम्हारे महान् कीर्तिरूप शरीरको जो नष्ट कर दिया, उस कारणसे अवशिष्ट पाञ्चभौतिक तुम्हारे शरीरको युद्धमे महादेवने भस्म कर डाला ।

टिप्पणी — जितेन्द्रिय = जितानि इन्द्रियाणि येन स (बहु०) । विजित्य = वि + जि + क्त्वा (ल्यप्) । उरुकीर्तितनुम् = कीर्तिरेव तनु (रूपक०), उरुश्चासौ कीर्तितनु, ताम् (क० धा०) । अनाशयत् = ण (न) श + णिच् + लङ् + तिप् । अवशिष्टवतीम् = अव + शिष् + क्तवतु + ङीप् + अम् । भूतमयी = भूत + मयट् + ङीप् + अम् । अहरत् = हृञ + लङ् + तिप् ॥ ८० ॥

फलमलभ्यत यत्कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्ग ! निगृह्णता ।
अहह ! नीतिरवाप्तभया ततो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति ॥ ८१ ॥

अन्वय — हे अनङ्ग ! विषमनेत्र कुसुमै निगृह्णता त्वया यत् फलम् अलभ्यत । तत अवाप्तभया नीति कुसुमै अपि विग्रह न इच्छति, अहह !

व्याख्या — हे अनङ्ग = हे काम ! विषमनेत्र = त्रिनयन, रुद्रमित्यर्थ । कुसुमै = पुष्पै , निगृह्णता = निरुन्धता, प्रहरता इति भाव , त्वया = भवता, यत्, फलम् = मरणरूप परिणाम , अलभ्यत = लब्धम् । तत = तस्मात्फलात्, अवाप्तभया = प्राप्तभीति , नीति = नय , कुसुमै अपि = पुष्पै अपि, किमुत अस्त्रैरिति भाव । विग्रह = युद्ध, न इच्छति = नो वाञ्छति, अहह = खेदोऽयमिति भाव ।

अनुवाद — हे कामदेव ! महादेवको फूलोसे प्रहार करनेवाले तुमने जो फल (मरणरूप) पा लिया । उसी फलके कारण भयको प्राप्त करनेवाली नीति फूलोसे भी युद्ध नहीं करती है ।

टिप्पणी — विषमनेत्र = विषमाणि नेत्राणि यस्य स , तम् (बहु०) । कुसुमै = करणमे तृतीया । निगृह्णता = नि + ग्रह + लट् (शतृ) + टा । अलभ्यत = लभ + लङ् + त (कर्ममे) । अवाप्तभया = अवाप्त भय यया सा (बहु०) ॥८१॥

अपि धर्षितराऽमरवत्सुधा त्रिनयनात्कथमापिव तां दशाम् ?
मम रतेरधरस्य रसाऽऽस्वरादमृतमात्तघृण खलु नाऽपिब ? ॥ ८२ ॥

अन्वयः—(हे काम !) इतराऽमरवत् सुधां धयन् अपि त्रिनयनात् कथं तां दशाम् आपिथ ? भण । (अथवा) रतेः अधरस्य रसाऽऽदरात् आत्तघृणः (सन्) अमृतं न अपिवः खलु ?

व्याख्या—(हे काम !) इतराऽमरवत्=अन्यसुरवत्, सुधाम्=अमृतं, धयन् अपि=पिवन् अपि, त्रिनयनात्=हरात्, कथं=केन प्रकारेण, तां=तादृशीं, दशाम्=अवस्थां, मरणरूपामिति भावः । आपिथ=प्राप्तोऽभूः, भण=वद । (अथवा) रतेः=स्वप्रियायाः, अधरस्य=ओष्ठस्य, रसाऽऽदरात्=आस्वादसम्मानात्, आत्तघृणः=गृहीतजुगुप्सः सन्, अमृत इति शेषः । अमृतं=सुधां, न अपिवः=न पीतवान्, खलु=निश्चयेन । अमृतपाने कथमन्येष्वमरेषु त्वमेको मृत इति भावः ।

अनुवाद—(हे कामदेव !) और देवताओंके समान अमृतको पीते हुए भी तुमने महादेवसे कैसे वैसी अवस्था(मृत्यु)को प्राप्त किया ? कहो । अथवा अपनी पत्नी रतिके अधरके आस्वादके सम्मानसे अमृतमें घृणा करते हुए तुमने अमृत नही पीया क्या ?

टिप्पणी—इतराऽमरवत्=इतरे च ते अमराः (क० धा०), तैस्तुल्यम्, इतराऽमर+वति । धयन्="धेट् पाने" धातुसे लट् (शतृ)+सु । त्रिनयनात्=त्रीणि नयनानि यस्य सः, तस्मात् (बहु०) । आपिथ=आप्+लिट्+थल्, क्रादिनियमसे इट् । रसादरात्=रसे आदरः, तस्मात् (स० त०) । आत्तघृणः=आत्ता घृणा येन सः (बहु०) । "घृणा जुगुप्साकृपयोः" इति वैजयन्ती । अपिवः="पा पाने" धातुसे लङ्+सिप् ॥ ८२ ॥

भुवनमोहनजेन किमेनसा तव परेत ! बभूव पिशाचता ? ।
यदधुना विरहाऽऽधिमलीमसामभिभवन्भ्रमसि स्मर ? मद्विधाम् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—हे परेत ! तव भुवनमोहनजेन एनसा पिशाचता बभूव किम् ? हे स्मर ! यत् अधुना विरहाऽऽधिमलीमसां मद्विधाम् अभिभवन् भ्रमसि ।

व्याख्या—हे परेत=हे प्रेत ! तव=भवतः, भुवनमोहनजेन=लोकाचेतनीकरणजन्येन, एनसा=पापेन, पिशाचता=पिशाचभावः, बभूव किं=जाता किम् ? कुतः—हे स्मर=हे कामदेव ! यत्=यस्मात्कारणात्, अधुना=सम्प्रति, विरहाऽऽधिमलीमसां=वियोगव्याधिमलिनां, मद्विधां=मादृशीम् अबलाम्, अभिभवन्=पीडयन्, भ्रमसि=भ्रमणं करोषि ।

अनुवाद—हे प्रेत ! तुम लोकको मोहित करनेसे उत्पन्न पापसे पिशाच हो गये हो क्या ? हे कामदेव ! जो कि अभी विरहकी व्यथासे मलिन मुख जैसी स्त्रीको पीडित करते हुए घूम रहे हो।

टिप्पणी—परेत=परस्मिन् (लोके) इत -(गत) इति परेतस्तत्सम्बुद्धौ (स० त०)। भुवनमोहनजेन=भुवनानां मोहन (ष० त०), तस्माज्जातेन, भुवनमोहन+जन्+ड+टा। विरहाधिमलीमसा=विरहेण आधि (तृ० त०), तेन मलीमसा, ताम् (तृ० त०), मद्विधा=मम इव विधा (प्रकार) यस्याः सा ताम् (व्यधिकरणबहु०)। पापिष्ठ लोग पिशाचभावको प्राप्त कर दुर्बल स्त्री और बालकोंको पीडित करते रहते हैं, तुम भी वैसे ही कोई पिशाच हो क्या ? यह भाव है। इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८३ ॥

बत ! ददासि न मृत्युमपि स्मर ! स्खलति ते कृपया न धनुः करात्।
अथ मृतोऽसि मृतेन च मुच्यते न किल मुष्टिरुरीकृतबन्धन ॥८४॥

अन्वय —हे स्मर ! मृत्युम् अपि न ददासि। (अथवा) कृपया ते करात् धनुः न स्खलति। अथ मृत असि ? मृतेन च उरीकृतबन्धन मुष्टिः न मुच्यते किल बत !

व्याख्या—हे स्मर=हे कामदेव ! मृत्युम् अपि=मरणम् अपि, न ददासि=नो वितरसि, तेन दुःखाऽन्तो भवेदिति भावः। अथवा, कृपया=करुणया, ते=तव, करात्=हस्तात् धनुः=कार्मुक, न स्खलति=नो भ्रश्यति। अथ=अथवा, मृत असि=गतजीवितो वर्तसे, मृतेन च=प्राप्तमरणेन च, उरीकृतबन्धन=अङ्गीकृतबन्धन, मुष्टिः=सम्पिण्डितपाणि, न मुच्यते=न त्यज्यते, किल=खलु। बत=खेदोऽयम् !

अनुवाद—हे कामदेव ! तुम मृत्यु भी नहीं देते हो। अथवा दयासे तुम्हारे हाथसे धनु भी नहीं गिरता है। अथवा मर गये हो ? मरे हुए पुरुषकी बँधी हुई मुट्ठी भी नहीं खुलती है। हाय !

टिप्पणी—उरीकृतबन्धन=उरीकृत बन्धन येन स (बहु०), हे कामदेव ! तुम यमराजसे भी क्रूर हो, यह पद्यका तात्पर्य है ॥ ८४ ॥

दृगुपहत्यपमृत्युविरूपता शमयतेऽपरनिर्जरसेविता।
अतिशयाऽऽत्मवपुःक्षतिपाण्डुता स्मर ! भवन्ति भवन्तमुपासितु ॥८५॥

अन्वयः—हे स्मर ! अपरनिर्जरसेविता दृगुपहत्यपमृत्युविरूपताः शमयते । भवन्तम् उपासितुः अतिशयाऽऽन्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः भवन्ति ।

व्याख्या—हे स्मर=हे कामदेव ! अपरनिर्जरसेविता=अन्यदेवतासेवको जनः, दृगुपहत्यपमृत्युविरूपताः=अन्धताऽकालमरणकुरूपताः, शमयते=निवर्तयति । भवन्तं=त्वाम्, उपासितु:=उपासकस्य जनस्य तु, अतिशयाऽऽन्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः=अत्यर्थान्धत्वशरीरविपत्तिवैवर्ण्यानि, भवन्ति=जायन्ते ।

अनुवाद—हे कामदेव ! अन्य देवोंकी सेवा करनेवाले अन्धापन, अकालमरण और कुरूपताको दूर करते हैं । तुम्हारी सेवा करनेवालोंको तो अतिशय अन्धता, शरीरकी विपत्ति और विवर्णता होती है ।

टिप्पणी—अपरनिर्जरसेविता=अपरे च ते निर्जराः (क० धा०), तेषां सेविता (ष० त०) । दृगुपहत्यपमृत्युविरूपताः=दृशोः उपहतिः (ष० त०), विरूपस्य भावः, विरूप+तल्+टाप्, दृगुपहतिश्च अपमृत्युश्च विरूपता च (द्वन्द्वः), ताः । शमयते="शमु उपशमे" धातुसे "णिचश्च" इस सूत्रसे आत्मनेपद लट्+त, "मितां ह्रस्वः" इससे ह्रस्व । भवन्तम्="उपासितुः" इस तृन्नन्त पदके योगमें कर्ममें प्राप्त षष्ठीका "न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे निषेध । उपासितुः=उपास्त इति उपासिता, तस्य उप+आस्+तृन्+इम् । अतिशयाऽऽन्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः=अन्धस्य भावः आन्ध्यम्, अन्ध+ष्यञ्, अतिशयं यथा तथा आन्ध्यम् (सुप्सुपा०), वपुषः क्षतिः (ष० त०), पाण्डोर्भावः, पाण्डु+तल्+टाप्, अतिशयाऽऽन्ध्यं च वपुःक्षतिश्च पाण्डुता च (द्वन्द्व), ताः । और देवताओंकी उपासनासे कहाँ तो अन्धता आदि दूर होती है, तुम्हारी सेवा करनेवालोंकी कहाँ अत्यन्त अन्धता आदि होती है, इस प्रकार विरूप पदार्थोंकी संघटना होनेसे विषम अलङ्कार है ॥ ८५ ॥

स्मर ! नृशंसतमस्त्वमतो विधिः सुमनसः कृतवान् भवदायुधम् ।
यदि धनुर्दृढमाशुगमायसं तव सृजेत् प्रलयं त्रिजगद् व्रजेत् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—हे स्मर ! त्वं नृशंसतमः अतः विधिः सुमनसः भवदायुधं कृतवान् । तव दृढं धनुः, आयसम् आशुगं च सृजेत् यदि त्रिजगत् प्रलयं व्रजेत् ।

व्याख्या—हे स्मर=हे काम ! त्वं=भवान्, नृशंसतमः=घातुकतमः, अतः=तस्मात् कारणात्, विधिः=ब्रह्मदेवः, सुमनसः=पुष्पाणि, भवदायुधं=

त्वच्छस्त्र, कृतवान्=विहितवान् । एतद्वैपरीत्येन विधि, तव=भवत, दृढ=कठोर, धनु=कार्मुकम्, आयसम्=अयोमयम्, आशुग च=बाण च, सृजेत् यदि=जनयेच्चेत्, तर्हि त्रिजगत्=लोकत्रय, प्रलय=विनाश, व्रजेत्=गच्छेत् । तव घातुकता दृष्ट्वा ब्रह्मदेवेन सम्यक् कृतमिति भाव ।

अनुवाद—हे काम ! तुम अतिशय हत्यारे हो, इस कारण ब्रह्माजीने फूलोंको तुम्हारा हथियार बनाया । तुम्हारा मजबूत धनु और लोहेका बाण बनाते तो तीनों लोकोंका विनाश हो जाता ।

टिप्पणी—नृशसतम =अतिशयेन नृशस, नृशस+तमप् । भवदायुध=भवत आयुध, तत् (ष० त०) । कृतवान्=कृ+क्तवतु+सु । आयसम्=अयस अय, तम्, अयम्+अण्+अम् । सृजेत्=सृज+लिङ्+तिप् । त्रिजगत्=त्रयाणा जगता समाहार (द्विगु०) । व्रजेत्=व्रज+विधिलिङ्+तिप् ॥ ८६ ॥

स्मररिपोरिव रोपशिखी पुरा दहतु ते जगतामपि मा त्रयम् ।
इति विधुस्त्वदिषून् कुसुमानि कि मधुभिरन्तरसिञ्चदनिर्वृत ॥ ८७ ॥

अन्वय —(हे काम !) स्मररिपो रोपशिखी पुरा त्रयम् इव ते रोपशिखी जगता त्रय मा दहतु इति (मत्वा) विधि अनिर्वृत त्वदिषून् कुसुमानि मधुभि अन्त असिञ्चत् किम् ?

व्याख्या—(हे काम !) स्मररिपो =त्वच्छत्रो, हरस्येत्यर्थ । रोपशिखी=बाणाऽग्नि, पुरा=नगराणा, त्रयम् इव=त्रितयम् इव, त्रिपुरमिवेति भाव । ते=तव कामस्य, रोपशिखी=बाणाऽग्नि, जगता=लोकाना, त्रय=त्रितय, लोकत्रयमिति भाव । मा दहतु=नो भस्मीकरोतु, इति=एव, मत्वेति शेष । विधि =ब्रह्मदेव, अनिर्वृत =अपरितुष्ट सन्, त्वा पुष्पबाण कृत्वाऽपीति शेष । त्वदिषून्=त्वद्बाणान्, कुसुमानि=पुष्पाणि, मधुभि =पुष्परसै, अन्त =अभ्यन्तरे, असिञ्चत् किम्=औक्षत् किम् ? अग्निशान्त्यर्थमिति शेष । विधिरेव नाऽकरिष्यच्चेत् घातुकतमस्य ते को वारयिताऽभविष्यदिति भाव ।

अनुवाद—(हे काम !) जैसे तुम्हारे शत्रु रुद्रके बाणाऽग्निने त्रिपुरको जलाया था, उसी तरह तुम्हारा बाणाऽग्नि भी तीनों लोकोंको मत जलावे, ऐसा विचार कर ब्रह्माजीने तुम्हें पुष्परूप बाणोंको देनेसे ही सन्तुष्ट न होकर तुम्हारे बाण फूलोंके भीतर पुष्परससे अभिषिक्त कर दिया ।

टिप्पणी—स्मररिपोः=स्मरस्य रिपुः, तस्य (ष० त०)। रोषशिखी=रोष एव शिखी (रूपक०)। "पत्नी रोषं इषुर्द्वयो." इत्यमरः। अनिर्वृतः=न निर्वृतः (नञ्०)। त्वदिषून्=तव इषवः, तान् (ष० त०)। इस पद्यमें उपमा और रूपककी परस्पर अपेक्षा न करनेकी स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

विधिरनङ्गमभेद्यमवेक्ष्य ते जनमनः खलु लक्ष्यमकल्पयत्।
अपि स वज्रमदास्यत चेत्तदा त्वदिषुभिर्व्यदलिष्यदसावपि ॥ ८८ ॥

अन्वयः—(हे काम !) विधिः अनङ्गम् अभेद्यम् अवेक्ष्य जनमनः ते लक्ष्यम् अकल्पयत्। स वज्रम् अदास्यत चेत्, तदा त्वदिषुभिः असौ अपि व्यदलिष्यत्।

व्याख्या—(हे काम !) विधिः=ब्रह्मदेवः, अनङ्गम्=अवयवरहितम्, "अनंगम्" इति पाठेऽपि अयमेवाऽर्थः। अत एव अभेद्यं=भेत्तुमशक्यम्, अवेक्ष्य=विचार्य, जनमनः=लोकचित्तं, ते=तव, लक्ष्यं=वेध्यम्, अकल्पयत्=व्यरचयत्। एतद्वैपरीत्येन—सः=विधिः, वज्रं=कुलिशं, हीरकं वा, तव लक्ष्यरूप इति शेषः। अदास्यत चेत्=व्यतरिष्यत् यदि, तदा=तर्हि, त्वदिषुभिः=त्वद्बाणरूपैः पुष्पैः, असौ अपि=वज्रः अपि, व्यदलिष्यत्=विशीर्णोऽभविष्यत्। अत उचितरूपं विधिविधानमिति भावः।

अनुवाद—(हे काम !) ब्रह्माजीने अनङ्ग (अवयवरहित) अत एव अभेदनीय ऐसा विचारकर लोकोंके मनको तुम्हारा लक्ष्य (निशाना) बना डाला। ऐसा न करके वे (ब्रह्माजी) वज्रको भी तुम्हारा लक्ष्य बना देते तो तुम्हारे बाणोंसे वह भी विदीर्ण हो जाता।

टिप्पणी—अनङ्गम्=अविद्यमानम् अङ्गम् (अवयवः) यस्य तत् (नञ्-तत्पु०)। अभेद्यं=न भेद्यं, तत् (नञ्०)। अवेक्ष्य=अव + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्)। जनमनः=जनस्य मनः, तत् (ष० त०)। नैयायिकोंने मनको निरवयव द्रव्य माना है। अकल्पयत् = कृप् + णिच् + लङ् + तिप्। अदास्यत=दा + लृङ् + त। व्यदलिष्यत् = वि + दल + णिच् + लृङ् + तिप्। दोनों ही स्थलमें "लिङ् निमित्ते लृङ् क्रियाऽतिपत्तौ" इस सूत्रसे क्रियातिपत्तिमें लृङ्। त्वदिषुभिः=तव इषवः, तैः (ष० त०) ॥ ८८ ॥

अपि विधिः कुसुमानि तवाऽऽशुगान् स्मर ! विधाय न निर्वृतिमाप्तवान्।
अदित पञ्च हि ते स नियम्य तान् तदपि तैर्वत ! जर्जरितं जगत् ॥ ८९ ॥

अन्वय —हे स्मर ! विधि कुसुमानि (एव) तव आशुगान् विधाय अपि निर्वृतिं न आप्तवान् । हि स तान् नियम्य ते पञ्च एव अदित, तदपि तैः (एव) जगत् जर्जरित बत !

व्याख्या—हे स्मर=हे काम ! विधि =ब्रह्मदेव, कुसुमानि=पुष्पाणि (एव), तव=भवत, आशुगान्=बाणान्, विधाय अपि=कृत्वा अपि, निर्वृतिं=सुख, कृतकृत्योऽस्मीति परितोषमिति भाव । न आप्तवान्=न प्राप्तवान् । हि=यस्मात्कारणात्, स =असिवृत्त विधि । तान्=पुष्परूपान् आशुगान्, नियम्य=नियम कृत्वा, इयन्त एव, आशुगा इति शेष । ते=तुभ्य, पञ्च एव=पञ्चसख्यकान् एव, अदित = दत्तवान् । तदपि= तथापि, तैः =पञ्चसख्यकै एव आशुगै । जगत्=लोक, जर्जरित=जर्जरीकृतम् । बत=खेदोऽयम् । विश्वनियामको विधिरपि एव विफलयत्न, कोऽन्योऽस्ति नियन्तेति भाव ।

अनुवाद—हे काम ! ब्रह्माजी फूलोंको ही तुम्हारा बाण बनाकर भी कृतकृत्य नहीं हुए। क्योंकि उन्होने उन फूलोंको भी इतने ही होने चाहिए, ऐसा नियम कर तुम्हे (अरविन्द आदि) पाँच ही फूलोंको दे दिया, तो भी उतनोंही से जगत् जर्जर बनाया गया।

टिप्पणी—विधाय=वि + धा + क्त्वा (ल्यप्) । निर्वृति=निर् + वृञ् + क्तिन् + अम् । आप्तवान्—आप्लृ + क्तवतु । "इव" आदि वाचक शब्दके न होनेसे यहाँपर प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है। नियम्य=नि + यम् + क्त्वा (ल्यप्) । पञ्च="अरविन्दमशोक च चूत च नवमल्लिका । नीलोत्पल च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायका ।" इस श्लोकके अनुसार कमल, अशोक, आम्रपुष्प, नवमल्लिका और नीलकमल—ये पाँच फूल कामदेवके बाण हैं। अदित=दा + लुङ् + त । जर्जरित=जर्जर + णिच् + क्त ॥ ८९ ॥

उपहरन्ति न कस्य सुपर्वण सुमनस कति पञ्च सुरद्रुमा ?।
तव नु हीनतया पृथगेकिका घिगियताऽपि न तेऽङ्ग विदारणम् ॥ ९० ॥

अन्वय —(हे स्मर !) पञ्च सुरद्रुमा कस्य सुपर्वण कति सुमनस न उपहरन्ति ? तव तु हीनतया पृथक् एकिकाम् (उपहरन्ति), इयता अपि ते अङ्गविदारण न ! धिक् !

व्याख्या—(हे स्मर !) पञ्च=पञ्चसख्यका, सुरद्रुमा =देववृक्षा, मन्दारादय इति भाव । कस्य, सुपर्वण =देवस्य, कति=कियत्सख्यका,

सुमनसः=पुष्पाणि, न उपहरन्ति=न उपायनीकुर्वन्ति, सर्वस्याऽपि सुपर्वणोऽपरिमितमुपहरन्तीति भावः। एतद्वैपरीत्येन तव तु=भवतः स्मरस्य तु, हीनतया=नीचतया, पृथक्=प्रत्येकम्, एकिकाम्=एकाकिनीं, सुमनोव्यक्तिम्, उपहरन्ति=उपायनीकुर्वन्ति, अत एव तव पञ्चबाणत्वमिति भावः। इयता=एतावता, अपमानेनेति शेषः, अपि। ते=तव, अङ्गविदारणं न=शरीरस्फोटो न अस्ति, धिक्=त्वमिति शेषः। अवमतस्य जीवनान्मरणमेव वरमिति भावः।

अनुवाद—हे काम! मन्दार आदि पाँच देववृक्ष, किस देवताको कितने फूलोंका उपहार नही करते हैं? तुम्हारी तो नीचताके कारण अलग-अलग एक-एक फूल तुम्हें उपहार देते हैं। इतने अपमानसे भी तुम्हारा अङ्ग विदीर्ण नही होता है। तुम्हें धिक्कार है!

टिप्पणी—सुरद्रुमाः=सुराणां द्रुमाः (ष० त०)। देवताओंके पाँच वृक्ष हैं, जैसे कि—पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।

"सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्॥" (अमर०)

अर्थात् मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन—ये पाँच देववृक्ष हैं। सुमनसः="स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्" इत्यमरः। पुष्पवाचक सुमनः शब्द स्त्रीलिङ्गमें नित्य बहुवचनान्त है। उपहरन्ति=उप+हृ+लट्+झि। "उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा" इत्यमरः। हीनतया=हीन+तल्+टाप्+टा। एकिकाम्=एका एव एकिका, ताम्। एका शब्दसे "एकादाकिनिच्चाऽसहाये" इस सूत्रसे कन् प्रत्यय और पूर्व वर्णका इत्व। इयता=इदम्+वतुप्+टा। अङ्गविदारणम्=अङ्गस्य विदारणम् (ष० त०)। "अङ्ग! विगर्हणा" यह नारायणपण्डित-सम्मत पाठान्तर है। उसमे अङ्ग=हे कामदेव! विगर्हणा=घृणा, यह अर्थ है॥ ९०॥

कुसुममप्यतिदुर्नयकारि ते किमु वितीर्य धनुर्विधिरग्रहीत्।
किमकृतैष यदेकतदास्पदे द्वयमभूदधुनाऽपि नलभ्रुवोः॥ ९१॥

अन्वयः—विधिः कुसुमम् अपि अतिदुर्नयकारि धनुः ते वितीर्य अग्रहीत् किमु? किन्तु एष किम् अकृत? यत् एकतदास्पदे अधुना नलभ्रुवोः द्वयम् अभूत्।

व्याख्या—विधिः=ब्रह्मदेवः, कुसुमम् अपि=पुष्पम् अपि, दुर्बलमपीति शेषः। अतिदुर्नयकारि=अत्यनर्थकारकं, धनुः=चापं, ते=तुभ्यं,

वितीर्य=दत्त्वा, अग्रहीत् किमु=पुनर्जहार किम्? किंतु एष=विधिः, किम् अकृत=किं कृतवान्?" अकार्यमेव कृतवानिति भावः। यत्=यस्मात्, एकतदास्पदे=एकधनुःस्थाने, अधुना=सम्प्रति, नलभ्रुवौ=नैषधाक्षिलोम्नी, द्वयं=द्वितयम्, अभूत्=अभवत्।

अनुवाद—(हे काम!) ब्रह्माजीने फूल, तथाऽपि अत्यन्त अनर्थकारक धनु तुम्हे देकर फिर ले लिया क्या? किंतु ब्रह्माजीने क्या किया? जो कि एक धनुके स्थानमे इस समय नलके भ्रूरूप दो धनु हो गये।

टिप्पणी—अतिदुर्नयकारि=दुष्टो नयः (गति०), अत्यन्तं दुर्नयः (गति०), अतिदुर्नयं करोतीति तच्छील, तत्, अतिदुर्नय+कृ+णिनि+सु (उपपद०)। वितीर्य=वि+तृ+क्त्वा (ल्यप्)। अग्रहीद्=ग्रह+लुङ्+तिप्। अकृत=कृ+लुङ्+त। एकतदास्पदे=एकं च तत् (क० धा०), तस्य आस्पदं, तस्मिन् (ष० त०)। नलभ्रुवौ=नलस्य भ्रुवौ, तयोः (ष० त०)। ब्रह्माजीने उसी धनुमे नलकी दो भौंहोकी सृष्टि कर कण्टकको निकालकर शल्य-(कील)का आरोपण किया, यह एकको न सहनेवालेको नलकी दो भौंह होनेसे और असह्य बना डाला, यह तात्पर्य है॥ ८१॥

षड्ऋतवः कृपया स्वकमेककं कुसुममक्रमनन्दितनन्दनाः।
ददति षड् भवते कुरुते भवान् धनुरिवैकमिषूनिव पञ्च तत्॥ ८२॥

अन्वयः—अक्रमनन्दितनन्दनाः षट् ऋतवः कृपया स्वकम् एककं कुसुमं भवते ददति। तत् एकं धनुः इव, पञ्च इषून् इव भवान् कुरुते।

व्याख्या—अक्रमनन्दितनन्दनाः=यौगपद्यप्रकाशितसुरोद्यानाः, षट्=षट्संख्यकाः, ऋतवः=वसन्तादयः, कृपया=करुणया, न तु प्रीत्येति शेषः। स्वकं=स्वसम्बन्धि, एककम्=एकैकम् एव, कुसुमं=पुष्पम्, षट्संख्यकमिति भावः। भवते=तुभ्यं, ददति=वितरन्ति। तत्=षड्भिः, एकं=एकसंख्यं पुष्पं, धनुः इव=चापम् इव, पञ्च=पञ्चसंख्यकानि पुष्पाणि, इषून् इव=बाणान् इव, भवान्, कुरुते=विदधाति। अहो=आश्चर्यम्, एतादृशेऽपमानेऽपि निर्लज्जस्य ते परहिंसाव्यसनमिति भावः।

अनुवाद—विना क्रमके (एक ही बार) इन्द्रके नन्दन वनको प्रकाशित करनेवाले वसन्त आदि छः ऋतु, कृपासे अपने एक एक फूल आपको देते हैं। उन छः फूलोमे से एकको धनुके समान और पाँचोको बाणोके समान आप बना डालते हैं।

टिप्पणी—अक्रमनन्दितनन्दनाः=क्रमस्याऽभावः अक्रमम् (अभावके अर्थमें अव्ययीभाव), नन्दितं नन्दनं यैस्ते (बहु०), अक्रमेण नन्दितनन्दनाः (तृ० त०), ऋतवः=ऋतु छ: है, जैसे कि हेमन्त शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरत्। एककम्=एकम् एव, एक शब्दसे "एकादाकिनिच्चाऽसहाये" इस सूत्रसे असहायमें कन् प्रत्यय, 'एकाकी त्वेक एककः" इत्यमरः। अत्यन्त दरिद्र पुरुष भिक्षामें प्राप्त अल्प वस्तुको भी विभाग करके 'इससे यह करूँगा, इससे यह करूँगा' ऐसा मनोरथ करता है, उसी तरह काम भी छः ऋतुओंसे प्राप्त एक-एक फूलोंमें से एकसे धनु और पाँचों फूलोंसे बाण बनाता है, इस बातको दो "इव" शब्द सूचित करते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ९२ ॥

यदतनुस्त्वमिदं जगते हितं क्व स मुनिस्तव यः सहते क्षतीः ?
विशिखमाश्रवणं परिपूर्य चेदविचलद्भुजमुज्झितुमीशिषे ॥ ९३ ॥

अन्वयः—(हे स्मर !) त्वं अतनुः (इति) यत्, इदं जगते हितम्। (तथा हि) विशिखम् अविचलद्भुजम् आश्रवणं परिपूर्य उज्झितुम् ईशिषे चेत्, यः तव क्षतीः सहते स मुनिः क्व ?

व्याख्या—(हे स्मर !) त्वं=भवान्, अतनुः=अशरीरी, इति, यत् इदम्=तव अतनुत्वं, जगते=लोकाय, हितं=कल्याणम्। विशिखं=बाणम्, अविचलद्भुजम्=अकम्पहस्तम्, आश्रवणम्=कर्णपर्यन्तम्, परिपूर्य=आकृष्य, उज्झितुं=मोक्तुम्, ईशिषे=शक्नोषि, चेत्=यदि, यः=जन, तव=भवतः, क्षतीः=प्रहारान्, "हतीः" इति पाठे आघातान् इत्यर्थः। सहते=मृष्यति, सः=तादृशः, मुनिः=ऋषिः अपि, मनुष्यस्य का कथा ? क्व=कुत्र ?

अनुवाद—(हे काम !) तुम जो अनङ्ग (अशरीर) हो, यह जगत्के लिए हितकारक है। शरीरयुक्त होकर हाथको कम्पित न कर बाणको कान-तक खींचकर छोड़नेको समर्थ होते तो जो तुम्हारे प्रहारोंको सहन करें, वैसे मुनि भी कहाँ हैं ?

टिप्पणी—अतनुः=अविद्यमाना तनुः यस्य सः (नञ्बहु०)। जगते="हितम्" पदके योगमें "हितयोगे च" इससे चतुर्थी। अविचलद्भुजम्=अविचलन्तौ भुजौ यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०)। आश्रवणं=श्रवणात् आ (प० त०)। परिपूर्य=परि+पृ+क्त्वा (ल्यप्)। ईशिषे="ईश ऐश्वर्ये" धातुसे लट्+थास्। "ईशः से" इससे इट्। क्षतीः=क्षण+क्तिन्+शस्।

सहते=सह+लट्+त। अनङ्ग होनेपर भी जगत्का द्रोह करनेवाले तुम अन्य धनुर्धरोंके समान शरीरवाले होते तो जितेन्द्रिय व्यक्तिकी चर्चा ही नष्ट हो जाती, इसलिए तुम्हारा अनङ्ग होना ही जगत्के लिए हितकारक है, यह तात्पर्य है ॥ ९३ ॥

सह तया स्मर ! भस्म झटित्यभू पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः ।
ध्रुवमभूदधुना वितनो शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चम ॥ ९४ ॥

अन्वय—हे स्मर ! पशुपतिं प्रति याम् इषुम् अग्रहीः, तया सह झटिति भस्म अभूः । अधुना वितनो तव पिकस्वर एव पञ्चम अभूत् ।

व्याख्या—हे स्मर=हे काम ! पशुपतिं प्रति=हरं प्रति, याम्, इषु=बाणम् अग्रहीः=गृहीतवान् तया सह=इष्वा सह, झटिति=सहसा, भस्म अभूः=भस्मप्राप्त अभूः, दग्ध अभूः इति भाव । अधुना=इदानीं, वितनो=अनङ्गस्य, तव=भवत, पिकस्वर एव=कोकिलशब्द एव, पञ्चम=पञ्चसंख्यापूरण शर, अभूत्=अभवत् ।

अनुवाद—हे काम ! रुद्रको प्रहार करनेके लिए तुमने जिस बाणको लिया था, उसीके साथ तुम सहसा भस्म हो गये। इस समय शरीररहित तुम्हारा, कोयलका स्वर ही पञ्चम बाण हो गया ।

टिप्पणी—पशुपतिं=पशूना पति, तम् (ष० त०) "पाशबद्धो भवेज्जीव पाशमुक्तो भवेत्पति ।" इस उक्तिके अनुसार अविद्यापाशसे बद्ध जीवमात्र "पशु" और अविद्यापाशसे मुक्त "पति" ऐसा अर्थ विवक्षित है। वितनो=विगता तनु यस्या सा, तस्या (बहु०) । पिकस्वर=पिकस्य स्वर (ष० त०) । पञ्चम=पञ्चाना पूरण, "पञ्चन्" शब्दसे "तस्य पूरणे डट्" इससे डट् और तदन्तसे "नान्तादसंख्यादेर्मट्" इससे मट् प्रत्यय । "पिक जिसङ्ग पञ्चमम्" इत्यादिमें कोकिलके स्वरमें "पञ्चम" ऐसे नामकी प्रवृत्ति हुई, यह भाव है। "पञ्चमो रागभेदे स्यात्पञ्चानामपि पूरणे" इति विश्व । इस पद्यमें शरका कार्य करनेसे पिकस्वरमें शरत्वकी उत्प्रेक्षा होनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ९४ ॥

स्मर ! सम दुरितैरफलीकृतो भगवतोऽपि भवद्दहनश्रम ।
सुरहिताय हुतात्मतनु पुनर्ननु जनुर्दिवि तत्क्षणमापिथ ॥ ९५ ॥

अन्वय—हे स्मर ! भगवत अपि भवद्दहनश्रम दुरितै समम् अफलीकृत । सुरहिताय हुताऽऽत्मतनु (सन्) तत्क्षण दिवि पुन जनु आपिथ ननु ।

व्याख्या—हे स्मर=हे काम ! भगवतः अपि=हरस्य अपि, भवद्दहनश्रमः =त्वद्भस्मीकरणपरिश्रमः, दुरितैः समं=भवत्पापैः सह, अफलीकृतः=निष्फलीकृतः । अफलीकरणं प्रतिपादयति—सुरहितायेति । सुरहिताय=देवकल्याणाय, हुताऽऽत्मतनुः=आहुतीकृतस्वशरीरः, त्वमिति शेषः । तत्क्षणं=तस्मिन्नेव काले, दिवि=स्वर्गे, पुनः=भूयः, जनुः=जन्म, आपिथ=प्राप्तवान्, ननु=खलु ।

अनुवाद—हे काम ! भगवान् महादेव भी तुम्हें जलानेमें परिश्रम, तुम्हारे पापोंके साथ निष्फल किया गया, जो कि देवताओंके हितके लिए अपने शरीरकी आहुति देते हुए तुमने उसी क्षण स्वर्गमें फिर जन्म पा लिया ।

टिप्पणी—भवद्दहनश्रमः=भवतो दहनं (ष० त०), तस्मिन् श्रमः (स० त०), अफलीकृतः=अविद्यमानं फलं यस्य सः अफलः (नञ्बहु), अफलम् अफलं यथा सम्पद्यते तथा कृतः, अफल+च्वि+कृ+क्त । सुरहिताय=सुरेभ्यो हितं, तस्मै (च० त०) । हुताऽऽत्मतनुः=आत्मनस्तनुः (ष० त०), हुता आत्मतनुर्येन सः (बहु०) । तत्क्षणं=तं च तं क्षणं, "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया । "अत्यन्तसंयोगे च" इससे द्वितीयातत्पुरुष । आपिथ=आप्लृ+लिट्+सिप् (थल्) । हमारे अभाग्यसे देवताओंसे प्रार्थित महादेवसे भस्मीभूत होकर तुमने शीघ्र ही स्वर्गमें फिर जन्म पा लिया, यह तात्पर्य है ॥ ९५ ॥

विरहिणो विमुखस्य विधूदये शमनदिक्पवनः स न दक्षिणः ।
सुमनसो नमयन्नटनी धनुस्तव तु बाहुरसौ यदि दक्षिणः ॥ ९६ ॥

अन्वयः—(हे शूर !) तव असौ बाहुः विधूदये सुमनसः धनुः अटनौ नमयन् दक्षिणः स्यात् यदि (तदा) विमुखस्य विरहिणः सः शमनदिक्पवनः दक्षिणः न ।

व्याख्या—(हे शूर !) तव=भवतः, असौ=अयं, बाहुः=भुजः, विधूदये=चन्द्रोदये, सहायलाभे सतीति शेषः । सुमनसः=पुष्पम् एव, धनुः=चापम्, अटनौ=कोटौ, नमयन्=नम्रीकुर्वन्, दक्षिणः=कुशलः, विरहिजनप्रहार इति शेषः । स्यात् यदि=भवेच्चेत्, सव्येतरश्चेति ध्वनिः । तदा विमुखस्य=पराङ्मुखस्य, चन्द्रोदयाद्विह्वलमुखस्येति भावः । विरहिणः=वियोगिजनस्य, सः=प्रसिद्धः, दक्षिणत्वेनेति शेषः । शमनदिक्पवनः=यमदिशा-

वायु, दक्षिणो न=दाक्षिण्यवान् सव्येतरश्च न, किन्तु सोऽपि त्वत्सहकारित्वाद्विदेयप्रहर्ता एवेति भाव ।

अनुवाद—(हे शूर !) तुम्हारा यह बाहु चन्द्रमाके उदयमे पुष्परूप धनुकी कोटिपर झुकाता हुआ दक्षिण (विरहियोके ऊपर प्रहार करनेमें कुशल) होगा तो चन्द्रोदयमें पराङ्मुख वियोगी जनके लिए दक्षिण दिशाका वायु दाक्षिण्यवाला या दक्षिण नही होगा (वह भी तुम्हारा सहकारी होनेसे प्रहारकर्ता ही होगा) ।

टिप्पणी—विधूदये=विधो उदय, तस्मिन् (ष० त०) । अटनौ= "कोटिरस्याऽटनिर्गोधा" इत्यमर । नमयन्=नम+णिच्+लट् (शतृ)+सु । विमुखस्य=विरुद्ध मुख यस्य स, तस्य (बहु०) । विरहिण =विरह्+इनि+ङस् । शमनदिक्पवन =शमनस्य (यमस्य) दिक (अवाची) (ष० त०), तस्या पवन (ष० त०) । पश्चिमकी ओर मुख करनेवालेके दक्षिण भी वाम होता है, ऐसी ध्वनि होती है । दक्षिण दिशाका वायु भी दक्षिण नही, ऐसे अथका स्फुरण होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है ॥ ९६ ॥

किमु भवन्तमुमापतिरेकक मदमुदान्धमयोगिजनान्तकम् ।
यदजयत्तत एव न गीयते स भगवान्मदनान्धकमृत्युजित् ॥ ९७ ॥

अन्वय —हे मदन ! उमापति मदमुदान्धम् अयोगि जनान्तकम् एकक भवन्तम् एव अजयत् इति (यत्) तत एव सा भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् न गीयते ? (गीयत एव) ।

व्याख्या—हे मदन !=हे मन्मथ ! उमापति =हर, मदमुदान्ध=गर्वहर्षान्धम्, अयोगिजनान्तक=विरहिजनमृत्युरूपम्, एककम्=एकाकिन, भवन्तम् एव=त्वाम् एव, अजयत्=जितवान्, इति यत्, तत् एव=तस्मात्कारणात् एव, स =प्रसिद्ध, भगवान्=उमापति, मदनान्धकमृत्युजित्=मदनजित् अन्धकजित् मृत्युजित् इति भाव । न गीयते=नो गीयते किमु, अपि तु गीयत एव । मदनवत् अन्धकमृत्यू अपि त्वदतिरिक्तौ न स्त इति भाव ।

अनुवाद—हे मदन ! महादेवने गर्व और हर्षसे अन्धेके समान और वियोगी जनोंको अन्तक (मृत्यु) रूप अकेले तुम्ह ही जो जीत लिया, उस कारणसे ही वे भगवान् (उमापति) मदनजित् (कामदेवको जीतनेवाले),

अन्धकजित् (अन्धेको वा अन्धकाऽसुरको जीतनेवाले) और '(मृत्युजित् मृत्युको जीतनेवाले) नही कहे जाते है ? (कहे जाते ही हैं) ।

टिप्पणी—उमापतिः=उमायाः पतिः (ष० त०) । मदमुदाऽन्धं=मदश्च मुच्च मदमुत् (समाहारद्वन्द्वः), मदमुदा अन्धः, तम् (तृ० त०) । अयोगिजनाऽन्तकं=न योगः (नञ्०), अयोगः अस्ति एषां ते अयोगिनः, अयोग+इनि+जस् । तेषाम् अन्तकः, तम् (ष० त०) । एककम्=एक+कन्+अम् । अजयत्=जि+लङ्+तिप् । भगवान्=भग+मतुप्+सुः । मदनाऽन्धकमृत्युजित्=मदनश्च अन्धकश्च मृत्युश्च (द्वन्द्वः), तान् जयतीति=मदनाऽन्धकमृत्यु+जि+क्विप्+सु (उपपद०) । गीयते=गै+लट्+तिप् (कर्ममें) । हे काम ! मदनके समान अन्धक (अन्धा बनानेवाला) और मृत्यु भी तुमसे अतिरिक्त नहीं है ? इस पद्यमें मदन आदिका परस्परमे भेद होनेपर भी अभेदकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ९७ ॥

त्वमिव कोऽपि पराऽपकृतौ कृती न ददृशे न च मन्मथ ! शुश्रुवे ।
स्वमदहद्दहनाज्ज्वलताऽऽत्मना ज्वलयितुं परिरभ्य जगन्ति यः ॥९८॥

अन्वयः—हे मन्मथ ! त्वम् इव पराऽपकृतौ कृती कोऽपि न ददृशे, न च शुश्रुवे । यः दहनात् ज्वलता आत्मना जगन्ति परिरभ्य ज्वलयितुं स्वम् अदहत् ।

व्याख्या—हे मन्मथ=हे मदन ! त्वम् इव=भवान् इव, पराऽपकृतौ=पराऽपकारे, कृती=कुशलः, कोऽपि=कश्चिदपि जनः, न ददृशे=नो दृष्टः, न च शुश्रुवे=न च श्रुतः, यः=अपकर्ता, दहनात्=अग्नेः, अग्निसंयोगादिति भावः । ज्वलता=प्रज्वलता, आत्मना=स्वाऽङ्गेन, जगन्ति=लोकान्, परिरभ्य=आलिङ्ग्य, ज्वलयितुं=दग्धुं, स्वम्=आत्मानम्, अदहत्=अधाक्षीत् ।

अनुवाद—हे मदन ! तुम्हारे समान पराऽपकारमें कुशल कोई भी व्यक्ति न देखा गया, न सुना ही गया है । जिस(पराऽपकारी)ने आगसे जलते हुए अपने अङ्गसे लोगोंको आलिङ्गन कर जलानेके लिए अपनेको भी जला डाला ।

टिप्पणी—पराऽपकृतौ=परेषाम् अपकृतिः, तस्याम् (ष० त०) । कृती=कृतम् अस्ति अनेन इति, कृत+इनि+सु । "वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि" इत्यमरः । ददृशे=दृश+लिट् (कर्ममें)+त । शुश्रुवे=श्रु+

लिट् (कर्मणि)+त । ज्वलता=ज्वल+लट् (शतृ)+टा । परिरभ्य=परि+रभ+क्त्वा (ल्यप्)। ज्वलयितुम्=ज्वल+णिच+तुमुन् । अदहत्=दह+लङ+तिप् । दूसरेके शरीरको जलानेके लिए अपने शरीरको जला देना तुम्हारा कैसा दुर्व्यसन है, यह भाव है ॥ ९८ ॥

> इदमुचितं नयनार्चिषि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः ।
> तव वयस्यमपास्य मधुं मधुं हृतवता हरिणा बत ! किं कृतम् ? ॥ ९९ ॥

अन्वय —(हे वीर !) शम्भुना नयनार्चिषि त्वं भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः, उचितम् । तव वयस्यं मधुम् अपास्य मधुं हृतवता हरिणा किं कृतम् ? बत !

व्याख्या—(हे वीर !) शम्भुना=शङ्करेण, नयनार्चिषि=नेत्राऽग्नि-ज्वालायां, त्वं=काम, भुवनशान्तिकहोमहविः=लोकशान्तिप्रयोजकाऽऽहुतिः, कृतः=विहितः । उचितं=योग्यं, वध्यस्य वधादिति भावः । परं तव=भवतः, वयस्यं=सखायं, मधुं=वसन्तम्, अपास्य=त्यक्त्वा, उपेक्ष्येति भावः । मधुं=मधुनामकं दैत्यं, हृतवता=मारितवता, हरिणा=जनार्दनेन, किं कृतम्=किं विहितं, न किमपीति भावः । अतिपीडाकारिणं वसन्तमुपेक्ष्य मधुनामकं दैत्यं निषूदितवता हरिणा विरहिलोकस्य दुःखं न हृतमिति भावः । बत=कष्टम् । वध्यस्य तव वधाद्धरः साधुकारी, वध्यस्य वसन्तस्योपेक्षणाद्धरि-रसाधुकारीति तात्पर्यम् ।

अनुवाद—(हे वीर !) महादेवने अपने नेत्राऽग्निकी ज्वालामें तुम्हें लोककी शान्तिके लिए आहुति बना डाला, यह उचित किया । परन्तु तुम्हारे मित्र वसन्तको छोडकर मधु नामक दैत्यको मारनेवाले हरिने क्या किया ? खेद है ।

टिप्पणी—नयनार्चिषि=नयनस्य अर्चिः, तस्याम् (ष० त०) । भुवन-शान्तिकहोमहविः=शान्तिः प्रयोजनमस्य तत् शान्तिकम्, "शान्ति" शब्दसे "प्रयोजनम्" इस सूत्रसे ठक् (इक) प्रत्यय । भुवनानां शान्तिकम् (ष० त०), तस्मिन् होमः (स० त०), तस्य हविः (ष० त०) । वयसा तुल्यः, तम्, वयस्+यत्+अम् । मधुम्="मधु क्षौद्रे जले मद्ये पुष्परसे मधुः । दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवकोशे मधुद्रुमे ।" इति विश्वः । अपास्य=अप+अस्+क्त्वा (ल्यप्) । हृतवता=हृञ्+क्तवतु+टा । मित्र वसन्तके साथ कामदेवको

मारना उचित था, यह भाव है। इस पद्यमें "मधुं मधुम्" यहां पर लाटाऽनुप्रास है॥ ९९ ॥

इति कियद्वचसैव भृशं प्रियाऽधरपिपासु तदाननमाशु तत्।
अजनि पांसुलमप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणवाणहतेरिव ॥ १०० ॥

अन्वयः—प्रियाऽधरपिपासु तत् तदाननम् इति कियद्वचसा एव अप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोपणवाणहतेः इव आशु भृशं पांसुलम् अजनि।

व्याख्या—प्रियाऽधरपिपासु=नलोष्ठपानेच्छु, तत्=प्रसिद्धं, तदाननं=दमयन्तीवदनम्। इति=इत्थं, कियद्वचसा एव=अल्पवचनेन एव, अप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोपणवाणहतेः इव = निष्ठुरोक्तिक्रुध्यन्मन्मथशोषणशरप्रहारात् इव, आशु=शीघ्रं, भृशम् = अत्यर्थं, पांसुलम्=अत्यर्थं शुष्कम्, अजनि=जातम्।

अनुवाद—प्रिय नलके अधरपानका इच्छुक, प्रसिद्ध दमयन्तीका मुख, इस प्रकार थोड़े वचनसे ही मानो अप्रिय वचनसे क्रुद्ध कामदेवके शोषण नामके बाणके प्रहारसे शीघ्र ही अत्यन्त शुष्क हो गया।

टिप्पणी—प्रियाऽधरपिपासु=प्रियस्य अधरः (ष० त०), प्रियाऽधरं पिपासु (द्वि० त०)। यहांपर "मधुपिपासुप्रभृतीनां गम्यादिपाठात् समासः" वामनकी (का० सू० २–५–१३) इस उक्तिके अनुसार समास हुआ है। तदाननं=तस्या आननम् (ष० त०)। कियद्वचसा=कियच्च तद् वचः, तेन (क० धा०)। अप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोपणवाणहतेः=न प्रियाः (नञ्०), अप्रियाश्च ता वाचः (क० धा०), ज्वलंश्चाऽसौ मदनः (क० धा०), अप्रियवाग्भिः ज्वलन्मदनः (ष० त०), शोषणश्चाऽसौ बाणः (क० धा०), अप्रियवाग्ज्वलन्मदनस्य शोषणवाणः (ष०त०), तस्य हतिः, तस्याः (ष० त०)। हेतुमें पञ्चमी। पांसुलम्=पांसवः सन्ति यस्मिस्तत्, पांसु शब्दसे "सिध्मादिभ्यश्च" इस सूत्रसे लच् प्रत्यय। इस पद्यमें हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ १०० ॥

प्रियसखीनिवहेन सहाऽथ सा व्यरचयद् गिरमर्धसमस्यया।
हृदयमर्मणि मन्मथसायकैः क्षततमा बहु भाषितुमक्षमा ॥ १०१ ॥

अन्वयः—अथ सा मन्मथसायकैः हृदयमर्मणि क्षततमा (अत एव) बहु भाषितुम् अक्षमा (सती) प्रियसखीनिवहेन सह अर्धसमस्यया गिरं व्यरचयत्।

व्याख्या—अथ=अनन्तर, सा=दमयन्ती, मन्मथसायकै =मदनबाणै, हृदयमर्मणि=वक्षःस्थलमर्मस्थाने, क्षततमा=गाढं प्रहृता, अत एव, बहु=अधिकं, भाषितुम्=वक्तुम्, अक्षमा=असमर्था सती, प्रियसखीनिवहेन=अभीष्टवयस्यासङ्घेन, सह-समम् अर्धसमस्यया=अर्धरूपया संग्रहकारिकया, गिर=वाणी, व्यरचयत्=विरचितवती, पूर्वार्धं सखीजनसमस्या, तदुत्तरत्वेनोत्तरार्द्धं स्वयं रचितवतीति भाव ।

अनुवाद—अनन्तर दमयन्ती कामदेवके बाणोंसे हृदयके मर्मस्थलमें अत्यन्त विद्ध होनेसे बहुत भाषण करनेके लिए असमर्थ होकर प्रिय सखियोंके समुदायके साथ आधी समस्यासे बोलने लगी ।

टिप्पणी—मन्मथसायकै =मन्मथस्य सायका , तै (ष० त०) । हृदयमर्मणि=हृदयस्य मर्म, तस्मिन् (ष० त०) । क्षततमा=अतिशयेन क्षता, क्षत+तमप्+टाप् । भाषितुम्=भाष+तुमुन् । अक्षमा=न क्षमा (नञ्०) । प्रियसखीनिवहेन=प्रियाश्च ता सख्य (क० धा०), तासां निवह , तेन (ष० त०) । अर्धसमस्यया=समस्यते (संक्षिप्यते) अर्थं अनया इति समस्या, सम्-पूर्वक अस् धातुसे "ऋहलोर्ण्यत्" इस सूत्रसे ण्यत् और टाप्, संज्ञापूर्वक होनेसे वृद्धि नहीं हुई । "समस्या तु समासार्था" इत्यमर । अर्धरूपा समस्या अर्धसमस्या तया (मध्यमपदलोपी स०) । व्यरचयत्=वि+रच+णिच्+लङ्+तिप् । दमयन्ती कामबाणसे विद्ध होकर बहुत बोलनेमें असमर्थ हुई अत पूर्वार्द्ध सखियोंकी समस्या, उसके उत्तरके तौरपर उत्तरार्द्धकी स्वयम् रचना करने लगीं, यह तात्पर्य है ॥ १०१ ॥

"अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयाऽऽपदि धीरतयाऽऽत्मन ।"
"असव एव ममाद्य विरोधिन , कथमरीन् सखि ! रक्षितुमात्थ माम् ?" ॥१०२॥

अन्वय —(हे भैमि !) आपदि सहजया धीरतया अकरुणात् सूनशरात् आत्मन असून् अव (सख्या उक्ति) । हे सखि ! अद्य असव एव मम विरोधिन । मां कथम् अरीन् रक्षितुम् आत्थ ? (दमयन्त्या उक्ति)

व्याख्या—(हे भैमि !) आपदि=विपदि, सहजया=स्वाभाविक्या, धीरतया=धैर्येण, अकरुणात्=निर्दयात्, सूनशरात्=कुसुमेषो , कामादिति भाव । आत्मन =स्वस्य, असून्=प्राणान्, अव=रक्ष, इति सखीवचनम् । हे सखि=हे वयस्ये ! अद्य=इदानीम्, असव एव=प्राणा एव, मम=दमयन्त्या , विरोधिन =शत्रव , दु खज्ञानस्य प्राणमूलकत्वादिति भाव । अत ,

मां=सखीं, कथं=केन प्रकारेण, अरीन्=शत्रून्, रक्षितुं=त्रातुम्, आत्थ=ब्रवीषि ? इति दमयन्तीवचनम्।

अनुवाद—"(हे दमयन्ति !) विपत्तिमें स्वाभाविक धैर्यका ग्रहण कर निर्दय कामदेवसे आप अपने प्राणोंकी रक्षा करें।" "हे सखि ! इस समय प्राण ही मेरे शत्रु हैं, तुम मुझे कैसे शत्रुओंकी रक्षा करनेके लिए कहती हो ?"

टिप्पणी—धीरतया=धीर+तल्+टाप्+टा। अकरुणात्=अविद्यमाना करुणा यस्य सः, तस्मात् (नञ्बहु०)। सूनशरात्=सूनानि शरा यस्य सः, तस्मात् (बहु०), "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इससे अपादानसंज्ञा होकर पञ्चमी। अव=अव+लोट्+सिप्। विरोधिनः=विरोध+इनि+जस्। रक्षितुम्=रक्ष+तुमुन्। आत्थ=ब्रू+लट्+सिप्, "ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुव." इस सूत्रसे "ब्रू" धातुके स्थानमें 'आह' आदेश, सिप्के स्थानमें थल् आदेश। "आहस्थः" इस सूत्रसे आहके स्थानमें थत्व और चर्॥ १०२॥

"हितगिरं न शृणोषि किमाश्रवे ! प्रसभमप्यव जीवितमात्मनः"।
"सखि ! हिता यदि मे भवसीदृशी मदरिमिच्छसि या मम जीवितम्" ॥१०३॥

अन्वयः—'हे आश्रवे ? प्रसभम् अपि आत्मनो जीवितम् अव। हितगिरं किं न शृणोषि ?" "हे सखि ! या त्वं मदरिं मम जीवितम् इच्छसि, यदि ईदृशी मे हिता भवसि ?

व्याख्या—हे आश्रवे=हे वचनस्थिते ! प्रसभम् अपि=बलात् अपि, आत्मनः=स्वस्य, जीवितं=जीवनम्, अव=रक्ष। हितगिरं=हितवाणीम्, आप्तवाक्यमिति भावः। किं न शृणोषि=किमर्थं न आकर्णयसि ? दमयन्ती कथयति—हे सखि=हे वयस्ये, या, त्वं, मदरिं=मच्छत्रुभूतं, मम, जीवितं=जीवनम्, इच्छसि यदि=काङ्क्षसि चेत्, तर्हि, ईदृशी=एतादृशी, शत्रुवृद्धिमीहमानाऽपीति भावः। मे=मम, हिता=हितकारिणी, भवसि ! =नो भवसीति भावः। अतस्त्वद्वाक्यं न शृणोमीति भावः।

अनुवाद—सखी—"हे वचनको माननेवाली। आप बल करके भी अपने जीवनकी रक्षा करें। आप हितवचन क्यों नही सुनती हैं ?"

दमयन्ती—"हे सखि ! जो तुम मेरे शत्रुभूत मेरे जीवनकी उपेक्षा करती हो तो ऐसी तुम मेरा हित करनेवाली होगी ? (नहीं)

टिप्पणी—आश्रवे=आशृणोति वाक्यमिति आश्रवा, तत्सम्बुद्धौ। आङ्+श्रु+पचाद्यच्+टाप्+सु। "विधेयो विनयग्राही वचने स्थित आश्रवः।"

इत्यमर । हितगिर=हितस्य गी, ताम् (ष० त०) । शृणोपि=श्रु+लट्+सिप् । मदरिं=मम अरि, तम् (ष० त०) ॥१०३॥

"अमृतदीधितिरेष विदर्भजे ! भजसि तापममुष्य किमंशुभि ?"।
"यदि भवन्ति मृता सखि ! चन्द्रिका शशभृत क्व तदा परितप्यते ?" ॥१०४॥

अन्वय —"हे विदर्भजे ! एष अमृतदीधिति । अमुष्य अंशुभि किं ताप भजसि ?"। "हे सखि ! शशभृत चन्द्रिका मृता भवति यदि, तदा क्व परितप्यते ?"

व्याख्या—हे विदर्भजे=हे दमयन्ति ! एष =पुरोवर्ती, अमृतदीधिति = सुधांशु, चन्द्र इति भाव, न तीक्ष्णदीधिति सूर्य इति निगूढोऽभिप्राय । अमुष्य=अमृतदीधिते, चन्द्रस्य, अंशुभि =किरणै, किं=किमर्थं, ताप= सन्ताप, भजसि=आश्रयसि, अनुभवसीति भाव । दमयन्ती—हे सखि=हे वयस्ये ! शशभृत =शशिन, चन्द्रिका =ज्योत्स्ना, मृता =नष्टा, भवन्ति यदि=भवन्ति चेत्, कृष्णपक्षवदिति शेष । तदा=तर्हि, क्व=कुत्र, परितप्यते= सन्तप्यते ? न क्वाऽपि परितप्यत इति भाव ।

अनुवाद—"हे दमयन्ति ! ये अमृतकिरणवाले (चन्द्र) हैं, इनकी किरणोंसे आप सन्तप्त होती हैं ?"

दमयन्ती—"हे सखि ! चन्द्रमाकी किरणें मृत (नष्ट) हो तो कहाँ सन्ताप किया जाता ?"

टिप्पणी—विदर्भजे=विदर्भाज्जाता, तत्सम्बुद्धौ, विदर्भ+जन्+ड+टाप्+सु । अमृतदीधिति =अमृत दीधिति अस्य स (बहु०) । शशभृत = शश बिभर्तीति शशभृत्, तस्य, शश+भृ+क्विप् (उपपद०)+ङस् । चन्द्रमाके अमृतदीधिति (अमृत किरणवाले) होनेसे ही यह दुख हो रहा है, चन्द्रमा मृतदीधिति (नष्ट किरणवाले) होते तो सब अनिष्टोंकी शान्ति होती, यह तात्पर्य है । इस पद्यमें सुधाकी विवक्षासे विवक्षित "अमृत" पदकी मृतसे इतर (भिन्न) ऐसे अर्थकी योजना करनेसे वक्रोक्ति अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

"अन्यस्याऽन्यार्थक वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
अन्य श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥" सा० द० १०–११।

यह श्लेषवक्रोक्ति है ॥ १०४ ॥

"व्रज धृतिं, त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिरुदञ्चति"।
"ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मुरैरनुभव वचसा सखि ! लुम्पसि" ॥ १०५ ॥

अन्वयः—"(हे मुग्धे !) धृतिं व्रज, अहेतुकां भीतिं त्यज; अयम् अचण्डमरीचिः उदञ्चति"। "आतपमुर्मुरैः स्फुटं ज्वलयति। हे सखि ! अनुभवं वचसा लुम्पसि"।

व्याख्या—(हे मुग्धे !) धृतिं=धैर्यं, व्रज=गच्छ, भजेति भावः। अहेतुकां=निष्कारणां, भीतिं=भयं, त्यज=मुञ्च। अयं=पुरोवर्ती, अचण्डमरीचिः=शीतांऽशुः, चन्द्रः, उदञ्चति=उदेति, नाऽयं चण्डांऽशुः सूर्यं इति भावः, इति सख्युक्तिः। आतपमुर्मुरैः=घोततुषाऽनलैः, स्फुटं=प्रत्यक्षं यथा तथा, ज्वलयति=दहति। हे सखि !=हे वयस्ये ! अनुभवं=प्रत्यक्षज्ञानं, वचसा =वचनेन, आगमनरूपेणेति भावः। लुम्पसि=बाधसे, इयं दमयन्त्या उक्तिः।

अनुवाद—"(सखी) हे मुग्धे ! धैर्य धारण करो, निष्कारण भय छोड़ो। ये चन्द्रमा उदित हो रहे है।" दमयन्ती—'-दमरूप तुषाऽनलोंसे यह (सूर्य) प्रत्यक्ष ही जला रहा है। हे सखि ! अनुभवको वचन(शब्द)से बाधित कर रही हो"।

टिप्पणी—व्रज=व्रज+लोट्+सिप्। अहेतुकाम्=अविद्यमानः हेतुः यस्यां सा, ताम् (नञ्बहु०)। त्यज=त्यज+लोट्+सिप्। अचण्डमरीचिः= न चण्डी (नञ्०), सा मरीचिः यस्य सः (बहु०)। उदञ्चति=उद्+ अञ्च+लट्+तिप्। आतपमुर्मुरैः=आतपा एव मुर्मुराः, तैः (रूपक०)। "मुर्मुरस्तु तुषाऽनलः" इति वैजयन्ती। ज्वलयति=ज्वल+णिच्+लट्+ तिप्। लुम्पसि=लुप्लृ+लट्+सिप्। हे सखि ! प्रत्यक्ष ज्ञानको शब्द प्रमाणसे "पत्थर तैर रहा है" इत्यादि वाक्यके समान बाधित कर रही हो, जो कि अप्रमाण है, यह दमयन्तीका अभिप्राय है। इस पद्यमें अचण्डमरीचि·(शीत किरणवाले चन्द्र)में चण्डमरीचि(उष्ण किरणवाले सूर्य)की भ्रान्ति होनेसे भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ॥ १०५ ॥

"अयि ! शपे हृदयाय तवैव यद्यदि विधोर्न रुचेरसि गोचरः"।

"रुचिफलं सखि ! दृश्यत एव यज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्वसून् ॥ १०६ ॥

अन्वयः—"अयि ! विधोः रुचेः गोचरः न असि यदि ? तद् तव एव हृदयाय शपे"। "सखि ! रुचिफलम् एव दृश्यते, यत् त्वचं ज्वलयति, असून् उल्ललयति।"

व्याख्या—अयि=हे सखि दमयन्ति ! विधोः=चन्द्रस्य, रुचेः=प्रभायाः, गोचरः=विषयः, असि=नो वर्तसे, यदि=चेत्, त्वदङ्गसम्पृक्ता रुचिरुच-

न्द्रस्य न चेदिति भावः । ततः=तर्हि, तव एव=भवत्या एव, हृदयाय=हृदे शपे=आक्रोशामि, त्वज्जीविताय द्रुह्यामीति भावः । दमयन्ती प्रत्युत्तरयति—हे सखि=हे वयस्ये ! रुचिफलम् एव=तेजोमात्रकार्यम् एव, दृश्यते=अवलोक्यते, अनुभूयत इति भावः । यत्=यस्मात्, त्वचं=चर्म, ज्वलयति=दहति, असून्=प्राणान्, उल्ललयति=उन्मूलयति ।

अनुवाद—सखी—"हे सखि दमयन्ति ! तुम चन्द्रमाकी प्रभाका विषय नहीं हो तो मैं तुम्हारे हृदयकी कसम खाती हूँ" । दमयन्ती—"हे सखि ! तेज मात्रका कार्य ही अनुभूत हो रहा है, जो कि चमडेको जला रहा है और प्राणोंको उन्मूलित कर रहा है"

टिप्पणी—हृदयाय—"शपे" इसके योगमें "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" इस सूत्रसे सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी । रुचिफल=रुचेः फलम् (ष० त०) । उल्ललयति=उद्+लल+णिच्+लट्+तिप् । सब तेज उष्ण होनेसे दाहक ही होता है दूसरे पदार्थसे अभिभूत होनेसे कहीं कहींपर दाहक नहीं होता है, पदार्थतत्त्ववादी ऐसा कहते हैं ॥ १०६ ॥

"विधुविरोधितिथेरभिधायिनीमयि ! न किं पुनरिच्छसि कोकिलाम् ?"
"सखि ! किमर्थगवेषणया ? गिरं किरति सेयमनर्थमयीं मयि" ॥१०७॥

अन्वय—'अयि ! विधुविरोधितिथेः अभिधायिनी कोकिलां पुनः किं न इच्छसि ?" । "हे सखि ! अर्थगवेषणया किं ? सा इयं मयि अनर्थमयीं गिरं किरति" ।

व्याख्या—अयि=हे सखि दमयन्ति ! विधुविरोधितिथेः=चन्द्रशत्रुतिथेः, कुह्वाख्याया अमावास्यायास्तिथेरिति भावः । अभिधायिनी=कुहूकुहूरिति नामग्राहं तदाह्वायिनीमित्यर्थः । कोकिलां=पिकीं, पुनः=भूयः, किं न इच्छसि=किं न वाञ्छसि ? इति सख्या उक्तिः । हे सखि=हे वयस्ये ! अर्थगवेषणया=वाच्यार्थान्वेषणेन, कुहूशब्दस्य नष्टचन्द्रा तिथिरित्यर्थं इति विचारेणेति भावः । किं=तत्साध्यं न किमपीति भावः । कुतः—सा=तादृशी, कुहूशब्दोच्चारिणी, इयं=कोकिला । मयि=विषये, अनर्थमयीम्=अनर्थरूपाम् । वज्रघोषवत् आपद्रूपा च, गिरं=ध्वनिं, किरति=विक्षिपति ।

अनुवाद—सखी—"हे दमयन्ति ! आप चन्द्रमाकी शत्रुभूत तिथि 'कुहू' को उच्चारण करनेवाली कोयलको फिर क्यों नहीं चाहती है ? दमयन्ती—' हे सखि ! अर्थके अन्वेषणसे क्या होता है ? वह कोयल मेरे विषयमें अनर्थरूप अथवा आपत्तिरूप ध्वनिको फैला रही है ।"

टिप्पणी—विधुविरोधितिथेः=विरोधिनी चाऽसौ तिथिः (क० धा०), विधोः विरोधितिथिः, तस्याः (ष० त०)। अभिधायिनीम्=अभि+धा+णिनिः+ङीप्+अम्। अर्थगवेषणया=अर्थस्य गवेषणा, तया (ष० त०)। अनर्थमयीम्=न अर्थः (नञ्०)। अनर्थ+मयट्+ङीप्+अम्। किरति=कॄ+लट्+तिप् ॥ १०७ ॥

"हृदय एव तवाऽस्ति स वल्लभस्तदपि किं दमयन्ति! विषीदसि?"

हृदि परं न बहिः खलु वर्तते सखि! यतस्तत एव विषद्यते" ॥१०८॥

अन्वयः—"हे दमयन्ति! स तव वल्लभो हृदय एव अस्ति तदपि किं विषीदसि?"। "हे सखि! यतो हृदि परं वर्तते, बहिः न वर्तते खलु, तत एव विषद्यते।"

व्याख्या—हे दमयन्ति=हे वैदर्भि! सः=प्रसिद्धः, तव=भवत्याः, वल्लभः=प्रियः, नल इति भावः। हृदय एव=हृदि एव, अस्ति=विद्यते, तदपि=तथाऽपि, किं=किमर्थं, विषीदसि=विषादं कुरुषे, सख्या उक्तिरियम्। हे सखि=हे वयस्ये! यतः=यस्मात्कारणात्, हृदि परं=हृदय एव, वर्तते=विद्यते, बहिः=बाह्यदेशे, न वर्तते=नो विद्यते, खलु=निश्चयेन, तत एव=तस्मात्कारणात् एव, विषद्यते='खिद्यते' यतो हृदि वर्तमानत्वात्स्मर्यत एव न तु दृश्यते, अतो मे विषाद इति भावः।

अनुवाद—सखी—"हे दमयन्ति! वे आपके प्रिय (नल) आपके हृदयमें ही हैं तो भी आप क्यों विषाद करती हैं?" दमयन्ती—"हे सखि! जो कि हृदयमें ही हैं बाहर नहीं हैं (दिखाई नहीं देते हैं), इसी कारणसे विषाद करती हूँ।"

टिप्पणी—विषीदसि=वि+सद्+लट्+सिप्। "सदिरप्रतेः" इससे मूर्धन्य षकार। विषद्यते=वि+सद्+लट् (भावमें) + त। पूर्वसूत्रसे षत्व ॥ १०८ ॥

"स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते"।

"सखि! हताऽस्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः" ॥१०९॥

अन्वयः—"(हे भैमि!) मदनोष्मणा हारमणौ स्फुटति (सति) अद्य ते हृदयम् अपि अनलङ्कृतम्"। "हे सखि! स प्रियतमः मम हृदि अपि व्यवधापितो यदि, तदा हता अस्मि"।

व्याख्या—(हे भैमि!) मदनोष्मणा=कामज्वरेण, हारमणौ=मौक्तिकमाल्यरत्ने, स्फुटति=विदलति सति, अद्य=अस्मिन्दिने, ते=तव, हृदयम्

अपि = वक्षःस्थलम् अपि, अनलङ्कृतम् = अभूषित जातम् । इति सख्या उक्ति । दमयन्ती "हृदयम् अनलङ्कृतम्" इत्यत्र हृदय = वक्ष, "अनल = नलरहित, कृत = विहितम्" इति अर्थान्तर मत्वा उत्तरयति—सखीति । हे सखि = हे वयस्ये ! स = प्रसिद्ध, प्रियतम = दयिततम, नल इति भाव । मम = प्रणयिन्या दमयन्त्या, हृदि अपि = हृदये अपि, व्यवधापित = व्यवधान प्रापित, यदि = चेत्, तदा = तर्हि, हता = नष्टप्राया, अस्मि = भवामि ।

अनुवाद—सखी—"दमयन्ति ! कामज्वरसे हारमणिके फूटनेपर आज आपका हृदय भी अनलङ्कृत (अलङ्काररहित) हो गया ।" दमयन्ती "हृदयम् अनलङ्कृतम्" इन पदोंका हृदय नलरहित किया गया, ऐसा अर्थ जानकर उत्तर देती हैं—"हे सखि ! वे प्रियतम (नल) मेरे हृदयमें भी व्यवहित (दूर) किये गये हैं तो मैं नष्ट हो गई ।"

टिप्पणी—मदनोष्मणा = मदनस्य ऊष्मा, तेन (ष० त०) । हारमणौ = हारस्चाऽसौ मणि, तस्मिन् (क० धा०) । स्फुटति = स्फुट + लट (शतृ) + ङि । अनलङ्कृत = न अलङ्कृतम् (नञ्०) । दमयन्ती—"हृदयम् अनल कृतम्" इस तरह पदच्छेद समझती हैं । अनलम् = अविद्यमानो नलो यस्मिंस्तत् (नञ्बहु०) । प्रियतम = प्रिय + तमप् । व्यवधापित = वि + अव + धा + णिच् + क्त (कर्ममें) । "अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ" इससे पुक् आगम । इस पद्यमें वक्रोक्ति अलङ्कार है ॥ १०९ ॥

इदमुदीर्य तदैव मुमूर्च्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका ।
क्व सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि दुःखिता ॥ ११० ॥

अन्वय—सा इदम् उदीर्य तदा एव मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका (सती) मुमूर्च्छ । तथाहि—दुःखिता (सा) अनुपपत्तिमतीम् अपि अवलम्बलवच्छिदां क्व सहताम् ?

व्याख्या—सा = दमयन्ती, इदम् = एतम्, पूर्वोक्त "सखि ! हताऽस्मीति" वाक्यमिति भाव । उदीर्य = उच्चार्य, तदा एव = तस्मिन् समय एव, मनसि = चित्ते, मूर्च्छितमन्मथपावका = प्रवृद्धकामाऽग्नि सती, मुमूर्च्छ = मुमोह । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—क्व सहतामिति । तथाहि—दुःखिता = सञ्जातदुःखा, सा, अनुपपत्तिमतीम् अपि = अनुपपन्नाम् अपि, "अनलङ्कृतम्" इति श्लेषशब्दश्रवणजन्यभ्रान्तिविषयत्वादिति शेष । अवलम्बलवच्छिदाम् = हृदि नलरूपाऽऽलम्बनलेशच्छेदन, क्व = कुत्र, सहता = मृष्यताम् ।

अनुवाद—दमयन्ती ऐसा कहकर उसी समय मनमें कामाग्निके बढ़नेसे मूर्च्छित हो गई। जैसे कि दुःखिता वह, अनुपपन्न होनेपर भी हृदयमें विद्यमान नलरूप अवलम्बलेशके छेदनका कैसे सहन करे।

टिप्पणी—उदीर्य=उद्+ईर+क्त्वा (ल्यप्)। मूर्च्छितमन्मथपावका=मूर्च्छितो मन्मथ एव पावको यस्याः सा (बहु०)। मुमूर्च्छ="मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः" इस धातुसे लिट्+तिप् (णल्)। दुःखिता=दुःख+इतच्+टाप्। अनुपपत्तिमतीम्=न उपपत्तिः(नञ्०)। अनुपपत्ति+मतुप्+ङीप्+अम्। अवलम्बलवच्छिदाम्=अवलम्बस्य लवः (ष० त०), तस्य च्छिदा, ताम् (ष० त०)। सहतां=षह+लोट+त। दुःखसे उद्विग्न जनको भ्रान्तिसे वा विना भ्रान्तिसे अनिष्टकी प्रतीतिको सहना अत्यन्त दुष्कर है, इसलिए जो भैमीको मूर्च्छा हुई, यह स्वाभाविक है, यह इस पद्यका तात्पर्य है। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है॥ ११०॥

अधित काऽपि मुखे सलिलं सखी, प्यधित काऽपि सरोजदलैः स्तनौ।
व्यधित काऽपि हृदि व्यजनाऽनिलं, न्यधित काऽपि हिमं सुतनोस्तनौ॥१११॥

अन्वयः—काऽपि सखी सुतनोः मुखे सलिलम् अधित। काऽपि (सखी) स्तनौ सरोजदलैः प्यधित। काऽपि हृदि व्यजनाऽनिलं व्यधित। काऽपि तनौ हिमं न्यधित।

व्याख्या—काऽपि = काचित्, सखी = वयस्या, सुतनोः = सुन्दर्याः दमयन्त्याः, मुखे=वदने, सलिलं=जलम्, अधित=आहितवतीति भावः। काऽपि=काचित् सखी, स्तनौ=कुचौ, मदनसन्तापादनावृताविति शेषः। सरोजदलैः=कमलपत्रैः, प्यधित=आच्छादितवती। काऽपि=सखी, हृदि=हृदये, व्यजनाऽनिलं=तालवृन्तवातं, व्यधित=विहितवती, तालवृन्तेन वीजयामासेति भावः। एवं च काऽपि=सखी, तनौ=शरीरे, हिमं=चन्दनं, तुहिनं वा। न्यधित=निहितवती।

अनुवाद—किसी सखीने सुन्दरी दमयन्तीके मुखमें जल डाल दिया। किसीने उनके स्तनोंको कमलके पत्तोंसे ढँक दिया। किसीने उनके हृदयमें पङ्खेकी हवा की और किसी सखीने दमयन्तीके शरीरपर चन्दन वा बरफका लेप किया।

टिप्पणी—सुतनोः=शोभना तनुर्यस्याः सा, तस्याः (बहु०)। अधित=धा+लुङ्+त। सरोजदलैः=सरोजानां दलानि, तैः (ष० त०)। प्यधित=

अपि + धा + लुङ् + त । "वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो ।" इस नियमके अनुसार "अपि" उपसर्गके अकारका लोप । व्यजनाऽनिल=व्यजनस्य अनिल, तम् (ष० त०) । व्यधित = वि + धा + लुङ् + त । हिम= "चन्दनेऽपि हिमं विदु" इति विश्व । न्यधित=नि + धा + लुङ् + त ॥१११॥

उपचचार चिर मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलाऽऽदिभि ।

प्रियसखीनिवह स तथा क्रमादियमवाप यथा लघु चेतनाम् ॥ ११२ ॥

अन्वय —स प्रियसखीनिवह मृदुशीतलै जलजजालमृणालजलाऽऽदिभि क्रमात् चिर तथा उपचचार, यथा इय लघु चेतनाम् अवाप ।

व्याख्या—स =पूर्वोक्त , प्रियसखीनिवह =अभीष्टवयस्यासमूह , मृदुशीतलै =कोमलशीतै , जलजजालमृणालजलाऽऽदिभि =पद्मसमूहबिससलिलादिभि , आदिशब्दात्तालवृन्तादिसाधनविशेषैश्च, क्रमात्=परिपाट्या , चिर= बहुकाल यावत् । उपचचार=उपचरितवान्, यथा=येन प्रकारेण, इयम्= एषा, दमयन्तीति भाव । लघु=शीघ्र , चेतना=सज्ञाम्, अवाप= प्राप्तवती ।

अनुवाद—दमयन्तीकी प्रिय सखियोने कोमल और शीतल कमलसमूह, मृणालदण्ड और जल आदियोसे क्रमसे बहुत समयतक उस प्रकारसे उपचार किया जैसे कि वे शीघ्र होशमे आ गयी ।

टिप्पणी—प्रियसखीनिवह =प्रियाश्च ता सख्य (क० धा०), तासा निवह (ष० त०) । मृदुशीतलै =मृदूनि च तानि शीतलानि, तै (क० धा०) । जलजजालमृणालजलादिभि =जलजाना जालानि (ष० त०), जलजजालानि मृणालानि जलानि च (द्वन्द्व), तानि आदयो येषा, तै (बहु०) । उपचचार =उप + चर + लिट् + तिप (णल्) । लघु='लघु क्षिप्रमर द्रुतम्' इत्यमर । अवाप=अव + आप् + लिट् + तिप् (णल्) ॥ ११२ ॥

अथ कले ! कलय श्वसिति स्फुट चलति पक्ष्म चले ! परिभावय ।

अधरकम्पनमुन्नय मेनके ! किमपि जल्पति कल्पलते ! शृणु ॥ ११३ ॥

रचय चारुमते ! स्तनयोर्वृति, नमय चेतिनि ! केऽयमसत्यतम् ।

अवगृहाण तरङ्गिणि ! नेत्रयोर्जलमरावि"ति शुश्रुविरे गिर ॥ ११४ ॥

(युग्मम्) ।

अन्वय —अथ "हे कले ! स्फुट श्वसिति, कलय" । "हे चले ! पक्ष्म चलति, परिभावय" । "हे मेनके ! अधरकम्पनम् उन्नय" । "हे कल्पलते ! किमपि जल्पति, शृणु ।

"हे चारुमते ! स्तनयोः वृतिं रचय" । हे केशिनि ! असंयतं कैश्यं गणय । "हे तरङ्गिणि ! नेत्रयोः जलझरौ अवगृहाण" इति गिरः शुश्रुविरे ।

(युग्मम्) ।

व्याख्या—अथ दमयन्त्यास्तद्दशापरीक्षाऽऽकुलानां कलयादीनां सप्तसंख्यकानां सखीनां मिथः कलकलं पद्यद्वयेनाह—अथ=अनन्तरं, हे कले, स्फुटं=व्यक्तं, श्वसिति=प्राणिति, दमयन्तीति शेषः । कलय=विचारय । हे चले ! पक्ष्म=नेत्रलोम, चलति=स्फुरति, चक्षुरुन्मिषतीति भावः । परिभावय=विचारय । हे मेनके ! अधरकम्पनम्=ओष्ठचलनम्, उन्नय=तर्कय । हे कल्पलते ! किमपि=किञ्चिदपि, जल्पति=वदति, दमयन्तीति शेषः । शृणु=आकर्णय, दमयन्तीजल्पनमिति शेषः ।

हे चारुमते ! स्तनयोः=कुचयोः, दमयन्त्या इति शेषः । वृतिम्=आवरणं, रचय=कुरु । हे केशिनि ! असंयतं=विस्रस्तं, कैश्यं=केशसमूहं, दमयन्त्या इति शेषः । गणय=चिन्तय, बधानेति भावः । हे तरङ्गिणि ! नेत्रयोः=नयनयोः, दमयन्त्या इति शेषः, जलझरौ=अश्रुप्रवाहौ, अवगृहाण=अपाकुरु, इति=एतादृश्यः, गिरः=वाण्यः, शुश्रुविरे=श्रुताः । (युग्मम्)

अनुवाद—तब "हे कले ! स्पष्टरूपसे ये (दमयन्ती) श्वास ले रही हैं, विचार करो" । "हे चले ! इनका पलक चल रहा है, गौर करो" । "हे मेनके ! इनके ओष्ठकम्पकी तर्कना करो" । "हे कल्पलते ! ये कुछ बोल रही हैं, सुन लो" ।

"हे चारुमते ! इनके स्तनोंको ढँक दो" । "हे केशिनि ! इनके बिखरे हुए केशोंको बाँध दो" । "हे तरङ्गिणि ! "दमयन्तीके नेत्रोंके अश्रुप्रवाहोको पोछ दो" ऐसे वचन सुने गये ।

टिप्पणी—श्वसिति=श्वस+लट्+तिप् । परिभावय = परि+भू+णिच्+लोट्+सिप् । अधरकम्पनम्=अधरस्य कम्पनं, तत् (ष० त०) । उन्नय=उद्+नी+लोट्+सिप् । जल्पति=जल्प+लट्+तिप् । शृणु=श्रु+लोट्+सिप् ॥ ११३ ॥

वृतिं=वृ+क्तिन्+अम् । रचय=रच+णिच्+लोट्+सिप् । असंयतं=न संयतं, तत् (नञ्०) । कैश्यं=केशानां समूहः कैश्यं, तत्, केश शब्दसे "केशाऽश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे यञ् प्रत्यय । गणय=गण+णिच्+लोट्+सिप् । जलझरौ=जलस्य झरौ, तौ (ष० त०) । अव-

गृहाण=अव+ग्रह+लोट+मिप्। सुश्रुविरे=श्रु+लिट् (कर्ममें)+झ ॥११४॥

कलकल उदलसद्विपुलस्त्वरितेरितैः।

यमधिगम्य सुताऽऽलयमेतवान् द्रुततरः स विदर्भपुरन्दरः ॥११५॥

अन्वय—तदा आलिजनाऽऽननात् त्वरितेरितैः विपुलः स कलकलः उदलसत्। यम् अधिगम्य स विदर्भपुरन्दरः द्रुततरः सुताऽऽलयम् एतवान्।

व्याख्या—तदा=तस्मिन्समये, आलिजनाऽऽननात्=सखीजनमुखात्, त्वरितेरितैः=सम्भ्रमोक्तिभिः, विपुलः=महान्, सः=पूर्वोक्तः, कलकलः=कोलाहलः, उदलसत्=उत्थितः। यः=कलकलम्, अधिगम्य=प्राप्य, आकर्ण्येति भावः, सः=प्रसिद्धः, विदर्भपुरन्दरः=भीमभूपतिः, द्रुततरः=अतित्वरितः सन्, सुताऽऽलयः=पुत्रीभवनं, कन्याऽन्तःपुरमिति भावः। एतवान्=प्राप्तवान्।

अनुवाद—उस समय दमयन्तीकी सखियोंके मुखसे सम्भ्रमकी उक्तियोंसे वैसा महान् कोलाहल हुआ, जिसको सुनकर विदर्भपति भीम अतिशीघ्रता-पूर्वक अपनी कन्याके अन्तःपुरमें प्राप्त हुए।

टिप्पणी—आलिजनाऽऽननात्=आलयश्च ते जनाः (क० धा०), तेषाम् आननं, तस्मात् (ष० त०)। त्वरितेरितैः=त्वरितानि च तानि ईरितानि, तैः (क० धा०)। उदलसत्=उद्+लस्+लङ्+तिप्। अधिगम्य=अधि+गम्+क्त्वा (ल्यप्)। विदर्भपुरन्दरः=विदर्भाणां पुरन्दरः (ष० त०)। द्रुततरः=द्रुत+तरप्+सु। सुताऽऽलयम्=सुताया आलयः, तम् (ष० त०)। एतवान्=आङ्+इण्+क्तवतु। "ईयिवान्" ऐसे पाठमें इण्+क्वसु+सु ॥११५॥

कन्याऽन्तःपुरबोधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं

द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः।

देवाऽऽकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं

स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥११६॥

अन्वय—कन्याऽन्तःपुरबोधनाय यदधीकारात् दोषाः न मन्त्रिप्रवरः अगदङ्कारश्च द्वौ नृपं तुल्यम् ऊचतुः। "देव! आकर्णय, सुश्रुतेन चरकस्य उक्तेन अखिलं जाने। अस्याः तापस्य दलने नलदं विना कोऽपि क्षमो न स्यात्"।

व्याख्या—कन्याऽन्तःपुरबोधनाय=कुमारीशुद्धान्तयोगक्षेमाऽनुसन्धानाय, यदधीकारात्=मन्त्रिवैद्यनियोगात्, दोषाः=दूषणानि, परपुरुषप्रवेशादीनि (मन्त्रिपक्षे), वातादीनि च (वैद्यपक्षे)। न=सन्तीति शेषः। मन्त्रि-

प्रवरः=अमात्यमुख्यः, अगदङ्कारश्च=वैद्यश्च, द्वौ=उभौ, नृपं=राजानं भीमं, तुल्यम्=एकवाक्यम्, ऊचतुः=कथयामासतुः। किं कथयामासतुरिति देवेति। देव=हे महाराज! आकर्णय=शृणु; सुश्रुतेन=सम्यगाकर्णितेन, चरकस्य=गूढचारस्य, उक्तेन=वाक्येन, अयमर्थो मन्त्रिप्रवरपक्षे। सुश्रुतेन= सुश्रुतमुनिग्रन्थेन, सम्यगाकर्णितेन वा। चरकस्य=चरकमुनेः, उक्तेन=ग्रन्थेन च। अखिलं=समस्तं, तापनिदानमिति शेषः। जाने=वेद्मि। किं तदित्याह स्यादिति। अस्याः=दमयन्त्याः, तापस्य=ज्वरस्य, दलने=निवर्तने, नलदं विना=नैषधनलसङ्घटकं विना (मन्त्रिप्रवर-पक्षे)। नलदं विना=उशीरं विना (अगदङ्कारपक्षे), कोऽपि=उपायः, क्षमः=समर्थः, न स्यात्=नो भवेत्।

अनुवाद—राजकन्याके अन्त.पुरके योगक्षेमके अनुसन्धानके लिए जिन-(मन्त्री और वैद्य)के नियोगसे परपुरुषप्रवेश आदि अथवा वातपित्त आदि दोष नही होते हैं, वैसे मन्त्रिश्रेष्ठ और वैद्यराज दोनोंने ही राजाको एक ही वाक्य कहा—"महाराज! सुनिए, अच्छी तरहसे सुने गये गुप्तचरके कथनमें (मन्त्रिपक्षमें)। अच्छी तरहसे सुने गये वा सुश्रुत ग्रन्थसे चरक मुनिके ग्रन्थसे भी सब जानता हूँ। राजकुमारीके ज्वरको हटानेमें नलका संयोग किये बिना (मन्त्रिपक्षमें), उशीर(खश)के बिना (वैद्यपक्षमें) कोई भी उपाय समर्थ नही होगा।

टिप्पणी—कन्याऽन्त पुरबोधनाय=कन्याया अन्तःपुरं (ष० त०), तस्य बोधनं, तस्मै (ष० त०)। यदधीकारात्=अधिकरणम् अधीकारः, अधि+कृञ्+घञ्, "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इससे बाहुल्यमें दीर्घ। ययोः अधिकारः, तस्मात् (ष० त०)। मन्त्रिप्रवरः=मन्त्रिषु प्रवरः (स० त०)। अगदङ्कारः=अविद्यमानो गदो यस्य सः अगदः (नञ्बहु०)। "स्त्री रुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदाऽऽमयाः" इत्यमरः। अगदं करोतीति अगदङ्कारः, अगद शब्दसे "कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय और "कारे सत्याऽगदस्य" इससे मुम् आगम (उपपद०)। "रोगहार्यगदङ्कारो भिषग्वैद्यश्चिकित्सकः" इत्यमरः। ऊचतुः=ब्रू (वच्)+लिट्+तस् (अतुस्)। सुश्रुतेन=सम्यक् श्रुतं, तेन (गति०)। चरकस्य=चर एव चरकः, तस्य, स्वार्थमें कन्। "चरकस्य उक्तेन" इसका अर्थ है गुप्तचरके कथनसे (मन्त्रिपक्षमें)। चरक आचार्यके ग्रन्थसे (वैद्यपक्षमें)। नलदं विना=नलं ददातीति, तम्। नलका

सघटन करनेवाले उपायके विना (मन्त्रिपक्षमें)। नलद विना=उशीरके विना (वैद्यपक्षमें)। "मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्। अभय नलद सेव्यम्" इत्यमर। स्यात्="शकि लिङ् च" इससे शक्य अर्थमें अस्+लिङ्+तिप्। इस पद्यमें नलद (नलको देनेवाला उपाय), नलद (उशीर) उन दोनों अर्थोंके प्रकृत होनेसे केवलप्रकृतश्लेष अलङ्कार है। शार्दूलविक्रीडित वृत्त है ॥ ११६ ॥

ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमान भेदद्वयाऽऽकृति मिथ प्रतिघातमेव।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किञ्चिद् भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाऽऽकुलस्य ॥ ११७ ॥

अन्वय —ताभ्यां भेदद्वयाऽऽकृति अपि युगपद् अभिधीयमानं मिथः प्रतिघातम् एव अभूत्। भैम्याम् अनिष्टशतशङ्कितया आकुलस्य तस्य नृपते श्रोत्रे तु किञ्चित् न पपतु।

व्याख्या—ताभ्यां=मन्त्रिवैद्याभ्यां, भेदद्वयाऽऽकृति=अभिन्नस्वरूपम् अपि, युगपद्=एकदा, अभिधीयमानम्=उच्चार्यमाणं, नलदादिवाक्यमिति शेष। मिथः प्रतिघातम् एव=परस्परभिन्नम् एव, अभूत्=अभवत्, एकरूपमपि वाक्यं भिन्नार्थमासीदिति भाव। पर राज्ञो न तत्र दृष्टिरिति प्रतिपादयति—श्रोत्रे त्विति। भैम्यां=दमयन्त्या विषये, अनिष्टशतशङ्कितया=अनर्थबाहुल्यशङ्कावत्त्वेन, आकुलस्य=विह्वलस्य, तस्य=पूर्वोक्तस्य, नृपते=राज्ञः, भीमस्य। श्रोत्रे तु=कर्णौ तु, न पपतु=न पीतवती, न कञ्चिदर्थं जगृहतुरिति भाव। विह्वलचित्तत्वेन वाक्यार्थं न ज्ञातवानिति भाव।

अनुवाद—मन्त्री और वैद्यसे अभिन्नस्वरूप होकर भी एक ही बार कहा गया वह वाक्य, परस्पर भिन्नस्वरूप ही हुआ। दमयन्तीमें सैकडों अनिष्टोंकी शङ्का करनेसे आकुल राजाके कानोंने किसी भी अर्थका ग्रहण नहीं किया।

टिप्पणी—भेदद्वयाकृति=भेदस्य द्वय (अभेद) (ष० त०), भेदद्वयम् एव आकृति यस्य, तत् यथा तथा (बहु०)। अभिधीयमानम्=अभि+धा+लट् (कर्ममें) (शानच्)+सु। मिथ प्रतिघात (विरोध) यस्य तद् (बहु०)। एक ही बार कहे जानेसे एक ही शब्द होनेसे अभिन्न अर्थवाले एक वाक्यके समान प्रतीत होनेपर भी वे भिन्न अर्थवाले दो वाक्य ही हो गये, यह तात्पर्य है। अनिष्टशतशङ्कितया=अनिष्टानां शत (ष० त०), तत् शङ्कते तच्छील अनिष्टशतशङ्की, अनिष्टशत+शकि+णिनि (उपपद०), तस्य भावस्तत्ता, तया। अनिष्टशतशङ्किन्+तल्+टाप्+टा। नृपते=नृणां पति, तस्य (ष० त०)। पपतु=पा+लिट्+तस् (अतुस्)। वसन्ततिलका छन्द है ॥ ११७ ॥

द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नामपि तनयां नृपतिः पदप्रणम्राम् ।
अकलयदसमाशुगाधिमग्नां, झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—नृपतिः द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नाम् अपि पदप्रणम्रां तनयाम् असमाऽऽशुगाऽऽधिमग्नाम् अकलयत् हि विज्ञाः झटिति पराशयवेदिनः ।

व्याख्या—नृपतिः = राजा, भीमः । द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नाम् अपि = शीघ्राऽपसारितशिशिरोपचारचिह्नाम् अपि, पदप्रणम्रां = चरणनिपतितां, तनयां = पुत्रीं, दमयन्तीम्, असमाशुगाधिमग्ना = मदनव्यथामग्नाम्, अकलयत् = ज्ञातवान् । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—हि = यस्मात् कारणात्, विज्ञाः = प्रवीणाः, झटिति = शीघ्रं, पराशयवेदिनः = अन्याऽभिप्रायज्ञातारः, भवन्तीति शेषः, प्रकाशकचिह्नं विनाऽऽकारमात्रेण पराऽभिप्रायं निश्चिन्वन्तीति भावः ।

अनुवाद—राजा भीमने झटपट वियोगके चिह्न उशीर आदिके हटाये जानेपर भी पैरोंमें झुकी हुई पुत्री दमयन्तीको "यह कामपीडामें मग्न है" ऐसा जान लिया, क्योंकि प्रवीण जन झटपट दूसरेके आशयको जाननेवाले होते हैं ।

टिप्पणी—नृपतिः = नृणां पतिः (ष० त०) । द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नां = द्रुतं विगमितं (सुप्सुपा०), विप्रयोगस्य चिह्नम् (ष० त०), द्रुतविगमितं विप्रयोगचिह्नं यस्याः सा, ताम् (बहु०) । पदप्रणम्रां = पदयोः प्रणम्रा, ताम् (स० त०) । "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य" इससे णत्व । असमाऽऽशुगाऽऽधिमग्नाम् = न समाः (नञ्०), असमा आशुगा यस्य सः (बहु०), असमाशुगेन आधिः (तृ० त०), तस्मिन् मग्ना, ताम् (स० त०) । अकलयत् = कल + णिच् + लङ् + तिप् । पराऽऽशयवेदिनः = आशयं विदन्तीति आशयवेदिनः, आशय + विद् + णिनिः (उप०) । परेषाम् आशयवेदिनः (ष० त०) । इस पद्यमें सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ ११८ ॥

व्यतरदथ पिताऽऽशिषं सुतायै नतशिरसे मुहुरुन्नमय्य मौलिम् ।
"दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः" ॥११९॥

अन्वयः—अथ पिता नतशिरसे सुतायै मुहुः मौलिम् उन्नमय्य "(हे वत्से !) कियद्भिः वासरैः स्वयंवरे त्वं गुणमयम् अभिमतं दयितम् आप्नुहि" (इति) आशिषं व्यतरत् ।

व्याख्या—अथ = प्रणामानन्तरं, पिता = जनकः, भीमः । नतशिरसे = आनतमस्तकायै, सुतायै = दुहित्रे, दमयन्त्यै, मुहुः = वारं वारं, मौलि =

मस्तकम्, उन्नमय्य=उन्नत कृत्वा, हे वत्से ! कियद्भिः=कतिपयैः, वासरैः=दिनैः, स्वयंवरे=स्वयंवरस्थाने, त्वं, गुणमयं=शौर्यसौन्दर्यादिगुणसम्पन्नम्, अभिमतम्=अभीष्ट, दयितं=प्रियं वरम्, आप्नुहि=लभस्व, इति, आशिषम्=आशीर्वचन, व्यतरत्=वितीर्णवान् ।

अनुवाद—तब पिता भीमभूपालने शिर झुकानेवाली पुत्रीको बारबार मस्तकको ऊंचा कर "हे वत्से ! कुछ ही दिनोमे तुम स्वयंवरमे गुणसम्पन्न अभीष्ट वरको प्राप्त करो" ऐसे आशीर्वादका वितरण किया ।

टिप्पणी—नतशिरसे=नतं शिरो यस्याः सा नतशिरा, तस्यै (बहु०) । उन्नमय्य=उत्+नम+णिच+क्त्वा (ल्यप्) । वासरैः="अपवर्गे तृतीया" इससे कालके अत्यन्तसंयोगमे तृतीया । गुणमय=गुण+मयट् (प्राचुर्य अर्थमे) +अम् । आप्नुहि=आप्+लोट+सिप् । पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ ११९ ॥

तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एव हीदृशानाम् ।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याम् ॥ १२० ॥

अन्वय—तदनु स तनुजासखीः अवादीत्—"हि तुहिनऋतौ गत एव ईदृशीनां शरीरे कुसुमम् अपि शरायते, तत् अस्याम् उचितम् उपचारम् आचरत ।

व्याख्या—तदनु=आशीर्वादानन्तर, सः=राजा भीम, तनुजासखीः=सुतावयस्या, अवादीत्=उक्तवान् । हि=यस्मात्कारणात् । तुहिनऋतौ=शिशिरकाले, गत एव=निर्गत एव । ईदृशीनाम्=एतादृशीना, कोमलाङ्गीना, शरीरे=देहे, कुसुमम् अपि=पुष्पम् अपि, शरायते=शरवत् आचरति । तत्=तस्मात्कारणात् अस्याम्=एतस्या, कोमलाङ्ग्या दमयन्त्याम्, उचितं=योग्यम्, उपचारं=प्रतीकारम्, आचरत=कुरुत ।

अनुवाद—आशीर्वाद देकर राजा भीमने पुत्री(दमयन्ती)की सखियोंको कहा—"जो कि शिशिर ऋतुके जाने पर ही ऐसी (दमयन्ती-सी) कोमल अङ्ग वालियोंके शरीरमें फूल भी बाणके सदृश हो जाता है, इसलिए इसमे योग्य उपचार करो ।

टिप्पणी—तनुजासखी=तनुजाया सख्य, ता (ष० त०) । अवादीत्=वद+लुङ्+तिप् । तुहिनऋतौ=तुहिनश्चासौ ऋतु, तस्मिन् (क० धा०), "ऋत्यक" इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होनेसे अर् गुण नहीं हुआ । शरायते=शरवत् आचरति, शर शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे क्यङ्+लट्+त । आचरत=आङ्+चर+लोट्+थ । इस पद्यमे उपमा अलंकार है और पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ १२० ॥

कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान्।
कृशिमशमनयाऽनया तदाप्तुं रुचिरुचिताऽथ भवद्विधाऽभिधाभिः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—(हे भैमीसख्यः) कतिपयदिवसैः वो वयस्यया वरीयान् स्वयम् अभिलष्य वरिष्यते । तत् अथ अनया भवद्विधाऽभिधाभिः कृशिमशमनया रुचिः आप्तुम् उचिता ।

व्याख्या—(हे भैमीसख्यः), कतिपयदिवसैः=अल्पदिनैरेव, वः= युष्माकं, वयस्यया=सख्या दमयन्त्या, वरीयान्=श्रेष्ठः पुरुषः, स्वयम्=आत्मना एव, अभिलष्य = कामयित्वा, वरिष्यते = स्वीकरिष्यते। यं कामयते तं वरिष्यतीति भावः। तत्=तस्मात्कारणात्, अथ=इदानीम्, अनया=दमयन्त्या, भवद्विधाऽभिधाभिः=भवादृशसख्युक्तिभिः, कृशिमशमनया=कार्श्यनिवर्तनया उपायभूतया, रुचिः=कान्तिः प्रीतिश्च, आप्तुं= प्राप्तुम्, उचिता=योग्या, रुचिराप्तव्येति भावः। स्वयंवरपर्यन्तं भवादृशसखीसान्त्वनवचनैः खेदं विहाय दमयन्त्या प्रसन्ना सन्तुष्टया च सत्या स्थातव्यमिति भावः।

अनुवाद—(हे दमयन्तीकी सखियों !) थोड़े ही दिनोंमें तुम लोगोंकी सखी दमयन्ती, श्रेष्ठ पुरुषको स्वयं ही अभिलाष कर वरण करेगी। उस कारणसे इस समय तुम सखियोंके सान्त्वनापूर्वक वचनोंके कृशताको हटानेके उपाय होनेसे इनको कान्ति और प्रीति प्राप्त करना उचित है।

टिप्पणी—कतिपयदिवसैः=कतिपये च ते दिवसाः, तैः (क० धा०), "अपवर्गे तृतीया" इससे तृतीया। वयस्यया=वयस्+यत्+टाप्+टा। वरीयान्=अतिशयेन वरः, शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इससे ईयसुन् प्रत्यय और "प्रिय० स्थिर०" इत्यादि सूत्रसे "वर"के स्थानमें "वर्" आदेश। अभिलष्य=अभि+लष+क्त्वा (ल्यप्)। भवद्विधाऽभिधाभिः=भवतीनाम् इव विधा (प्रकारः) यासां ताः (व्यधिकरणबहु०), "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इससे पुंवद्भाव। भवद्विधानाम् अभिधाः, ताभिः (ष० त०)। कृशिमशमनया=कृशस्य भावः कृशिमा, कृश+इमनिच्। "ऋतो हलादेर्लघोः" इससे "ऋ"के स्थानमें "र" आदेश। कृशिम्नः शमना, तया (ष० त०)। आप्तुम्=आप्+तुमुन्। स्वयंवर तक तुम लोगोंकी सान्त्वनाओंसे खेद छोड़ कर दमयन्तीको प्रसन्न और सन्तुष्ट होना चाहिए, यह राजाका अभिप्राय है। पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ १२१ ॥

एव यद्वदता नृपेण तनया नाऽपृच्छिलज्जाऽऽस्पद,
यन्मोह स्मरभूरकल्पि वपुष पाण्डुत्वतापादिभि ।
यच्चाशी कपटादवादि सदृशी स्यात्तत्र या सान्त्वना,
तन्मत्वाऽऽलिजनो मनोऽब्धिमतनोदानन्दमन्दाक्षयो ॥ १२२ ॥

अन्वय—एव वदता नृपेण तनया लज्जापद यत् न अपृच्छि । मोह वपुष पाण्डुत्वतापादिभि यत् स्मरभू अकल्पि । तत्र सदृशी या सान्त्वना स्यात् यत् आशी कपटात् अवादि । तत् मत्वा आलिवर्ग मन आनन्दमन्दाक्षयो अब्धिम् अतनोत् ।

व्याख्या—एवम्=इत्थ, वदता=कथयता, नृपेण=राज्ञा भीमेन, तनया=पुत्री दमयन्ती, लज्जापद=व्रीडाहेतु, "लज्जाऽऽस्पदम्" इति पाठान्तरे व्रीडास्थानमित्यर्थ । यत्, न अपृच्छि=न पृष्टा । ज्ञाताऽपि प्रश्नाऽयोगादिति भाव । मोह =मूर्च्छा च, वपुष =शरीरस्य, पाण्डुत्वतापादिभि =पाण्डुरत्वसन्तापादिभि , यत्, कामज =स्मरजन्य , अकल्पि=कल्पित , तत्र=तस्या, तनयाया दमयन्त्याम् । सदृशी=अनुरूपा, या सान्त्वना=लालनोक्ति, स्यात्=भवेत् । यत् आशी कपटात्=आशीर्वादव्याजात्, "दयितमभिमतम्" इत्यादिरूपादिति भाव । अवादि=उक्तम् । तत्=सकल, मत्वा=आलोच्य, आलिवर्ग =सखीसमूह, मन =स्वचित्तम्, आनन्दमन्दाक्षयो =हृषलज्जयो, अब्धि=समुद्रम्, अतनोत्=कृतवान्, स्वचित्त लज्जाऽऽनन्दसागर विहितवानिति भाव । स्वेष्टसिद्धेरानन्द, स्वरहस्यप्रकाशनाल्लज्जेति रहस्यम् ।

अनुवाद—ऐसा कहनेवाले राजाने पुत्री दमयन्तीसे जो लज्जाका कारण नही पूछा और मूर्च्छाको शरीरकी पाण्डुता और ताप आदिसे जो कामजन्य समझ लिया । पुत्रीमे अनुरूप जो सान्त्वना हो जाय और जो आशीर्वादके बहानेसे कहा । उन सबको जानकर दमयन्तीकी सखियोने अपने मनको आनन्द और लज्जाका समुद्र बना डाला ।

टिप्पणी—वदता=वद+लट् (शतृ)+टा । लज्जापद=लज्जाया पदम् (ष० त०) । अपृच्छि=प्रच्छ धातुसे दुहादिगणमे पढे जानेसे अप्रधान कर्ममे लुङ् । पाण्डुत्वतापादिभि =पाण्डु+त्व । पाण्डुत्व च तापश्च (द्वन्द्व) । तौ आदी येषा ते, तै (बहु०) । स्मरभू =स्मर+भू+क्विप् (उपपद०) । अकल्पि=कृप्+लुङ् (कर्ममे)+त । आशी कपटात्=आशिष कपट, तस्मात् (ष० त०) । अवादि=वद+लुङ् (कर्ममे)+त । आलिवर्ग =आलीना वर्ग (ष० त०) । आनन्दमन्दाक्षयो=

आनन्दश्च मन्दाक्षं च, तयोः (द्वन्द्व०)। सखियोंको अभीष्टकी सिद्धिसे आनन्द और रहस्यके प्रकाशनसे लज्जा हुई, यह तात्पर्य है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१२२॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १२३ ॥

॥ इति नैषधीयचरिते महाकाव्ये चतुर्थः सर्गः ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षसुतं सुषुवे। स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातरि नलस्य चरिते अत्र तन्महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलः अयं तुर्यः सर्गः व्यगलत्।

व्याख्या—प्रायो व्याख्यातपूर्वत्वात् संक्षेपेण व्याख्यायते। पूर्वार्द्धं पूर्ववद्व्याख्येयम्। स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातरि=स्थैर्यविचारणप्रकरणसोदरे, नलस्य=नैषधस्य, चरिते=चरित्रे, अत्र=अस्मिन्, तन्महाकाव्ये=श्रीहर्षमहाकाव्ये, निसर्गोज्ज्वलः=स्वभावनिर्मलः, अयं=पुरःस्थितः, तुर्यः=चतुर्थः, सर्गः=अध्यायः, व्यगलत्=समाप्तः।

अनुवाद—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिन श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया। "स्थैर्यविचारण" नामक प्रकरणका सहोदर, नलके चरित्ररूप श्रीहर्षके इस महाकाव्यमें स्वभावसे उज्ज्वल यह चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

टिप्पणी—स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातरि=स्थैर्यस्य विचारणं (ष० त०), तच्च तत् प्रकरणम् (क० धा०)। कविराज राजशेखरने "शास्त्रैकदेशस्य प्रक्रिया प्रकरणम्" अर्थात् शास्त्रके एकदेशकी प्रक्रियाका "प्रकरण" ऐसा लक्षण किया है। स्थैर्यविचारणप्रकरणस्य भ्राता, तस्मिन् (ष० त०)। स्थैर्यविचारण और नैषधीयचरित दोनोंको श्रीहर्षने बनाया, इसलिए वे दोनों ग्रन्थ भ्राता हुए, यह तात्पर्य है। तन्महाकाव्ये=तस्य महाकाव्यं, तस्मिन् (ष० त०)। निसर्गोज्ज्वलः=निसर्गेण उज्ज्वलः (तृ० त०)। तुर्यः=चतुर्णां पूरणः, चतुर् शब्दसे "चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च" इस वार्तिकसे यत् प्रत्यय और प्रथम अक्षर (च) का लोप। व्यगलत्=वि+गल+लङ्+तिप्। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

॥ इति श्रीनैषधीयचरितमहाकाव्यव्याख्यायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां चतुर्थः सर्गः ॥

॥ शुभमस्तु ॥

॥ श्री ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

— ० —

पञ्चमः सर्गः

यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान् स स्वयंवरमहाय महीन्द्रः ।
तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम ॥ १ ॥

श्रमन्दमानन्दकदम्बबिम्बं सच्चित्स्वरूपं वसुदेवसूनुम् ।
भवत्यैकगम्यं करुणासनाथं गोविन्दसंज्ञं प्रभमानतोऽस्मि ॥

अन्वय—अथ स महीन्द्रः स्वयंवरमहाय नरेन्द्रान् यावत् आगमयते, तावत् एव ऋषिः नारदः इन्द्रदिदृक्षुः (सन्) त्रिदशधाम जगाम ।

अथ भैमीस्वयंवरे इन्द्राद्यागमनं वक्तुं तदुपयोगितया नारदस्य इन्द्रलोकगमनमाह—यावदिति ।

व्याख्या—अथ=भैमीसमाश्वासनाऽनन्तरं, सः=प्रसिद्धः, महीन्द्रः=भूपतिः, भीमः । स्वयंवरमहाय=स्वयंवरोत्सवाय, नरेन्द्रान्=राज्ञः, यावत्=यत्कालपर्यन्तम्, आगमयते=प्रतीक्षते आनाययते वा । तावत् एव=तत्कालम् एव, ऋषिः=सत्यवचनः, देवर्षिः, नारदः=ब्रह्मपुत्रः, इन्द्रदिदृक्षुः=शक्रदर्शनेच्छुः सन्, त्रिदशधाम=सुरलोकं प्रति, जगाम=गतः ।

अनुवाद—भैमीको आश्वासन देनेके अनन्तर महाराज भीम स्वयंवरके उत्सवके लिए जबतक राजाओंकी प्रतीक्षा करते थे, तबतक ही देवर्षि नारद इन्द्रके दर्शनकी इच्छा करते हुए स्वर्ग लोकमें गये ।

टिप्पणी—महीन्द्रः=मह्या इन्द्रः (ष० त०) । स्वयंवरमहाय=स्वयंवर एव महः, तस्मै (रूपक०) । नरेन्द्रान्=नराणाम् इन्द्राः, तान् (ष० त०) ।

आगमयते = आङ् + गम् + णिच् + लट् + त। "आगमेः क्षमायाम्" इस वार्तिकसे आत्मनेपद। कालिदासकारने क्षमाका उपेक्षा कालहरण, ऐसा अर्थ किया है। ऋषिः = "ऋषयः सत्यवचस." इत्यमरः। वेदमन्त्रका साक्षात्कार करनेवालेको "ऋषि" कहते हैं। नारद देवताओंके ऋषि होनेसे "देवर्षि" कहे जाते हैं। "एव ऋषिः" यहाँपर "ऋत्यकः" इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होनेसे सन्धिका अभाव। इन्द्रदिदृक्षुः = इन्द्रस्य दिदृक्षुः (ष० त०)। यहाँपर कारक-षष्ठी नहीं है, शेषषष्ठी है। त्रिदशधाम = त्रिदशानां धाम, तत् (ष० त०)। जगाम = गम् + लिट् + तिप्। इस सर्गमे स्वागता छन्द है, उसका लक्षण है—

"स्वागतेति रनभाद्गुरुयुग्मम्।" इति ॥ १ ॥

नात्र चित्रमनु तं प्रययौ यत् पर्वतः खलु तस्य सपक्षः।
नारदस्तु जगतो गुरुरुच्चैर्विस्मयाय गगनं विललङ्घे ॥ २ ॥

अन्वयः—पर्वतः तम् अनु यत् प्रययौ, अत्र चित्रं न। स तस्य सपक्षः खलु। (किन्तु) जगतः उच्चैः गुरुः नारदस्तु यत् गगनं विललङ्घे (तत्) विस्मयाय।

व्याख्या—अथ षड्भिः पद्यैर्नारदस्य गमनप्रकारं वर्णयति–नाऽत्रेति। पर्वतः = नारदसखो मुनिः, शैलश्च। तं = नारदम्, अनु = पश्चात्, प्रययौ = जगाम, अत्र = अस्मिन् विषये, चित्रं न = आश्चर्यं न। कुतः इत्याह—सः = पर्वतः, तस्य = नारदस्य, सपक्षः = सखा, पक्षवांश्च। खलु = निश्चयेन, पर्वतस्य नारदमित्रत्वाच्छैलत्वाच्च नारदाऽनुयाने आश्चर्यं नेति भावः। किं तु— जगतः = लोकस्य, उच्चैः = उन्नतः, गुरुः = आचार्यः, तस्मादलघुश्च तादृशो नारदस्तु, यत् गगनम् = आकाशं, विललङ्घे = लङ्घयामास, तत् = लङ्घनं, विस्मयाय = आश्चर्याय, भवतीत्यर्थः।

अनुवाद—पर्वत ऋषि, नारदके पिछे जो गये, इसमें आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वे उन(नारद)के सपक्ष मित्र अथवा पंखवाले हैं। किन्तु लोकके महान् आचार्य नारदजीने जो आकाशको लङ्घन किया, वह आश्चर्यके लिए है।

टिप्पणी—पर्वतः = "पर्वतः शैलदेवर्ष्योः" इति विश्वः। सपक्षः = पक्षेण सहितः (तुल्ययोगबहु०)। विस्मयाय = "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इससे चतुर्थी, अथवा "क्रियाऽर्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इससे चतुर्थी। पतनके योग्य

नारदरूप गुरुद्रव्यका उत्पतन (उडना) विरुद्ध है, ऐसे श्लेषसे उत्पादित विरोध अलङ्कार है ॥ २ ॥

गच्छता पथि विनैव विमानं व्योम तेन मुनिना विजगाहे ।
साधने हि नियमोऽन्यजनानां, योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः ॥ ३ ॥

अन्वय—*पथि विमानं विना एव गच्छता तेन मुनिना व्योम विजगाहे । हि* साधने नियमः अन्यजनानां, योगिनां तु तपसा अखिलसिद्धिः ।

व्याख्या—पथि=मार्गे, विमानं विना एव=व्योमयानं विना एव, गच्छता =व्रजता, तेन=पूर्वोक्तेन, मुनिना=नारदेन, व्योम=आकाशं, विजगाहे= प्रविष्टम्, उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—साधन इति । हि=यस्मात्कारणात्, साधने=उपाये, नियमः=अवश्यम्भावः । अन्यजनानाम्=अपरजनानाम्, *अस्मदादीनामिति भावः । योगिनां तु=तपोयोगयुक्तानां तु, तपसा=तपो-* धर्मेण, अखिलसिद्धिः=सर्वकार्यसिद्धिः । तस्मान्नारदसदृशानां योगिनां किं विमानेनेति भावः ।

अनुवाद—मार्गमें विमानके बिना ही जाते हुए नारद मुनिने आकाशमें प्रवेश किया, क्योंकि उपायमें और लोगोंको आवश्यकता है, योगियोंको तो तपस्यासे ही सब कार्योंमें सिद्धि होती है ।

टिप्पणी—विजगाहे=वि+गाह्+लिट् (कर्ममें)+त । अन्यजनानाम्= अन्ये च ते जनाः, तेषाम् (क० धा०) । योगिनां=युज्+घिनुण्+आम् । अखिलसिद्धिः=अखिलानां सिद्धिः (ष० त०) । इस पद्यमें सामान्यसे विशेष का समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ३ ॥

खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानाल्लङ्घते स्म मुनिरेष विमानान् ।
अर्पितोऽप्यतिथितामनुमेने नैव तत्पतिभिरङ्घ्रिविनम्रैः ॥ ४ ॥

अन्वय—एषः मुनिः खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान् विमानान् लङ्घते स्म । अङ्घ्रिविनम्रैः तत्पतिभिः अर्पितः अपि अतिथितां नैव अनुमेने ।

व्याख्या—एषः=नारदः, खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान्=निरस्तपुरन्दर-सदनाद्यहङ्कारान्, विमानान्=देवगृहान्, लङ्घते स्म=अतिचक्राम । किं बहुना—अङ्घ्रिविनम्रैः=चरणनिपतितैः, तत्पतिभिः=विमानाध्युषितैर्देवैः, अर्पितः अपि=प्रार्थितः अपि, अतिथिताम्=आतिथ्यं, नैव अनुमेने= नैव स्वीचकार, एतन्मात्रविलम्बं च न सोढवानिति भावः ।

अनुवाद—नारदजीने इन्द्रभवन आदिके अहङ्कारको दूर करनेवाले देवगृहोंको लङ्घन किया। चरणमें झुकनेवाले उन भवनोंके स्वामियोंके प्रार्थना करनेपर भी उन्होंने उनके आतिथ्यको स्वीकार नहीं किया।

टिप्पणी—खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान्=इन्द्रस्य भवनम् (ष० त०), इन्द्रभवनम् आदिर्येषां ते (बहु०), तेषाम् अभिमानः (ष० त०), खण्डित इन्द्रभवनाद्यभिमानो यैस्ते, तान् (बहु०)। अङ्घ्रिविनम्रैः=अङ्घ्र्योः विनम्राः, तैः (स० त०)। तत्पतिभिः=तेषां पतयः, तैः (ष० त०)। अतिथिताम्=अतिथि+तल्+टाप्+अम्। अनुमेने=अनु+मन+लिट्+त ॥ ४ ॥

तस्य तापनभिया तपनः स्वं तावदेव समकोचयदर्चिः।
यावदेष दिवसेन शशीव द्रागतप्यत न तन्महसैव ॥ ५ ॥

अन्वयः—तपनः तस्य तापनभिया स्वम् अर्चिः तावत् एव समकोचयत्। यावत् एष दिवसेन शशी इव तन्महसा एव द्राक् न अतप्यत।

व्याख्या—तपनः=सूर्यः, तस्य=मुनेः, नारदस्य। तापनभिया=सन्तापनभयेन, स्वम्=आत्मीयम्, अर्चिः=तेजः, तावत् एव=तत्परिमाणम् एव, समकोचयत्=सङ्कोचितवान्। यावत्=यत्परिमाणम्, एषः=तपनः, दिवसेन=दिनेन, दिनतेजसेत्यर्थः, शशी इव=चन्द्र इव, तन्महसा एव=मुनितेजसा एव, द्राक्=सपदि, न अतप्यत=सन्तप्तोऽभूत्।

अनुवाद—सूर्यने नारद मुनिके तापके भयसे अपने तेजको उस परिमाणतक संकुचित कर डाला, जिस परिमाणसे सूर्य दिनसे चन्द्रमाके समान मुनिके तेजसे ही शीघ्र सन्तप्त नहीं हुए।

टिप्पणी—तापनभिया=तापनात् भीः, तया (ष० त०)। समकोचयत्=सं+कुच+णिच्+लङ्+त। तन्महसा=तस्य महः, तेन (ष० त०)। मुनिको संतप्त करानेसे अपने तेजको संकुचित करना अच्छा है, ऐसा समझकर सूर्य मन्द प्रकाशवाले हो गये, यह अर्थ है। सूर्यसे भी मुनि तेजस्वी हैं, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ५ ॥

पर्यभूद्दिनमणिर्द्विजराजं यत्करैरहह ! तेन तदा तम्।
पर्यभूत् खलु करैर्द्विजराजः, कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ॥ ६ ॥

अन्वयः—दिनमणिः द्विजराजं करैः यत् पर्यभूत्। तेन तदा तं द्विजराजः करैः पर्यभूत्। अहह ! तथाहि—अत्र कः स्वकृतं कर्म न भुङ्क्ते ?

व्याख्या—दिनमणि =सूर्य, द्विजराज=चन्द्र ब्राह्मणोत्तम च, करैं = किरणै, हस्तैश्च, यत् पर्यभूत्=परिभूतवान्। अहह !=अद्भुतम् ! तथा हि—अत्र=ससारे, क =जन, स्वकृतम्=निजविहित, कर्म=क्रिया, न भुङ्क्ते ? =न अनुभवति ?

अनुवाद—सूर्यने द्विजराज=चन्द्र वा श्रेष्ठ ब्राह्मणको किरणोंसे अथवा हाथोंसे जो परिभूत किया, उस कारणसे उस समय उन(सूर्य)को द्विजराज श्रेष्ठ ब्राह्मण और चन्द्रमाने करो(किरणो वा हाथों)से परिभूत किया। इस ससारमे कौन अपने किये गये कर्मका फल नहीं भोगता है ?

टिप्पणी—दिनमणि =दिनस्य मणि (ष० त०)। द्विजराज=द्विजाना राजा, तम् (ष० त०)। करै ="बलिहस्तांऽशव करा" इत्यमर । पर्यभूत्= परि+भू+लुङ्+तिप्। अहह="अहहे त्यद्भुते खेदे" इत्यमर । स्वकृत= स्वेन कृत, तद् (तृ० त०)। सब कोई अपने किये गये कर्मका फल भोगता है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ६ ॥

विष्टरं तटकुशाऽऽलिभिरद्भि पाद्यमर्घ्यमथ कच्छरुहाभि ।
पद्ममुग्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदिताऽतिथयेऽस्मै ॥ ७ ॥

अन्वय—अथ स्वर्गसिन्धु अतिथये अस्मै तटकुशाऽऽलिभि विष्टरम्, अद्भि पाद्य, कच्छरुहाभि अर्घ्यं, पद्मवृन्दमधुभि मधुपर्कं च अदित।

व्याख्या—अथ=अनन्तर, स्वर्गसिन्धु =मन्दाकिनी, अतिथये=आगन्तवे, अस्मै=नारदाय, तटकुशाऽऽलिभि =तीरदर्भाऽऽवलिभि, विष्टरम्=आसनम्, अद्भि =जलेन, पाद्य=पादार्थं जल, कच्छरुहाभि =जलप्रायभूम्युत्पन्नाभिलताभि, अर्घ्यं=पूजार्थं पुष्पफलादि, पद्मवृन्दमधुभि =कमलसमूहमकरन्दै, मधुपर्कं च=दधिमधुघृत च, अदित=दत्तवती।

अनुवाद—तब मन्दाकिनीने अतिथि नारदको तीरके कुशोसे आसन, जलसे पाद्य (पैर धोनेके लिए जल), जलप्राय देशमें उत्पन्न होनेवाली लताओसे अर्घ्य (पूजाके लिए पुष्प और फल आदि) और कमलोके मधुओ(मकरन्दो)-से मधुपर्क दे दिया।

टिप्पणी—स्वर्गसिन्धु =स्वर्गस्य सिन्धु (ष० त०)। तटकुशाऽऽलिभि = तटे कुशानि (स० त०), तेषाम् आलय, ताभि (ष० त०)। विष्टर= विस्तीर्यते इति विष्टर, तम्, वि+स्तृञ्+अप्। "वृक्षाऽऽसनयोर्विष्टर" इस सूत्रसे षत्वनिपात। "विष्टरो विटपी दर्भमुष्टि पीठाद्यमासनम्" इत्यमर।

पाद्यं=पादार्थमुदकं, "पादार्घाभ्यां च" इस सूत्रसे पाद+यत्। कच्छरुहाभिः=कच्छे रोहन्तीति कच्छरुहाः, ताभिः, कच्छ+रुह+क+टाप्+भिस् (उपपद०)। अर्घ्यम्=अर्घार्थमुदकम्, पूर्वसूत्रसे अर्घ+यत्। पद्मवृन्दमधुभिः=पद्मानां वृन्दं (ष० त०), तस्य मधूनि, तैः (ष० त०)। मधुपर्कम्=दही, शहद और गायके घीको "मधुपर्क" कहते है। मन्दाकिनीने अतिथिसत्कारके तौरपर नारदमुनिको मधुपर्कके स्थानमें कमलोंके मकरन्दको अर्पण किया, यह भाव है। अदित=(डु) दाञ् + लुङ् +त। इस पद्यमें दीपक अलङ्कार है ॥ ७ ॥

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादिं ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव ॥ ८ ॥

अन्वयः—सः अगाधं वियदन्तः व्यतीत्य यती अनादिं भवसिन्धुं सम्प्रतीर्य शर्मभरचारु ब्रह्म इव नाकनायकनिकेतनम् आप।

व्याख्या——सः=नारदः, अगाधं=विशालं, वियदन्तः=आकाशाऽभ्यन्तरं, व्यतीत्य=अतिक्रम्य, यती=योगी, अनादिम्=आदिरहितं, प्रवाहनित्यमिति भावः। भवसिन्धुं=संसारसमुद्रं, सम्प्रतीर्य=सम्यक् तीर्त्वा, शर्मभरचारु=परमानन्दसुन्दरं, ब्रह्म इव=परमात्मानम् इव, नाकनायकनिकेतनं=इन्द्रभवनं, वैजयन्तमिति भावः। आप=प्राप्तवान्।

अनुवाद—नारदने विशाल आकाशके अभ्यन्तर भागको पार कर जैसे योगी आदि-अन्तसे रहित संसारसमुद्रको पार कर परम आनन्दसे सुन्दर ब्रह्म-(परमात्मा)को प्राप्त करता है, उसी तरह इन्द्रके भवन(वैजयन्त)को प्राप्त किया।

टिप्पणी—वियदन्तः=वियतः अन्तः, तत् (ष० त०)। व्यतीत्य=वि+अति+इण्+क्त्वा (ल्यप्)। अनादिम्=अविद्यमानः आदिः यस्य सः, तम् (नञ्बहु०)। भवसिन्धुं=भव एव सिन्धुः, तम् (रूपक०)। सम्प्रतीर्य=सं + प्र+तॄ+ क्त्वा (ल्यप्)। शर्मभरचारु=शर्मणः भरः (ष० त०), तेन चारु, तत् (तृ० त०)। नाकनायकनिकेतनं=नाकस्य (स्वर्गस्य) नायकः (ष० त०), तस्य निकेतनं, तत् (ष० त०)। आप=आप्+लिट्+तिप् (णल्)। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ८ ॥

अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारु तं सदकृताऽतिथिमिन्द्रः।
यावदर्हकरणं किल साधोः प्रत्यवायधुतये, न गुणाय ॥ ९ ॥

अन्वय —इन्द्रः तम् अतिथिम् उचितोच्चतराभि अर्चनाभि चारु सदकृत। यावदर्हकरण साधो प्रत्यवायधुतये, गुणाय न किल।

व्याख्या—इन्द्र =शक्र, त =पूर्वोक्तम्, अतिथिम् =आगन्तु, नारदमिति भाव। उचितोच्चतराभि =उचितात् (विहितात्) उच्चतराभि (अधिकाभि), अर्चनाभि =पूजाभि, चारु=शोभन यथा तथा, सदकृत=सत्कृतवान्, नारदस्य अधिक सत्कारं कृतवानिति भाव। अधिकाऽऽचरणे कारणमाह—यावदर्हकरणमिति। यावदर्हस्य (यावदुक्तस्य), करणम् (आचरणम्), साधो =शिष्टस्य, प्रत्यवायधुतये = अकरणदोषनिवारणाय एव, गुणाय=उत्कर्षाय, न=नो वर्तते, किल=निश्चयेन।

अनुवाद—इन्द्रने अतिथि नारदका उचितसे भी अधिक पूजाओसे अच्छी तरहसे सत्कार किया, क्योकि जितना चाहिए उतना ही करना शिष्टोको केवल प्रत्यवाय हटानेके लिए होता है, उत्कर्षके लिए नही।

टिप्पणी—उचितोच्चतराभि =अतिशयेन उच्चा उच्चतरा (उच्च+तरप्+टाप्), उचितात् उच्चतरा, ताभि (प० त०)। सदकृत=सत्+कृ+लङ्+त (कर्तामे), "आदराऽनादरयो सदसती" इससे निपातन होनेसे "सद्" शब्दका पूर्वप्रयोग हुआ है। यावदर्हकरण=यावान् अर्हो यावदर्हं, 'यावदवधारणे" इस सूत्रसे अव्ययीभाव। यावदर्हस्य करणम् (ष० त०)। प्रत्यवायधुतये=प्रत्यवायस्य धुति, तस्यै (ष० त०)। अतिथिकी पूजा आदिमे जितना सम्मान करना चाहिए, उतना करनेसे, केवल न करनेसे होनेवाले प्रत्यवाय(प्रायश्चित्तीयता)का परिहार होता है, उत्कर्षके लिए नहीं होता है, अत इन्द्रने उचितसे भी अधिक नारदकी पूजा की, यह तात्पर्य है। इस पद्यमे सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ६ ॥

> नामधेयसमतासखमद्रेरद्रिभिन्मुनिरथाद्रियत द्राक्।
> पर्वतोऽपि लभतां कथमर्चां न द्विज स विबुधाऽधिपलम्भी ॥ १० ॥

अन्वय —अथ अद्रिभित् अद्रे नामधेयसमतासख मुनि द्राक् आद्रियत। पर्वतोऽपि स द्विज विबुधाऽधिपलम्भी (सन्) कथम् अर्चां न लभताम् ?

व्याख्या—अथ=नारदसत्काराऽनन्तरम्, अद्रिभित्=इन्द्र, अद्रे=पर्वतस्य, नामधेयसमतासख =नामसाम्यमित्र, मुनि=पर्वत, द्राक्=शीघ्रम्, आद्रियत—सत्कृतवान्। पर्वत पर्वताऽरे (इन्द्रस्य) कथ सत्कार प्राप्तवानित्याह—पर्वतोऽपीति। पर्वतोऽपि = पर्वतनामधेयोऽपि, स = पूर्वोक्त, द्विज = ब्राह्मण,

विबुधाऽधिपलम्भी=देवेन्द्रप्रापी सन्, कथं=केन प्रकारेण, अर्चां=पूजां, न लभतां=नो प्राप्नोतु, लभतामेवेति भावः।

अनुवाद—नारदका सत्कार करनेके अनन्तर इन्द्रने पर्वतके समान नाम-वाले पर्वत मुनिका शीघ्र सत्कार किया। पर्वत नामवाले होकर भी वे ब्राह्मण इन्द्रको प्राप्त करनेपर क्यो सत्कारको प्राप्त न करे? (करेंगे ही)।

टिप्पणी—अद्रिभित्=अद्रिं भिनत्तीति, अद्रि+भिद्+क्विप्+सुः। नाम-धेयसमतासखं=नाम एव नामधेयम्, नाम शब्दसे "वा भागरूपनामभ्यो धेयः" इससे स्वाऽर्थ(प्रकृत्यर्थ)में धेयप्रत्यय। समस्य भावः समता, सम+तल्+टाप्, नामधेयेन समता सखा नामधेयसमतासखः (तृ० त०)। तस्याः (ष० त०), "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासान्त टच्। आद्रियत= आङ्+दृङ्+लङ्+त। विबुधाऽधिपलम्भी=विबुधानाम् अधिपः (ष०त०), "विबुधः पण्डिते देवे" इति विश्वः। विबुधाऽधिपं लभते इति, विबुधाऽधिप+लभ+णिनि (उपपद०)+सु। लभतां = लभ+लोट्+त। अभ्यागत "ब्राह्मण विवेकी शत्रुसे भी पूजाको प्राप्त करते है, यह भाव है ॥ १० ॥

तद्भुजादतिवितीर्णसपर्याद् द्योद्रुमानपि विवेद मुनीन्द्रः।
स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया तान् दानपारमितयैव वदान्यान् ॥ ११ ॥

अन्वयः—मुनीन्द्रः तान् द्योद्रुमान् अपि अतिवितीर्णसपर्यात् तद्भुजात् (गुरो) स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया दानपारमितया एव वदान्यान् विवेद।

व्याख्या—मुनीन्द्रः= नारदः, तान्=प्रसिद्धान्, द्योद्रुमान् अपि=कल्प-वृक्षान् अपि, अतिवितीर्णसपर्यात्=अतिशयदत्तपूजनात्, तद्भुजात्=इन्द्रहस्तात् एव (गुरोः), स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया=स्वर्गसहवासस्वभ्यस्तया, दानपार-मितया एव="दानपारमिता"ऽऽख्यग्रन्थविशेषेण एव, कारणेन, वदान्यान्= बहुप्रदान् विवेद=ज्ञातवान्।

अनुवाद—नारदने प्रसिद्ध कल्पवृक्षोंको भी, अत्यन्त पूजा करनेवाले इन्द्रके बाहुरूप गुरुसे स्वर्गमें साथ-साथ रहनेसे सुशिक्षित 'दानपारमिता" नामक ग्रन्थसे ही अधिक दान करनेवाला जाना।

टिप्पणी—मुनीन्द्रः=मुनीनाम् इन्द्रः (ष० त०)। द्योद्रुमान्=द्योः द्रुमाः, तान् (ष० त०)। अतिवितीर्णसपर्यात्=अत्यन्तं वितीर्णा (सुप्सुपा०), अतिवितीर्णा सपर्या येन अतिवितीर्णसपर्यः, तस्मात् (बहु०)। स्वःसहस्थिति-सुशिक्षितया = स्वः सहस्थितिः (स० त०), तया सुशिक्षिता, तया

(तृ० त०) । वदान्यान् = "स्युर्वदान्यस्थूललक्षदानशौण्डा बहुप्रदे" इत्यमर । विवेद=विद्+णिट्+तिप (णल्) । नारदने इन्द्रके हाथको "यह कल्पवृक्षों-को भी दानविद्याका उपदेश करनेवाला है" ऐसा जान लिया । "इन्द्रकी उदारता कल्पवृक्षको भी मात करनेवाली है" यह भाव है ॥ ११ ॥

मुद्रिताऽन्यजनसङ्कथन सन्नारद बलरिपु समवादीत् ।
आकर स्वपरभूरिकथाना प्रायशो हि सुहृदो सहवास ॥ १२ ॥

अन्वय — बलरिपु मुद्रिताऽन्यजनसङ्कथन सन् नारद समवादीत्, हि प्रायश सुहृदो सहवास स्वपरभूरिकथानाम् आकर ।

व्याख्या — बलरिपु = बलाऽराति , इन्द्र इत्यर्थं । मुद्रिताऽन्यजनसङ्कथन सन्=निवारितेतरलोकाऽऽलाप सन्, नारद=देवर्षि, समवादीत्=समवोचत् । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—आकर इति । हि=यस्मात्कारणात्, प्रायश = बाहुल्येन, सुहृदो = मित्रयो , सहवास = सङ्गम , स्वपरभूरिकथा-नाम् = आत्मीयाऽन्यबहुवार्तानाम्, आकर = खनि ।

अनुवाद — इन्द्रने अन्य व्यक्तिसे बातचीत रोककर नारदजीसे वार्तालाप किया, क्योंकि अकसर दो मित्रोंका सगम अपने और दूसरोंके बहुतसे वृत्तान्तों-का खान होता है ।

टिप्पणी — बलरिपु = बलस्य रिपु (प० त०), "बलाऽराति शचीपति" इत्यमर । मुद्रिताऽन्यजनसकथन = अन्यश्चाऽसौ जन (क० धा०), तेन सकथनम् (तृ० त०), मुद्रितम् अन्यजनसकथन येन स (बहु०) । समवादीत् = सम्+वद+लुङ्+तिप । प्रायश = प्राय+शस् । सुहृदयो = शोभन हृदय ययोस्तौ, तयो (बहु०) । सहवास = सह+वस्+घञ् । स्वपरभूरि-कथाना = भूरयश्च ता कथा (क० धा०), स्वे च परे च (द्वन्द्व), स्वपरेषा भूरिकथा , तासाम् (ष० त०) । आकर = "खनि स्त्रियामाकर स्यात्" इत्यमर । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १२ ॥

त कथाऽनुकथनप्रसृताया दूरमालपनकौतुकितायाम् ।
भूभृता चिरमनागमहेतु ज्ञातुमिच्छुरवदच्छतमन्यु ॥ १३ ॥

अन्वय — शतमन्यु आलपनकौतुकिताया दूर कथाऽनुकथनप्रसृताया (सत्याम्) चिर भूभृताम् अनागमहेतु ज्ञातुम् इच्छु (सन्) तम् अवदत् ।

व्याख्या—शतमन्युः = इन्द्रः, आलपनकौतुकितायाम् = आभाषणोत्कण्ठायां, दूरं = विप्रकृष्टं, कथाऽनुकथनप्रसृतायाम् = वचनाऽनुवचनविस्तृतायां सत्याम्, चिरं = बहुकालात्प्रभृति, भूभृतां = राज्ञाम्, अनागमहेतुम् = अनागमनकारणं, ज्ञातुं = वेत्तुम्, इच्छुः = अभिलाषुकः सन्, तं = नारदम्, अवदत् = उक्तवान्, अपृच्छदिति भावः ।

अनुवाद—इन्द्रने आभाषण(बातचीत)की उत्कण्ठाकी उक्ति और प्रत्युक्तिसे दूरतक बढ़नेपर बहुत कालसे राजाओंके न आनेके कारणको जानने-की इच्छा करते हुए उन(नारद)से कहा ।

टिप्पणी—शतमन्युः = शतं मन्यवः (यज्ञाः) यस्य सः (बहु०)। "मन्युर्दैन्ये क्रतौ युधि" इत्यमरः । आलपनकौतुकितायाम् = कौतुकम् अस्याऽस्तीति कौतुकी, कौतुक + इनिः, कौतुकिनो भावः, कौतुकिन् + तल् + टाप्, आलपनस्य कौतुकिता, तस्याम् (ष० त०) । कथाऽनुकथनप्रसृतायां = कथा च अनुकथनं च (द्वन्द्वः), कथाऽनुकथनाभ्यां प्रसृता, तस्याम् (तृ० त०) । भूभृतां = भुवं बिभ्रति भूभृतः, तेषाम्, भू + भृ + क्विप् + आम् (उपपद०) । अनागमहेतुम् = न आगमः (नञ्०), तस्य हेतुः, तम् (ष० त०) । अवदत् = वद + लङ् + तिप् ॥ १३ ॥

प्रागिव प्रसुवते नृपवंशाः किं नु सम्प्रति न वीरकरीरान् ?
ये परप्रहरणैः परिणामे विक्षताः क्षितितले निपतन्ति ॥ १४ ॥

अन्वयः—नृपवंशाः प्राक् इव सम्प्रति वीरकरीरान् किं न प्रसुवते नु ? ये परिणामे परप्रहरणैः विक्षताः (सन्तः) क्षितितले निपतन्ति ।

व्याख्या—नृपवंशाः = राजकुलानि, नृपरूपा वंशाश्च, प्राक् इव = पूर्वम् इव, सम्प्रति = इदानीं, वीरकरीरान् = वीराङ्कुरान्, किं न प्रसुवते नु ? = किं नो जनयन्ति नु ? ये = वीरकरीराः, परिणामे = वृद्धाऽवस्थायां, परप्रहरणैः = शत्रुशस्त्रैः, अन्यदात्रादिभिश्च, विक्षताः = हताः, आहताश्च सन्तः, क्षिति-तले = भूतले, निपतन्ति = निपतिता भवन्ति, न तु रोगादिनेति भावः ।

अनुवाद—राजाओंके कुल वा श्रेष्ठ वंश, पहलेके समान आजकल वीरोंके अङ्कुरों(पुत्रों)को वा श्रेष्ठ अङ्कुरों(कोपलों)को क्या उत्पन्न नहीं करते हैं ? जो वीरोंके अङ्कुर (सन्तान) वा श्रेष्ठ वंशोंके अङ्कुर (कोपल) परिपक्व अवस्था(वृद्धावस्था वा जीर्ण अवस्था)में शत्रुओंके हथियारोंसे वा अन्योंकी कुल्हाड़ी आदिसे ताडित होकर भूतलमें गिर पड़ते है ।

टिप्पणी—नृपवशा =नृपाणां वशा (ष० त०)। वशाके पक्षमें नृपा एव वशा (रूपक०)। "द्वौ वशौ कुम्भकरौ" इत्यमरः। वीरकरीरान्=वीरा एव करीरा, तान् (रूपक०), "वंशाऽङ्कुरे करीरोऽस्त्री" इत्यमरः। प्रसुवते= प्र+षूङ्+लट्+झ। परप्रहरणैः=परेषां प्रहरणानि, तैः (ष० त०)। विक्षता=वि + क्षण + क्त + जस्। क्षितितले=क्षितेस्तलं, तस्मिन् (ष० त०), निपतन्ति=नि+पत्+लट्+झि। इस पद्यमें रूपक और श्लेषका सङ्कर है ॥ १४ ॥

पार्थिवं हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्य विरोधि।
गौरवादपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिथिगौरवऋद्धिम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—वीरा पार्थिवं गौरवात् ऊर्ध्वगमनस्य दूरं विरोधि निजं वपु आजिषु अपास्य मत्कृताम् अतिथिगौरवऋद्धिं भजन्ते हि।

व्याख्या—वीरा =शूरा, पूर्वोक्ता रणपातिन इति भाव। पार्थिवं= पृथ्वीविकारम्, अत एव गौरवात्=गुरुत्वगुणयोगित्वात्, ऊर्ध्वगमनस्य= उत्पतनकर्मण पार्थिवत्वात् ऊर्ध्वलोकप्राप्तेश्च, दूरम्=अत्यन्तं विरोधि=प्रतिबन्धक, निजं=स्वकीयं, वपु =शरीरम्, आजिषु=युद्धेषु, अपास्य =त्यक्त्वा, मत्कृता=मद्विहिताम्, अतिथिगौरवऋद्धिम्=आगन्तुकसत्कारसमृद्धिं, भजन्ते= प्राप्नुवन्ति, तादृशवीराऽप्राप्तौ ममाऽतिथिलाभो न स्यादिति भाव।

अनुवाद—वीर राजा लोग पृथिवीके विकारभूत अतएव गुरु (वजनदार) होनेसे ऊपर जानेमें वा ऊर्ध्वलोकमें जानेमें अत्यन्त प्रतिबन्धक अपने शरीरको संग्राममें छोडकर मुझसे किये गये अतिथिसत्कारकी समृद्धिको प्राप्त कर लेते हैं।

टिप्पणी—पार्थिवं=पृथिव्या विकार, तत्, पृथिवी+अण्+अम्। गौरवात्=गुरु + अण + ङसि। ऊर्ध्वगमनस्य=ऊर्ध्वं च तत् गमनं, तस्य (क० धा०)। विरोधि = वि + रुध्+णिनि+अम्। अपास्य=अप+ अस्+क्त्वा (ल्यप्)। मत्कृता=मया कृता, ताम् (तृ० त०)। अतिथिगौरवऋद्धिम्=अतिथेः गौरवं (ष० त०), तस्य ऋद्धि, ताम् (ष० त०), 'गौरव+ऋद्धि" यहाँपर "ऋत्यक " इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होनेसे अर गुण नहीं हुआ। भजन्ते=भज+लट्+झ। पृथिवीका विकारभूत शरीर गुरु होनेसे ऊपर (स्वर्गमें) जानेमें असमर्थ है, इसलिए राजालोग संग्राममें (आहत

होकर मरनेसे) उसे छोड़कर (स्वर्गमें आकर) मेरे आतिथ्यसत्कारकी समृद्धिको प्राप्त करते हैं। कहा भी है—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च, रणे चाऽभिमुखो हतः॥"

अर्थात् योगाभ्यास करनेवाला संन्यासी और सम्मुख युद्धमें जो मारा जाता है, ये दो, लोकमें सूर्यमण्डलका भेदन करनेवाले हैं अर्थात् स्वर्गको प्राप्त होते हैं, यह इस पद्यका तात्पर्य है॥ १५॥

"साऽभिशापमिव नाऽतिथयस्ते मां यदद्य भगवन्नुपयान्ति।
तेन न श्रियमिमां बहु मन्ये स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम्॥ १६॥

अन्वयः—हे भगवन्! ते अतिथयः साऽभिशापम् इव माम् अद्य यत् न उपयान्ति, तेन स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम् इमां श्रियं न बहु मन्ये।

व्याख्या—हे भगवन्=हे मुने! ते=वीराः, अभिमुखयुद्धे प्राणत्यागिन इति शेषः। साऽभिशापम् इव=मिथ्याऽभिशस्तम् इव, मां=देवेन्द्रम्, अद्य= इदानीं, यत्, न उपयान्ति=न प्राप्नुवन्ति। तेन=कारणेन, स्वोदरैकभृति-कार्यकदर्यां=निजजठरमात्रपोषणकृत्यकृपणाम्, इमाम्=एतां, श्रियं=सम्पत्ति, न बहु मन्ये=न अधिकं विमृशामि, अतिथिसत्काररहितस्य समृद्धस्य समृद्धि-निष्फलता एव क्षतिरिति भावः।

अनुवाद—हे देवर्षे! संग्राममे प्राण छोड़नेवाले वैसे वीर अतिथि, पातक आदिके मिथ्या अभिशापसे युक्तके समान मेरे पास इन दिनों जो नहीं आते हैं, इस कारणसे अपने उदरमात्रके पोषण कार्यसे कृपण इस सम्पत्तिका मैं अधिक सम्मान नहीं करता हूँ।

टिप्पणी—भगवन्=भग+मतुप्+सु (सम्बुद्धिमें)। साऽभिशापम्= अभिशापेन सहितः, तम् (तुल्ययोगबहु०), "अथ मिथ्याऽभिशंसनम्। अभि-शापः" इत्यमरः। पातक आदिके झूठे अपवादको "अभिशाप" कहते हैं। उपयान्ति=उप+या+लट्+झिः। स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्या=स्वस्य उदरम् (ष० त०), एका चाऽसौ भृतिः (क० धा०), स्वोदरस्य एकभृतिः (ष० त०), सा एव कार्यम् (रूपक०), अर्तुं योग्यः अर्यः, "ऋ गतौ" धातुसे "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" इससे स्वामी और वैश्य अर्थमें ण्यत्का अपवाद यत् प्रत्यय। कुत्सितः अर्यः कदर्यः (गति०)। "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" इससे 'कु'के स्थानमें "कत्" आदेश। कदर्यका लक्षण है—"आत्मानं धर्मकृत्यं च

पुत्रदारांश्च पीडयेत्। लोभाच्च पितरो भ्रातॄन् स कदर्य इति स्मृत।" अर्थात् जो लोभसे अपनेको, धर्मकृत्यको, पुत्र, पत्नी, माता, पिता और भाइयोंको पीडित करे, उसे "कदर्य" कहते हैं। "कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचाः" इत्यमरः। स्वोदरैकभृतिकार्येण कदर्या, ताम्, (तृ० त०)॥ १६॥

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धा सम्पदो विपद एव विमृष्टाः।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥ १७॥

अन्वय—पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः सम्पदो विमृष्टाः विपद एव। तासु आसां पात्रपाणिकमलार्पणम् एव विधिदृष्टः शान्तिकविधिः।

व्याख्या—पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः=पुरातनसुकृतसम्पद्विनियोगप्राप्ताः। सम्पदः=सम्पत्तयः, विमृष्टाः=विचारिताः, विपद एव=विपत्तय एव। तासु=सम्पद्रूपासु विपत्सु, आसां=सम्पदां, पात्रपाणिकमलार्पणम् एव=विद्यादिसम्पन्नकरकमलदानम् एव, विधिदृष्टः=शास्त्रावलोकितः, शान्तिकविधिः=शान्तिकर्मानुष्ठानम्।

अनुवाद—पहलेकी पुण्यसम्पत्तिके व्ययसे प्राप्त सम्पत्तियाँ विचार करनेपर विपत्तियाँ ही हैं। उन सम्पत्तियोंमें उनको सत्पात्रोंके करकमलमें दान करना ही शास्त्रोंमें देखा गया शान्तिकर्मका अनुष्ठान है।

टिप्पणी—पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः=पूर्वं च तत्पुण्यम् (क० धा०), तस्य विभवः (ष० त०), तस्य व्ययः (ष० त०), तेन लब्धाः (तृ० त०)। सम्पदः=सम्+पद्+क्विप्+जस्। विमृष्टाः=वि+मृश्+क्त+टाप्+जस्। विपदः=वि+पद्+क्विप्+जस्। अपने उदयसे पहलेकी पुण्यसम्पत्तिकी नाशक होनेसे सम्पत्तियाँ विपत्तिरूप हैं, यह तात्पर्य है। पात्रपाणिकमलार्पण=पाणय एव कमलानि (रूपक०), पात्राणां पाणिकमलानि, (ष० त०), तेषु अर्पणम् (स० त०)। विधिदृष्ट=विधिषु दृष्टः (स० त०)। शान्तिकविधिः=शान्तिकस्य विधिः (ष० त०)। पात्रका लक्षण योगीश्वर याज्ञवल्क्यने किया है—

"न विद्यया केवलया तपसा वाऽपि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्" (आचार० २००)

अर्थात् केवल विद्यासे अथवा तपस्यासे पात्रता नहीं होती है, तपस्या और विद्याके साथ जहाँपर सच्चरित्रता भी विद्यमान है, उसे "पात्र" कहते हैं। ऐसे पात्रको पूर्वपुण्यसे प्राप्त सम्पत्तिका वितरण करनेसे उसकी शान्तिविधिका

अनुष्ठान होता है। इससे बीजाङ्कुरन्याय कहा गया। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १७ ॥

तद्विमृज्य मम संशयशिल्पि स्फीतमत्र विषये सहसाऽघम्।
भूयतां भगवतः श्रुतिसारैरद्य वाग्भिरघमर्षणऋग्भिः ॥ १८ ॥

अन्वयः—तत् अत्र विषये मम संशयशिल्पि स्फीतम् अघं सहसा विमृज्य भगवतो वाग्भिः श्रुतिसारैः अघमर्षणऋग्भिः भूयताम्।

व्याख्या—तत्=तस्मात्कारणात्, अत्र=अस्मिन्, विषये=अर्थे, मम=इन्द्रस्य, संशयशिल्पि=सन्देहजनकं, स्फीतं=प्रभूतम्, अघं=पापं, मिथ्याज्ञानस्य अघमूलत्वादिति भावः। सहसा=शीघ्रं, विमृज्य=निवर्त्य, भगवतः=देवर्षेर्भवतः, वाग्भिः=वाणीभिः, श्रुतिसारैः=वेदसारैः, कर्णाऽमृतैश्च, अघमर्षणऋग्भिः=अघमर्षणीभिः ऋग्भिः, पापनाशकच्छन्दोमन्त्रैरिति भावः। भूयतां=भूयेत। साम्प्रतं मत्समीपे राज्ञामनागमनकारणं ब्रूहीति भावः।

अनुवाद—उस कारणसे इस विषयमें मेरे सन्देहको उत्पन्न करनेवाले बढ़े हुए पापको शीघ्र हटाकर भगवान् आपकी वाणियाँ, वेदकी सारभूत अथवा कर्णोंको अमृतरूप अघमर्षण ऋचाएँ हो जाये।

टिप्पणी—संशयशिल्पि=शिल्पम् अस्याऽस्तीति शिल्प, शिल्प+इनिः। संशयस्य शिल्पि, तत् (ष० त०), संशयरूप शिल्पको उत्पन्न करनेवाला, यह तात्पर्य है। स्फीतं=स्फायी+क्त+सु। अघं="दुःखैनोव्यसनेष्वघम्" इति वैजयन्ती। विमृज्य=वि+मृज्+क्त्वा (ल्यप्)। श्रुतिसारैः=श्रुतेः साराः, तैः (ष० त०)। अघमर्षणऋग्भि.=अघं (पापम् मर्षयन्तीति अघमर्षण्यः, अघ + मृष्+णिच् + ल्युः (अन) + ङीप् (उपपद०), अघमर्षण्यश्च ता ऋचः (क० धा०), ताभिः, यहाँपर कर्मधारय समास होनेसे "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" इस सूत्रसे "पुंवद्भाव" महोपाध्याय मल्लिनाथजीने "स्त्रियाः पुंवत्०" इत्यादिसे जो पुंवद्भाव लिखा है, वह ठीक नही है, उक्त सूत्र तो बहुव्रीहि समासमें पुंवद्भाव करता है। "ऋत्यकः" इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होनेसे अर्‌गुण नही हुआ। "ऋतं च सत्यं च०" "आयं गो०" "द्रुपदादिव०" इत्यादि ऋचाएँ "अघमर्षणऋचा।"के नामसे प्रसिद्ध हैं। आपकी वाणियाँ वेदकी सारभूत अघमर्षण ऋचाओंके समान हों, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें मुनिवचनोंमें आरोप्यमाण अघमर्षणत्वका

प्रस्तुत अघ(पाप)के हरणमें उपयोग होनेसे परिणाम अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"विषयात्मतयाऽऽरोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ।
परिणामो भवेत्तुल्याऽतुल्याऽधिकरणो द्विधा ॥" १०—५१ ॥ १८ ॥

इत्युदीर्य मघवा विनयर्द्धि वर्धयन्नवहितत्वभरेण ।
चक्षुषा दशशतीमनिमेषा तस्थिवान्मुनिमुखे प्रणिधाय ॥ १९ ॥

अन्वय—मघवा इति उदीर्य अवहितत्वभरेण विनयर्द्धि वर्धयन् अनिमेषा चक्षुषा दशशती मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् ।

व्याख्या—मघवा=इन्द्र, इति=पूर्वोक्तम्, उदीर्य=उक्त्वा, अवहितत्वभरेण=एकाग्रताऽतिशयेन, विनयर्द्धि=नम्रताऽतिशय, वर्धयन्=समर्धयन्, अनिमेषा=निमेषरहिता, चक्षुषा=नेत्राणा, दशशतीं=सहस्र, मुनिमुखे=नारदवदने, प्रणिधाय=संस्थाप्य, तस्थिवान्=स्थित ।

अनुवाद—इन्द्र ऐसा कहकर अत्यन्त एकाग्रतासे नम्रताकी समृद्धिको बढ़ाते हुए निर्निमेष हजार नेत्रोंको नारद ऋषिके मुखमें लगाकर स्थित हुए ।

टिप्पणी—उदीर्य=उद्+ईर्+क्त्वा (ल्यप्) । अवहितत्वभरेण=अवहितस्य भाव, अवहित+त्व । अवहितत्वस्य भर, तेन (ष० त०) । विनयर्द्धि=विनयस्य ऋद्धि, ताम् (ष० त०) । वर्धयन्=वृध्+णिच्+लट् (शतृ)+सु । अनिमेषाम्=अविद्यमाना निमेषा यस्या सा, ताम् (नञ्बहु०) । दशशती=दशाना शताना समाहारो दशशती, ताम् । "तद्धितार्थोत्तरपदे समाहारे च" इस सूत्रसे समास, उसकी "सङ्ख्यापूर्वो द्विगु" इस सूत्रसे द्विगुसंज्ञा । "अकारान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रियामिष्ट" इससे स्त्रीत्वकी इष्टिसे "द्विगो" इससे ङीप् । मुनिमुखे=मुने मुख, तस्मिन् (ष० त०) । प्रणिधाय=प्र+नि+धा+क्त्वा (ल्यप्) । तस्थिवान्=स्था+लिट् (क्वसु)+सु ॥ १९ ॥

वीक्ष्य तस्य विनये परिपाक पाकशासनपद स्पृशतोऽपि ।
नारद प्रमदगद्गदयोक्त्या विस्मित स्मितपुर सरमाख्यत् ॥ २० ॥

अन्वय—नारद पाकशासनपद स्पृशत अपि तस्य विनये परिपाक वीक्ष्य विस्मित (सन्) प्रमदगद्गदया उक्त्या स्मितपुर सरम् आख्यत् ।

व्याख्या—नारद=देवर्षिविशेष, पाकशासनपदम्=इन्द्रत्व, स्पृशत अपि=अधितिष्ठत अपि, तस्य=इन्द्रस्य, विनये=नम्रतायां, परिपाक=प्रकर्ष, वीक्ष्य=दृष्ट्वा, विस्मित=आश्चर्ययुक्त सन्, प्रमदगद्गदया=हर्षविस्वरया,

उक्त्या=वाचा, स्मितपुरःसरं=मन्दहास्यपूर्वकम्, आख्यत्=आख्यातवान् "ऊचे" इति पाठान्तरे जगादेत्यर्थः।

अनुवाद—नारद, इन्द्रपदमें अधिष्ठित होनेपर भी इन्द्रकी नम्रताके उत्कर्षको देखकर आश्चर्ययुक्त होते हुए हर्षसे गद्गद वचनसे मन्दहास्यपूर्वक बोले।

टिप्पणी—पाकशासनपदं=पाकानां (दितिगर्भाणाम्) पाकस्य (दैत्य-विशेषस्य) वा शासनः (ष० त०), पाकशासनस्य पदं, तत् (ष० त०)। स्पृशत=स्पृशतीति स्पृशन्, तस्य, स्पृश+लट् (शतृ)+ङस्। वीक्ष्य=वि+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्)। विस्मितः=वि+स्मिङ्+क्तः (कर्तामें)+सुः। प्रमदगद्गदया=प्रमदेन गद्गदा, तया (तृ० त०)। उक्त्या=ब्रू (वच्)+क्तिन्+टा। स्मितपुरःसरं=स्मितं पुरःसरं यस्मिन्, तद्यथा तथा (बहु०)। आख्यत्=आङ्+ख्या+लुङ्+तिप्। "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे 'च्लि'के स्थानमें अङ् आदेश। "ऊचे" ऐसे पाठमें ब्रूञ् (वच्)+लिट्+त ॥ २० ॥

भिक्षिता शतमखी सुकृतं यत्तत्परिश्रमविदः स्वविभूतौ।
तत्फले तव परं यदि हेला क्लेशलब्धमधिकाऽऽदरदं तु ॥ २१ ॥

अन्वयः—शतमखी यत् सुकृतं भिक्षिता, तत्फले स्वविभूतौ हेला यदि, तत्परिश्रमविदः तव परं, क्लेशलब्धं तु अधिकाऽऽदरदम्।

व्याख्या—(हे इन्द्र !) शतमखी=शतयज्ञी, यत् सुकृतं=पुण्यं, भिक्षिता=याचिता। तत्फले=तत्सुकृतफले, स्वविभूतौ=निजैश्वर्ये, हेला यदि=अवज्ञा चेत्, तत्परिश्रमविदः=याच्ञाक्लेशाऽभिज्ञस्य, तव परं=भवत एव, नाऽन्यस्येति भावः। याचक एव याचकदुःखं जानातीति भावः। ननु धनिनां दातृत्वे किं चित्रम् ? तत्राह—क्लेशलब्धमिति। क्लेशलब्धं तु=प्रयासप्राप्तं वस्तु तु, अधिकादरदम्=बहुसम्मानकारकं, भवतीति शेषः।

अनुवाद—आपने सौ यज्ञरूप जो पुण्यकी याचना की है, उसके फलस्वरूप अपने ऐश्वर्यमें अनादर है तो वह याचनाके क्लेशके अभिज्ञ आपका ही है, क्लेशसे प्राप्त वस्तु तो अधिक सम्मान करनेवाला होता है।

टिप्पणी—शतमखी=शतानां मखानां समाहारः (द्विगुः)। भिक्षिता=भिक्ष+क्त+टाप्। भिक्ष धातुके दुहादि गणमें पढ़े जानेसे अप्रधान कर्ममें क्त प्रत्यय। तत्फले=तस्य फलं, तस्मिन् (ष० त०)। स्वविभूतौ=स्वस्य विभूतिः

तस्याम् (प० त०)। हेला="हेलाऽवना विलासयो" इति विश्व । तत्परिश्रम-विद् =तस्या (भिक्षाया) परिश्रम (प० त०), त वेत्तीति तत्परिश्रमविद्, तस्य, तत्परिश्रम+विद्+क्विप्+ङस् (उपपद०)। पर="पर स्या दुत्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवले" इति विश्व । याचक ही याचकका दु ख जानता है, यह भाव है । क्लेशलब्ध=क्लेशेन लब्धम् (तृ० त०) । अधिकादरदम्= अधिकश्चासौ आदर (क० धा०) त ददातीति, अधिकादर+दा+क (उपपद०) । क्लेशसे प्राप्त वस्तु तो अधिक सम्मानकी जनक होती है, परन्तु आपने सौ यज्ञोका अनुष्ठान करके जो इन्द्र पद पाया है, उसमे जो आप अनास्था दिखलाते हैं, वह आपके सिवाय कोई नही दिखाता है, यह भाव है । इस पद्यमे काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ २१ ॥

सम्पदस्तव गिरामपि दूरा यन्न नाम विनय विनयन्ते ।
श्रद्दधाति क इवेह न साक्षादाह चेदनुभव परमाप्त ? ॥ २२ ॥

अन्वय —तव सम्पदो गिराम् अपि दूरा , यत् विनय न विनयन्ते नाम । (किन्तु) इह परमाप्त साक्षात् अनुभव न आह चेत्, क इव श्रद्दधाति ?

व्याख्या—तव=भवत , सम्पद =सम्पत्तय , गिराम् अपि=वाचाम् अपि, दूरा =विप्रकृष्टवर्तिन्य , अगोचरा । भवत्सम्पदो वाग्भिर्वर्णयितु न शक्या इति भाव । यत्=यस्मात्कारणात, विनय=नम्रता, न विनयन्ते=नो लुम्पन्ति, नाम=खलु । किन्तु इह=अस्मिन् विषये, भवद्विनयस्य उत्कृष्टत्व इति भाव । परमाप्त =श्रेष्ठप्रमाणभूत , साक्षात्=प्रत्यक्षरूप , अनुभव =अनुभूति , न आह चेत्=न ब्रूते यदि, तर्हि क इव=को वा, श्रद्दधाति=विश्वसिति ।

अनुवाद—(हे देवेन्द्र !) आपकी सम्पत्तियाँ वाणियोंसे भी दूर हैं (वर्णनकी विषयभूत नही हैं), जो कि नम्रताको नही हटा रही हैं । इस विषयमे परम प्रमाणभूत प्रत्यक्ष अनुभव नहीं जताता तो कौन विश्वास करता ? (कोई नहीं) ।

टिप्पणी—सम्पद =सम्+पद्+क्विप्+जस् । विनयन्ते=वि+नीञ्+लट्+झ । "स्वरितञित कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" इससे आत्मनेपद । परमाप्त =परमश्चाऽसौ आप्त (क० धा०) । श्रद्दधाति=श्रद्+धा+लट्+तिप्, इस पद्यमे सम्पत्तियोके वचनगोचर होनेपर भी अगोचरत्वकी उक्ति होनेसे असम्बन्धरूप अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ २२ ॥

"श्रीभरानतिथिसात्करवाणि, स्वोपभोगपरता न हिते"ति ।
पश्यतो वहिरिवाऽन्तरपीयं दृष्टिसृष्टिरधिका तव काऽपि ॥ २३ ॥

अन्वयः—"श्रीभरान् अतिथिसात् करवाणि । स्वोपभोगपरता न हिता" इति पश्यतः तव वहिः इव अन्तः अपि काऽपि इयं दृष्टिसृष्टिः अधिका ।

व्याख्या—श्रीभरान्=सम्पत्तिसमूहान्, अतिथिसात्=दानेन अतिथ्यधीनं, करवाणि=कुर्याम्, स्वोपभोगपरता=निजमात्रोपभोगतत्परता, आत्मम्भरित्ता इति भावः । न हिता=न श्रेयस्करी, इति=एवं, पश्यतः=विलोकयतः जानतश्च, तव=भवतः, वहिः इव=वाह्य इव, देह इव, अन्तः अपि=अन्तरात्मनि अपि, काऽपि=अनिर्वचनीया, इयम्=एपा, दृष्टिसृष्टिः=ज्ञान-सृष्टिः अक्षिसृष्टिश्च, अधिका=असाधारणी ।

अनुवाद—(हे देवेन्द्र !) सम्पत्तियोंको दानसे अतिथियोंके अधीन करूँगा, केवल अपने उपभोगमें तत्परता हितकारक नहीं है, इस प्रकार देखते हुए और जानते हुए आपकी जैसे शरीरमें वैसे अन्तरात्मामें भी अनिर्वचनीय यह नेत्रोंकी और ज्ञानकी सृष्टि (उत्पत्ति) असाधारण है ।

टिप्पणी—श्रीभरान्=श्रियो भराः, तान् (प० त०) । अतिथिसात्= अतिथ्यधीनान् श्रीभरान् देयान् करवाणि, "दे ये त्रा च" इस सूत्रसे चकार-पाठके सामर्थ्यसे साति प्रत्यय । करवाणि=(डु) कृञ् + लोट् + मिप् । स्वोपभोगपरता=परस्य भावः परता, पर + तल् + टाप्, स्वस्य उपभोगः (प० त०), तस्मिन् परता (स० त०) । पश्यतः=पश्यतीति, तस्य, दृश् (पश्य) + लट् (शतृ) + ङस् । यहाँ पर दृश् धातु ज्ञान अर्थमें भी है । दृष्टि-सृष्टिः=दृष्टेः (नेत्रस्य, ज्ञानस्य वा) सृष्टिः (प० त०) । "दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षि-दर्शने" इत्यमरः । इन्द्रके हजार नेत्र थे, अतः उनके नेत्रोंकी सृष्टि यहाँपर विवक्षित है । इस पद्यमें श्लिष्ट शब्दसे गृहीत दोनों दृष्टियोंके अभेद अध्यव-सायसे "वहिरिव" ऐसे कथनसे उपमा अलङ्कार है ॥ २३ ॥

आः ! स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरां तरलाः स्मः ।
द्यां प्रशाधि गलिताऽवधिकालं साधु साधु विजयस्व विडौजः ! ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे विडौजः ! स्वभावमधुरैः तावकैः अनुभावैः अतितरां तरलाः स्मः । आः ! गलिताऽवधिकालं द्यां साधु प्रशाधि । साधु विजयस्व ।

व्याख्या—हे विडौजः=हे इन्द्रः ! स्वभावमधुरैः=निसर्गसुन्दरैः, तावकैः= त्वदीयैः, अनुभावैः=ऐश्वर्यैः, अतितराम्=अत्यन्तं, तरलाः=चञ्चलाः,

स्म = भवाम । ओ = अयमान्तास्वाद्यानुकार । गलिताऽधिकालम् = अनन्तसमयपर्यन्त, धा = स्वर्ग, साधु = सम्यक, प्रशाधि = प्रशासन कुरु । साधु = सम्यक्, विजयस्व = सर्वोत्कृष्टो भव ।

अनुवाद—हे इन्द्र ! स्वभावसे मनोहर आपके ऐश्वर्योंसे हम अत्यन्त चञ्चल हो गये हैं । ओ ! आप अनन्त समयतक स्वर्गका अच्छी तरहसे प्रशासन करें । आप अच्छी तरहसे सबमे उत्कृष्ट हो ।

टिप्पणी—विडोज = विडतीति विड, "विड भेदने" धातुसे क प्रत्यय । विडम् ओजो यस्य स विडोजा, तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । स्वभावमधुरैं = स्वभावेन मधुरा, तैः (तृ० त०) । तावकैं = तव इमे, तैः, युष्मद् + अण्, "तवकममकावेकवचने" इस सूत्रसे तवक आदेश । अनुभावैं = अनुगता भावा, तैः (गति०) । अतितराम् = अति + तरप् + आमु । गलिताऽवधिकालम् = गलित अवधि यस्य स (बहु०) । गलितावधि कालो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा (बहु०) । प्रशाधि = प्र + शास् + लोट् + सिप् । "शा हौ" इस सूत्रसे शा आदेश । विजयस्व = वि + जि + लोट् + थास् । "विपराभ्यां जे" इस सूत्रसे आत्मनेपद । इस पद्यमे आशी अलङ्कार है ॥ २४ ॥

सत्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताऽखिलनिजाऽघलघूनाम् ।
यत्त्विहाऽनुपगमः शृणु राज्ञां तज्जगत्तुवमुदं तमुदन्तम् ॥ २५ ॥

अन्वय —सत्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताऽखिलनिजाऽघलघूनां राज्ञां यत् इह अनुपगमः तत् जगत्तुवमुदं तम् उदन्तं शृणु ।

व्याख्या—नारद इन्द्रप्रश्नस्योत्तरमाह—सत्येति । सत्यविक्षत० = युद्धनिहतशरीरनिःसरद्रुधिरप्रक्षालितसमस्तस्वपापभाररहितानां, राज्ञां = नृपाणां, यत् = यस्मात्कारणात्, इह = अत्र, स्वर्गे, अनुपगमः = अनागमनं, तत् = कारणभूतं, जगत्तुवमुदं = लोकतरुणानन्दकारणं, तं = प्रसिद्धम्, उदन्तं = वृत्तान्तं, शृणु = आकर्णय ।

अनुवाद—युद्धमें निहत शरीरसे बहते हुए रुधिर(लोहू)से अपने समस्त पापका क्षालन होनेसे हल्के होनेवाले राजाओंका जो यहाँ आगमन नहीं होता है उसके कारणभूत, लोकके तरुण राजाओंका आनन्दकारण उस वृत्तान्तको सुनिए ।

टिप्पणी—सत्यविक्षत० = सत्ये विक्षता (स० त०), ताश्च तास्तनव (क० धा०), स्रवन्ति च तानि असाणि (रुधिराणि) (क० धा०),

संख्यविक्षत तनुभ्यः स्रवदस्त्राणि (प० त०), तैः क्षालितानि (तृ० त०), निजानि च तानि अघानि (क० धा०), अखिलानि च तानि निजाघानि (क० धा०), संख्यविक्षततनुस्रवदस्त्रक्षालितानि अखिलनिजाऽघानि येषां ते (बहु०), ते च ते लघवः, तेषाम् (क० धा०) । अनुपगमः=न उपगमः (नञ्०), जगद्युवमुदं=जगत्सु युवानः (स० त०), तेषां मुत्, ताम् (प० त०) । उदन्तं="वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्" इत्यमरः । शृणु= श्रु+लोट्+सिप् । इस पद्यमें क्षालिताऽघपदार्थकी विशेषण गतिसे लघुत्वका हेतु होनेसे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है ॥ २५ ॥

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी ।
भीमभूपतनया दमयन्ती नाम, या मदनशस्त्रममोघम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—भुवः भूषणं किमपि अनर्घं रत्नं कुमारी सा दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र जयति । या अमोघं मदनशस्त्रम् ।

व्याख्या—भुवः=भूमेः, भूषणम्=अलङ्काररूपं, किमपि=अनिर्वाच्यम्, रत्नं=मणिस्थानीया, असाधारणं स्त्रीरत्नमिति भावः । कुमारी=कन्या, अनूढेति भावः । सा=प्रसिद्धा, दमयन्ती नाम=नाम्ना दमयन्ती, भीमभूपतनया=भीमनृपदुहिता, तत्र=भुवि, जयति=सर्वोत्कर्षेण वर्तते, या दमयन्ती, अमोघम्=अनिष्फलं, सफलमित्यर्थः, मदनशस्त्रं=कामायुधम् ।

अनुवाद—भूमिके अलङ्काररूप अनिर्वाच्य अमूल्य रत्नस्वरूप दमयन्ती नामकी कुमारी, राजा भीमकी पुत्री उत्कर्षके साथ रहती है, जो कि कामदेव के सफल शस्त्रके समान है ।

टिप्पणी—अनर्घम्=अविद्यमानः अर्घः (मूल्यम्) यस्य तत् (नञ्-बहु०) । भीमभूपतनया=भीमश्चाऽसौ भूपः (क० धा०), तस्य तनया (प० त०) । अमोघम्=न मोघम् (नञ्०), "मोघं निरर्थकम्" इत्यमरः । इस पद्यमें नारदने दमयन्तीके कुल, नाम, सौन्दर्य, सौभाग्य और विवाहकी योग्यता इन सब विषयोंका वर्णन किया है ॥ २६ ॥

सम्प्रति प्रतिमुहूर्तमपूर्वा काऽपि यौवनजवेन भवन्ती ।
आशिषं सुकृतसारभृते सा क्वाऽपि यूनि भजते किल भावम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—सम्प्रति सा यौवनजवेन प्रतिमुहूर्तं काऽपि अपूर्वा भवन्ती आशिषं सुकृतसारभृते क्वाऽपि यूनि भावं भजते किल ।

व्याख्या —सम्प्रति=इदानी, सा=दमयन्ती, यौवनजवेन=तारुण्योत्पन्न-वेगेन, प्रतिमुहूर्तं=प्रतिक्षण, काऽपि=अनिर्वचनीया, अपूर्वा=अपरा इव, भवन्ती=सती, आशिखं=चूडापयन्त, नखादारभ्येति शेष । सुकृतसारभृते=पुण्योत्कर्षपूर्णे, क्वाऽपि=कस्मिन्नपि, यूनि=तरुणे, भावम्=अनुराग, भजते=करोतीति भाव, किल=इति प्रसिद्धि ।

अनुवाद—इस समय वह तारुण्यसे उत्पन्न वेगसे प्रतिक्षण अनिर्वाच्य और अनोखी सी होती हुई नखसे शिखतक पुण्यके उत्कर्षसे पूर्ण किसी युवा पुरुषमे अनुराग करती है, ऐसा सुना जाता है ।

टिप्पणी—यौवनजवेन=यौवनस्य जव, तेन (ष० त०)। प्रतिमुहूर्तम् (अव्ययीभाव)। आशिखं=शिखाया आ, "आङ् मर्यादाऽभिविध्यो" इससे अव्ययीभाव। सुकृतसारभृते=सुकृतस्य सार (ष० त०), तेन भृत, तस्मिन् (तृ० त०)॥ २७॥

कथ्यते न कतम स इति त्व मां विवक्षुरसि किं चलदोष्ठ ?
अर्धवर्त्मनि रुणत्सि न पृच्छां, निर्गमेण न परिश्रमयैनाम् ॥ २८ ॥

अन्वय —चलदोष्ठ त्व स कतम इति मा विवक्षु असि किम् ? (तर्हि) अर्धवर्त्मनि पृच्छा न रुणत्सि ? एना निर्गमेण न परिश्रमय ।

व्याख्या—(हे देवेन्द्र!) चलदोष्ठ=चञ्चलाधर, त्व, स=युवा, कतम=क, इति=एव, मा=नारद, विवक्षु=वक्तुमिच्छु, असि किं=वर्तसे किम् ? (तर्हि) अर्धवर्त्मनि=अर्धमार्गे, अर्धोक्त इति भाव । पृच्छा=प्रश्न, न रुणत्सि=न निवारयसि ?, रुणत्सि एव, एना=पृच्छा, निर्गमेण=नि सारणेन, उच्चारणेनेति भाव, न परिश्रमय=मा खेदय ।

अनुवाद—(हे देवेन्द्र!) हिलते हुए ओष्ठवाले आप "वह कौन है ?" ऐसा मुझे पूछनेकी इच्छा करते हैं क्या ? तब तो आधे मार्गमे प्रश्नको नही रोकते हैं ? इस(प्रश्न)को उच्चारणसे परिश्रान्त मत कीजिए ।

टिप्पणी—चलदोष्ठ=चलन् ओष्ठो यस्य ■ (बहु०)। कतम=किं+डतमच् । विवक्षु=वच्+सन्+उ । अर्धवर्त्मनि=अर्ध च तत् वर्त्म, तस्मिन् (क० धा०)। पृच्छा=प्रच्छन पृच्छा, ताम्, प्रच्छ धातुसे "षिद्भि-दादिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ्+टाप्+अम् । ङित् होनेसे "ग्रहिज्यावयिव्यधि-वष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीना ङिति च" इससे सम्प्रसारण । रुणत्सि=रुधिर्+लट्+सिप् । परिश्रमय=परि+श्रम+णिच्+लोट्+सिप् ॥२८॥

यत्पथाऽवधिरणुः परमः, सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात् ।
बालया निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—परमः अणुः यत्पथाऽवधिः, सा, योगिधीः अपि बालया निजमनः-परमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतम् एनं यस्मात् न पश्यति (तस्मादेनां निर्गमेण न परिश्रमय) ।

व्याख्या—तदकथने हेतुमाह—यत्पथाऽवधिरिति । परमः=उत्कृष्टः, सूक्ष्म इति भावः, अणुः=कणः, परमाणुरित्यर्थः । यत्पथाऽवधिः=यद्योगिधीसीमा, सा=तादृशी, योगिधीः अपि=योगिबुद्धिः अपि, बालया=तरुण्या, दमयन्त्या । निजमनःपरमाणौ=स्वचित्तपरमाणौ, ह्रीदरीशयहरीकृतं=लज्जागुहागतसिंही-कृतम्, एनं=युवानं, यस्मात्=कारणात्, न पश्यति=नो विलोकयति, तस्मान्न कथ्यत इति भावः ।

अनुवाद—परमाणु, जिस योगिबुद्धिके मार्गकी सीमा (हद) है, तरुणी दमयन्तीसे अपने मनरूप परमाणुमें लज्जारूप गुहामें रहनेवाले सिंहरूप बनाये गये जिस युवकको पूर्वोक्त योगिबुद्धि भी नहीं देखती है (इसलिए मैं नहीं कहता हूँ) ।

टिप्पणी—परमः अणुः=सबसे सूक्ष्म पदार्थको "परमाणु" कहते हैं । यत्पथाऽवधिः=यस्याः (योगिधियः) पन्था यत्पथः (ष० त०), यत्पथस्य अवधिः (ष० त०) । योगिधीः=योगिनो धीः (ष० त०) । निजमनः-परमाणौ=परमश्चाऽसौ अणुः (क० धा०), निजं च तन्मनः (क० धा०), निजमन एव परमाणुः, तस्मिन् (रूपक०) । नैयायिकोंके मतोंमें मन अणु-परिमाणवाला माना गया है । ह्रीदरीशयहरीकृतं=ह्रीः एव दरी (रूपक०), ह्रीदर्यां शेते ह्रीदरीशयः, ह्रीदरी–उपपदपूर्वक शीङ् धातुसे "अधिकरणे शेतेः" इस सूत्रसे खश् प्रत्यय । ह्रीदरीशयश्चाऽसौ हरिः (क० धा०), अह्रीदरीशय-हरिः ह्रीदरीशयहरिः यथा सम्पद्यते तथा कृतः, तम्, ह्रीदरीशयहरि + च्वि + कृ + क्त + अम् । योगीकी बुद्धि भी परमाणुके स्वरूपको ही ग्रहण करती है परन्तु अन्तःकरणमें प्रवेश करनेकी शक्ति उसमें नहीं है, अतः ज्ञान न होनेसे नहीं कहता हूँ, कपटसे नहीं; यह अभिप्राय है ॥ २९ ॥

सा शरस्य कुसुमस्य शरव्यं सूचिता विरहवार्चिभिरङ्गैः ।
तातचित्तमपि धातुरधत्त स्वस्वयंवरमहाय सहायम् ॥ ३० ॥

अन्वय —सा विरहवाचिभि , अङ्गै कुसुमस्य शरस्य शरव्य सूचिता तात चित्तम् अपि स्वस्वयवरमहाय धातु सहायम् अधत्त ।

व्याख्या—सा = दमयन्ती, विरहवाचिभि = वियोगव्यञ्जकै , अङ्गै = अवयवै , कृशतापाण्डुताऽऽदिपरिक्लिष्टैरिति शेष । कुसुमस्य शरस्य = पुष्परूपस्य बाणस्य, कामस्येति शेष । शरव्य = लक्ष्य, सूचिता = ज्ञापिता । अत , तातचित्तम् अपि = जनकमानसम् अपि, स्वस्वयवरमहाय = निजस्वयवरोत्सवाय, धातु = ब्रह्मण , सहाय = सहकारि, अधत्त = अकरोत् ।

अनुवाद—उस (दमयन्ती)ने वियोगकी सूचना करनेवाले अङ्गोसे कामदेवके पुष्परूप बाणके लक्ष्य (निशाना) बनकर अपने पिता भीमके चित्तको भी अपने स्वयवर उत्सवके लिए ब्रह्माजीका सहायक बनाया है ।

टिप्पणी—विरहवाचिभि = विरह ब्रुवन्तीति विरहवाचीनि, तै , विरह + ब्रू (वच्) + णिनि + भिस् (उपपद०) । कुसुमस्य शरस्य = यह व्यस्त रूपक है । सूचिता = सूच + क्त + टाप् + सु । तातचित्त = तातस्य चित्त, तत् (ष० त०) । स्वस्वयवरमहाय = स्वस्य स्वयवर (ष० त०), स एव मह , तस्मै (रूपक०) । धातु = धा + तृच् + ङस् । अधत्त = धाञ + लङ् + त । दमय तीके पिता राजा भीमने भी ब्रह्माजीकी प्रेरणासे दमयन्तीकी विरहवेदना हटानेके लिए उनके स्वयवरको ही उपाय समझा, यह अभिप्राय है ॥ ३० ॥

मन्मथाय यदाऽदित राज्ञा हृतिदूत्यविधये विधिराज्ञाम् ।
तेन तत्परवशा पृथिवीशा सङ्गर गरमिवाऽऽकलयन्ति ॥ ३१ ॥

अन्वय —अथ विधि राज्ञा हृतिदूत्यविधये यत् मन्मथाय आज्ञाम् अदित, तेन तत्परवशा पृथिवीशा सङ्गर गरम् इव आकलयन्ति ।

व्याख्या—अथ = अनन्तर, विधि = ब्रह्मा, राज्ञा = नृपाणा, हृतिदूत्यविधये = स्वयवराह्वानदूतकर्मविधानाय, यत्, मन्मथाय = कामदेवाय, आज्ञाम् = आदेशम्, अदित = दत्तवान्, तेन = आज्ञादानेन, तत्परवशा = कामाऽधीना , पृथिवीशा = राजान , सङ्गर = युद्ध, गरम् इव = विषम् इव, आकलयन्ति = मन्यन्ते, अतो राज्ञामिहाऽऽगमनमिति भाव ।

अनुवाद—तब ब्रह्माजीने राजाओको स्वयवरके लिए आह्वानरूप दूतकर्मके लिए जो कामदेवको आज्ञा दी है, उस आज्ञासे कामदेवके अधीन राजालोग युद्धको विषके समान जानते हैं ।

टिप्पणी—हूतिदूत्यविधये=दूतस्य भावः कर्म वा दूत्यम्, दूत शब्दसे "दूतवणिग्भ्यां च" इससे य प्रत्यय। हूतिरेव दूत्यम् (रूपक०), तस्य विधिः, तस्मै (ष० त०)। मन्मथाय=सम्प्रदानमें चतुर्थी। अदित=(डु) दाञ्+लुङ्+त। तत्परवशाः=तस्य परवशाः (ष० त०)। पृथिवीशाः=पृथिव्या ईशाः (ष० त०)। गरं="विषं स्याद् गरलं गरः" इति हलायुधः। आकलयन्ति=आङ्+कल+णिच्+लट्+झि ॥ ३१ ॥

येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वाऽपि गुणेषु।
तत्र तत्र कलयाऽपि विशेषो यः स हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—दमयन्ती येषु येषु भूषणेषु यदि वा गुणेषु अपि सरसा, तत्र तत्र कलया अपि यो विशेषः क्षितिभृतां स हि पुरुषार्थः।

व्याख्या—दमयन्ती=भैमी, येषु येषु=यत्र यत्र, भूषणेषु=अलङ्कारेषु, हारादिष्विति भावः। यदि वा=अथवा, गुणेषु अपि=औदार्यादिषु अपि, सरसा=साऽभिलाषा, तत्र तत्र=तेषु तेषु भूषणेषु, औदार्याऽऽदिगुणेषु वा, कलया अपि=लेशेन अपि, यः, विशेषः=आधिक्यं, क्षितिभृतां=राज्ञां, स हि=स एव, पुरुषार्थः=धर्माऽऽदिरूपं प्रयोजनम्, न तु क्षत्रधर्मः सङ्गर इति भावः।

अनुवाद—दमयन्ती जिन-जिन हार आदि अलङ्कारोंमें अथवा औदार्य आदि गुणोंमें भी अभिलाष करती है, उन-उन अलङ्कारोंमें अथवा औदार्य आदिमें जो थोड़ा-सा भी आधिक्य है, राजाओंको वही पुरुषार्थ है (युद्ध नहीं)।

टिप्पणी—सरसा=रसेन सहिता (तुल्ययोगबहु०)। क्षितिभृतां=क्षिति बिभ्रति इति क्षितिभृतः, तेषाम्, क्षिति+भृ+क्विप्+आम् (उपपद०)। पुरुषार्थः=पुरुषस्य अर्थः (ष० त०)। राजाओंको किसी भी प्रकारसे दमयन्तीका मनोरञ्जन करना ही पुरुषार्थ हो रहा है, क्षत्रियोंका धर्मयुद्ध नहीं, यह तात्पर्य है ॥ ३२ ॥

शैशवव्ययदिनाऽवधि तस्या यौवनोदयिनि राजसमाजे।
आदरादहरहः कुसुमेषोरुल्ललास मृगयाऽभिनिवेशः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—कुसुमेषोः यौवनोदयिनि राजसमाजे तस्याः शैशवव्ययदिनाऽवधि अहरहः आदरात् मृगयाऽभिनिवेशः उल्ललास।

व्याख्या—कुसुमेषोः=कामस्य, यौवनोदयिनि=तारुण्ययुक्ते, राज-

समाजे=नृपसमूहे, तस्या =दमयन्त्या, शैशवव्ययदिनाऽवधि=बाल्याऽपगमदिनमारभ्य, अहरह् =प्रतिदिनम्, आदरात् =आदरपूर्वक, मृगयाऽभिनिवेश =आखेटाऽऽग्रह, उल्ललास =ववृधे ।

अनुवाद—कामदेवका युवक राजसमूहमें, दमयन्तीका बचपन बीतनेके दिनसे लेकर प्रतिदिन आदरपूर्वक शिकार खेलनेका आग्रह बढ रहा है ।

टिप्पणी—कुसुमेषो =कुसुमानि इषवो यस्य स कुसुमेषु, तस्य (बहु०)। यौवनोदयिनि=यौवनस्य उदय (ष० त०), स अस्याऽस्तीति यौवनोदयी, तस्मिन्, यौवनोदय+इनि+ङि । राजसभाजे=राज्ञा समाज, तस्मिन् (ष० त०)। शैशवव्ययदिनाऽवधि =शैशवस्य व्यय (ष० त०), तस्य दिनम् (ष० त०), शैशवव्ययदिनम् अवधि (सीमा) यस्मिन्, तद्यथा तथा (बहु०) । क्रि० वि० । अहरह =वीप्सामें द्विरुक्ति । "रोऽसुपि" इस सूत्रसे अहन् शब्दका रेफ आदेश । मृगयाऽभिनिवेश =मृगयायाम् अभिनिवेश (स० त०) । उल्ललास=उद्+लस्+लिट्+तिप् (णल्) । सब युवक राजाओंको दमयन्तीके यौवनके आविर्भावकालसे कामव्यसन ही है, समरव्यसन नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

इत्यमी वसुमतीकमितारः सादरास्त्वदतिथीभवितुं न ।

भीमभूसुरभुवोरभिलाषे दूरमन्तरमहो ! नृपतीनाम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—इति अमी वसुमतीकमितार त्वदतिथीभवितु सादरा न । नृपतीना भीमभूसुरभुवो अभिलाषे दूरम् अन्तरम् । अहो !

व्याख्या—इति=इत्थम्, अमी=एते, नृपतय, वसुमतीकमितार =पृथिवी प्रति वाञ्छाशीला सन्त, पृथिव्यामेव भैम्या विद्यमानत्वादिति शेष । त्वदतिथीभवितु=भवदातिथ्य स्वीकर्तुं, सम्मुखयुद्धे प्राणत्यागेनेति शेष । सादरा न=साऽभिलाषा न, तथाहि—नृपतीना=राज्ञा, भीमभूसुरभुवो =दमयन्तीस्वर्गलोकयो, अभिलाषे=अनुरागे विषये, दूर=महत्, अन्तर=भेद ।

अनुवाद—इस प्रकार वे राजालोग पृथ्वीको ही चाहते हुए आपके अतिथि होनेके लिए अभिलाष नहीं करते हैं, राजाओंको दमयन्ती और स्वर्गके अनुरागमें बहुत ही तारतम्य है ।

टिप्पणी—वसुमतीकमितार =कामयन्त इति कमितार, कम्+तृच्, वसुमत्या कमितार (ष० त०)। त्वदतिथीभवितु =तव अतिथय (ष० त०), अत्वदतिथय त्वदतिथयो यथा सम्पद्यन्ते तथा भवितुम्, त्वद-

तिथि + च्वि + भू + तुमुन् । सादरा=आदरेण सहिताः (तुल्ययोगबहु०) । नृपतीनां=नृणां पतयः, तेषाम् (प० त०) । भीमभूसुरभुवोः=भीमात् भवतीति भीमभूः, भीम + भू + क्विप् (उपपद०), सुराणां भूः (प० त०), भीमभूश्च सुरभूश्च भीमभूसुरभुवौ, तयोः (द्वन्द्व०) । अहो=राजाओंको स्वर्गमें भी रुचि नहीं है, इस आश्चर्यका द्योतन करनेके लिए इस निपातका प्रयोग किया गया है । इस प्रकार सुराऽङ्गनाओंको भी मात करनेवाला दमयन्तीका सौन्दर्य है, यह व्यङ्ग्य होता है । भीमका देश और सुरोंका देश इन दोनोंमें बहुत दूरता है, ऐसे अर्थकी भी प्रतीति होती है । इस पद्यमें उत्तरार्द्धके वाक्याऽर्थसे स्वर्गकी अरुचिसे पूर्वार्द्ध वाक्यका अर्थ आतिथ्यके अनादरका समर्थन होनेसे वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

तेन जाग्रदधृतिर्दिवमागां सङ्ख्यसौख्यमनुसर्तुमनु त्वाम् ।
यन्मृधं क्षितिभृतां न विलोके तन्निमग्नमनसां भुवि लोके ॥ ३५ ॥

अन्वयः—यत् भुवि लोके तन्निमग्नमनसां क्षितिभृतां मृधं न विलोके, तेन जाग्रदधृतिः सङ्ख्यसौख्यम् अनुसर्तुं त्वाम् अनु दिवम् आगाम् ।

व्याख्या—नारदः स्वाऽऽगमने कारणमाह—तेनेति । यत्=यस्मात् कारणात्, भुवि लोके=भूलोके, तन्निमग्नमनसां=भैम्यासक्तचित्तानां, क्षितिभृतां=राज्ञां, मृधं=युद्धं, न विलोके=न पश्यामि, तेन=कारणेन, युद्धाऽलाभेनेति भावः । जाग्रदधृतिः=वर्धमानाऽसन्तोषः सन्, सङ्ख्यसौख्यं=युद्धसुखम्, अनुसर्तुम्=अनुभवितुम्, त्वाम् अनु=भवन्तम् उद्दिश्य, दिवं=स्वर्गम्, आगाम्=आगतः ।

अनुवाद—जिस कारणसे कि भूलोकमें दमयन्तीमें आसक्त चित्तवाले राजाओंका युद्ध नहीं देख रहा हूँ, उससे असन्तोषकी वृद्धिसे युद्धसुखका अनुभव करनेके लिए आपको उद्देश्य करके स्वर्गलोकमें आया हूँ ।

टिप्पणी—तन्निमग्नमनसां=निमग्नं मनो येषां ते (बहु०), तस्यां निमग्नमनसः, तेषाम् (स० त०) । क्षितिभृतां=क्षितिं बिभ्रति इति क्षितिभृतः, तेषाम् । क्षिति + भृ + क्विप् (उपपद०) + आम् । मृधं="मृधमास्कन्दनं सङ्ख्यम्" इत्यमरः । विलोके=वि + लोक + लट् + इट् । जाग्रदधृतिः =न धृतिः (नञ्०), जाग्रती अधृतिः यस्य सः (बहु०) । संख्यसौख्यं= संख्यस्य सौख्यं, तत् (प० त०) । अनुसर्तुम्=अनु + सृ + तुमुन् । आगाम्=

आङ् + उपसर्गपूर्वक इण् धातुके लुङ्मे "इणो गा लुङि" इस सूत्रसे गा आदेश हुआ है ॥ ३५ ॥

वेद यद्यपि न कोऽपि भवन्त हृत ! हन्त्रकरुण विरुणद्धि ।
पृच्छयसे तदपि येन विवेकप्रोञ्छनाय विषये रससेक ॥ ३६ ॥

अन्वय — हन्त्रकरुण भवन्त कोऽपि न विरुणद्धि, वेद यद्यपि, तदपि पृच्छयसे हन्त ! येन विषये रससेक विवेकप्रोञ्छनाय ।

व्याख्या—हन्त्रकरुण=घातुकनिष्कृप, भवन्त=देवेन्द्र, कोऽपि=कश्चि-च्छत्रु, न विरुणद्धि=नो विरुद्ध्यति, वेद यद्यपि=एतावत् वेद्म्येव, हृत= हर्षद्योतकमव्ययमिदम् । तदपि=तथाऽपि, ज्ञाने सत्यपीति भाव, पृच्छयसे= अनुयुज्यसे, अत्र युद्धमस्ति नो वेतीति शेष । येन=कारणेन, विषये=अभि-लषणीये वस्तुनि, रससेक=रागाऽनुबन्ध, विवेकप्रोञ्छनाय=ज्ञानाऽ-भावाय, भवतीति शेष । अनुरागवशाज्ज्ञातमपि वस्तु अज्ञातवत्पृच्छामीति भाव ।

अनुवाद—आक्रमण करनेवालोमे निर्दय आपसे कोई भी विरोध नही करता है, यद्यपि मैं यह जानता हूँ तो भी पूछता हूँ (यहाँ युद्ध है कि नही), जो कि अभिलाषाके योग्य वस्तुमे अनुरागका सम्बन्ध, ज्ञानके अभावके लिए हो जाता है ।

टिप्पणी—हन्त्रकरुण=घ्नन्तीति हन्तार, हन्=तृन्, अविद्यमाना करुणा यस्य स अकरुण (नञ् बहु०), हन्तृषु अकरुण, तम् (स० त०) । विरुणद्धि=वि + रुध् + लट् + तिप् । वेद=विद् धातुके "विदो लटो वा" इस सूत्रसे मिप्के स्थानमे विकल्पसे णल् आदेश । पृच्छयसे=प्रच्छ + लट् + (कर्म) + थास् । रससेक =रसस्य सेक (ष० त०) । विवेकप्रोञ्छनाय= विवेकस्य प्रोञ्छन, तस्मै (ष० त०) । युद्धमे मेरा ज्यादा अनुराग होनेसे यहाँ युद्ध नहीं है, ऐसा जानकर भी न जानता हुआ सा होकर मैं आपसे पूछ रहा हूँ, यह तात्पर्य है ॥ ३६ ॥

एवमुक्तवति देवऋषीन्द्रे द्रागभेदि मघवाननमुद्रा ।
उत्तरोत्तरशुभो हि विभूना कोऽपि मञ्जुलतम क्रमवाद ॥ ३७ ॥

अन्वय —देवऋषीन्द्रे एवम् उक्तवति मघवाननमुद्रा द्राक् अभेदि, हि विभूना कोऽपि मञ्जुलतम क्रमवाद उत्तरोत्तरशुभ ।

व्याख्या—देवऋषीन्द्रे=नारदे, एवम्=इत्थम्, उक्तवति=भाषितवति सति, मघवाननमुद्रा=इन्द्रमुखमौनं, द्राक्=शीघ्रम्, अभेदि=स्वयमेव भिद्यते स्म, इन्द्रोऽभाषिष्टेति भावः। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—उत्तरोत्तरशुभ इति। हि=यस्मात्कारणात्, विभूनां=प्रभूणां, कोऽपि=अनिर्वाच्यः, मञ्जुलतमः=मनोहरतमः, क्रमवादः=प्रश्नोत्तरक्रमोक्तिः, उत्तरोत्तरशुभः=उपर्युपरिप्रियः, भवतीति शेषः।

अनुवाद—नारदके ऐसा कहनेपर देवेन्द्रके मुखका मौन शीघ्र ही भग्न हुआ, क्योंकि प्रभुओंके अनिर्वाच्य और अति मनोहर प्रश्नोत्तरक्रमकी उक्ति उत्तरोत्तर प्रिय होती है।

टिप्पणी—देवऋषीन्द्रे=देवानाम् ऋषयः (ष० त०), "ऋत्यकः" इस सूत्रसे प्रकृतिभाव होनेसे अर्-गुण नहीं हुआ, देवऋषीणाम् इन्द्रः, तस्मिन् (ष० त०)। मघवाननमुद्रा=मघोन आननं (ष० त०), तस्य मुद्रा (ष० त०)। अभेदि=भिद् धातुसे "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" इस सूत्रसे कर्ताका कर्मवद्भाव होकर लुङ्+त। मञ्जुलतमः=अतिशयेन मञ्जुलः, मञ्जुल+तमप्+सु। क्रमवादः=क्रमेण वादः (तृ० त०)। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है॥ ३७॥

काऽनुजे मम निजे दनुजारौ जाग्रति स्वशरणे रणचर्चा?।
यद्भुजाऽङ्कमुपधाय जयाऽङ्कं शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः॥ ३८॥

अन्वयः—(हे देवर्षे!) निजे अनुजे दनुजारौ स्वशरणे जाग्रति (सति) मम रणचर्चा का? जयाऽङ्कं यद्भुजाङ्कम् उपधाय वीतविशङ्कः (सन्) शर्मणा स्वपिमि।

व्याख्या—(हे देवर्षे!) निजे=स्वकीये, अनुजे=अवरजे, दनुजारौ=उपेन्द्रे, विष्णौ, स्वशरणे=निजरक्षके, जाग्रति=जागरूके सति, मम=इन्द्रस्य, रणचर्चा=युद्धचिन्ता, का=न काऽपीत्यर्थः। जयाऽङ्कं=विजयचिह्नं, यद्भुजाऽङ्कं=यद्बाहूत्सङ्गम्, उपधाय=उपधानं विधाय, वीतविशङ्कः=निरातङ्कः सन्, शर्मणा=सुखेन, स्वपिमि=निद्रामि, निद्रावन्निश्चिन्तो भवामीति भावः।

अनुवाद—(हे देवर्षे!) अपने भाई उपेन्द्र(विष्णु)के अपने रक्षक होकर विद्यमान रहते हुए मुझे युद्धकी चिन्ता क्या है? विजयचिह्नवाले जिनके

बाहुरूप गोदको तकिया बनाकर आतङ्करहित होता हुआ सुखसे सोता हूँ (निश्चिन्त होता हूँ) ।

टिप्पणी—दनुजारी=दनुजानाम् अरिः, तस्मिन् (ष० त०)। स्वशरणे=स्वस्य शरणं, तस्मिन् (ष० त०), "शरण गृहरक्षित्रो" इत्यमर । जाग्रति=जागर्तीति जाग्रत्, तस्मिन् "जागृ निद्राक्षये" धातुसे लट (शतृ)+ङि । रणचर्चा=रणस्य चर्चा (ष० त०)। जयाङ्क=जय अङ्क यस्य स, तम् (बहु०)। मद्भुजाङ्क=भुज एव अङ्क (रूपक०), यस्य भुजाङ्क, तम् (ष० त०)। उपधाय—उप+धा+क्त्वा (ल्यप्), "उपधान तूपबर्हः" इत्यमरः। वीतविशङ्क=विविधा चाऽसौ शङ्का (गति०), विशेषेण इता वीता (सुप्सुपा०), वीता विशङ्का यस्य स (बहु०)। स्वपिमि=(ञि) ष्वप्+लट्+मिप् । देवतालोग अस्वप्न अर्थात् स्वप्नसे रहित हैं, वे लोग नहीं सोते हैं, इसीलिए उनका "अस्वप्न" नाम है, ऐसी प्रसिद्धि होनेसे यहाँपर "स्वपिमि" का निश्चिन्त होता हूँ, यह लाक्षणिक अर्थ है ॥ ३८ ॥

विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये ।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनिं स निनाय ॥ ३९ ॥

अन्वय —(हे देवर्षे !) तस्य विश्वरूपकलनात् जैमिनिमुनित्वम् उदीये उपपन्नम् । स मखभुजा विग्रहम् असहिष्णु मदशनिं व्यर्थता निनाय ।

व्याख्या—(हे देवर्षे !) तस्य=उपेन्द्रस्य, विश्वरूपकलनात्=सर्वस्वरूपस्वीकारात्, जैमिनिमुनित्व=मीमांसकजैमिनिमुनिभाव, उदीये=उत्पन्नम् । उपपन्न=युक्तम् । यत स=उपेन्द्र, मखभुजा=ऋतुभुजा, देवानाम् । विग्रह=विरोधम्, विष्णोर्जैमिनिरूपकलनपक्षे—शरीरम्, असहिष्णु=असहमान सन् मदशनि=मद्वज्र, व्यर्थता=निष्प्रयोजनता, निनाय=प्रापितवान् । उपेन्द्रो देवाना युद्धमसहिष्णु सन् सुदर्शनचक्रेणाऽस्मद्वैरिणो हत्वाऽस्मद्वज्र निष्प्रयोजन कृतवान् । विष्णोर्जैमिनिरूपकलनपक्षे विश्वरूपसूत्रप्रणयनेन मन्त्रा एव देवा इति प्रतिपाद्य "वज्रहस्त पुरन्दर" इति वाक्य निष्प्रयोजन कृतवानिति भाव ।

अनुवाद—(हे देवर्षे !) उपेन्द्र(विष्णु)के सब रूपोको धारण करनेसे जैमिनिमुनिका भाव उत्पन्न हुआ, यह युक्तिसगत है क्योंकि उपेन्द्र(विष्णु)ने देवताओके विग्रह(युद्ध)को सहन न करते हुए (अपने सुदर्शन चक्रसे)

मेरे वज्रको व्यर्थ बना दिया। अथवा उपेन्द्रने जैमिनि मुनिका रूप लेकर विश्वरूप सूत्रोंकी रचना करके देवताओंके विग्रह(शरीर)को सहन न कर "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादि वाक्यका खण्डन कर मेरे वज्रको व्यर्थ बना डाला।

टिप्पणी—विश्वरूपकलनात्=विश्वेषां रूपाणि (ष० त०), तेषां कलनं, तस्मात् (प० त०)। "सर्वं विष्णुमयं जगत्" इस ब्रह्माण्डपुराणके वाक्यके अनुसार विश्वरूपको धारण करनेसे। विष्णुके जैमिनि मुनिका रूप लेनेके पक्षमें, विश्वरूप सूत्रोंकी रचना करनेसे। जैमिनिमुनित्वं=जैमिनिश्चाऽसौ मुनिः (क० धा०), तस्य भावः, जैमिनिमुनि+त्व। उदीये=उद्+इण्+लिट् (कर्तमि)+त। उपपन्नम्=उप+पद्+क्त+सु। मखभुजां=मखं भञ्जन्तीति मखभुजः, तेषाम्, मख+भुज्+क्विप्+आम् (उपपद०)। विग्रहं= "विग्रहो युधि विस्तारे प्रविभागशरीरयोः" इति हैमः। असहिष्णुः=न सहिष्णु (नञ्०)। मदशनि=मम अशनिः, ताम् (ष० त०)। व्यर्थतां= विगतोऽर्थो यस्याः सा व्यर्था (बहु०), तस्या भावस्तत्ता, ताम्, व्यर्था+तल्+ टाप्+अम्। निनाय=णीञ्+लिट्+तिप् (णल्)। उपेन्द्र(विष्णु)ने देवताओंके विग्रह(युद्ध)को सहन न कर अपने सुदर्शन चक्रसे दैत्योंका संहार कर मेरे अस्त्र वज्रको व्यर्थ बना डाला, यह प्रकृत है। उपेन्द्र विश्वरूप धारण करनेसे जैमिनि मुनि भी हुए, जैमिनिने विश्वरूप सूत्रोंकी रचना कर "मन्त्र ही देवता है" ऐसा प्रतिपादन कर "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादि वाक्योंका खण्डन करके मेरे वज्रको व्यर्थ बना दिया, यह अप्रकृत अर्थ है। इस प्रकारसे यह श्लेष अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

ईदृशानि मुनये विनयाऽब्धिस्तस्थिवानस वचनान्युपहृत्य।
प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी वाङ् नारदस्य निरियाय निरोजाः ॥ ४० ॥

अन्वयः—विनयाऽब्धिः मुनये ईदृशानि वचनानि उपहृत्य तस्थिवान्। (अथ) नारदस्य प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी निरोजा वाक् निरियाय।

व्याख्या—विनयाऽब्धिः=नम्रतासमुद्रः, इन्द्र इति भावः। मुनये=नारदाय, ईदृशानि=एतादृशानि, युद्धाशारहितानीति भावः। वचनानि=वचांसि, उपहृत्य=उपहारीकृत्य, समर्प्येति भावः। तस्थिवान्=तूष्णीं स्थितः। अथ नारदस्य = देवर्षेः, प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी = दीर्घनिःश्वासपश्चादगामिनी,

दीर्घनि श्वासपूर्तिकेति भाव । निरोजा =तेजोरहिता, दीनेति भाव । वाक्=वाणी, निरियाय=निजगाम ।

अनुवाद - नम्रताके समुद्र इन्द्र, मुनि (नारद)को ऐसे वचनोंका उपहार देकर चुप हो गये । ऊँचे निःश्वास लेनेके अनन्तर नारदजीकी दीन वाणी निकली ।

टिप्पणी—विनयाऽब्धि = विनयस्य अब्धि (ष० त०) । उपहृत्य= उप + हृञ् + क्त्वा (ल्यप्) । तस्थिवान् = स्था + लिट् + (क्वसु) । प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी = पृष्ठे चरतीति पृष्ठचरी, पृष्ठ + चर + ट + ङीप् (उपपद०), प्रांशु च तत् निःश्वसितम् (क० धा०), प्रांशुनिःश्वसितस्य पृष्ठचरी (ष० त०) । निरोजा = निर्गतम् ओजो यस्या सा (बहु०) । निरियाय=निर् + इण् + लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमे रूपक अलकार है ॥ ४० ॥

स्वारसातलभवाहवशङ्की निर्वृणोमि न वसन् वसुमत्याम् ।
द्या गतस्य हृदि मे दुरुदर्कं क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्क ॥ ४१ ॥

अन्वय —(हे देवेन्द्र !) वसुमत्या वसन् स्वारसातलभवाहवशङ्की (सन्) न निर्वृणोमि । द्या गतस्य मे हृदि क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कं दुरुदर्कं ।

व्याख्या—(हे देवेन्द्र !) वसुमत्याम्=भुवि, वसन्=वास कुर्वन्, अहमिति शेष । स्वारसातलभवाहवशङ्की=स्वर्गपातालजातयुद्धशङ्कित सन्, न निर्वृणोमि=न सन्तुष्यामि । एव च द्याम्=स्वर्गं, गतस्य=प्राप्तस्य, मे=नारदस्य, हृदि=चित्ते, क्ष्मातलद्वयभटाऽऽजिवितर्क = भूपातालद्वितयोधयुद्धशङ्का, दुरुदर्क =दुष्टोत्तरकाल, भवतीति शेष ।

अनुवाद—हे इन्द्र ! भूमिमे रहता हुआ मैं स्वर्ग और पातालमें होनेवाले युद्धकी शङ्का करता हुआ सुखी नहीं रहता हूँ । (इसी तरह) स्वर्गमें आये हुए मेरे हृदयमें भूमि और पातालमे योद्धाओंके युद्धकी शङ्का दुष्ट परिणामवाली होती है ।

टिप्पणी—वसन्=वस + लट् + शतृ + सु । स्वारसातलभवाहवशङ्की= रसाया (भूमे.) तलम् (ष० त०), स्वश्च रसातलं च (द्वन्द्व), तयोर्द्वयम् (ष० त०), तस्मिन् भव (स० त०), स चासौ आहव (क० धा), त शङ्कते तच्छील, स्वारसातलभवाऽऽहव + शकि + णिनि + सु (उपपद०) । निर्वृणोमि=निर् + वृञ् + लट् + मिप् । क्ष्मातलद्वयभटाऽऽजिवितर्क =क्ष्मा

च तलं च क्ष्मातले (भूपाताले) (द्वन्द्व०), क्ष्मातलयोर्द्वयम् (ष० त०), तस्मिन् भटाः (स० त०), "अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्" इत्यमरः । आजेवितर्कः (ष० त०), क्ष्मातलद्वयभटानाम् आजिवितर्कः (ष० त०) । दुरुदर्कः = दुष्ट उदर्को यस्य सः (बहु०), "उदर्कः फलमुत्तरम्" इत्यमरः ॥ ४१ ॥

> वीक्षितस्त्वमसि मामथ गन्तुं तन्मनुष्यजगतेऽनुमनुष्व ।
> किं भुवः परिवृढा न विवोढुं तत्र तामुपगता विवदन्ते ? ॥ ४२ ॥

अन्वयः—(हे देवेन्द्र !) त्वं वीक्षितोऽसि । तत् अथ मां मनुष्यजगते गन्तुम् अनुमनुष्व । तत्र तां विवोढुम् उपगता भुवः परिवृढाः न विवदन्ते किम् ?

व्याख्या—(हे देवेन्द्र !) त्वं, वीक्षितः=दृष्टः, असि=वर्तसे । तत्= तस्मात्कारणात्, अन्यफलाऽभावादिति भावः । अथ=अनन्तरं, मां, मनुष्य-जगते गन्तुं=मर्त्यलोकं गन्तुमिति भावः । अनुमनुष्व=अनुजानीहि । तत्र= मनुष्यजगति, भूलोक इति भावः । तां=दमयन्तीं, विवोढं=परिणेतुम्, उपगताः=समागताः, भुवः=भूमेः, परिवृढाः=प्रभवः, भूपतय इत्यर्थः । न विवदन्ते किं=न कलहायिष्यन्ते किम् ? अपि तु सर्व एव विवदिष्यन्त एवेति भावः ।

अनुवाद—(हे देवेन्द्र !) आपका दर्शन कर लिया । इस कारणसे अब मुझे भूलोकमें जानेके लिए आज्ञा दीजिए । भूलोकमें दमयन्तीसे विवाह करनेके लिए आये हुए राजालोग युद्ध तो नहीं कर रहे हैं ।

टिप्पणी—वीक्षितः=वि+ईक्ष+क्तः (कर्ममें) । मनुष्यजगते गन्तुं= मनुष्याणां जगत्, तस्मै, "गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि" इससे चतुर्थी । गन्तुं=गम् + तुमुन् । विवोढुं = वि + वह + तुमुन् । परिवृढाः="प्रभुः परिवृढोऽधिपः" इत्यमरः । विवदन्ते=वि+वद्+लट्+ झ, "भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः" इस सूत्रसे विमतिमें आत्मनेपद । "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्रसे भविष्यत्कालमें लट् । दमयन्तीसे विवाह करनेके लिए राजाओंका "मैं ही इनका योग्य हूँ" इस प्रकारसे विवाह होगा, यह भाव है ॥ ४२ ॥

> इत्युदीर्य स ययौ मुनिरुर्वीं स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य जवेन ।
> वारितोऽप्यनुजगाम स यान्तं तं कियन्त्यपि पदान्यपराणि ॥ ४३ ॥

अन्वय —स मुनि इति उदीर्य स्वर्पात प्रतिनिवर्त्य जवेन उर्वीं ययौ। स वारितोऽपि यान्त तम् अपि कियन्ति पदानि अनुजगाम।

व्याख्या—स =पूर्वोक्त, मुनि =नारद, इति=एव, पूर्वोक्तमिति भाव। उदीर्य=उक्त्वा, स्वर्पति=स्वर्गस्वामिनम्, इन्द्रम्। प्रतिनिवर्त्य=परावर्त्य, जवेन=वेगेन, उर्वीं=भूलोकं, ययौ=जगाम, स =स्वपति, इन्द्र। वारितोऽपि=निवर्तितोऽपि, यान्तं=गच्छन्त, त=नारदम्, अपराणि अपि= अ यानि अपि, कियन्ति=कतिचन, पदानि=स्थानानि, असीममिति भाव। अनुजगाम=अनुययौ।

अनुवाद—मुनि नारद ऐसा कहकर इन्द्रको लौटाकर वेगसे मर्त्यलोककी ओर रवाना हुए। रोके जानेपर भी इन्द्रने जाते हुए नारदजीको पहुँचानेके लिए और कुछ पगोतक उनका अनुगमन किया।

टिप्पणी—स्वर्पति=स्व पति, तम् (ष० त०), "अहरादीना पत्यादिषु वा रेफ" इस वार्तिकसे विकल्पसे रेफ आदेश। प्रतिनिवर्त्य=प्रति+नि+वृत्+णिच+क्त्वा (ल्यप)। ययौ=या+लिट्+तिप् (णल्)। वारित= वृञ्+णिच्+क्त। यान्त=यातीति यान्, तम्, या+लट् (शतृ)+अम्। पदानि="कालाऽध्वनोरत्यन्तसयोगे" इससे द्वितीया। अनुजगाम= अनु+गम्+लिट ॥ ४३ ॥

> पर्वतेन परिपीय गभीर नारदीयमुदित प्रतिनेदे।
> स्वस्य कश्चिदपि पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वयमदर्शि न पक्ष ॥ ४४ ॥

अन्वय —पर्वतेन गभीर नारदीयम् उदित परिपीय प्रतिनेदे। पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वस्य कश्चित् अपि पक्ष स्वय न अदर्शि।

व्याख्या—पर्वतेन=तदाख्येन मुनिना पर्वतेन च, गभीर=गम्भीर, नारदीय=नारदसम्बन्धी, उदितम्=उक्त, नारदवाक्यमिति भाव, परिपीय= पीत्वा, श्रुत्वेति भाव। प्रतिनेदे=प्रतिध्वनितं, अप्रतिषेधेन सदैव अनुकूलमिति भाव। पर्वते सन्निकृष्टे प्रतिनाद उचित इति तात्पर्यम्। स्वय किञ्चिदनुक्त्वा नित्याह—स्वस्येति। पर्वतपक्षच्छेदिनि=अद्रिपक्षच्छेदके, इन्द्र इत्यर्थ। स्वस्य=आत्मन। कश्चित् अपि=कोऽपि, पक्ष=साध्य गरुच्च, न अदर्शि=न दर्शित, पर्वतपक्षच्छेदित्वादिन्द्रस्याग्रे पर्वतेन स्वपक्षो न प्रकाशित इति ध्वनि।

अनुवाद—पर्वत(मुनि)ने गम्भीर नारदके वाक्यको आदरसे सुनकर प्रतिध्वनि की (उसीका अनुमोदन किया)। पर्वतके पक्षको काटनेवाले इन्द्रमें पक्ष स्वयं नहीं दिखलाया।

टिप्पणी—नारदीयं=नारदस्य इदं, तत्, नारद+छ (ईय)+अम्। उदितं=वद्+क्त+अम्। परिपीय=परि+पीङ्+क्त्वा (ल्यप्)। प्रतिनेदे =प्रति+नद्+लिट् (कर्ममें)+त। पर्वतपक्षच्छेदिनि=पर्वतानां पक्षाः (ष० त०), तान् छिनत्तीति तच्छीलः पर्वतपक्षच्छेदी, तस्मिन्, पर्वतपक्ष+छिद् +णिनि (उपपद०)+ङि। पक्षः="पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु" इति वैजयन्ती। अदर्शि=दृश्+णिच्+लुङ् (कर्ममें)+त। पर्वतके पंखोंको काटनेवाले इन्द्रमें पर्वत मुनिने अपना कुछ साध्य और पंख नहीं दिखलाया, यह तात्पर्य है॥ ४४॥

पाणये बलरिपोरथ भैमीशीतकोमलकरग्रहणाऽर्हम्।
भेषजं चिरचिताऽशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीशः॥ ४५॥

अन्वयः—अथ रतीशः बलरिपोः पाणये चिरचिताऽशनिवासव्यापदां भैमीशीतकोमलकरग्रहणाऽर्हं भेषजम् उपदिदेश।

व्याख्या—इन्द्रस्य भैम्यामनुरागं प्रतिपादयति—पाणय इति। अथ= नारदनिर्गमनाऽनन्तरं, रतीशः=कामः, बलरिपोः = बलाऽरातेः, इन्द्रस्येत्यर्थः। पाणये=कराय, चिरचिताऽशनिवासव्यापदां=बहुसमयसञ्चितवज्रवासदाहविपत्तीनां, भैमीशीतकोमलकरग्रहणाऽर्हं=दमयन्तीशीतलमृदुलपाणिग्रहयोग्यं, भेषजम्=औषधम्, उपदिदेश=उपदिष्टवान्।

अनुवाद—नारदजीके जानेके अनन्तर कामदेवने इन्द्रके हाथके लिए बहुत समयतक वज्रके निवाससे सञ्चित दाहरूप आपत्तियोंका दमयन्तीके शीतल और कोमल करके ग्रहणरूप योग्य औषधका उपदेश किया।

टिप्पणी—रतीशः=रतेरीशः (ष० त०)। बलरिपोः=बलस्य रिपुः, तस्य (ष० त०)। चिरचिताऽशनिवासव्यापदां=चिरं चिताः (सुप्सुपा०), अशनेर्वासः (ष० त०), तेन व्यापदः (तृ० त०), चिरचिताश्च ता अशनिवासव्यापदः, तासाम् (क० धा०)। भैमीशीतकोमलकरग्रहणाऽर्हं= शीतश्चाऽसौ कोमलः (क० धा०), शीतकोमलश्चाऽसौ करः (क० धा०), भैम्याः शीतकोमलकरः (ष० त०), तस्य ग्रहणं (ष० त०), तदेव अर्हम्

(रूपक०), तत् । उपदिदेश=उप+दिश्+लिट्+तिप् (णल) । इस पद्यमे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है ॥ ४५ ॥

नाकलोकभिषजो सुषमा या पुष्पचापमपि चुम्बति सैव ।
वेद्मि तादृगभिषज्यदसौ तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्य ॥ ४६ ॥

अन्वय—नाकलोकभिषजो या सुषमा, सा एव पुष्पचाप चुम्बति । असौ तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्य (अत एव) तादृक् (सन्) अभिषज्यत् (इति) वेद्मि ।

व्याख्या—ननु कामदेवस्य कुतो वैद्यविद्येति प्रतिपादयन्नि—नाकलोकभिषजोरिति । नाकलोकभिषजो =स्वर्गवैद्ययो , अश्विनीकुमारयोरित्यर्थ । या, सुषमा=परमशोभा, सा एव=सुषमा एव, पुष्पचापम् अपि=कामदेवम् अपि, चुम्बति=स्पृशति । असौ=पुष्पचाप , कामदेव । तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्य =सुषमाद्वारसङ्क्रमितभैषज्य , अत एव तादृक्—नाकलोकभिषक्, स्ववैद्य सन्नित्यय । अभिषज्यत्=चिकित्सितवान्, इति वेद्मि=जानामि, वाक्यार्थ कम ।

अनुवाद—स्वर्गके वैद्य दो अश्विनीकुमारोकी जो उत्तम शोभा है, वही शोभा कामदेवको भी स्पर्श करती है । उसी उत्तम शोभाके द्वारसे सङ्क्रान्त आयुर्वेदविद्याको प्राप्त कर स्वर्गके वैद्यके सदृश होते हुए कामदेवने इन्द्रकी चिकित्सा की, मैं ऐसा जानता हूँ ।

टिप्पणी—नाकलोकभिषजो =नाकश्चाऽसौ लोक (क० धा०), तस्य भिषजौ, तयो (ष० त०) । पुष्पचाप=पुष्पाणि चापो यस्य स, तम् (बहु०) । चुम्बति=चुबि+लट्+तिप् । तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्य = सा एव द्वार (रूपक०), तेन सङ्क्रमिता (तृ० त०) । वैद्यस्य कम वैद्यकम्, "वैद्य" शब्दसे "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय, वैद्यकम् एव विद्या (रूपक०), तद्द्वारसङ्क्रमिता वैद्यकविद्या यस्मिन् स (बहु०) । अभिषज्यत्="भिषज् चिकित्सायाम्" इस कण्ड्वादि धातुसे "कण्ड्वादिभ्यो यक्" इससे यक् प्रत्यय होकर लङ्+तिप् । वेद्मि=विद्+लट्+मिप् । यह पद उत्प्रेक्षाद्योतक है ॥ ४६ ॥

मानुषीमनुसरत्ययं पत्यौ स्वव्रतावमवलम्ब्य मघोनी ।
खण्डित निजमसूचयदुच्चैर्मानमाननसरोरुहनत्या ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अथ मघोनी पत्यौ खर्वभावम् अवलम्ब्य मानुषीम् अनुसरति (सति) आननसरोरुहनत्या उच्चैः निजं मानं खण्डितम् असूचयत् ।

व्याख्या—अथ=इन्द्रस्य भैमीरागाऽनन्तरं, मघोनी=इन्द्राणी, पत्यौ=स्वामिनि, इन्द्रे । खर्वभावं=नीचत्वम्, अवलम्ब्य=स्वीकृत्य, मानुषीं=मानुषस्त्रियं, भैमीम् । अनुसरति=अनुवर्तमाने सति । आननसरोरुहनत्या=मुखकमलनमनेन, चिन्तयेति शेषः । उच्चैः=उन्नतं, निजं=स्वकीयं, मानम्=अहङ्कारं, खण्डितं=भग्नम्, असूचयत्=सूचितवती ।

अनुवाद—तब नीचभावका आश्रय कर पतिके मानुषी दमयन्तीका अनुसरण करनेपर इन्द्राणीने मुखकमलको झुकाकर उन्नत अपने अहङ्कारके खण्डित होनेकी सूचना की

टिप्पणी—मघोनी=मघोनः स्त्री, मघवन् शब्दसे "पुंयोगादाख्यायाम्" इस सूत्रसे ङीप् और "श्वयुवमघोनामतद्धिते" इससे सम्प्रसारण (उ) होकर गुण । खर्वभावं=खर्वस्य भावः, तम् (ष० त०) । मानुषीं=मानुष शब्दसे "जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्" इससे जातिवाचक होनेसे ङीप् । अनुसरति=अनु+सृ+लट् (शतृ)+ङि । आननसरोरुहनत्या=आननम् एव सरोरुहं (रूपक०), तस्य नतिः, तया (ष० त०) । असूचयत्=सूच+णिच्+लङ्+तिप् । इन्द्राणीने मुखको झुकानेसे ही अपनी विरक्तिकी सूचना दी । गम्भीर नायिका होनेसे वचनसे कुछ नही कहा, यह भाव है, रूपक अलङ्कार है ॥ ४७ ॥

यो मघोनि दिवमुच्चरमाणे रम्भया मलिनिमाऽलमलम्भि ।
वर्ण एव स खलूज्ज्वलमस्याः शान्तमन्तरमभापत भङ्ग्या ॥ ४८ ॥

अन्वयः—मघोनि दिवम् उच्चरमाणे (सति) रम्भया यो मलिनिमा अलम् अलम्भि स वर्ण एव अस्याः अन्तरम् उज्ज्वलं सत् भङ्ग्या शान्तम् अभापत खलु ।

व्याख्या—अन्यासामपि कासाञ्चिदप्सरसामीर्ष्याऽनुभावानाह—यो मघोनीति । मघोनि=इन्द्रे, दिवम्=आकाशम्, उच्चरमाणे=उत्पतति सति, रम्भया=कयाचिदप्सरसा, यः, मलिनिमा=मलिनत्वम्, अलम्=अत्यन्तम्, अलम्भि=प्राप्तः, सः=पूर्वोक्तः, वर्ण एव=मलिनिमा एव, अस्याः=रम्भायाः । अन्तरम्=अन्तःकरणम्, उज्ज्वलं=रोषात्प्रज्वलितं

सद्, मङ्ग्या=कयाचिद्रीत्या, भवितव्यताप्राबल्यविधयेत्यर्थः । शान्त=शमित, निर्वाणमिति भाव, अभाषत=भाषितवान्, असूचयदिति भाव, खलु=निश्चयेन ।

अनुवाद—इन्द्रके स्वर्गको छोडकर जानेपर रम्भाने जो मालिन्यको अत्यन्त ही प्राप्त किया, उस(मालिन्य)ने ही उनका अन्तःकरण क्रोधसे प्रज्वलित होकर किसी रीतिसे बुत गया है, ऐसी सूचना दी ।

टिप्पणी—उच्चरमाणे=उच्चरते इति उच्चरमाण, तस्मिन्, उद्+चर+लट् (शानच्)+ङि, "उदश्चर सकर्मकात्" इस सूत्रसे आत्मनेपद । मलिनिमा=मलिनस्य, भाव, मलिन शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय । अलम्भि=लभ+लुङ् (कर्ममें)+त, "विभाषा चिण्णमुलो" इस सूत्रसे विकल्पसे नुम् आगम, नुम्के न होनेपर 'अलाभि" ऐसा रूप बनता है । शान्त=शम्+क्त+सु "वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ता" इससे वैकल्पिक निपातन, दूसरे पक्षमे 'शमितम्" ऐसा रूप बनता है । अभाषत=भाष+लङ्+त । मालिन्यने रम्भाके अन्तःकरणको बुते हुए अलातके समान मलिन जताया, यह तात्पर्य है । बाहरकी विवर्णताका मूल अन्तःकरणकी विवर्णता है, यह भाव है । इस पद्यमे भावोदय अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

> जीवितेन कृतमप्सरसां नस्तत्प्राणमुक्तिरिह युक्तिमती न ।
> इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनिश्वसितनिर्गमनेन ॥ ४९ ॥

अन्वय—"अप्सरसां न जीवितेन कृत, तत् इह प्राणमुक्ति, युक्तिमती" इति घृताच्या दीर्घनि श्वसितनिर्गमनेन अनक्षरम् अवाचि ।

व्याख्या—अप्सरसा=स्वर्गाऽङ्गनाना, न=अस्माक, जीवितेन=जीवनेन, कृतम्=अलम्, जीवितेन साध्य नाऽस्तीति भाव । तत्=तस्मात्कारणात्, इह=अस्मिन्समये, प्राणमुक्ति=प्राणत्याग एव, युक्तिमती=युक्ता, इति=एवम्, घृताच्या=तदाख्यया कयाचिदप्सरसा, दीर्घनि श्वसितनिर्गमनेन=दीर्घनि श्वासनिष्क्रमणेन, अनक्षरम्=अशब्दप्रयोग यथा तथा, अवाचि=उक्तम् इव ।

अनुवाद—"हम अप्सराओंको जीवनसे कुछ प्रयोजन नहीं है, इससे यहाँपर प्राण छोडना ही उचित है" इस बातको घृताची नामकी अप्सराने दीर्घनि श्वास छोडनेसे शब्दप्रयोगके बिना ही मानो सूचित किया ।

टिप्पणी—जीवितेन="कृतम्"के योग मे "गम्यमानाऽपि क्रिया कारक-

विभक्तौ प्रयोजिका" इस नियमसे तृतीया। प्राणमुक्तिः=प्राणानां मुक्तिः (ष० त०)। युक्तिमती=युक्ति+मतुप्+ङीप्+सु। दीर्घनिःश्वसित-निर्गमनेन=दीर्घं च निःश्वसितं (क० धा०), तस्य निर्गमनं, तेन (ष० त०)। अनक्षरम्=अविद्यमाना अक्षरा यस्मिन् (कर्मणि तद्यथा तथा) (नञ्बहु०)। अवाचि=वच्+लुङ् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें व्यञ्जक इव आदि शब्दका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है॥ ४९॥

साधु नः पतनमेवमितः स्यादित्यभण्यत तिलोत्तमयाऽपि।
चामरस्य पतनेन कराऽब्जात्तद्विलोलनवलद्भुजनालात्॥ ५०॥

अन्वयः—तिलोत्तमया अपि तद्विलोलनवलद्भुजनालात् कराऽब्जात् चामरस्य पतनेन, एवं नः अपि इतः पतनम् एव साधु, स्यात् इति अभण्यत (इव)।

व्याख्या—तिलोत्तमया अपि=तदाख्यया कयाचिदप्सरसा अपि, तद्विलोलनवलद्भुजनालात्=चमरान्दोलनचलद्बाहुनालात्, कराऽब्जात्=पाणिकमलात्, चामरस्य=प्रकीर्णकस्य, पतनेन=पातेन, एवम्=इत्थं, चामरवदेवेति भावः। नः अपि=अस्माकम् अपि, इतः=अस्मात्, स्वर्गादित्यर्थः। पतनम् एव=पात एव, साधु=समीचीनं, स्यात्=भवेत्, इति=एवम्, अभण्यत=भणितम् (इव)।

अनुवाद—तिलोत्तमाने भी चामरके आन्दोलनसे चञ्चल बाहुनालवाले पाणिकमलसे चामरके गिरनेसे "इसी तरह हम लोगोंका भी स्वर्गसे पतन ही अच्छा होगा" मानों इस बातको सूचित किया।

टिप्पणी—तद्विलोलनवलद्भुजनालात्=तस्य (चामरस्य) विलोलनम् (ष० त०), वलन् भुज एव नालो यस्य तत् (बहु०), तद्विलोलनेन वलद्भुजनालं, तस्मात् (तृ० त०)। कराऽब्जात्=कर एव अब्जं, तस्मात् (रूपक०)। अभण्यत=भण+लङ् (कर्ममें)+त। इस पद्यमें भी व्यञ्जक शब्दके अभावसे पूर्व पद्यके समान प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है॥ ५०॥

मेनका मनसि तापमुदीतं यत्पिधित्सुरकरोदवहित्याम्।
तत्स्फुटं निजहृदः पुटपाके पङ्क्तिलिपिमसृजद् बहिरुत्थाम्॥ ५१॥

अन्वयः—मेनका मनसि उदीतं तापं पिधित्सुः (सती) यत् अवहित्याम् अकरोत् तत् (एव) निजहृदः पुटपाके बहिः उत्थां पङ्क्तिलिपिं स्फुटम् असृजत्।

व्याख्या—मेनका=तदाख्या काचिदप्सरा, मनसि=हृदये, उदीतम्=उत्पन्न, ताप=सन्तापम् आधिमिति भाव। पिधित्सु=पिधातुमिच्छु सती, यत् अवहित्थाम्=आकारगुप्तिम्, अकरोत्=कृतवती, तद्=आकारगोपनम् इव। निजहृद=स्वमनम, पुटपाके=गूढापाके, बहि=बहिर्भागे, उत्थाम्=उत्थिता, बाह्यमित्यर्थं। पङ्कलिप्ति=कर्दमलेप, स्फुट=व्यक्तम् असृजत्=अकरोत्।

अनुवाद—मेनका नामकी अप्सराने मनमें उत्पन्न ताप(आधि)को आवरण करनेकी इच्छा करती हुई जो आकारगोपन किया, उसीको मानों अपने हृदयके पुटपाक(गूढपाक)मे बाहर पङ्कलेप कर दिया।

टिप्पणी—पिधित्सु=अपिधातुम् इच्छु, अपि+धा+सन्+उ। भागुरिके मतसे 'अ'का लोप। निजहृद=निज च तत् हृत्, तस्य (क० धा०)। पुटपाके=पुटे (लोहादिमयौषधपाकपात्रे) पाक (पचनम्), तस्मिन् (स० त०)। लोहा या मिट्टीके पात्रमे औषध रखकर उसका मुँह बन्द कर आगमे डाल दिया जाता है, उसे "पुटपाक" कहते हैं। उत्थाम्=उत्तिष्ठतीति उत्था, ताम् उद्+स्था+क (कर्तामें)+टाप+अम्। पङ्कलिप्ति=पङ्केन लिप्ति, ताम् (तृ० त०)। असृजत्=सृज+लङ्+तिप। पुटपाकमें बाहर पङ्कका लेप और भीतर पकाये गये द्रव्यके समान जबर्दस्तीसे किया गया आकारगोपन, गोपनीय भीतरी तापका व्यञ्जक हुआ, यह तात्पर्य है। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ५१॥

उर्वशी गुणवशीकृतविश्वा तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन।
शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यमपुषद्वपुषेव॥ ५२॥

अन्वय—गुणवशीकृतविश्वा उर्वशी तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन वपुषा एव शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यम् अपुषत्।

व्याख्या—गुणवशीकृतविश्वा=सौन्दर्यादिरञ्जितलोका, उर्वशी=तदाख्या देवाऽङ्गना, तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन=तत्समयनिश्चलत्वव्याजेन, वपुषा एव=शरीरेण एव, शक्रसौहृदसमापनसीम्नि=इन्द्रसौहार्दसमाप्तिस्थाने, स्तम्भकार्यं=जाड्यकृत्य, स्थूणाकृत्य च, अपुषत्=पुष्टवती, ज्ञापितवतीति भाव।

अनुवाद—सौन्दर्य आदि गुणोंसे लोकको वशमे करनेवाली उर्वशी नामकी अप्सराने उस समय निश्चलत्वके बहाने शरीरसे ही इन्द्रके सौहार्दकी

समाप्तिकी सामामें स्तम्भ(निश्चलता वा खम्बा)के कार्यका ज्ञापन किया।

टिप्पणी—गुणवशीकृतविश्वा = वशीकृतं विश्वं यया सा (बहु०), गुणैः वशीकृतविश्वा (तृ० त०)। तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन=स चाऽसौ क्षणः (क० धा०), स्तिमितश्चाऽसौ भावः (क० धा०), तत्क्षणं स्तिमितभाव, "अत्यन्तसंयोगे च" इससे द्वितीयातत्पुरुष। "स्तिमितभाव" कहनेसे अङ्गोंकी निष्क्रियता, स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव जाना जाता है। तत्क्षणस्तिमितभावस्य निभः, तेन (प० त०)। "मिषं निभं च निर्दिष्टम्" इति हलायुधः। शक्रसौहृदसमापनसीम्नि=शोभनं हृदयं यस्य स सुहृदयः (बहु०), सुहृदयस्य भावः सौहृदं, सुहृदय शब्दसे "हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होनेपर "हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु" इससे हृदयको 'हृद्' आदेश और आदिवृद्धि। "सुहृद्" शब्दसे अण् प्रत्यय होनेपर "हृद्भगसिन्ध्वन्ते०" इत्यादिसे उभयपद वृद्धि होकर 'सौहार्द" ऐसा रूप बनता है। अत एव आचार्य वामनने लिखा है—"सौहृददौर्हृदशब्दावणि हृद्भावात्"। शक्रस्य सौहृदं (प० त०), समापनस्य सीमा (प० त०), शक्रसौहृदस्य समापनसीमा, तस्याम् (प० त०)। स्तम्भकार्य=स्तम्भस्य कार्यं, तत् (प० त०)। "स्तम्भः स्थूणाजडत्वयोः" इति विश्वः। अपुषत्=पुष+लुङ्+च्लि (अङ्)+तिप् ॥ ५२ ॥

काऽपि कामपि बभाण बुभुत्सुं शृण्वति त्रिदशभर्तरि किञ्चित्।
"एष कश्यपसुतामभिगन्ता पश्य कश्यपसुतः शतयज्ञः" ॥ ५३ ॥

अन्वयः—काऽपि बुभुत्सुं काम् अपि त्रिदशभर्तरि शृण्वति (सति) "कश्यपसुतः शतयज्ञ एषः कश्यपसुताम् अभिगन्ता पश्य" इति किञ्चित् बभाण।

व्याख्या—अथ कस्याश्चिद्देवाऽङ्गनाया वाक्यमाह—काऽपीति। काऽपि= देवाऽङ्गना, बुभुत्सुं=जिज्ञासुम्, इन्द्रजिगमिषितदेशमिति शेषः, काम् अपि= देवाऽङ्गनां, त्रिदशभर्तरि=देवप्रभौ, इन्द्र इत्यर्थः। शृण्वति=आकर्णयति सति, कश्यपसुतः=कश्यपपुत्रः, शतयज्ञः=शतयज्ञाऽनुष्ठाता, एषः= इन्द्रः, कश्यपसुतां=काश्यपीं क्षितिम्, अभिगन्ता=अभिगमिष्यति, पश्य= विलोकय, स्वर्गं विहाय मर्त्यलोकं गच्छतीति आश्चर्यं विलोकयेत्यर्थः, स्वयं

कश्यपसुत कश्यपसुता भगिनीमेव गच्छतीत्याश्चर्यं व्यज्यते । इति=इत्थ, किञ्चित्=किमपि, वाक्यमित्यर्थं, बभाण=जगाद ।

अनुवाद—किसी अप्सराने इन्द्रके जानेके लिए अभीष्ट देशको जाननेकी इच्छा करनेवाली किसी अप्सरासे इन्द्रको सुनाकर—"कश्यपके पुत्र सौ यज्ञों को करनेवाले ये (इन्द्र) कश्यपकी पुत्री (पृथ्वी अथवा अपनी बहिन)का अभिगमन करनेवाले हैं देखो !" ऐसा कुछ वाक्य कहा ।

टिप्पणी—बुभुत्सु=बोद्धुम् इच्छु बुभुत्सु, ताम्, बुध+सन्+उ+अम् । त्रिदशभर्तरि=त्रिदशाना भर्ता, तस्मिन् (ष० त०), शृण्वति=श्रु+लट् (शतृ)+ङि । कश्यपसुत=कश्यपस्य सुत (ष० त०) । शतयज्ञ=शत यज्ञा यस्य स (बहु०) । "शतमन्यु" ऐसे पाठान्तरमे भी शत मन्यवो यस्य स (बहु०) । "मन्यु क्रोधे क्रतौ दैन्ये" इति विश्व । कश्यपसुतां=कश्यपस्य सुता, ताम् (ष० त०) । अभिगन्ता=अभि+गम्+लुट्+तिप् । ये इन्द्र स्वयम् कश्यपसुत होकर कश्यपसुता भगिनीमे गमन करते हैं, ऐसा अर्थ व्यङ्ग्य होता है ॥ ५३ ॥

आलिमात्मसुभगत्वसगर्वा काऽपि शृण्वति मघोनि बभाषे ।
"वीक्षणेऽपि सघृणाऽसि नृणां किं यासि न त्वमपि सार्थगुणेन ?" ॥५४॥

अन्वय—आत्मसुभगत्वसगर्वा काऽपि मघोनि शृण्वति (सति एव) आलिं बभाषे—"नृणां वीक्षणे अपि सघृणा असि त्वम् अपि सार्थगुणेन न यासि किम् ?

व्याख्या—आत्मसुभगत्वसगर्वा=स्वसौभाग्यगर्ववती, सुभगमानिनीति भाव । काऽपि=काचिद्देवाऽङ्गना, मघोनि=इन्द्रे, शृण्वति=आकर्णयति सत्येव, आलिं=काञ्चित्सखीं, बभाषे=जगाद, नृणां=मनुष्याणां, वीक्षणे अपि=दर्शने अपि, सङ्गतौ किमुतेति शेष । सघृणा=जुगुप्सायुक्ता, असि=विद्यसे, सा त्वम् अपि, सार्थगुणेन=सङ्घधर्मेण, न यासि किं=न गच्छसि किम् ? गताऽनुगतिकन्यायेनेति भाव ।

अनुवाद—अपने सौभाग्यसे गर्व करनेवाली किसी अप्सराने इन्द्रको सुनाकर अपनी सखीको कहा—"तुम मनुष्योंको देखनेमे भी घृणा करती हो, वैसी तुम भी समूहके धर्मसे (भेड़ियाधसानके न्यायसे) नहीं जाओगी क्या ?

टिप्पणी—आत्मसुभगत्वसगर्वा=सुभगस्य भाव, सुभग+त्व, गर्वेण सहिता सगर्वा (तुल्ययोगबहु०), आत्मन सुभगत्व (ष० त०), तेन सगर्वा

(तृ० त०) । मघोनि शृण्वति="षष्ठी चाऽनादरे" इस सूत्रमें 'च'के पाठसे अनादरमें सप्तमी । बभाषे=भाष+लिट्+त । सघृणा=घृणया सहिता (तुल्ययोगबहु०) । सार्थगुणेन=सार्थस्य गुणः, तेन (ष० त०) । "सङ्घसार्थौ तु जन्तुभिः" इत्यमरः ॥ ५४ ॥

अन्वयुर्द्युतिपयःपितृनाथास्तं मुदाऽथ हरितां कमितारः ।
वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गताऽनुगतिको महाऽर्घः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—अथ हरितां कमितारः द्युतिपयःपितृनाथाः, तं मुदा अन्वयुः । (तथाहि) एकः परं पुरो वर्त्म कर्षतु, तद्गताऽनुगतिको महाऽर्घो न ।

व्याख्या—अथ=इन्द्रप्रयाणाऽनन्तरं, हरितां=दिशां, कमितारः= कामुकाः, दिक्पाला इति भावः । द्युतिपयःपितृनाथाः=अग्निवरुणयमाः, तम्=इन्द्रं, मुदा=हर्षेण, भैमीदर्शनाऽभिलाषजनितेनेति शेषः । अन्वयुः= अनुयाताः । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—वर्त्मेति । तथा हि, एकःपरम्= एकजन एव, पुरः=प्रथमतः, वर्त्म=मार्गं, कर्षतु=करोतु, तद्गताऽनुग-तिकः=तद्गमनाऽनुगमकारी, महाऽर्घः=महामूल्यः, दुर्लभ इति भावः, न=नो भवतु, अग्रग एव दुर्लभस्तदनुसारिणः सुलभा इति भावः ।

अनुवाद—इन्द्रकी यात्राके अनन्तर दिक्पाल, अग्नि, वरुण और यम इन-लोगोंने उन(इन्द्र)का हर्षसे अनुगमन किया, क्योंकि एक व्यक्ति पहले मार्ग बना दे तो उसके पीछे चलनेवाले दुर्लभ नहीं होते हैं ।

टिप्पणी—हरितां="दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः" इत्यमरः । कमितारः=कम्+तृच्+जस् । द्युतिपयःपितृनाथाः=द्युतिश्च पयश्च पितरश्च (द्वन्द्वः), तेषां नाथाः (ष० त०), द्युतिनाथ=तेजके स्वामी अग्नि, पयोनाथ=जलके स्वामी वरुण और पितृनाथ=पितरोंके स्वामी यम, यह तात्पर्य है । अन्वयुः=अनु+या+लङ्+झि, "लङः शाकटाय-नस्यैव" इस सूत्रसे 'झि'के स्थानमें जुस् आदेश । तद्गताऽनुगतिकः=तस्य (मार्गकर्तुः) गतं (गमनम्) (ष० त०), तद्गते अनुगतिर्यस्य सः (व्यधिकरणबहु०) । "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासान्त कप् । महाऽर्घः= महान् अर्घः (मूल्यम्) यस्य सः (बहु०) । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

प्रेषिताः पृथगथो दमयन्त्यै चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्यः ।
तद्गुरुं प्रति च तैरुपहाराः सूत्यसौत्यकपटेन निगूढाः ॥ ५६ ॥

अन्वय —अथो तैः चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्यो दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिता, तद्गुरु च प्रति सख्यसौख्यकपटेन निगूढा उपहारा प्रेषिता ।

व्याख्या—अथो=अनन्तर, तैः=इन्द्रादिभिर्देवै, चित्तचौर्यचतुरा=चित्ताऽऽकर्षणनिपुणा, दमयन्त्या इति शेष । निजदूत्य=स्वसन्देशहरा स्त्रिय, दमयन्त्यै=भैम्यर्थं, पृथक्=प्रत्येक, प्रेषिता=प्रहिता, तद्गुरु च प्रति=दमयन्तीपितर (भीमम्) च प्रति, सख्यसौख्यकपटेन=मैत्रीसुखव्याजेन, निगूढा=गुप्ता, उपहारा=उपायनानि, प्रेषिता=प्रहिता ।

अनुवाद—अनन्तर इन्द्र आदि देवताओंने चित्तको आकर्षण करनेमें निपुण अपनी दूतियोंको दमयन्तीके लिए और उनके पिता महाराज भीमको मित्रताके सुखके बहानेसे गुप्त उपहारोंको पृथक् पृथक् भेजा ।

टिप्पणी—चित्तचौर्यचतुरा=चित्तस्य चौर्य (ष० त०), तस्मिन् चतुरा (स० त०) । निजदूत्य=निजस्य दूत्य (ष० त०) । दमयन्त्यै=क्रियाग्रहणमें चतुर्थी । प्रेषिता=प्र+इष+क्त (कर्ममें)+जस् । तद्गुरु=तस्या गुरु, तम् (ष० त०) । सख्यसौख्यकपटेन=सख्यस्य सौख्य (ष० त०), तस्य कपट, तेन (ष० त०) । "मख्य०" ऐसे पाठमें सख्यस्य=युद्धस्य । युद्धमें वीरतासे सुख होनेके बहानेसे यह अर्थ है । निगूढा=नि+गुह+क्त+जस् ॥ ५६ ॥

> चित्रमत्र विबुधैरपि यत्तै स्वर्विहाय बत ? भूरनुसस्रे ।
> द्यौर्न काचिदथवाऽस्ति निरूढा, सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् ॥ ५७ ॥

अन्वय —विबुधै अपि तै यत् स्व विहाय भू अनुसस्रे, बत ! अत्र चित्रम् ? अथवा सा द्यौ काचित् निरूढा न अस्ति । यत्र चित्त चरति सा एव द्यौ हि ।

व्याख्या—विबुधै अपि=देवै, विद्वद्भि अपि, तै=इन्द्रादिभि, यत् स्व=स्वर्ग, विहाय=त्यक्त्वा, भू=भूलोक, अनुसस्रे=अनुसृता, बत=खेदे ! अत्र=अस्मिन् विषये, चित्रम्=आश्चर्यम् ? न चित्रमिति भाव, अथवा=यद्वा, सा=प्रसिद्धा, द्यौ=स्वर्ग, काचित्=काऽपि, निरूढा=प्रख्याता, न अस्ति=नो विद्यते, किन्तु यत्र=यस्या, चित्त=चेत, चरति=रमते, सा एव, द्यौ=स्वर्ग, हि=निश्चयेन ।

अनुवाद—देवता अथवा विद्वान् होकर भी इन्द्र आदि दिक्पालोंने जो स्वर्गको छोड़कर भूलोकका अनुसरण किया, खेद है ! इसमें क्या आश्चर्य है ?

(नहीं), अथवा वह स्वर्ग कोई प्रख्यात पदार्थ नहीं है, जहाँ पर चित्त रम जाय, वही स्वर्ग है ।

टिप्पणी—स्वः=यह अव्यय है । विहाय=वि+हा+क्त्वा (ल्यप्) । अनुसस्ते=अनु+सृ+लिट् (कर्ममें)+त । निरूढा=नि+रुह+क्त+टाप् ॥ ५७ ॥

शीघ्रलङ्घितपथै रथवाहैर्लम्भिता भुवममी सुरसाराः ।
वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः शुश्रुवुर्ध्वनितमध्वनि दूरम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—शीघ्रलङ्घितपथैः रथवाहैः भुवं लम्भिता अमी सुरसाराः वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः (सन्तः) अध्वनि दूरं ध्वनितं शुश्रुवुः ।

व्याख्या—शीघ्रलङ्घितपथैः=सत्वराऽतिक्रान्तमार्गैः, रथवाहैः=स्यन्दनाऽश्वैः, भुवं=भूलोकं, लम्भिताः=प्रापिताः, अमी=एते, सुरसाराः=देवश्रेष्ठाः, इन्द्रादय इति भावः । वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धः=वक्रीकृतोर्ध्वीकृतग्रीवकायसंस्थानविशेषाः (सन्तः), अध्वनि=मार्गे, दूरं=विप्रकृष्टदेशोद्भवं, ध्वनितं =ध्वनिं, शुश्रुवुः=श्रुतवन्तः ।

अनुवाद—शीघ्र मार्गको लङ्घन करनेवाले रथके घोड़ोंसे धरतीमें पहुँचाये गये इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओंने ग्रीवाको टेढ़ा और ऊँचा करके मार्गमें दूर प्रदेशसे उत्पन्न शब्दको सुना ।

टिप्पणी—शीघ्रलङ्घितपथैः=लङ्घितः पन्था यैस्तैः लङ्घितपथाः (बहु०), शीघ्रलङ्घितपथाः, तैः (सुप्सुपा०) । रथवाहैः=रथस्य वाहाः, तैः (ष० त०) । लम्भिताः=लभ्+णिच्+क्त+जस् । सुरसाराः=सुराणां साराः (ष० त०) । वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः=वक्रिता चाऽसौ उन्नमिता (क० धा०), सा कन्धरा, यस्मिन् (बहु०) । वक्रितोन्नमितकन्धरः बन्धः (शरीरसंस्थानविशेषः) येषां ते (बहु०) । शुश्रुवुः=श्रु+लिट्+झि (उस्) ॥ ५८ ॥

किं घनस्य जलधेरथवैवं नैव संशयितुमप्यलभन्त ।
स्यन्दनं परमदूरमपश्यन्निःस्वनश्रुतिसहोपनतं ते ॥ ५९ ॥

अन्वयः—ते किं घनस्य ध्वनितम् ? अथवा जलधेः ध्वनितम् ? एवं संशयितुम् अपि नैव अलभन्त, (किन्तु) निःस्वनश्रुतिसहोपनतम् अदूरं स्यन्दनं परम् अपश्यन् ।

व्याख्या—ते=देवाः, किं, घनस्य=मेघस्य, ध्वनितं=ध्वनिः, अथवा=यद्वा, किं, जलधेः=समुद्रस्य, ध्वनितं=ध्वनिः, एवम्=इत्थं, संशयितुम्

अपि = सन्देह कर्तुम् अपि, नैव, अलभन्त = प्राप्तवन्त, किं पुनर्निश्चेतुमिति शेष, किन्तु नि स्वनश्रुतिसहोपनत = शब्दश्रवणकालप्राप्तम्, अदूरम् = आसन्न, स्यन्दन पर = रथम् एव, अपश्यन् = दृष्टवन्त । एतेन रथवेग सूच्यते ।

अनुवाद—देवताओने 'क्या यह मेघका शब्द है ? वा समुद्रका शब्द है ?' ऐसी शङ्का भी नही कर पाई थी, किन्तु शब्द सुननेके साथ ही प्राप्त निकटवर्ती रथको ही देख लिया ।

टिप्पणी—जलधे = जल + धा + कि + ङस् । अलभन्त = (डु) लभष् + लङ् + झ । नि स्वनश्रुतिसहोपनत = नि स्वनस्य श्रुति (ष० त०), तया सहोपनत, तम् (तृ० त०) । अपश्यन् = दृश + लङ् + झि । इस पद्यमे सन्देह और सहोक्ति दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ ५९ ॥

सूतविश्रमदकौतुकिभाव भावबोधचतुर तुरगाणाम् ।
तत्र नेत्रजनुष फलमेते नैषध बुबुधिरे विबुधेन्द्रा ॥ ६० ॥

अन्वय—एते विबुधेन्द्रा तत्र सूतविश्रमदकौतुकिभाव तुरगाणा भाव बोधचतुर नेत्रजनुष फल नैषध बुबुधिरे ।

व्याख्या—एते = इमे, विबुधेन्द्रा = देवश्रेष्ठा, इन्द्रादय इत्यर्थ । तत्र = तस्मिन् रथे । सूतविश्रमदकौतुकिभाव = सारथिविश्रान्तिप्रदविनोदित्व, तुरगाणाम् = अश्वाना, भावबोधचतुरम् = अभिप्रायज्ञाननिपुण, नेत्रजनुष = नयनजन्मन, फल = फलरूप, नैषध = नल, बुबुधिरे = ज्ञातवन्त ।

अनुवाद—इन श्रेष्ठ देवोने उस रथमे सारथिको विश्राम देनेवाले कौतुकसे युक्त, घोडोके अभिप्रायको जाननेमे निपुण और नेत्रोकी उत्पत्तिके फलरूप नलको जाना (देख लिया) ।

टिप्पणी—विबुधेन्द्रा = विबुधानाम् इन्द्रा (ष० त०) । सूतविश्रमदकौतुकिभाव = विश्रम ददातीति विश्रमद, विश्रम + दा + क (उपपद०), सूतस्य विश्रमद (ष० त०), कौतुकम् अस्याऽस्तीति कौतुकी, (कौतुक + इनि + सु), कौतुकिनो भाव (ष० त०), सूतविश्रमद कौतुकिभावो यस्य स, तम् (बहु०) । विनोदसे रथको स्वय हाँकनेवाले, यह तात्पर्य है । भावबोधचतुर = भावस्य बोध (ष० त०), तस्मिन् चतुर, तम् (स० त०) । नेत्रजनुष = नेत्रयोर्जनु, तस्य (ष० त०) । नैषध = निषधानाम् अय, तम् निषध + अण् + अम् । बुबुधिरे = बुध + लिट् + झ ॥ ६० ॥

यौवध तस्य वरुणस्तरुणत्व यद् बभार निबिड जडभूयम् ।
नोचितो जडपते किमु साऽस्य प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वरुणः तस्य तरुणत्वं वीक्ष्य यत् निविडं जडभूयं बभार, प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य जडपतेः सा औचिती न किमु ?

व्याख्या—वरुणः = पश्चिमदिक्पालः, तस्य = नलस्य, तरुणत्वं = यौवनं, वीक्ष्य = दृष्ट्वा, यत्, निविडं = घनं, जडभूयं = जडत्वं, स्तम्भाख्यं सात्त्विकभावमिति भावः। बभार = धृतवान्, प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य = प्रचुराश्चर्यरसनिश्चलस्य, जडपतेः = जलपतेः स्तब्धपतेश्च, सा = जडभूय, विधेयाया औचित्याः प्राधान्यात् सर्वनाम्नः स्त्रीलिङ्गता। औचिती न किमु = औचित्यं न किम् ? औचित्यमेवेत्यर्थः।

अनुवाद—वरुणने नलके तारुण्यको देखकर जिस निविड जडभाव-(स्तब्धभाव)को धारण किया, प्रचुर आश्चर्य रससे निश्चल जडपति (स्तब्धपति) वा जलपति उनका वह जड़भाव वा जलभाव क्या उचित कर्म नही है ?

टिप्पणी—तरुणत्वं = तरुणस्य भावः तरुणत्वं, तत् (तरुण + त्व)। जडभूयं = जडस्य भावो जडभूयं, तत्, जड शब्दसे "भुवो भावे" इस सूत्रसे क्यप् प्रत्यय। "जडभूयम्" यहांपर जड शब्दमें "ड" और "ल"का यमक और श्लेष आदिमें अभेद होनेसे "जलभूयम्" ऐसा पद भी होता है। यौवनसे भूपित नलके रूपको देखकर "दमयन्ती नलको ही वरण करेगी" ऐसा विचार कर वरुण खेदसे स्तब्ध हो गये अथवा जलरूप हो गये, ऐसा भी अर्थ होता है। बभार = भृ + लिट् + तिप् (णल्)। प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य = विस्मयश्चाऽसौ रसः (क० धा०), प्राज्यश्चाऽसौ विस्मयरसः (क० धा०), तेन स्तिमितः, तस्य (तृ० त०)। जडपतेः = जड(ल)स्य पतिः, तस्य (ष० त०)। यहांपर भी 'ड' और 'ल'के अभेदसे जडपति(स्तब्धपति)का अथवा जलपति(जलके स्वामी)का, ऐसा अर्थ होता है। सा = विधेय "औचिती"की प्रधानतासे तद् शब्दका स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग किया गया है। औचिती = उचितस्य कर्म, उचित + ष्यञ् + ङीप्। इस पद्यमें श्लेष अलङ्कार है ॥ ६१ ॥

> रूपमस्य विनिरूप्य तयाऽतिम्लानिमाप रविवंशवतंसः।
> कीर्त्यते यदधुनाऽपि स देवः काल एव सकलेन जनेन ॥ ६२ ॥

अन्वयः—रविवंशवतंसः अस्य रूपं विनिरूप्य तया अतिम्लानिम् आप, यत् अधुना अपि स देवः सकलेन जनेन काल एव कीर्त्यते।

व्याख्या—रविवंशवतंस = सूर्यकुलभूषण, यम इत्यर्थः। अस्य = नलस्य, रूप = सौन्दर्यं, विनिरूप्य = विलोक्य, तथा = तेन प्रकारेण, अतिम्लानिम् = अतिवैवर्ण्यम्, अतिकालिमानमिति भाव। आप = प्राप। यत् = यथा, अधुना अपि = सम्प्रति अपि, स = पूर्वोक्त, देव = सुर, यम इति भाव। सकलेन = समस्तेन, जनेन = लोकेन, काल एव = काल (कृष्णवर्ण), अथवा कालनामक (यम), एव, कीर्त्यते = कथ्यते।

अनुवाद—सूर्यवंशके भूषण यमने, नलके सौन्दर्यको देखकर उस प्रकारसे अत्यन्त विवर्णता अथवा कालिमाको प्राप्त किया, जो कि अभी भी वे देव (यम) सब जनोंसे काल (काला या यम) कहे जाते हैं।

टिप्पणी—रविवंशवतंस = रवे वंश (ष० त०), तस्य अवतंस (ष० त०), भागुरिके मतसे 'अवतंस'के अकारका लोप। विनिरूप्य = वि + नि + रूप + क्त्वा (ल्यप्)। अतिम्लानिम् = अत्यन्त म्लानि, ताम् (सुप्सुपा०)। आप = आप्लृ + लिट् + तिप् (णल्)। काल = "कालो दण्डधरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तकः" इति। 'कृष्णे नीलाऽसितश्यामकाल श्यामलमेचकाः" इत्यमर। कीर्त्यते = "कॄत संशब्दने" धातुसे णिच् + लट् (कर्ममें) + त। नलका लोकोत्तर सौन्दर्य देखकर यम ईर्ष्यासे इस तरह विवर्ण (काला रूपवाले) हो गये, जो कि वे अभीतक "काल" कृष्णवर्णवाले कहे जाते हैं, यह अभिप्राय है। यहाँपर "काल"का काला या यमराज ऐसा अर्थ होनेसे पदश्लेष अलङ्कार है ॥ ६२ ॥

यद् बभार दहन खलु तापं रूपधेयभरमस्य विमृश्य।
तत्र मूलनलता जनिकर्त्री मा तदप्यनलतैव तु हेतु ॥ ६३ ॥

अन्वय—दहन अस्य रूपधेयभर विमृश्य यत् ताप बभार खलु, तत्र अनलता जनिकर्त्री मा भूत्, तु तदपि अनलता एव हेतु।

व्याख्या—दहन = अग्नि, अस्य = नलस्य, रूपधेयभर = सौन्दर्यसमृद्धि, विमृश्य = विचार्य, यत् = यथा, ताप = सन्ताप, बभार = भृतवान्, खलु = निश्चयेन, तत्र = तस्मिन् तापभरणे, अनलता = अग्निता, जनिकर्त्री = जन्मकरी, उत्पादिकेत्यर्थ। मा भूत् = नो भवति, तु = किन्तु, तदपि = तथाऽपि, अनलता एव = नलाऽभावत्ता एव, हेतु = कारणम्, अस्तीति शेष।

अनुवाद—अग्निने नलकी सौन्दर्य सम्पत्तिका विचार करके जिस प्रकार सन्तापको धारण किया, उसमें अग्निता उत्पादिका नहीं है, किन्तु अनलता (नलका न होना) कारण है।

टिप्पणी—रूपधेयभरं=रूपम् एव रूपधेयम्, रूप शब्दसे "भागरूपनामभ्यो धेयः" इससे स्वार्थ(प्रकृत्यर्थ)में धेय प्रत्यय । विमृश्य=वि+मृश्+क्त्वा (ल्यप्) । बभार=भृ+लिट्+तिप् (णल्) । अनलता=अनलस्य भावः, अनल+तल्+टाप् । जनिकर्त्री=जनेः कर्त्री (ष० त०) । मा भूत्=भू+लुङ्+तिप्, माङ्का योग होनेसे "न माङ्योगे" इससे अट् आगमका अभाव । अनलता=न नलः अनलः (नञ्०), अनलस्य भावः, अनल+तल्+टाप् । इस पद्यमें नलकी सौन्दर्य-सम्पत्तिको देखनेसे अग्निको ताप होनेसे अनलता कारण नहीं है किन्तु अनलता ही हेतु है, इस उक्तिमें विरोधाभास अलङ्कार है, अग्निको ताप होनेमें अनलता (अग्निता) हेतु नहीं है, किन्तु अनलता (उनमें ललत्वका अभाव) ही हेतु है, यह परिहार है ॥ ६३ ॥

कामनीयकमधःकृतकामं काममक्षिभिरवेक्ष्य तदीयम् ।
कौशिकः स्वमखिलं परिपश्यन् मन्यते स्म खलु कौशिकमेव ॥६४॥

अन्वयः—कौशिकः, अधःकृतकामं तदीयं कामनीयकं कामम् अक्षिभिः अवेक्ष्य अथ स्वम् अखिलं परिपश्यन् कौशिकम् एव मन्यते स्म खलु ।

व्याख्या—कौशिकः=इन्द्रः, अधःकृतकामं = तिरस्कृतमदनं, तदीयं= नलीयं, कामनीयकं=कमनीयत्वं, सौन्दर्यम् । कामं=प्रकामम्, अक्षिभिः= नेत्रैः, सहस्रसंख्यकैरिति भावः । अवेक्ष्य=दृष्ट्वा, अथ=अनन्तरं, स्वम्= आत्मानम्, अखिलम्=अशेषं यथा तथा, परिपश्यन्=विलोकयन्, कौशिकम् एव=उलूकम् एव, मन्यते स्म=अमन्यत, खलु=निश्चयेन ।

अनुवाद—कौशिकि(इन्द्र)ने कामदेवको मात करनेवाले नलके सौन्दर्यको पर्याप्त रूपसे नेत्रोंसे देखकर अनन्तर अपनेको पूर्णरूपसे देखते हुए कौशिक (उल्लू) ही मान लिया ।

टिप्पणी—कौशिकः="महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः" इत्यमरः । अधःकृतकामम=अधःकृतः कामो येन, तत् (बहु०) । तदीयं=तस्य इदं, तत्, तद्+छ (ईय)+अम् । कामनीयकं=कमनीयस्य भावः कामनीयकं, तत्, कमनीय शब्दसे "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय । अक्षिभिः=इन्द्रके हजार नेत्र थे, अतः बहुवचनम् । अवेक्ष्य=अव+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्) । परिपश्यन्=परिपश्यतीति, परि+दृश्+लट् (शतृ)+सु । मन्यते स्म=मन्+लट्+त, 'स्म'के योगमें भूतकालमें लट् । नलका निःसीम सौन्दर्य देखकर इन्द्र उनके मुकाबलेमें अपनेको उल्लूके समान विचार कर दमयन्तीकी प्राप्तिमें निराश हो गये, यह तात्पर्य है ॥ ६४ ॥

रामणीयकगुणाऽद्वयवादं मूर्तमुत्थितममुं परिभाव्य ।
विस्मयाय हृदयानि वितेरुस्तेन तेषु न सुरा प्रबभूवु ॥ ६५ ॥

अन्वय —सुरा अमु मूर्तम् उत्थित रामणीयकगुणाऽद्वयवाद परिभाव्य हृदयानि विस्मयाय वितेरु, तेन तेषु न प्रबभूवु ।

व्याख्या—सुरा =देवा, इन्द्रादय । अमु=नल, मूर्तं=मूर्तिमन्तम्, उत्थितम्=उत्पन्न, रामणीयकगुणाऽद्वयवाद=सौन्दर्यगुणाऽद्वैतवादम् । परिभाव्य=विचार्य, लोकत्रयैकसुन्दर सत्त्वेति भाव । हृदयानि=चित्तानि, कर्मभूतानि, विस्मयाय=आश्चर्याय, सम्प्रदानभूताय, वितेरु =ददु, तेन=दानेन, तेषु=हृदयेषु विषये, न प्रबभूवु =प्रभव न अभवन् ।

अनुवाद—इन्द्र आदि देवताओने नलको मूर्तिमान् उत्पन्न सौन्दर्य गुणके अद्वैतवादरूप विचार कर अपने चित्तोको आश्चर्यको दे दिया, उस दानसे अपने हृदयोंमे उनका प्रभुत्व नही रहा ।

टिप्पणी—रामणीयकगुणाऽद्वयवाद=रमणीयस्य भावो रामणीयकम्, रमणीय+वुञ् (अक), रामणीयकम् एव गुण (रूपक०), न द्वयम् (नञ्), अद्वय चाऽसौ वाद (क० धा०), रामणीयकगुणस्य अद्वयवाद, तम् (ष० त०) । परिभाव्य=परि+भू+णिच्+क्त्वा (ल्यप्) । वितेरु=वि+तॄ+लिट्+झि (उस्) । देवताओने नलको तीन लोकोमे एकमात्र सुन्दर विचार कर अपने चित्तको विस्मयरसको दे दिया, किसीको दी गयी वस्तुमे अपना अधिकार न रहनेसे उन चित्तोके वे स्वामी नही हुए अर्थात् वे लोग आश्चर्यसे आकृष्ट चित्तवाले हुए, यह भावार्थ है ॥ ६५ ॥

प्रैयरूपकविशेषनिवेशी सवदद्भिरमरा श्रुतपूर्वं ।
एष एष स नल किमितीदं मन्दमन्दमितरेतरमूचु ॥ ६६ ॥

अन्वय —अमरा श्रुतपूर्वं सवदद्भि प्रैयरूपकविशेषनिवेशी "स नल एष एष किम् ?" इति इद मन्दमन्दम् इतरेतरम् ऊचु ।

व्याख्या—अमरा =देवा, इन्द्रादय । श्रुतपूर्वं =पूर्वं श्रुतं, सम्प्रति सवदद्भि =प्रत्यक्षसवाद कुर्वद्भि, प्रैयरूपकविशेषनिवेशी =सौन्दर्याऽतिशयोऽवस्थाने, स =श्रुतपूर्व, नल =नैषध, एष एष किं=समीपतरवर्ती एव किम् ? इति=एवम्, इद =वाक्यम्, मन्दमन्द=मन्दप्रकारम्, इतरेतरम्=परस्परम्, ऊचु =जगदु ।

अनुवाद—इन्द्र आदि देवताओंने पहले सुने गये और अभी मिलान लानेवाले सौन्दर्यके तत्तद् अवयवोंमें चिह्नोंसे "वे (सुने गये) नल यही है क्या ?" इस प्रकार धीरे-धीरे परस्परमें कहा ।

टिप्पणी—श्रुतपूर्वैः=पूर्वं श्रुताः, तैः (सुप्सुपा०) । संवदद्भिः=सं+वद+लट् (शतृ)+भिस् । प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः=प्रियं रूपं यस्य सः (बहु०), प्रियरूपस्य भावः प्रैयरूपकम्, प्रियरूप शब्दसे "द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय । प्रैयरूपकस्य विशेषाः (ष० त०) । "विशेषोऽवयवे व्यक्त" इत्युत्पलमालायाम् । प्रैयरूपकविशेषेषु निवेशाः, तैः (स० त०) । मन्दमन्दं=मन्दप्रकारम्, "प्रकारे गुणवचनस्य" इससे द्विर्वचन । इतरेतरं="कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्" इससे द्विर्वचन और समासवद्भाव । ऊचुः=ब्रूञ् (वच्)+लिट्+झि (उस्) ॥ ६६ ॥

तेषु तद्विधवधूवरणाऽर्हं भूषणं, स समयः स रथाऽध्वा ।
तस्य कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् भूपतेर्व्यवसितानि शशंसुः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—तस्य तद्विधवधूवरणाऽर्हं भूषणं, स समयः, कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् स रथाऽध्वा च (एते) भूपतेः व्यवसितानि तेषु शशंसुः ।

व्याख्या—तस्य=नलस्य, तद्विधवधूवरणाऽर्हं=दमयन्तीसदृशवधूवरणयोग्यं, भूषणम्=अलङ्कारः, सः=लोकप्रसिद्धः, समयः=स्वयंवरकालः, कुण्डिनपुरं=विदर्भनगरं, प्रतिसर्पन्=प्रतिगच्छन्, सः=तादृशः, रथाऽध्वा च=स्यन्दनमार्गश्च (एते=पदार्थाः) । भूपतेः=राज्ञो नलस्य, व्यवसितानि=व्यवसायान्, उद्योगान्, तेषु=इन्द्रादिलोकपालेषु, शशंसुः=सूचयामासुः ।

अनुवाद—उन (नल)के दमयन्तीसदृश वधूके वरणके योग्य अलङ्कार, वह स्वयंवरका काल, कुण्डिनपुरको जानेवाला रथका मार्ग (इन सब पदार्थोंने) इन्द्र आदि देवताओंको नलके उद्योगकी सूचना की ।

टिप्पणी—तद्विधवधूवरणाऽर्हं=सा विधा (प्रकारः, सौन्दर्याद्यसाधारणधर्मः) यस्याः सा तद्विधा (बहु०), सा चाऽसौ वधूः (क० धा०), तस्या वरणं (ष० त०), तस्मिन् अर्हम् (स० त०) । प्रतिसर्पन्=प्रति+सृप्+लट् (शतृ)+सु । रथाध्वा=रथस्य अध्वा (ष० त०) । भूपतेः=भुवः पतिः, तस्य (ष० त०) । शशंसुः=शंस+लिट्+झि (उस्) ॥ ६७ ॥

धर्मराजसलिलेशहुताऽशैः प्राणतां त्रितमम् जगतस्तैः ।
प्राप्य हृद्दवलविस्मृततापं चेतसा निभृतमेतदचिन्ति ॥ ६८ ॥

अन्वय —जगत प्राणतां श्रितम् अमुं प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैः धर्मराजसलिलेशहुताऽशैः चेतसा निभृतम् एतत् अचिन्ति ।

व्याख्या—जगत =लोकस्य, प्राणता=प्राणत्व, जगज्जीवनत्व जगत्प्रियता वा, श्रितम्=आश्रितम्, अमुं=नल, प्राप्य=आसाद्य, हृष्टचलविस्तृततापैः =सन्तुष्टचञ्चलवितितविरहसन्तापैः । धर्मराजसलिलेशहुताऽशैः =यमराजवरुणाऽग्निभि , चेतसा=चित्तेन, निभृत=निगूढम्, एतत्=इदम्, अनन्तरश्लोकत्रये वक्ष्यमाणमिति भाव । अचिन्ति=चिन्तितम् ।

अनुवाद—लोकके प्राणभूत नलको प्राप्त करके सन्तुष्ट, चञ्चल और विस्तृत तापवाले यम, वरुण और अग्निने चित्तसे गुप्तरूपसे ऐसी (पीछे कही जानेवाली) चिन्ता की ।

टिप्पणी—प्राणता=प्राण+तल्+टाप+अम् । प्राप्य=प्र+आप्+क्त्वा (ल्यप्) । हृष्टचलविस्तृततापैः =विस्तृत ताप येषा ते (बहु०), हृष्टाश्च ते चला (क० धा०), ते च ते विस्तृततापा , तै (क० धा०) । जगत्के प्राणभूत नलके दर्शनसे हृष्ट (सन्तुष्ट), नलके सौन्दर्यको देखनेसे स्वयंवरमें निराश होनेसे चल (चञ्चल) और विस्तृतताप (विस्तृत विरहके तापवाले) इन्द्र आदि देवताओने, यह अभिप्राय है । कुछ टीकाकारोने इन तीन विशेषणोको यथाक्रम धर्मराज, वरुण और अग्नि इन तीन देवताओमे लगाया है, परन्तु महोपाध्याय मल्लिनाथने युक्तिपूर्वक इस मतका खण्डन कर तीनों देवताओमे समष्टि रूपसे लगाया है । धर्मराजसलिलेशहुताशैः =धर्मस्य राजा धर्मराज (ष० त०), सलिलस्य ईश सलिलेश (ष० त०), हुतम् अश्नातीति हुताश । हुत+अश्+अण् (उपपद० धर्मराजश्च सलिलेशश्च हुताशश्च, तै (द्वन्द्व) । अचि[illegible] [illegible] चिन्त णिच्+लुङ्+त ॥ ६८ ॥

> नैव न प्रियतमोभयथाऽसौ यद्यमुं न वृणुते वृणुते वा ।
> एकतो हि धिगमूमगुणज्ञामन्यत कथमद प्रतिलम्भ ? ॥ ६९ ॥

अन्वय —असौ अमुं यदि न वृणुते, वृणुते वा, उभयथा (अपि) न प्रियतमा न । हि एकत अगुणज्ञाम् अमू धिक् । अन्यत कथम् अद प्रतिलम्भ ?

व्याख्या—पद्यत्रितयेन देवत्रयस्य चिन्ताप्रकारमाह नैवेति । असौ=दमयन्ती, अमुं=नल, यदि=चेत्, न वृणुते=न स्वीकरोति, वृणुते वा=

स्वीकरोति वा । उभयथा=पक्षद्वयेन (अपि), नलस्य वरणे अवरणेऽपि इति भावः । नः=अस्माकं, प्रियतमा न=दयिततमा न । उभयथाऽपि दमयन्त्याः प्रियतमत्वाऽभावे हेतू उपन्यस्यति—एकत इति । हि=यतः, एकतः=प्रथमपक्षे, दमयन्त्या ‘नलस्य अवरण इति भावः । अगुणज्ञां=गुणज्ञानरहिताम्, अमूं=दमयन्ती, धिक्, दमयन्त्या निन्दा इत्यर्थः । अन्यतः=अन्यपक्षे, दमयन्त्या नलस्य वरण इति भावः । कथं=केन प्रकारेण, अदःप्रतिलम्भः=अमुष्या (दमयन्त्याः) प्राप्तिः, नलपत्नीत्वादिति भावः ।

अनुवाद—यह (दमयन्ती) यदि नलका वरण नहीं करती है वा करती है, दोनों पक्षोंमें हमारी प्रियतमा नहीं होगी । क्योंकि प्रथमपक्षमें (नलका वरण नही करनेपर), गुणकी परख न करनेवाली उसको धिक्कार है । अन्यपक्षमें (नलका वरण करनेपर) कैसे हमें दमयन्तीकी प्राप्ति होगी ?

टिप्पणी—वृणुते=वृञ्+लट्+त । उभयथा=उभाभ्यां प्रकाराभ्याम्, उभ+तयप्, (आवृत्तिमें)+थाल् । नः=अस्मद् शब्दकी षष्ठीमें एकत्वकी विवक्षामें “अस्मदो द्वयोश्च” इससे बहुवचन । प्रियतमा=अतिशयेन प्रिया, प्रिय+तमप्+टाप् । एकतः=एक+तसिल् । अगुणज्ञां=गुणं जानातीति गुणज्ञा, गुण+ज्ञा+क+टाप् (उपपद०), न गुणज्ञा, ताम् (नञ्०) । अमूम्=“धिक्” पदके योगमें “धिगुपर्यादिषु” इससे द्वितीया । अन्यतः=अन्य+तसिल् । अदःप्रतिलम्भः=अमुष्याः प्रतिलम्भः (ष० त०) ॥ ६९ ॥

मामुपैष्यति तदा यदि मत्तो वेद नेयमियदस्य महत्त्वम् ।
ईदृशी न कथमाकलयित्री मद्विशेषमपरान्नृपपुत्री ? ॥ ७० ॥

अन्वयः—इयम् इयत् अस्य मत्तः महत्त्वं न वेद यदि, तदा माम् उपैष्यति । ईदृशी नृपपुत्री अपरात् मद्विशेषं च कथम् आकलयित्री ?

व्याख्या—इयं=दमयन्ती, इयत्=एतावत्, अस्य=नलस्य, मत्तः=मत्सकाशात्, महत्त्वम्=आधिक्यं, न वेद यदि=नो जानाति चेत्, तदा=तर्हि, मा=धर्मराजं, [illegible] हुताशं वा, उपैष्यति=प्राप्स्यति, “वरिष्यति” इति पाठे स्वीकरिष्यतीत्यर्थः । ईदृशी=एतादृशी, नृपपुत्री=राजपुत्री, दमयन्ती । अपरात्=अपरस्मात्, नलादित्यर्थः । मद्विशेषं च=मदीयोत्कर्षं च, कथं=केन प्रकारेण, आकलयित्री=ज्ञात्री भविष्यतीति शेषः ।

अनुवाद—यह दमयन्ती नलको मुझसे इतने महत्त्वको नहीं जानेगी

तो मुझे स्वीकार करेगी, किन्तु ऐसी राजकुमारी दमयन्ती दूसरेसे (नलसे) मेरे उत्कर्षको कैसी जानेगी ?

टिप्पणी—इयत्=इदम्+वतुप् । मत्त=अस्मद्+तसिल् । महत्त्वम्= महत्+त्व+अम् । वेद=विद+लट+तिप् । उपैष्यति=उप+आङ्+ इण्+लृट्+तिप । नृपपुत्री=नृपस्य पुत्री (ष० त०) । अपरात्= वैकल्पिक होनेसे "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" इस सूत्रसे ङसिके स्थानमें "स्मात्" आदेश नहीं हुआ । मद्विशेष=मम विशेष, तम् (ष० त०) । आकलयित्री= आङ्+कल+णिच्+तृच्+ङीप+सु ॥ ७० ॥

नैषधे बत ! वृते दमयन्त्या व्रीडितो हि बहिर्भविताऽस्मि ।
स्वां गृहेऽपि वनितां कथमास्य ह्रीनिमीलि खलु दर्शयिताहे ॥ ७१ ॥

अन्वय —दमयन्त्या नैषधे वृते (सति) व्रीडित (सन्) बहि न भविताऽस्मि । बत ! गृहेऽपि स्वां वनिता ह्रीनिमीलि आस्य कथ दर्शयिताहे खलु ।

व्याख्या—दमयन्त्या=भैम्या, नैषधे=नले, वृते=स्वीकृते सति, व्रीडित=लज्जित सन्, बहि=गृहाद् बहिर्भागे, न भविताऽस्मि=नो भविष्यामि । बतेति खेदे । तर्हि गृह एव उष्यतामित्यत्राह—स्वामिति । गृहेऽपि= स्वभवनेऽपि, स्वा=स्वकीया, वनिता=महिला, पत्नीमित्यर्थ ह्रीनिमीलि= लज्जासङ्कुचितम्, आस्य=मुख, कथ=केन प्रकारेण, दर्शयिताहे=दर्शयिष्यामि, खलु=निश्चयेन । सोऽप्यमुमपत पाशारज्जुरापतिष्यतीति भाव ।

अनुवाद—दमयन्तीसे नलका वरण करनेपर लज्जित होता हुआ घरके बाहर स्थित नहीं हो सकूँगा । खेद है ! घरमें भी अपनी स्त्री (पत्नी)को लज्जासे सकुचित मुख कैसे दिखाऊँगा ?

टिप्पणी—व्रीडित=व्रीडा+इतच् । भविताऽस्मि=भू+लुट्+मिप् । वनिताम्=णिच् न होनेपर कर्तृभूत "वनिता" पदसे "दर्शयिताहे" इस ण्यन्तपदके योगमे "अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्" इस वार्तिकसे विकल्पसे कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया । एक पक्षमे "वनितया" ऐसा रूप भी है । ह्रीनिमीलि=ह्रिया निमीलति (सकुचति) इति, ह्री+नि+मील+णिनि+ सु (उपपद०) । दर्शयिताहे=दृश्+णिच्+लुट् (कर्तामें)+इट । "णिचश्च" इससे आत्मनेपद ॥ ७१ ॥

इत्यवेत्य मनसाऽऽत्मविधेयं किञ्चन त्रिविबुधी बुबुधे न ।
नाकनायकमपास्य तमेकं सा स्म पश्यति परस्परमास्यम् ॥ ७२ ॥

अनुवाद—त्रिविबुधी इति मनसा अवेत्य किञ्चन आत्मविधेयं न बुबुधे । सा तम् एकं नाकनायकम् अपास्य परस्परम् आस्यं पश्यति स्म ।

व्याख्या—त्रिविबुधी=देवत्रयी, इति=एवं, पूर्वपद्यत्रयोक्तप्रकारेणेति भावः । मनसा=चित्तेन, अवेत्य=आलोच्य, किञ्चन=किमपि, आत्मविधेयं=स्वकर्तव्यं, न बुबुधे=नो विवेद । किञ्च सा=पूर्वोक्ता, त्रिविबुधीति भावः । तं=पूर्वोक्तम्, एकं, नाकनायकं=स्वर्गपतिम्, इन्द्रमित्यर्थः । अपास्य=त्यक्त्वा, परस्परम्=अन्योऽन्यम्, आस्यं=मुखं, पश्यति स्म=अपश्यत् ।

अनुवाद—यम, वरुण और अग्नि, ये तीन देवता मनसे ऐसा विचार कर कुछ भी अपना कर्तव्य नहीं जान सके । तीनोंने एक इन्द्रको छोड़कर परस्पर एकने दूसरेका मुख ताका ।

टिप्पणी—त्रिविबुधी=त्रयाणां विबुधानां समाहारः (द्विगु०) । अवेत्य=अव+इण्+क्त्वा (ल्यप्) । आत्मविधेयम्=आत्मनो विधेयं, तत् (ष० त०) । बुबुधे=बुध+लिट्+त । नाकनायकं=नाकस्य नायकः, तम् (ष० त०) । अपास्य=अप+अस्+क्त्वा (ल्यप्) ॥ ७२ ॥

किं विधेयमधुनेति विमुग्धं स्वाऽनुगाऽऽननमवेक्ष्य ऋभुक्षाः ।
शंसति स्म कपटे पटुरुच्चैर्वञ्चनं समभिलष्य नलस्य ॥ ७३ ॥

अन्वयः—कपटे पटुः ऋभुक्षाः अधुना किं विधेयम् इति विमुग्धं स्वाऽनुगाऽऽननम् अवेक्ष्य नलस्य वञ्चनं समभिलष्य उच्चैः शंसति स्म ।

व्याख्या—कपटे=परवञ्चने, पटुः=कुशलः, ऋभुक्षाः=इन्द्रः, अधुना=सम्प्रति, किं विधेयं=किं कर्तव्यम्, इति=अनिश्चयात्, विमूढं=विशेषमोहयुक्तं, स्वाऽनुगाऽऽननम्=आत्माऽनुयायिवदनम्, अवेक्ष्य=दृष्ट्वा, नलस्य=नैषधस्य, वञ्चनं=प्रतारणं, समभिलष्य=अभिसन्धाय, उच्चैः=तारस्वरेण, शंसति स्म=जगाद ।

अनुवाद—कपटमें कुशल इन्द्रने "अभी क्या करना चाहिए" इस विषयमें मोहयुक्त अपने अनुयायी यम आदिका मुख देखकर नलकी प्रतारणाका अभिलाष कर ऊँचे स्वरसे कहा ।

टिप्पणी—विधेयं=वि+धा+यत् । विमुग्धं=वि+मुह+क्त+अम् । स्वाऽनुगाऽऽननं=स्वस्य अनुगाः (ष० त०), स्वाऽनुगानाम् आननं, तत्

(ष० त०)। अवेक्ष्य=अव+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्)। समभिलप्य=सम्+अभि+लप्+क्त्वा (ल्यप्) ॥ ७३ ॥

'सर्वत कुशलभागसि कच्चित्त्वं स नैषध इति प्रतिभा न ।
स्वाऽऽसनार्धसुहृदस्तव रेखा वीरसेननृपतेरिव विद्म ॥ ७४ ॥

अन्वय —सर्वत कुशलभाक् असि कच्चित् ? त्व स नैषध इति न प्रतिभा, तव रेखा स्वाऽऽसनार्धसुहृद वीरसेननृपते इव विद्म ।

व्याख्या—सर्वत =विश्वत , स्वाम्यमात्यादिषु सप्तस्वङ्गेष्विति भाव । कुशलभाक्=क्षेमसम्पन्न , असि=विद्यसे, कच्चित्=किम् । त्व=भवान्, स =प्रसिद्ध , नैषध =नल , इति=एव, न =अस्माक, प्रतिभा=प्रतीति । तत्र हेतु प्रदर्शयति—स्वाऽऽसनार्धसुहृद इति । तव=भवत , रेखाम्=आकृति, स्वाऽऽसनार्धसुहृद =आत्मार्धासनमित्रस्य, वीरसेननृपते इव=वीरसेनाऽऽख्यनृपस्य इव, विद्म =जानीम ।

अनुवाद—सर्वत्र, स्वामी अमात्य आदि सातों अङ्गोंमें आप कुशलसम्पन्न है, क्या ? आप वे ही नल हैं, ऐसी मुझे प्रतीति हो रही है, क्योंकि आपकी आकृति अपने आधे आसनके मित्र वीरसेन नामके राजाके समान हम लोग जान रहे हैं ।

टिप्पणी—कुशलभाक्=कुशल भजतीति, कुशल+भज्+ण्वि (उपपद०)+सु । कच्चित्="कच्चित्कामप्रवेदने" इत्यमर । स्वाऽऽसनार्धसुहृद=स्वस्य आसन (ष० त०), तस्य अर्ध (ष० त०), तस्मिन् सुहृद् तस्य (स० त०)। वीरसेननृपते =नृणा पति (ष० त०), वीरसेनश्चासौ नृपति, तस्य (क० धा०)। विद्म =विद्+लट्+मस् । राजा वीरसेनके आकारका सादृश्य आपमें देखनेसे आप राजा वीरसेनके पुत्र हैं, हम लोग ऐसा जान रहे हैं, यह तात्पर्य है ॥ ७४ ॥

क्व प्रयास्यसि नलेत्यलमुक्त्वा यात्रयाऽत्र शुभयाऽजनि यन्न ।
तत्तयैव फलसत्वरया त्व नाऽध्वनोऽर्धमिदमागमितः किम् ? ॥ ७५ ॥

अन्वय —"हे नल ! क्व प्रयास्यसि ?" इति उक्त्वा अलम् । यत् न अत्र यात्रया शुभया अजनि । तत् फलसत्वरया तया एव त्वम् इदम् अध्वन अर्धम् आगमितो न किम् ?

व्याख्या—हे नल=हे नैषध ! क्व=कुत्र, प्रयास्यसि=गमिष्यसि ? इति=एवम्, उक्त्वा=कथयित्वा, पृष्ट्वेत्यर्थ । अल=पर्याप्तम्, न प्रष्टव्य-

मिति भावः। यत्=यस्मात्कारणात्, नः=अस्माकम्, अत्र=इह, यात्रया=प्रयाणेन, शुभया=कल्याण्या, सफलयेति भावः। अजनि=जातम्। तत्=तस्मात्कारणात्, फलसत्वरया=फले (शुभपरिणामे) सत्वरया (शीघ्रया), फलार्थिन्येति भावः। तया एव=यात्राया एव कर्त्र्या, त्वम्, इदम्=एतत्, अध्वनः अर्धम्=अर्धमार्गम्, आगमितो न किम्=प्रापितो न किम्? अस्मदर्थमेव इदं तवागमनमिति भावः।

अनुवाद—"हे नल! आप कहाँ जायेंगे" ऐसा नही कहना चाहिए। जिससे कि हम लोगोंका यहाँ आगमन सफल हुआ, उस कारणसे फलका अभिलाप करनेवाले उस आगमनसे ही आप इस आधे मार्गमें प्राप्त नही किये गये है क्या?

टिप्पणी—प्रयास्यसि=प्र+या लृट्+सिप्। उक्त्वा=ब्रूञ् (वच्) +क्त्वा, "अलम्" इस पदके योगमें "अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इस सूत्रसे क्त्वा प्रत्यय। अजनि=जन्+लुङ् (भावमे)+च्लि (चिण्)+त। फलसत्वरया=त्वरया सहित सत्वरा (तुल्ययोगबहु०), फले सत्वरा, तया (स० त०)। आगमितः=आङ्+गम्+णिच्+क्त। हम लोगोंके लिए ही आपका यह आगमन है, यह अभिप्राय है॥ ७५॥

एष नैषध! स दण्डभृदेष ज्वालजालजटिलः स हुताशः।
यादसां स पतिरेष च शेषं शासितारमवगच्छ सुराणाम्॥ ७६॥

अन्वयः—हे नैषध! एष स दण्डभृत्। एष ज्वालजालजटिलः स हुताऽशः। एष च स यादसां पति.। शेषं (माम्) सुराणां शासितारम् अवगच्छ।

व्याख्या—हे नैषध=हे नल! एषः=पुरोवर्ती, स=प्रसिद्धः, दण्डभृत्=यमः। एषः=पुरोवर्ती, ज्वालजालजटिलः=अर्चिःसमूहव्याप्तः, सः=प्रसिद्धः, हुताऽशः=अग्निः। एष च=पुरोवर्ती च, सः=प्रसिद्धः, यादसां=जलजन्तूनां, पतिः=स्वामी, वरुण इति भावः, अस्तीति शेषः। शेषं=शिष्टं, मामिति शेषः। सुराणां=देवानां, शासितारं=शासनकर्तारं, देवेन्द्रमिति भावः। अवगच्छ=जानीहि।

अनुवाद—हे नल! ये प्रसिद्ध यमराज है। वे ज्वालाओंके समूहसे व्याप्त प्रसिद्ध अग्नि हैं। ये जलजन्तुओंके स्वामी प्रसिद्ध वरुण हैं। अवशिष्ट मुझको आप देवताओंके शासक इन्द्र जानिए।

टिप्पणी—दण्डभृत्=दण्ड बिभर्तीति, दण्ड+भृ+क्विप् (उपपद०)+सु। ज्वालजालजटिल =ज्वालाना जालम् (ष० त०), जटा सन्ति यस्मिन् स जटिल, जटा शब्दके पिच्छादिगणमे पढे जानेसे "लोमाऽऽदिपामाऽऽदिपिच्छाऽऽदिभ्य शनेलच" इस सूत्रसे इलच् प्रत्यय। ज्वालजालेन जटिल (तृ० त०)। "वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ" इत्यमर। सुराणाम्="शासितारम्" इस पदके योगमे कर्ममे षष्ठी। शासितार=शास्तीति शासिता, तम्। शास्+तृच्+अम्। अवगच्छ=अव+गम्+लोट्+सिप ॥ ७६ ॥

> अर्थिनो वयममी समुपेमस्त्वां किलेति फलितार्थमवेहि।
> अध्वन क्षणमपास्य च खेद कुर्महे भवति कार्यनिवेदम् ॥ ७७ ॥

अन्वय—(हे नल !) अमी वयम् अर्थिन (सन्त) त्वा समुपेम किल, इति फलितार्थम् अवेहि। क्षणम् अध्वन खेदम् अपास्य भवति कार्यनिवेद कुर्महे।

व्याख्या—(हे नल !) अमी=एते, वयम्=इन्द्रादिदेवा, अर्थिन=याचका सन्त, त्वा=भवन्त, समुपेम=प्राप्नुम, किल=खलु। इति=एव, फलितार्थं=तात्पर्यम्, अवेहि=जानीहि। अत क्षण=कञ्चित्कालम्, अध्वन=मार्गस्य, खेद=परिश्रमम्, अपास्य=यापयित्वा, भवति=त्वयि विषये, कार्यनिवेद=कृत्यनिवेदन, कुर्महे=विदध्म।

अनुवाद—(हे नल !) वे हम लोग (इन्द्र आदि देव) याचक होते हुए आपके पास आये हैं, आप इस फलित अर्थको जान लें। कुछ कालतक मार्गके परिश्रमको मिटाकर आपको अपने कार्यका निवेदन करते हैं।

टिप्पणी—अर्थिन असन्निहित अर्थ येषा ते, तस्य, अर्थ शब्दसे "अर्थाच्चाऽसन्निहिते" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय। "मार्गणो याचकार्थिनौ" इत्यमर। समुपेम=सम्+उप+इण्+लट्+मस्। फलितार्थम्=फलितश्चाऽसौ अर्थ, तम् (क० धा०)। अवेहि=अव+इण्+लोट्+सिप् (हि)। क्षणम्=अत्यन्त सयोगमे द्वितीया। अपास्य=अप+अस्+क्त्वा (ल्यप्)। कार्यनिवेद=कार्यस्य निवेद, तम् (ष० त०)। कुर्महे=(डु) कृञ्+लट्+महिङ् ॥ ७७ ॥

> ईदृशीं गिरमुदीर्य बिडौजा जोषमाप न विशिष्य बभाषे।
> नाऽत्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवाऽवधि गुरुर्गुरुरस्य ॥ ७८ ॥

अन्वय—बिडौजा ईदृशी गिरम् उदीर्य जोषम् आप, विशिष्य न बभाषे। अत्र अभिधाकुशलत्वे चित्र न, अस्य शैशवाऽवधि गुरु गुरु।

व्याख्या—विडौजाः=इन्द्रः, ईदृशीम्=एतादृशीं, पूर्वोक्तां, सामान्यनिर्दिष्टामिति भावः। गिरं=वाणीम्, उदीर्य=उक्त्वा, जोषं=मौनम्, आप=प्राप, तूष्णीं बभूवेति भावः। विशिष्य=विशेषमाश्रित्य, विविच्येति भावः। न बभाषे=नो जगाद। अत्र=अस्मिन्, अभिधाकुशलत्वे=वचनकौशले, चित्रं न=आश्चर्यं न, अस्य=इन्द्रस्य, शैशवाऽवधि=बाल्यादारभ्येत्यर्थः। गुरुः=आचार्यः, गुरुः=बृहस्पतिः, बृहस्पतिशिष्यस्येन्द्रस्य वचनकौशले किमाश्चर्यमिति भावः।

अनुवाद—इन्द्र ऐसा वचन कहकर चुप हुए, उन्होंने विशेष रूपसे कुछ नहीं कहा। इन्द्रके वचन कौशलमें कुछ आश्चर्य नहीं है, जिनके बचपनसे ही आचार्य बृहस्पति हैं।

टिप्पणी—उदीर्य=उद्+ईर+क्त्वा (ल्यप्)। जोषं="तूष्णीं जोषं भवेन्मौनम्" इति हलायुधः। आप=आप्लृ+लिट्+तिप् (णल्)। बभाषे=भाष+लिट्+त (एश्)। अभिधाकुशलत्वे=अभिधायाः कुशलत्वं, तस्मिन् (ष० त०)। शैशवाऽवधि=शैशवम् अवधिः यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०), क्रि० वि०। गुरुः="गुरुर्गीःपतिपित्रादौ" इति वैजयन्ती। इस पद्यमें "गुरुर्गुरुः" यहाँपर लाटाऽनुप्रास है ॥ ७८ ॥

अर्थिनामहृषिताऽखिललोमा स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बम् ।
अर्चनाऽर्थमिव तच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिन्ये ॥ ७९ ॥

अन्वयः—अर्थिनामहृषिताऽखिललोमा सः, नृपः स्वं तच्चरणानाम् अर्चनाऽर्थं स्फुटकदम्बकदम्बम् इव प्रणामकरणात् उपनिन्ये।

व्याख्या—अथ सरलप्रकृतेर्वदान्यस्य नलस्य धीरोदात्ततां पञ्चदशभिः पद्यैराह—अर्थिनामत्यादिन्। अर्थिनामहृषिताऽखिललोमा=याचकाऽस्यारोमाञ्चितशरीरः, स नृपः=राजा नलः, स्वम्=आत्मानं, तच्चरणानाम्=इन्द्रादिदेवपादानाम्, अर्चनाऽर्थं=पूजनाऽर्थं, स्फुटकदम्बकदम्बम् इव=विकसितनीपपुष्पवृन्दम् इव, प्रणामकरणात्=अभिवादनव्याजात्, उपनिन्ये=समर्पयामास।

अनुवाद—याचकोंके नामके श्रवणसे रोमाञ्चित शरीरवाले राजा नलने अपनेको देवताओंके चरणोंकी पूजाके लिए विकसित कदम्बपुष्पोंके समूहके समान प्रणाम करनेसे समर्पण किया।

टिप्पणी—अर्थिनामहृषिताऽखिललोमा=अर्थी नाम (क० धा०), हृष+क्त+जस्=हृषितानि, "हृषेर्लोमसु" इस सूत्रसे वैकल्पिक इट् आगम। हृषितानि अखिलानि लोमानि यस्य स (बहु०), अर्थिनाम्ना हृषिताऽखिललोमा (तृ० त०)। तच्चरणानाम्=तेषां चरणाः, तेषाम् (ष० त०), प्रणामकरणात्=प्रणामस्य करणं, तस्मात् (ष० त०)। उपनिन्ये=उप+णीञ्+लिट्+त (एश्)। इस पद्यमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७९ ॥

दुर्लभं दिगधिपैः किममीभिस्तादृशं कथमहो ! मदधीनम् ।
ईदृशं मनसिकृत्य विरोधं नैषधेन समशायि चिराय ॥ ८० ॥

अन्वय—दिगधिपैः अमीभिः दुर्लभं किं ? तादृशं कथं मदधीनम् ? अहो ! ईदृशं विरोधं मनसिकृत्य नैषधेन चिराय समशायि।

व्याख्या—दिगधिपैः=दिक्पालैः, अमीभिः=एतैः, इन्द्रादिभिरित्यर्थः। दुर्लभं=दुष्प्राप्यं, किम् ? तादृशं=दुर्लभं वस्तु, कथं=केन प्रकारेण, मदधीनं=मदायत्तम् ? ईदृशम्=एतादृशं, विरोधं=विरुद्धप्रकारं, मनसिकृत्य=निधाय, नैषधेन=नलेन, चिराय=बहुकालपर्यन्तं, समशायि=संशयितं, विचारितमित्यर्थः।

अनुवाद—इन्द्र आदि दिक्पालोंको दुर्लभ क्या है ? वैसा दुर्लभ पदार्थ कैसे मेरे अधीन है ? ऐसे विरोधको विचार कर नलने बहुत कालतक संशय किया।

टिप्पणी—दिगधिपैः=दिशाम् अधिपाः, तैः (ष० त०)। मदधीनं=मयि अधीनम् (स० त०)। मनसिकृत्य="मनसि" इस पदको "अनत्याधान उरसिमनसी" इस सूत्रसे गतिसंज्ञा होकर "कुगतिप्रादयः" इससे समास होनेसे क्त्वाके स्थानमें ल्यप्। समशायि=सम्+शीङ्+लुङ् (भावमें)+त ॥८०॥

जीविताऽवधि वनीपकमात्रैर्याच्यमानमखिलैः सुलभं यत् ।
अर्थिने परिवृढाय सुराणां किं वितीर्य परितुष्यतु चेतः ? ॥ ८१ ॥

अन्वय—अखिलैः वनीपकमात्रैः जीविताऽवधि याच्यमानं यत् सुलभं, सुराणां परिवृढाय अर्थिने किं वितीर्य चेतः परितुष्यतु ?

व्याख्या—नलस्य संशयप्रकारमाह द्वादशभिः पद्यैः—जीविताऽवधीति। अखिलैः=समस्तैरपि, वनीपकमात्रैः=याचकमात्रैः, यैः कश्चिद्याचकैरिति भावः। जीविताऽवधि=प्राणपर्यन्तं, याच्यमानं=प्रार्थ्यमानं, यत्=वस्तु, सुलभं=सुप्रापं, सुराणां=देवानां, परिवृढाय=प्रभवे, इन्द्रायेति भावः।

अर्थिने=याचकाय, किं=वस्तु, वितीर्य=दत्त्वा, चेतः=चित्तं, परितुष्यतु=सन्तुष्येत् ?

अनुवाद—सम्पूर्ण याचकमात्रोंसे प्राणपर्यन्त माँगा गया जो पदार्थ सुलभ है, देवताओंके प्रभु इन्द्ररूप याचकको कौन-सा पदार्थ देकर चित्त सन्तुष्ट हो जाय ?

टिप्पणी—वनीपकमात्रैः=वनीपका एव वनीपकमात्राणि, तैः (रूपक०), "वनीपको याचनको मार्गणो याचकाऽर्थिनो" इत्यमरः। जीविताऽवधिः=जीवितम् अवधिः यस्य तत् (बहु०)। याच्यमानं=याच्यते इति, याच+लट् (कर्ममें)+यक्+शानच्+सु। सुलभं = सु+लभ्+खल्+सु। परितुष्यतु=परि+तुष्+लोट्+तिप्। प्राणपर्यन्त वस्तु याचकमात्रको साधारण है, उससे अधिक कौन वस्तु इन्द्रको देनेके लिए है ? नलने ऐसा विचार किया, यह अभिप्राय है ॥ ८१ ॥

भीमजा च हृदि मे परमास्ते जीवितादपि धनादपि गुर्वी।
न स्वमेव मम साऽर्हति यस्याः षोडशीमपि कलां किल नोर्वी ॥ ८२ ॥

अन्वयः—उर्वी यस्याः षोडशीम् अपि कलां न अर्हति, (अत एव) धनात् अपि जीवितात् अपि गुर्वी, सा भीमजा मे हृदि परम् आस्ते; मम स्वम् एव न।

व्याख्या—ननु लोकोत्तरं वस्तु भैम्यस्ति सा दीयतामित्यत आह—भीमजेति। उर्वी=भूमिः, यस्याः=भीमजायाः, षोडशीम् अपि कलां=षोडशांऽशसाम्यम् अपि, न अर्हति=न प्राप्नोति। अत एव धनात् अपि=द्रव्यात् अपि, किं बहुना-जीवितात् अपि=जीवनात् अपि, गुर्वी=अधिका, सा=तादृशी, भीमजा=भैमी, मे=मम, हृदि=हृदये, परं=सम्यक्, आस्ते=विद्यते, किन्तु (सा=दमयन्ती), मम=नलस्य, स्वम् एव न=स्वीयं वस्तु एव न, कन्यात्वादिति भावः।

अनुवाद—भूमि भी जिस दमयन्तीके सोलहवें भागको भी पानेके योग्य नहीं है, अत एव धनसे और मेरे जीवनसे भी अधिक वैसी दमयन्ती मेरे हृदयमें अच्छी तरह मौजूद है, किन्तु वह मेरी अपनी वस्तु नहीं है।

टिप्पणी—षोडशीं=षट् च दश च षोडश (द्वन्द्व०), षोडशानां पूरणी षोडशी, ताम्, षोडशन्+डट् (मट्)+ङीप्+अम्। गुर्वी=गुरु+ङीप् "वोतो गुणवचनात्" इससे ङीप्। भीमजा=भीमाज्जाता, भीम+जन्+ड

(उपपद०)+टाप्+सु । कन्याके परकीया होनेसे दमयन्ती मेरी वस्तु नही है उनमे स्वत्व होने पर भी "देय दारसुतादृते" पत्नी और सन्तानको छोड़कर और वस्तु देनी चाहिए, ऐसा वचन है, यह अभिप्राय है ॥ ८२ ॥

मीयता कथमभीप्सितमेषा, दीयता द्रुतमयाचितमेव ।

त धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसर सहते य ॥ ८३ ॥

अन्वय —एषाम् अभीप्सित कथ मीयताम् ? अयाचितम् एव द्रुत कथ दीयताम् ? य वाञ्छा कलयन् अपि अर्थिवागवसर सहते, त धिक् अस्तु ।

व्याख्या—एषा=देवानाम्, अभीप्सितम्=अभीष्ट वस्तु, कथ=केन प्रकारेण, मीयता=ज्ञायेत । अयाचितम् एव=अप्रार्थित यथा तथा एव, द्रुत=शीघ्र, कथ=केन प्रकारेण, दीयता=वितीर्यता, य=दाता जन । वाञ्छा=याचकस्य इच्छा, कलयन् अपि=जानन् अपि, अर्थिवागवसर=याचकवाणीप्रसङ्ग, याञ्चाकालमित्यर्थ । सहते=मृष्यति, प्रतीक्षत इत्यर्थ । त=दातार, धिक् अस्तु=स गर्ह्य इत्यर्थ ।

अनुवाद—देवताओका अभीष्ट (माँगी जानेवाली वस्तु) कैसे जाना जाय ? माँगे बिना ही कैसे दिया जाय ? जो (दाता) याचककी इच्छाको जानता हुआ भी याचकके वाक्यके अवसरकी प्रतीक्षा करता है, उसे धिक्कार हो ।

टिप्पणी—अभीप्सितम्=अभि+आप्+सन्+क्त+सु । मीयता=माङ्+लोट्+त (कर्ममे) । अयाचित=न याचित यथा तथा (नञ्०) । दीयताम्=दा+लोट् (कर्ममे)+त । कलयन्=कल+णिच्+लट (शतृ)+सु । अर्थिवागवसरम्=अर्थिनो वाक् (ष० त०), तस्या अवसर, तम् (ष० त०) । सहते=सह्+लट्+त । तम्="धिक्"के योगमें द्वितीया । नारायण पण्डितने दानके फलोका तारतम्य निम्नलिखित श्लोकमे दिखाया है—

"गत्वा यद्दीयते दान तदनन्तफल स्मृतम् ।
सहस्रगुणमाहूय, तु याचिते तदर्धकम् ॥"

अर्थात् याचकके पास जाकर जो दान किया जाता है, उसका फल अनन्त है । याचकको बुलाकर जो दान किया जाता है, उसका फल सहस्रगुण (हजार गुना) है, माँगनेपर किये जानेवाले दानका फल उसका आधा समझा जाता है ॥ ८३ ॥

प्रापितेन चटुकाकुविडम्बं लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम् ।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददानः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—चटुकाकुविडम्बं प्रापितेन बहुयाचनलज्जां लम्भितेन अर्थिना दाता यत् अघम् अर्जति, विलम्ब्य ददानः तत् न लुम्पति ।

व्याख्या—चटुकाकुविडम्बं=चटुकाकुभ्यां (प्रियवाक्यदीनवाक्याभ्याम्) विडम्बं (हास्यत्वम्), प्रापितेन=नीतेन, दात्रेति शेषः । एवं च बहुयाचनलज्जाम्=बहुयाचनेन (अधिकप्रार्थनेन) लज्जाम् (व्रीडाम्), लम्भितेन=प्रापितेन, दात्रेति शेषः । तादृशेन अर्थिना=याचकेन, कारणरूपेण । दाता=दानकर्ता जनः, यत्, अघं=पापम्, अर्जति=सम्पादयति, विलम्ब्य=विलम्बं कृत्वा, ददानः=दाता, तत्=अघं, न लुम्पति=नो विहन्ति, तस्य पापस्य प्रायश्चित्तमपि नाऽस्तीत्यर्थः ।

अनुवाद—प्रिय वाक्य और दीन वाक्यसे हास्यपात्र बनाये गये तथा अनेक बार याचनासे लज्जाको प्राप्त कराये गये याचकसे दाता (देनेवाला) जिस पापको अर्जन करता है, विलम्बसे देनेवाला (दाता) उस पापको नष्ट नहीं करता है (उस पापका प्रायश्चित्त ही नहीं है) ।

टिप्पणी—चटुकाकुविडम्बं=चटुश्च काकुश्च (द्वन्द्व), ताभ्यां विडम्बः, ताम् (तृ० त०) । प्रापितेन=प्र+आप्+णिच्+क्त+टा । बहुयाचनलज्जां=बहु (यथा तथा) याचनम् (सुप्सुपा०), बहुयाचनेन लज्जा, ताम् (तृ० त०) । लम्भितेन=लभ्+णिच्+क्त (कर्ममें)+टा । अर्थिना=अर्थ+इनि+टा । "मार्गणो याचकाऽर्थिनौ" इत्यमरः । दाता=ददातीति, दा+तृच् । अर्जति=अर्ज+लट्+तिप् । विलम्ब्य=वि+लबि+क्त्वा (ल्यप्) । ददानः=दा+लट् (शानच्)+सु । लुम्पति="लुप्लृ छेदने" धातुसे लट्+तिप्, "शे मुचादीनाम्" इस सूत्रसे नुम् ॥ ८४ ॥

यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय ।
याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सितमेतत् ॥ ८५ ॥

अन्वयः—वदान्यैः प्रदेयम् उपनीय अर्थिजनाय यत् सलिलं दीयते, एतत् याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सितम् ।

व्याख्या—वदान्यैः=दातृभिः, प्रदेयं=दातव्यद्रव्यम्, उपनीय=समीपे संस्थाप्य, अर्थिजनाय=याचकजनाय, यत् सलिलं=जलं, दीयते=वितीर्यते, एतत्=सलिलदानं, याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सितं=

प्रार्थनावचनवैफल्यसन्देहभीतिमूर्च्छितस्वभेषजम्, एतत् नो यदि ? तर्हि किं प्रयोजनं सलिलदानमिति भाव ।

अनुवाद—दाता देय द्रव्यको निकट रखकर याचकको जो जल देता है, यह (जलदान), माँगनेके वचनके वैफल्यकी शङ्कासे उत्पन्न भयसे होनेवाली मूर्च्छाकी चिकित्सा है ।

टिप्पणी—प्रदेय=प्रदातु योग्यम्, प्र+दा+यत्+सु । उपनीय=उप+नी+क्त्वा (ल्यप्) । अर्थिजनाय=अर्थी चासौ जन , तस्मै (क० धा०) । दीयते=दा+लट्+(कर्मणि)+त । याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सितम्=याचनस्य उक्ति (ष० त०), विगत फल यस्या सा विफला (बहु०), तस्या भाव , विफला+त्व । याचनोक्तौ विफलत्वम् (ष० त०), तस्य विशङ्का (ष० त०), तया त्रास (तृ० त०), तेन मूर्च्छन (तृ० त०), तस्य चिकित्सितम् (ष० त०) । इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥८५॥

अर्थिने न तृणवद्धनमात्र किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।
एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्ध ॥ ८६ ॥

अन्वय—कुशवज्जलदायी उक्तिविदग्ध द्रव्यदानविधि अर्थिने धनमात्र तृणवद् न प्रतिपाद्य, किन्तु जीवनम् अपि (तृणवद् प्रतिपाद्यम्) एवम् आह ।

व्याख्या—कुशवज्जलदायी=सकुशजलदानप्रतिपादक , उक्तिविदग्ध = वचनचतुर , द्रव्यदानविधि =धनवितरणविधान, पदार्थदानप्रतिपादकशास्त्र-मिति भाव । अर्थिने=याचकाय, धनमात्र=द्रव्यमात्र, तृणवद्=तृणम् इव, न प्रतिपाद्य=नो देय, किन्तु, जीवनम् अपि=जीवितम् अपि, तृणवद् प्रति-पाद्यम्, एवम्=इत्थम्, आह=ब्रूते ।

अनुवाद—कुशके साथ जलदानका प्रतिपादक, वचनमें चतुर, पदार्थदानका प्रतिपादक शास्त्र "याचकके लिए धनको ही तृणके समान नहीं देना चाहिए बल्कि जीवनको भी तृणके समान देना चाहिए" ऐसा कहता है ।

टिप्पणी—कुशवज्जलदायी=कुशम् अस्ति यस्मिंस्तत् कुशवत् (कुश+मतुप्), तच्च तत् जलम् (क० धा०), दान दाय , दा+घञ्, "आतो युक् चिण्कृतो" इससे युक् आगम, कुशवज्जलस्य दाय (ष० त०), सोऽस्याऽस्तीति, कुशवज्जलदाय+इनि+सु । "कुशवज्जलदायी" यह नारायणपण्डित सम्मत पाठ है । इसमें कुशवज्जल दापयतीति ऐसा विग्रह, कुशवज्जल+दा+

णिच्+णिनि+सु । उक्तिविदग्धः=उक्तौ विदग्धः (स० त०) । द्रव्यदान-विधिः=द्रव्यस्य दानं (ष० त०), तस्य विधिः (ष० त०) ॥ ८६ ॥

पङ्कसङ्करविगर्हितमर्हं न श्रियः कमलमाश्रयणाय ।
अर्थिपाणिकमलं विमलं तद्वासवेश्म विदधीत सुधीस्तु ॥ ८७ ॥

अन्वयः—पङ्कसङ्करविगर्हितं कमलं श्रियः आश्रयणाय न अर्हम् । तत् सुधीः विमलम् अर्थिपाणिकमलं तद्वासवेश्म विदधीत ।

व्याख्या—पङ्कसङ्करविगर्हितं=पापसम्बन्धनिन्दितं, कर्दमसम्बन्धनिन्दितं च, कमलं=पद्मं, श्रियः=लक्ष्म्याः, आश्रयणाय=सेवनाय, निवासायेति भावः । न अर्हं=नो योग्यम् । तत्=तस्मात्कारणात् । सुधीः=विद्वान्, विमलं=निर्मलं, निष्पङ्कमिति भावः । अर्थिपाणिकमलं=याचककरपद्मं, तद्वासवेश्म=लक्ष्मीनिवासस्थानं, विदधीत=कुर्यात्, धनं सर्वथा पात्रपाणिष्वेव निक्षेपणीयं, न तु भूमाविति भावः ।

अनुवाद—पाप वा कीचड़के सम्पर्कसे निन्दित कमल, लक्ष्मीके निवासके लिए योग्य नही है । इस कारणसे विद्वान् पुरुष निर्मल (पङ्करहित) पात्रके करकमलको लक्ष्मीका निवासस्थान बनावे ।

टिप्पणी—पङ्कसङ्करविगर्हितं=पङ्कस्य सङ्करः (ष० त०), "पङ्कोऽस्त्री कर्दमैनसोः" इति वैजयन्ती । पङ्कसङ्करेण विगर्हितम् (तृ० त०) । विमलं=विगतं मलं यस्मात्, तत् (बहु०) । अर्थिपाणिकमलं=पाणिः कमलम् इव (उपमिति०) । अर्थिनः पाणिकमलं, तत् (ष० त०) । तद्वासवेश्म=वासस्य वेश्म (ष० त०), तस्या वासवेश्म, तत् (ष० त०) । विदधीत=वि+धा+लिङ्+(विधिमें)+त । इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय वत ! जन्म न यस्य ।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—यस्य जन्म याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय न, वत ! तेन इयं भूमिः अतिभारवती, न द्रुमैः न गिरिभिः न समुद्रैः (अतिभारवती) ।

व्याख्या—यस्य=धनिनः पुरुषस्य, जन्म=उत्पत्तिः, याचमानजनमानस-वृत्तेः=अर्थिजनमनोवृत्तेः, अर्थिजनमनोरथस्येति भावः । पूरणाय=सफलीकर-णाय, न=नो भवति, वत=खेदोऽयमिति भावः । तेन=तादृशेन पुरुषेण, इयम् =एषा, भूमिः=भूः, अतिभारवती=अतिभारयुक्ता, न द्रुमैः=न वृक्षैः,

न गिरिभि =न पर्वतै, न समुद्रै =न सागरैश्च, इय भूमि अतिभारवती इत्यर्थ । द्रुमगिरिसमुद्रेभ्य प्रजाना बहूपकारत्वादिति भाव ।

अनुवाद— जिस धनी पुरुषका जन्म याचक जनके अभिलापको पूर्ण करनेके लिए नही है, उस पुरुषसे यह धरती अत्यन्त भार (बोझ) वाली है, न पेडोसे, न पर्वतोसे और न समुद्रोसे ही यह धरती भारवाली है।

टिप्पणी— याचमानजनमानसवृत्ते =याचन्त इति याचमाना, याच+लट् (शानच)+जस्, ते च ते जना (क० धा०), मानसस्य वृत्ति (ष० त०), याचमानजनाना मानसवृत्ति, तस्या (ष० त०)। अतिभारवती= अत्यन्त (यथा तथा) भार (सुप्सुपा०)। सोऽस्ति यस्या सा, अतिभार+मतुप्+ङीप्। यह पृथ्वी कृपणोसे बोझवाली है, पेडो, पर्वतो और समुद्रोसे बोझवाली नही है, यह अभिप्राय है। इस पद्यमे परिसख्या अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

> मा धनानि कृपणः खलु जीवस्तृष्णयाऽर्पयतु जातु परस्मै ।
> तत्र नैव कुरुते मम चित्र, यत्तु नार्पयति तानि मृतोऽपि ॥ ८९ ॥

अन्वयः— कृपण जीवन् तृष्णया जातु परस्मै धनानि मा अर्पयतु, एष तत्र मम चित्र न कुरुते (किन्तु) मृत अपि न अर्पयति (नार्पाणि कुरुते)।

व्याख्या कृपण =कदर्य, जीवन्=प्राणन्, तृष्णया= अतिलोभेन, जातु=कदाऽपि, परस्मै=अन्यस्मै, याचमानायेति भाव । धनानि=द्रव्याणि, मा अर्पयतु =नो ददातु, एष =कृपण, तत्र=तस्मिन्, जीवनाऽवसराऽनर्पणे, मम चित्रम्=आश्चर्य, न कुरुते=नो विदधाति, किन्तु मृत अपि=पञ्चत्व गत अपि, न अर्पयति=नो ददाति, नार्पयति=धनानि नृपसम्बन्धीनि कुरुते तत्र चित्र करोति ।

अनुवाद— कञ्जूस, जीता हुआ तृष्णासे कभी भी दूसरेको धन भले ही न दे, वह उसमे मुझे आश्चर्य नही पैदा करता है, किन्तु मरनेपर भी नही देता है, मरनेपर धनको राजाके अधीन करता है, उसमे आश्चर्य उत्पन्न करता है।

टिप्पणी— जीवन् =जीव+लट् (शतृ)+सु । अर्पयतु = ऋ+णिच्+लोट्+तिप् । नार्पयति=नृपस्य इमानि नार्पाणि, नृप+अण+जस् । नार्पाणि कुरुते=नार्प+णिच्+लट्+तिप् । इस पद्यमे विरोधाभास अलङ्कार है ॥ ८९ ॥

मामभीभिरिह याचितवद्भिर्दातृजातमवमत्य जगत्याम् ।
यद्यशो मयि निवेशितमेतन्निष्क्रयोऽस्तु कतमस्तु तदीयः ॥ ९० ॥

अन्वयः—जगत्यां दातृजातम् अवमत्य मां याचितवद्भिः अमीभिः यद् यशो मयि निवेशितम् । एतन्निष्क्रयस्तु कतमः अस्तु ।

व्याख्या—जगत्यां = भुवने, दातृजातं = दायकसमूहम्, अवमत्य = अवधीर्य, मां=नलं, याचितवद्भिः=प्राथितवद्भिः, अमीभिः=एभिः देवैः, यत्, यशः=कीर्तिः, मयि=नले, स्थापितं=निहितम्, एतन्निष्क्रयस्तु= एतत्प्रतिनिधिभूतस्तु, कतमः=कः पदार्थः, अस्तु=भवतु ?

अनुवाद—लोकमें अन्य दाताओंका अनादर करके मुझसे याचना करने- वाले इन इन्द्र आदि देवताओंने जो यश मुझमें स्थापित कर दिया, उसके एवजमें कौन-सा पदार्थ हो ?

टिप्पणी—दातृजातं=दातृणां जातं, तत् (ष० त०) । अवमत्य=अव+ मन् + क्त्वा (ल्यप्) । याचितवद्भिः=याच्+क्तवतु+भिस् । निवेशितं=नि+विश+णिच्+क्त+सु । एतन्निष्क्रयः=एतस्य निष्क्रयः (ष० त०) ॥ ९० ॥

लोक एष परलोकमुपेता हा ! विहाय निधने धनमेकः ।
इत्यमुं खलु तदस्य निनीषत्यर्थिबन्धुरुदयद्दयचित्तः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—एष लोको निधने धनं विहाय एकः परलोकम् उपेता । हा ! इति उदयद्दयचित्तः अर्थिबन्धुः अस्य तत् अमुं निनीषति खलु ।

व्याख्या—एषः=अयं, लोकः=जनः, निधने=अन्त्यकाले, धनं= द्रव्यं, विहाय=त्यक्त्वा, एकः=एकाकी, सहायरहितः सन्निति भावः । परलोकं=लोकान्तरम्, उपेता=उपैष्यति, हा !=कष्टम् ! इति=अस्मात्का- रणात्, उदयद्दयचित्तः=सदयमानसः, अर्थिबन्धुः=याचकबन्धुः, अस्य= लोकस्य, तत्=धनम्, अमुं=परलोकं, निनीषति=नेतुमिच्छति । खलु= निश्चयेन ।

अनुवाद—यह मनुष्य अन्तकालमें धन छोड़कर अकेले ही परलोकको जायेगा, हाय ! इस कारणसे दयालु चित्तवाला याचकरूप बन्धु उस(मनुष्य)- के उस धनको परलोकमें पहुँचाना चाहता है ।

टिप्पणी—विहाय=वि+हा+क्त्वा (ल्यप्) । परलोकं=परश्चासौ लोकः, तम् (क० धा०) । उपेता=उप+इण्+लुट्+तिप् । उदयद्दयचित्तः=

उदयन्ती दया यस्मिस्तत् (बहु०), उदयद्दय चित्त यस्य स (बहु०)। अर्थि-बन्धु =अर्थी एव बन्धु (रूपक०)। निनीषति =नेतुम् इच्छति, नी + सन् + लट् + तिप्। अन्य बन्धु धनीका सर्वस्व स्वय ही लेते हैं, धनको धनीके पास नही पहुँचाते हैं, इस कारणसे *आपत्तिका बन्धु याचक, सग्रहके योग्य है, यह* तात्पर्य है ॥ ९१ ॥

दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहि, कोटिगुणित दिवि दायि।
साधुरेति सुकृतैर्यदि कर्तुं पारलौकिककुसीदमसीदत् ॥ ९२ ॥

अन्वय —साधु इह *एकग्राहि, दिवि कोटिगुणित दायि* दानपात्रम् (एव) अधमर्णं सुकृतै एति यदि (तदा) असीदत् पारलौकिक कुसीद कर्तुम् (अलम्)।

व्याख्या—साधु =सज्जनो 'वार्धुषिकश्च' इह=अस्मिन् लोके, एकग्राहि =एकग्राहक, दिवि=स्वर्गे, परलोक इत्यर्थ, कोटिगुणित=कोटिश आवृत्त, दायि=दातृ, एतादृश दानपात्रम्=वितरणभाजन, याचकमित्यर्थ, तदेव अधमर्णं=धनग्राहि, सुकृतै =पुण्यै, एति यदि=प्राप्नोति चेत्, तदा, असीदत्= अविनश्यत्, पारलौकिक =लोकान्तरभव, कुसीद =वृद्धिजीवन, कर्तुं=विधातुम्, अलम् इति शेष, पर्याप्तम् इति भाव ।

अनुवाद—*सज्जन और वृद्धिजीवी (सूदखोर) इस लोकमे एक लेता है* और परलोकमे करोड गुना देनेवाले दानपात्ररूप ऋणी(कर्जदार)को पुण्यों-से प्राप्त करता है तो नष्ट नही होनेवाले परलोकमे मिलनेवाले वृद्धिजीवनको करनेके लिए पर्याप्त है ।

टिप्पणी—साधु =''साधुस्त्रिषु हिते रम्ये, वार्धुषौ सज्जने पुमान् ।'' इति वैजयन्ती । एकग्राहि =एक गृह्णातीति, एक + ग्रह + णिनि (उपपद०) + अम् । कोटिगुणित =कोटया गुणितं, तत् (तृ० त०) । दायि=ददातीति, तत्, दा धातुसे ''आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनि'' इस सूत्रसे आधमर्ण्यमे णिनि प्रत्यय । इस पदके योगमे ''कोटिगुणित'' शब्दसे ''अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययो'' इस सूत्रसे षष्ठीके निषेधसे द्वितीया । ''वस्त्रधान्यहिरण्याना चतुस्त्रिद्विगुणा मता ।'' इस शास्त्रवचनके अनुसार वस्त्रमें चौगुनी, धान्यम तिगुनी और सोनेमे दुगुनी वृद्धि-(मुनाफा)का परिमाण लोकमे कहा गया है, परन्तु यह (दानपात्र) तो अपरिमित वृद्धिको देनेवाला है, यह तात्पर्य है । दानपात्र=दानस्य पात्र, तत् (ष० त०) । अधमर्णम्=अधमम् ऋण यस्य स, तत् (बहु०) । ''दान-

पात्रम् अधमर्णम्" यहाँपर व्यस्तरूपक है। "उत्तमर्णाऽधमर्णौ द्वौ प्रयोक्तृग्राहकौ क्रमात्" इत्यमरः। एति=इण्+लट्+तिप्। असीदत्=न सीदत् (नञ्०)। पारलौकिक-परलोके भवम्, "अध्यात्मादेष्ठञिष्यते" इस वार्तिकसे अध्यात्मादिके आकृतिगण होनेसे परलोक शब्दसे ठञ् प्रत्यय और "अनुशतिकादीनां च" इस सूत्रसे उभयपदवृद्धि। कुसीदं="कुसीदं वृद्धिजीविका" इत्यमरः। "नाऽदत्तमुपतिष्ठते" इस शास्त्रोक्तिके अनुसार विना दानके कुछ भी उपस्थित नहीं होता है, अतः याचकको दान करना चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ ९२ ॥

एवमादि स विचिन्त्य मुहूर्तं तानवोचत पतिर्निषधानाम्।
अर्थिदुर्लभमवाप्य च हर्षाद्याच्यमानमुखमुल्लसितश्रि ॥ ९३ ॥

अन्वयः—स निषधानां पतिः एवमादि मुहूर्तं विचिन्त्य अर्थिदुर्लभं हर्षात् उल्लसितश्रि याच्यमानमुखं च अवाप्य तान् अवोचत।

व्याख्या—सः=प्रसिद्धः, निषधानां=निषधदेशानां, पतिः=पालकः, नल इति भावः। एवमादि=एवम्प्रभृति, "जीविताऽवधि० ५–८१" इत्यादिकं वाक्यमिति भावः। मुहूर्तम्=अल्पकालं, विचिन्त्य=विचार्य, अर्थिदुर्लभं=याचकदुष्प्राप्यं, हर्षात्=प्रमोदात् हेतोः, उल्लसितश्रि=वर्धमानश्रीकं, प्रसन्नमिति भावः। याच्यमानमुखं च=दातृमुखं च, अवाप्य=प्राप्य, तान्=इन्द्रादीन् देवान्, अवोचत=उक्तवान्, वक्ष्यमाणानि वाक्यानीति शेषः।

अनुवाद—निषधेश्वर नल, पहले कहे गये वाक्योंका कुछ समयतक विचार कर याचकोंसे दुष्प्राप्य, हर्षसे समृद्ध शोभावाले (प्रसन्न) दाताके मुखको प्राप्त कर देवताओंको कहने लगे।

टिप्पणी—एवमादि=एवम् आदिः यस्य, तत् (बहु०)। अर्थिदुर्लभम्=अर्थिभिः दुर्लभं, तत् (तृ० त०)। उल्लसितश्रि=उल्लसिता श्रीः यस्मिन्, तत् (बहु०)। समासान्तविधिके अनित्य होनेसे "नद्यृतश्च" इस सूत्रसे कप्‌का अभाव और "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" इस सूत्रसे "श्री"का ह्रस्वत्व। याच्यमानमुखं=याच्यत इति याच्यमानं, याच्+लट् (कर्ममें)+शानच्+मु। याच्यमानस्य (दातुः) मुखं, तत् (ष० त०)। अवाप्य=अव+आपु+क्त्वा (ल्यप्)। अवोचत=वच+लुङ्+त ॥ ९३ ॥

नाऽस्ति जन्यजनकव्यतिभेदः, सत्यमन्नजनितो जनदेहः।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृताऽत्वां दृङ् निमज्जनमुपैति सुधायाम् ॥ ९४ ॥

अन्वय —(हे देवा !) जन्यजनकव्यतिभेदो न अस्ति। जनदेह अन्न-जनित सत्यम्। अमृताऽदां व तनू वीक्ष्य दृक् सुधाया निमज्जनम् उपैति खलु।

व्याख्या—(हे देवा !) जन्यजनकव्यतिभेद = कार्यकारणविशेषभेद, न अस्ति = नो वर्तते, कार्यं स्वकारणादभिन्नमिति भाव। जनदेह = मानवशरीरम्, अन्नजनित = भक्ष्यपदार्थोत्पन्न, इति, सत्य = तथ्यम्। अमृतादां = पीयूषभुजां, व = युष्माकं, तनू = शरीरं, वीक्ष्य = दृष्ट्वा, दृक् = मदीय लोचन, सुधायाम् = अमृते, निमज्जन = बुडनम् उपैति = प्राप्नोति, खलु = निश्चयेन।

अनुवाद—(हे देवगण !) कार्य और कारणमे विशेष भेद नही है। मनुष्यका शरीर अन्नसे उत्पन्न होता है, यह सत्य है। अमृत खानेवाले आप-लोगोका शरीर देखकर मेरे नेत्र अमृतमे निमग्न हो जाते हैं।

टिप्पणी—जन्यजनकव्यतिभेद = जन्यश्च जनकश्च (द्वन्द्व०), जन्य-जनकयो व्यतिभेद (ष० त०)। जनदेह = जनस्य देह (ष० त०)। अन्न-जनित = अन्नेन जनित (तृ० त०)। अमृतादाम् = अमृतम् अदन्तीति अमृताऽद, तेषाम् "अदोऽनन्ने" इस सूत्रसे विट् प्रत्यय, अमृत + अद् + विट् + (उपपद०) + आम्। उपैति = उप + इण + लट् + तिप्। "एत्येधत्यूठ्सु" इससे वृद्धि। कार्य और कारणका विशेष भेद न होनेसे अमृतभक्षण करनेवाले आप लोगोका शरीर देखकर मेरे नेत्र अमृतमे निमज्जनके सुखका अनुभव करते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ९४ ॥

मत्तप क्व नु तनु ? क्व फल वा यूयमीक्षणपथ व्रजथेति ?।
ईदृशान्यपि दधन्ति पुनर्न पूर्वपूरुषतपासि जयन्ति ॥ ९५ ॥

अन्वय —तनु मत्तप क्व ? यूयम् ईक्षणपथ व्रजथ इति फल वा क्व ? ईदृशानि अपि दधन्ति न पूर्वपूरुषतपासि पुन जयन्ति।

व्याख्या—(हे देवा !) तनु = अल्प, मत्तप = मन्नियमाचरण, क्व = कुत्र, यूय = भवन्तो देवा, ईक्षणपथ = नयनगोचर, व्रजथ = गच्छथ, इति = एतादृश, फल वा = भवद्दर्शनरूप महाफल वा, क्व = कुत्र, उभयोर्वैरूप्यादिति भाव। ईदृशानि अपि = एतादृङ्महाफलानि अपि, दधन्ति = पुष्णन्ति,

नः = अस्माकं, पूर्वपूरुषतपांसि = पूर्वजनियमाचरणानि, पुनः=भूयः, जयन्ति=सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, तानीदानीमपि फलन्तीति भावः।

अनुवाद—थोड़ी-सी मेरी तपस्या कहाँ और आपलोग जो मेरे दर्शनमार्गमें प्राप्त हो रहे है, ऐसा महत् फल कहाँ ? ऐसे महाफलोंको पुष्ट करनेवाले हमारे पूर्वजोंकी तपस्याएं फिर अत्यन्त उत्कर्षसे बढ़ रही है।

टिप्पणी—मत्तपः = मम तपः (ष० त०)। ईक्षणपथम् = ईक्षणस्य पन्थाः ईक्षणपथः, तम् (ष० त०)। व्रजथ = व्रज + लट् + थ। दधन्ति= धा + लट् (शतृ) + जस्। "वा नपुंसकस्य" इससे नुम् आगम। पूर्वपूरुषतपांसि=पूर्वे च ते पुरुषाः (क० धा०), तेषां तपांसि (ष० त०)। जयन्ति = जि + लट् + झि। इस पद्यमें विरूपोंका संघटनरूप विषम अलङ्कार है॥ ९५॥

प्रत्यतिष्ठिपदिलां खलु देवीं कर्म सर्वसहनव्रतजन्म।
यूयमप्यहह! पूजनमस्या यन्निजैः सृजथ पादपयोजैः॥ ९६॥

अन्वयः—इलां देवीं सर्वसहनव्रतजन्म कर्म प्रत्यतिष्ठिपत् खलु। यत् यूयम् अपि निजैः पादपयोजैः अस्याः पूजनं सृजथ, अहह!

व्याख्या—(हे देवाः) इलां=पृथिवीं, देवीं=देवतां, सर्वसहनव्रतजन्म= विश्वमर्षणव्रतजन्यं, कर्म=क्रिया, सुकृतमिति भावः। प्रत्यतिष्ठिपत्=प्रतिष्ठापयामास, खलु = निश्चयेन। तत्कर्म प्रतिपादयति—यूयमिति। यत्= यस्मात्कारणात्, यूयम् अपि=भवन्तोऽपि, देवा अपि इति भावः। निजैः= स्वकीयैः, पादपयोजैः=चरणकमलैः, अस्याः=इलायाः, पूजनं=पूजां, सृजथ =कुरुथ। अहह !=अद्भुतम्!

अनुवाद—पृथ्वी देवीको सब भारके सहनरूप व्रतसे उत्पन्न पुण्य कर्मने प्रतिष्ठित कर दिया है। जो कि आप लोगोके समान देवता भी अपने चरणकमलोसे इनकी पूजा कर रहे है। आश्चर्य है!

टिप्पणी—इलां="गोरिला कुम्भिनी क्षमा" इत्यमरः। सर्वसहनव्रतजन्म=सर्वेषां (भारादीनाम्) सहनम् (ष० त०), तदेव व्रतम् (रूपक०), तस्मात् जन्म यस्य तत् (व्यधिकरणबहु०)। प्रत्यतिष्ठिपत् = प्रति + स्था + णिच् + लुङ् + तिप्। "तिष्ठतेरित्" इस सूत्रमे उपधाका इत्व। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है॥ ९६॥

जीविताऽवधि किमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात् ।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक् ॥ ९७ ॥

अन्वय —इतो नरडिम्भात् जीविताऽवधि, ततः अधिकं वा किमपि मनीषितं यत्, वस्तु सोऽयं तेन वः चरणम् अर्चतु, ईदृक् पुनः किम् अस्तु ? ब्रूत ।

व्याख्या—(हे देवाः) इतः = अस्मात्, नरडिम्भात् = मानुषशिशोः, जीविताऽवधि = जीवनपर्यन्तं, ततः = जीवितात्, अधिकम् = अतिरिक्तं वा, किमपि = किञ्चिदपि, मनीषितम् = अभीप्सितं, यत्, वस्तु = पदार्थः, सः = तादृशः, अयम् = एष, नरडिम्भः इति भावः, तेन = वस्तुना, वः = युष्माकं, चरणं = पादम्, अर्चतु = पूजयतु, ईदृक् = एतादृशं, पुनः किम् = वस्तु, अस्तु = स्यात् ? ब्रूत = कथयत ।

अनुवाद—इस मनुष्य बालकसे जीवनपर्यन्त अथवा उससे भी अधिक कोई अभीष्ट जो वस्तु हो वह (मैं) उससे आपके चरणकी पूजा करूँ, ऐसी वस्तु क्या है ? कहिए ।

टिप्पणी – इतः = इदम् + तसि (तसिल्) । नरडिम्भात् = नरस्य डिम्भः, तस्मात् (ष० त०) । जीविताऽवधि = जीवितम् अवधिः (सीमा) यस्य तत् (बहु०) । ततः = तद् + तसि (तसिल्) । मनीषितं = मनीषा + इतच् + सु । अर्चतु = अर्च + लोट् + तिप् । ब्रूत = ब्रू + लोट् + थ ॥ ९७ ॥

एवमुक्तवति मुक्तविशङ्के वीरसेनतनये विनयेन ।
वक्रभावविषमामथ शक्रः कार्यकैतवगुरुर्गिरमूचे ॥ ९८ ॥

अन्वय —एवं वीरसेनतनये विनयेन मुक्तविशङ्के उक्तवति (सति) अथ कार्यकैतवगुरुः शक्रः वक्रभावविषमां गिरम् ऊचे ।

व्याख्या—एवम् = इत्थं, वीरसेनतनये = वीरसेनपुत्रे नले, विनयेन = नम्रतया, अकपटेनेति भावः । मुक्तविशङ्के = शङ्कारहिते, उक्तवति = कथितवति सति अथ = नलभाषणाऽनन्तरं, कार्यकैतवगुरुः = कर्तव्यप्रयोजनकपटोपदेशकः, शक्रः = इन्द्रः, वक्रभावविषमां = कुटिलत्वप्रतिकूलां, गिरं = वाणीम्, ऊचे = उवाच ।

अनुवाद—इस प्रकार वीरसेनके पुत्र नलके नम्रतापूर्वक शङ्कारहित होकर कहनेपर कार्योंमें कपटके उपदेशक इन्द्रने कुटिलतासे प्रतिकूल वचन कहा ।

टिप्पणी—वीरसेनतनये=वीरसेनस्य तनयः, तस्मिन् (ष० त०)। मुक्त-विशङ्के=मुक्ता विशङ्का येन, तस्मिन् (बहु०)। कार्यकैतवगुरुः=कार्येषु कैतवानि (स० त०), तेषां गुरुः (ष० त०)। वक्रभावविषमां=वक्रश्चाऽसौ भावः (क० धा०), तेन विषमा, ताम् (तृ० त०)। ऊचे=ब्रूञ् (वच्)+लिट्+त ॥ ९८ ॥

पाणिपीडनमहं दमयन्त्याः कामयेमहि महीमिहिकांऽशो ! ।
दूत्यमत्र कुरु नः स्मरभीतिं निर्जितस्मर ! चिरस्य निरस्य ॥ ९९ ॥

अन्वयः—हे महीमिहिकाऽशो ! (वयम्) दमयन्त्याः पाणिपीडनमहं कामयेमहि। हे निर्जितस्मर ! स्मरभीतिं चिरस्य निरस्य अत्र नो दूत्यं कुरु।

व्याख्या—हे महीमिहिकाऽशो = भूतलचन्द्र ! दमयन्त्याः = भैम्याः, पाणिपीडनमहं=विवाहोत्सवं, कामयेमहि=अभिलषाम:, वयमिति शेषः। हे निर्जितस्मर=हे वशीकृतकाम ! स्मरभीतिं=कामभयं, चिरस्य=चिरकाल-पर्यन्तं, निरस्य=निवार्य, अत्र=पाणिपीडनकृत्ये, नः=अस्माकं, दूत्यं=दूत-कर्म, कुरु=विधेहि।

अनुवाद—हे भूतलचन्द्र ! हम लोग दमयन्तीके विवाहके उत्सवकी कामना करते है। हे कामदेवको जीतनेवाले (नल) ! कामदेवके भयको चिरकालपर्यन्त निवारण कर इस विवाहके कार्यमें आप हम लोगोके दूतका कार्य करें।

टिप्पणी—महीमिहिकांऽशो=मिहिका अंशुर्यस्य सः (बहु०) "प्रालेयो मिहिका" इत्यमरः। मह्या मिहिकांशुः (स० त०), तत्सम्बुद्धौ। पाणिपीडन-महं=पाणेः पीडनम् (ष० त०)। "तथा परिणयोद्वाहोपयामाः पाणिपीडनम्" इत्यमरः। पाणिपीडनम् एव महः, तम् (रूपक०)। कामयेमहि=कम्+णिङ्+विधिलिङ्+महिङ्। निर्जितस्मर=निर्जितः स्मरो येन, तत्सम्बुद्धौ (बहु०)। स्मरभीतिं=स्मरात् भीतिः, ताम् (ष० त०)। चिरस्य="चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थका." इत्यमरः। निरस्य=निर्+अस्+क्त्वा (ल्यप्)। दूत्यं=दूतस्य कर्म, दूत शब्दसे "दूतस्य भावकर्मणी" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय। कुरु=कृ+लोट्+सिप् ॥ ९९ ॥

आसते शतमधिक्षिति भूपास्तोयराशिरसि ते खलु कूपाः।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते ? भास्वतस्तु कतमस्तुलयाऽऽस्ते ? ॥१००॥

अन्वयः—(हे नल !) अधिक्षिति शतं भूपा आसते। त्वं तोयराशिः असि;

ते कूपा खलु। ते ते ग्रहा दिवि न जाग्रति ? तु कतमो भास्वतः तुलया आस्ते ?

व्याख्या—(हे नल !) अधिक्षिति=पृथिव्यां, शत=बहुसंख्यकाः, भूपाः=राजानः, आसते=सन्ति। तत्र त्वं, तोयराशिः=समुद्रः, असि=विद्यसे, ते=भूपाः, कूपाः=उदपानानि, खलु, दृष्टान्तेनाऽमुमर्थं साधयति—किं ग्रहा इति। दिवि=आकाशे, ते ते ग्रहाः=चन्द्रादयः, न जाग्रति ?=न प्रकाशन्ते किम् ? तु=किन्तु, कतमः=कः, ग्रहः=चन्द्रादिः, भास्वतः=सूर्यस्य, तुलया=साम्येन, आस्ते=विद्यते। न कोऽपीति भावः।

अनुवाद—(हे नल !) पृथिवीपर सैकडों राजा हैं, परन्तु आप समुद्र हैं और वे (अन्य राजा लोग) कुएँ हैं। चन्द्र आदि अनेक ग्रह आकाशमें प्रकाशित नहीं हैं क्या ? किन्तु कौन सा ग्रह सूर्यके समान है ? (कोई नहीं)।

टिप्पणी—अधिक्षिति=क्षितौ इति "अव्यय विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे विभक्तिके अर्थमें अव्ययीभाव। आसते=आस+लट्+झ। तोयराशिः=तोयानां राशिः (ष० त०)। जाग्रति=जागृ+लट्+झि। कतमः=किम्+डतमच्+सु। भास्वतः=भास्+मतुप्+ङस्। अन्य राजाओं और आपमें समुद्र और कुएँके समान बहुत अन्तर (फर्क) है। जैसे आकाशमें सूर्यके समान कोई ग्रह नहीं है, वैसे ही भूतलमें आपके सदृश कोई भी राजा नहीं है, यह इस पद्यका तात्पर्य है। इसमें दृष्टान्त अलङ्कार है॥ १००॥

विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेमः।
त्वामिहैव विनिवेश्य रहस्ये निर्वृतिं न हि लभेमहि सर्वे ?॥ १०१॥

अन्वयः—(हे नल !) विश्वदृश्वनयना एते वयम् अगाधं त्वद्गुणाम्बुधिम् अवेमः। हि इह रहस्ये त्वाम् एव विनिवेश्य सर्वे (वयम्) निर्वृतिं न लभेमहि ?

व्याख्या—(हे नल !) विश्वदृश्वनयनाः=सर्वदर्शिनेत्राः, एते=समीपवर्तिनः, वयम्=इन्द्रादयो देवाः, अगाधम्=गम्भीरम्, अतलस्पर्शमिति भावः, त्वद्गुणाम्बुधिं=दयादाक्षिण्यादित्वद्गुणसमुद्रम्, अवेमः=अवगच्छामः। हि=यस्मात्कारणात्, इह=अस्मिन्, रहस्ये=गोपनीयकृत्ये, त्वाम् एव=भवन्तम् एव, विनिवेश्य=नियोज्य, सर्वे=सकलाः, वयम्=इन्द्रादयो देवाः, निर्वृतिं=सुखं, न लभेमहि=न प्राप्नुम ? लभेमहि एवेति भावः।

अनुवाद—संसारको देखनेवाले नेत्रोंसे युक्त हमलोग आपके गुणरूप समुद्रको अगाध जानते हैं। इस रहस्यमें आपको ही नियुक्त करके हम सभी, सुख न पायेंगे क्या ? (पायेंगे ही)।

टिप्पणी—विश्वदृश्वनयनाः=विश्वं दृष्टवन्ति इति विश्वदृश्वानि, विश्व+दृश्+क्वनिप्+जस्, "दृशेः क्वनिप्" इस सूत्रसे क्वनिप्। विश्वदृश्वानि नयनानि येषां ते (बहु०)। त्वद्गुणाम्बुधि=तव गुणाः (ष० त०), त्वद्गुणा एव अम्बुधिः, तम् (रूपक०)। अवेम=अव+इण्+लट्+मस्। हमलोग आपके दया, दाक्षिण्य, जितेन्द्रियत्व और सत्यप्रतिज्ञत्व आदि गुणरूप समुद्रको अगाध (गम्भीर) जानते है, यह तात्पर्य है। विनिवेश्य=वि+नि+विश्+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। लभेमहि=लभ+विधिलिङ्+महिङ्। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है॥ १०१॥

शुद्धवंशजनितोऽपि गुणस्य स्थानतामनुभवन्नपि शक्रः।
क्षिप्नुरेनमृजुमाशु सपक्षं सायकं धनुरिवाऽजनि वक्रः॥ १०२॥

अन्वयः—शुद्धवंशजनितः अपि गुणस्य स्थानताम् अनुभवन् अपि शक्रः ऋजुं सपक्षम् एनं सायकं धनुः इव आशु क्षिप्नुः (सन्) वक्रः अजनि।

व्याख्या—शुद्धवंशजनितः अपि=पवित्रकुलप्रसूतः अपि (इन्द्रपक्षे), अव्रणवेणूत्पन्नोऽपि (धनुःपक्षे), गुणस्य=शौर्यादेः, मौर्व्याश्च। स्थानताम्=आश्रयत्वम्, अनुभवन् अपि=निविशन् अपि, शक्रः=इन्द्रः, ऋजुम्=अकुटिलबुद्धिम्, अवक्रं च, सपक्षं=सुहृदं, कङ्कपत्रसहितं च, एनं=नलं, सायकं=बाणं धनुः इव=कार्मुकम् इव, आशु=शीघ्रं, क्षिप्नुः=क्षेप्ता सन्, वक्रः=कुटिलः, अजनि=जातः।

अनुवाद—जैसे छिद्रसे रहित बाँससे उत्पन्न, प्रत्यञ्चाके स्थानको प्राप्त किया गया धनु, सरल और कङ्क पक्षीके पंखवाले बाणको छोड़ता हुआ टेढ़ा होता है, वैसे ही पवित्र कुलमें उत्पन्न होकर भी दया-दाक्षिण्य आदि गुणके आश्रय होते हुए भी इन्द्र सरल बुद्धिवाले मित्र नलको दूतकर्ममें लगाते हुए कुटिल हो गये।

टिप्पणी—शुद्धवंशजनितः = शुद्धश्चाऽसौ वंशः (क० धा०)। "वंशो वेणौ कुले वर्गे" इति विश्वः। शुद्धवंशे जनितः (स० त०)। गुणस्य="मौर्व्यां द्रव्याऽऽश्रिते सत्त्व-शौर्य-सन्ध्याऽऽदिके गुणः" इत्यमरः। स्थानतां=स्थान+तल्+टाप्+अम्। अनुभवन्=अनु+भू+लट् (शतृ)+सु। धनुः=

"अवास्त्रियम् । धनुश्चापौ" इत्यमर । क्षिप्नु =क्षिपतीति, क्षिप धातुसे "त्रसिगृधिधृषिक्षिपे क्नु" इस सूत्रसे क्नु प्रत्यय । इस पद्यमें श्लेष और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १०२ ॥

तेन तेन वचसैव मघोन स स्म वेद कपट पटुरुच्चैं ।
आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीति ॥ १०३ ॥

अन्वय —उच्चै पटु स तेन वचसा एव मघोन कपट वेद स्म । अथ तदुचिता वाणीम् आचरत्, हि कुटिलेषु आर्जव नीति न ।

व्याख्या—उच्चै = अतितरां, पटु = कुशल, स = नल, तेन तेन वचसा="पाणिपीडनमह (५-९९)" "स्वामिहैवमनिवेश्य (५-१०१)" इत्यादिरूपेण वचनेन, एव, मघोन =इन्द्रस्य, कपट=कैतव, वेद स्म=ज्ञातवान् । अथ=इन्द्रकपटवेदनाऽनन्तर, तदुचिताम्=इन्द्रकपटानुरूपा, वाणी= वाचम्, आचरत्=आचरितवान्, स्वयमपि कपटोक्तिमकरोदिति भाव । हि= यत , कुटिलेषु=वक्रेषु जनेषु, आर्जवम्=सरलता, अकौटिल्यमिति भाव । नीति =नय , न=नो विद्यते, कुटिलेषु कुटिलेनैव भाव्यमिति भाव ।

अनुवाद—अत्यन्त कुशल महाराज नलने इन्द्रके उन उन वाक्यसे कपटको जान लिया । अनन्तर उन्होने वैसे ही कपटके अनुरूप वचनका प्रयोग किया, क्योंकि कुटिलोंमें सरलताका प्रदर्शन नीति नही है ।

टिप्पणी—तदुचिता=तस्य उचिता, ताम् (ष० त०) । आचरत्= आङ्+चर+लङ्+तिप् । आर्जवम्=ऋजोर्भाव , ऋजु+अण्+सु । इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १०३ ॥

सेयमुच्चतरता दुरितानामन्यजन्मनि मयैव कृतानाम् ।
युष्मदीयमपि या महिमानं जेतुमिच्छति कथापथपारम् ॥ १०४ ॥

अन्वय —सा इयम् अन्यजन्मनि मया एव कृताना दुरितानाम् उच्चतरता । या कथापथपार युष्मदीयम् अपि महिमान जेतुम् इच्छति ।

व्याख्या—सा=तादृशी, इयम्=एषा, अन्यजन्मनि=अपरजनने, जन्मान्तरे । मया एव, कृताना=विहिताना, दुरिताना=पापानाम्, उच्चतरता= महत्ता, या=पापमहत्ता, कथापथपार=वर्णनाऽगोचर, युष्मदीयम् अपि= भवदीयमपि, महिमान=महत्त्वम्, आज्ञारूप प्रभावमित्यथ । जेतुम्= उल्लङ्घयितुम्, इच्छति=वाञ्छति । पापाधिक्याद्भवदीयाया आज्ञाया उल्लङ्घन-

कर्तुमिच्छामीति विनयोक्तिः। सर्वथा भवदादेशो नाऽनुष्ठीयत इति भावः।

अनुवाद—(हे देवगण !) यह दूसरे जन्ममें मुझसे ही किये गये पापोंकी महत्ता है, जो कि वचनके अगोचर आप लोगोंके महत्त्वको भी जीतनेकी इच्छा करती है।

टिप्पणी—अन्यजन्मनि=अन्यच्च तत् जन्म, तस्मिन् (क० धा०)। उच्चतरता=अतिशयेन उच्चम् उच्चतरम्. उच्च+तरप्, उच्चतरस्य भावः, उच्चतर+टाप्+सु। कथापथपारं=कथायाः पन्थाः कथापथः (ष० त०), तस्य पारम् (ष० त०)। युष्मदीयं = युष्मद् + छ (ईय) + अम्। महिमानं=महत्+इमनिच्+अम्॥ १०४॥

वित्त चित्तमखिलस्य, न कुर्यां धुर्यकार्यपरिपन्थि तु मौनम्।
ह्रीगिराऽस्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वीकृतैव परवागपरास्ता॥ १०५॥

अन्वयः—(हे देवाः !) अखिलस्य चित्तं वित्त। धुर्यकार्यपरिपन्थि मौनं तु न कुर्याम्। गिरा ह्रीः अस्तु वरम्, परवाक् अपरास्ता (सती) स्वीकृता एव पुनः मा अस्तु।

व्याख्या—ननु कुटिलोक्तेर्वरं मौनमत आह—वित्तेति। (हे देवाः !) अखिलस्य=समस्तस्य, जनस्य=मानवस्य, चित्तं=हृदयं, वित्त=जानीथ। अतः धुर्यकार्यपरिपन्थि=इष्टसाधनसमर्थकृत्यविरोधि, मौनं तु=तूष्णीकत्वं तु, न कुर्यां=नो विदधीय, किन्तु गिरा=परिहारोक्त्या, ह्रीः=लज्जा, अस्तु=भवतु, वरं=मनाक् प्रियम्। तर्हि मौनादेव अस्वीकारे किं निषेधपारुष्येण ? तत्राह—परवाक्=अन्यवाणी, प्रार्थनोक्तिरिति भावः। अपरास्ता =अनिषिद्धा सती, स्वीकृता एव=अभ्युपगता एव, पुनः, मा अस्तु=न भवतु।

अनुवाद—(हे देवगण !) आपलोग सबके हृदयको जान लें। इस कारणसे अभीष्ट साधनमें समर्थ कार्यका विरोधी मौन तो नहीं लूंगा। वचनसे अस्वीकार करनेसे भले ही लज्जा हो परन्तु दूसरेके प्रार्थनावचनको निषेध न करने पर स्वीकृत नही हो।

टिप्पणी—वित्त=विद+लोट्+थ। धुर्यकार्यपरिपन्थि=धुर्यं च तत् कार्यम् (क० धा०), तस्य परिपन्थि, तत् (ष० त०)। मौनं=मुनि+अण्+अम्। कुर्याम् = कृ + विधिलिङ् + मिप्। अपरास्ता = न परास्ता

(नञ्०) । "परमतमप्रतिषिद्धमभ्युपगतम् एव" अर्थात् दूसरेके मतका निषेध न करनेपर स्वीकृत ही समझा जाता है, इस उक्तिके अनुसार आप लोगोंके आदिष्ट कार्यको मैं मौनका अवलम्बन न कर वचनसे ही अस्वीकार करता हूँ, यह तात्पर्य है ॥ १०५ ॥

यन्मतौ विमलदर्पणिकायां सम्मुखस्थमखिलं खलु तत्त्वम्।
तेऽपि किं वितरथेदृशमाज्ञां या न यस्य सदृशी वितरीतुम् ॥१०६॥

अन्वय—यन्मतौ विमलदर्पणिकायाम् अखिलं तत्त्वं सम्मुखस्थं खलु। ते अपि (यूयम्) ईदृशम् आज्ञां किं वितरथ ? या यस्य (मे) वितरीतुं सदृशी न।

व्याख्या—यन्मतौ=येषां (युष्माकम्) मतौ (बुद्धौ) एव, विमलदर्पणिकायां=निर्मलादर्शरूपायाम्, अखिलं=समस्तं, तत्त्वं=वस्तु, सम्मुखस्थं=प्रत्यक्षं, खलु=निश्चयेन। तेऽपि=सर्वज्ञा अपि, यूयम्। ईदृशम्=ईदृशीम्, आज्ञाम्=अनुज्ञाम्, दमयन्तीसमक्षे देवदूत्यकरणरूपामिति भावः। किं=किमर्थं, वितरथ=दत्थ ? या=आज्ञा, यस्य=मे, वितरीतुं=दातुं, सदृशी न=योग्या न, दमयन्तीप्रणयप्रार्थिनो मम स्वदूत्ये नियोजनं श्रीमतां नितान्तमेवाऽनुचितं कर्मेति भावः।

अनुवाद—जिन आप लोगोंके बुद्धिरूप निर्मल दर्पणमें समस्त वस्तु प्रत्यक्ष है। वैसे सर्वज्ञ होकर भी आप लोग मुझे क्यों ऐसी आज्ञा देते हैं ? जो जिसे देनेके लिए योग्य नहीं है।

टिप्पणी—यन्मतौ=येषां मतिः, तस्याम् (ष० त०)। विमलदर्पणिकायां=विमला चाऽसौ दर्पणिका, तस्याम् (क० धा०)। सम्मुखस्थं=सम्मुखे तिष्ठतीति, सम्मुख+स्था+क+सु (उपपद०)। ईदृशम्=इदम्+दृश+क्स्+सु। "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इस सूत्रसे कञ् प्रत्यय। वितरथ=वि+तॄ+लट्+थ। वितरीतुं=वि+तॄ+तुमुन्। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १०६ ॥

यामि यामिह वरीतुमहो ! तद्दूततां तु करवाणि कथं वः।
ईदृशां न महतां बत ! जाता वञ्चने मम तृणस्य घृणाऽपि ॥ १०७ ॥

अन्वयः—इह यां वरीतुं यामि, वः तद्दूततां तु कथं करवाणि ? अहो ! ईदृशां महतां (वः) तृणस्य मम वञ्चने घृणा अपि न जाता, बत !

व्याख्या—अथ नलः पद्याऽष्टकेन स्वस्य दूत्याऽयोग्यतां प्रतिपादयति—यामीति। (हे देवा !) इह=अस्मिन् समये, यां=दमयन्तीं, वरीतुं=स्वीकर्तुं, यामि=गच्छामि, वः=युष्माकं, तद्दूततां तु=तस्यां (दमयन्त्याम्) दूततां (दूत्यम्) तु, कथं=केन प्रकारेण, वः=युष्माकं, करवाणि=कुर्या, न कुर्यामिति भावः। अहो !=आश्चर्यम् ! ईदृशाम्=एतादृशानां, महतां=पूजायोग्यानां, युष्माकं, तृणस्य=तृणकल्पस्य, मम=मानवस्य, वञ्चने=प्रतारणे, घृणा अपि=दया अपि, जुगुप्सा अपि वा, न जाता=न उत्पन्ना। बत !=खेदः !

अनुवाद—यहाँ जिस दमयन्तीको वरण करनेके लिए मैं जा रहा हूँ, उन(दमयन्ती)में आपलोगोंका दूतकर्म तो मैं कैसे करूँगा ? आश्चर्य है ! ऐसे महापुरुष आप लोगोंको तृणके समान मुझको प्रतारण करनेमें दया वा जुगुप्सा भी नहीं हुई, हाय !

टिप्पणी—वरीतुं=वृञ्+तुमुन्, "वृतो वा" इससे इट्का दीर्घ। यामि=या+लट्+मिप्। तद्दूततां=तस्यां दूतता, ताम् (स० त०)। करवाणि=कृ+लोट्+मिप् ॥ १०७ ॥

उद्भ्रमामि विरहान्मुहुरस्या मोहमेमि च मुहूर्तमहं यः।
ब्रूत वः प्रभवितास्मि रहस्यं रक्षितुं स कथमीदृगवस्थः ॥ १०८ ॥

अन्वयः—यः अहम् अस्या विरहात् मुहुः उद्भ्रमामि, मुहूर्तं मोहं च एमि; ईदृगवस्थः सः अहं वः रहस्यं रक्षितुं कथं प्रभवितास्मि ? ब्रूत।

व्याख्या—यः अहम्, अस्याः=दमयन्त्याः, विरहात्=वियोगात् हेतोः, मुहुः=वारं वारम्, उद्भ्रमामि=उन्मत्तो भवामि, मुहूर्तं=क्षणमात्रं, मोहं च=मूर्च्छां च, एमि=प्राप्नोमि, ईदृगवस्थः=एतादृग्दशायुक्तः, सः=तादृशः, अहं=नलः, वः=युष्माकं देवानां, रहस्यं=गोपनीयं, दूत्यमिति भावः। रक्षितुं=गोप्तुं, कथं=केन प्रकारेण, प्रभवितास्मि=समर्थो भवितास्मि, न शक्ष्यामीति भावः। ब्रूत=कथयत।

अनुवाद—जो मैं दमयन्तीके वियोगसे, वारंवार पागल होता हूँ और कुछ क्षणतक मूर्च्छित भी हो जाता हूँ; ऐसी अवस्थावाला मैं आप लोगोंके रहस्यको छिपानेके लिए कैसे समर्थ हूँगा ? बतलाइए।

टिप्पणी—उद्भ्रमामि=उद्+भ्रम्+लट्+मिप्। मुहूर्तं="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे कालके अत्यन्त संयोगमे द्वितीया। एमि=इण्+

लट्+मिप्। ईदृगवस्थ=ईदृक् अवस्था यस्य सः (बहु०)। रक्षितु=रक्ष+तुमुन्। प्रभवितास्मि=प्र+भू+लुट्+मिप्। ब्रूत=ब्रूञ्+लोट्+थ ॥१०८॥

या मनोरथमयी हृदि कृत्वा यः श्वसिम्यथ कथं स तदग्रे।
भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे? दुर्जया हि विषया विदुषाऽपि ॥ १०९ ॥

अन्वय – यः (अहम्) मनोरथमयी या हृदि कृत्वा श्वसिमि। अथ सः (अहम्) तदग्रे भावगुप्तिम् अवलम्बितुं कथम् ईशे? हि विदुषा अपि विषया दुर्जया।

व्याख्या—यः = अहं, मनोरथमयी = सङ्कल्परूपां, या = दमयन्ती, हृदि = हृदये, कृत्वा = विधाय, स्थापयित्वेति भावः। श्वसिमि = प्राणिमि। अथ = अनन्तरं, सः = तादृशः अहं, तदग्रे = दमयन्त्याः पुरः, भावगुप्तिं = कामविकारगोपनम्, अवलम्बितुम् = आश्रयितुं, कथं = केन प्रकारेण, ईशे = शक्नोमि। हि = यतः, विदुषा अपि = विपश्चिता अपि, विषयाः = शब्दादयः, दुर्जयाः = जेतुम् अशक्याः।

अनुवाद—जो (मैं) सङ्कल्परूप जिस (दमयन्ती) को हृदय (चित्त)-में रखकर प्राण धारण कर रहा हूँ, अभी वैसा (मैं) दमयन्तीके सामने कामविकार छिपानेके लिए कैसे समर्थ हूँगा? क्योंकि विद्वान्‌को भी विषयोंको जीतना कठिन है।

टिप्पणी—मनोरथमयीं = मनोरथ+मयट्+ङीप्+अम्। श्वसिमि = श्वस+लट्+मिप्। तदग्रे = तस्या अग्रं, तस्मिन् (ष० त०)। भावगुप्ति = भावाना गुप्ति, ताम् (ष० त०)। ईशे = ईश+लट्+इट्। दुर्जया = दुःखेन जेतुं शक्या, दुर्+जि+अच्+जस्। इस पद्यमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १०९ ॥

यामिकाननुपमृद्य च मादृक् तां निरीक्षितुमपि क्षमते कः?।
रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे पुंसि विश्वसिति कुत्र कुमारी? ॥ ११० ॥

अन्वय —च (किञ्च) मादृक् कः यामिकान् अनुपमृद्य तां निरीक्षितुम् अपि क्षमते? रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे कुत्र पुंसि कुमारी विश्वसिति?

व्याख्या—च = किञ्च, मादृकः = मत्सदृश, क्षत्रिय इत्यर्थ। कः = पुरुष, यामिकान् = प्रहररक्षकान् पुरुषान्, अनुपमृद्य = अहत्वा, तां = दमयन्तीं, निरीक्षितुम् अपि = द्रष्टुम् अपि, किं पुनराभाषितुमिति भाव। क्षमते = समर्थो भवति। यामिका हन्यन्ताम् इत्यत्राह–रक्षीति। रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे =

लक्षसंख्यकरक्षकमर्दनक्रूरकर्मणि, कुत्र = कस्मिन्, पुंसि = पुरुषे, कुमारी = राजकन्या दमयन्ती, विश्वसिति = विश्वासं करोति, क्वोद्वाहं प्रसङ्गः कुत्र वाऽन्तःपुरमर्दनमिति भावः ।

अनुवाद—और भी–मेरे ऐसा कौन-सा क्षत्रिय पहरेदारोंको मारे बिना दमयन्तीको देखनेमें भी समर्थ होगा ? लाखों पहरेदारोंको मारनेसे क्रूर कर्मवाले किस पुरुषमें कुमारी दमयन्ती विश्वास करेगी ?

टिप्पणी—यामिकान् = यामान् रक्षन्तीति यामिकाः, तान् । याम शब्दसे "रक्षति" इस सूत्रसे ठक् (इक) प्रत्यय । अनुपमृद्य = न + उप + मृद् + क्त्वा (ल्यप्) । निरीक्षितुं = निर् + ईक्ष + तुमुन् । क्षमते = क्षमूष् + लट् + त । रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे = रक्षिणां लक्षं (ष० त०), तस्य जयः (ष० त०), चण्डं चरित्रं यस्य सः (बहु०), रक्षिलक्षजयेन चण्डचरित्रः, तस्मिन् (तृ० त०) । विश्वसिति = वि + श्वस् + लट् + तिप् ॥ ११० ॥

आदधीचि किल दातृकृताऽर्घं प्राणमात्रपणसीम यशो यत् ।
आददे कथमहं प्रियया तत्प्राणतः शतगुणेन पणेन ॥ १११ ॥

अन्वयः—प्राणमात्रपणसीम आदधीचि दातृकृताऽर्घं यत् यशः, तत् प्राणत शतगुणेन प्रियया पणेन अहं कथम् आददे ?

व्याख्या—प्राणमात्रपणसीम = जीवनमात्रमूल्यावधि, आदधीचि = दधीचिपर्यन्तं, दातृकृताऽर्घं = वन्दान्यनिश्चितमूल्यं, यत्, यशः = कीर्तिः, तत् = यशः, प्राणतः = प्राणेभ्यः, शतगुणेन = शतगुणाऽधिकेन, प्रियया पणेन = दयितया (दमयन्त्या) एव मूल्येन, अहं = नलः, कथं = केन प्रकारेण, आददे = गृह्णामि ।

अनुवाद—प्राणमात्र मूल्यकी सीमा रखकर दधीचिपर्यन्त दाताओंने जिसका मूल्य निश्चित किया है ऐसा जो यश है, उसको प्राणसे भी सौगुना मूल्यवाली दमयन्तीरूप मूल्यसे मैं कैसे ले लूं ?

टिप्पणी—प्राणमात्रपणसीम = प्राणा एव प्राणमात्रम् (रूपक०), पणस्य सीमा (ष० त०), "पणो मूल्ये ग्लहे माने" इति वैजयन्ती । प्राणमात्रं पणसीमा यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद्यथा तथा । आदधीचि = दधीचेः आ, "आङ् मर्यादाऽभिविध्योः" इससे अभिविधिमें अव्ययीभाव । दातृकृताऽर्घं = कृतः अर्घः यस्य तत् (बहु०) । मूल्ये पूजाविधावर्घः" इत्यमरः ।

दातृभि कृताऽर्घम् (तृ० त०) । प्राणत =प्राणेभ्य इति, प्राण + तसि । शत गुणेन=शत गुणा यस्य स, तेन (बहु०) । आददे=आङ् + दद + लट् + इट् । देवकार्यके लिए दधीचि ऋषिने अपने प्राण दिये, उनकी हड्डीसे वज्र अस्त्र बना, उससे इन्द्रने अपने शत्रु वृत्रासुरका वध किया, ऐसी पौराणिक कथा है । जिस यशके लिए दधीचि ऋषिने प्राण दिये, परन्तु प्राणोंसे भी सौगुना मूल्य-वाली दमयन्तीको देकर मैं कैसे यशको ले लूं ? अधिक मूल्यवाली वस्तु देकर अल्प मूल्यवाली वस्तु कैसे लूं ? यहाँपर परिवृत्ति अलङ्कार है, उसका लक्षण है—"परिवृत्तिर्विनिमय समन्यूनाऽधिकैर्भवेत्" ॥ सा० १०–८० ॥ १११ ॥

अथवा मयि भवद्भिरिवाऽस्यै कर्तुमर्हति मयाऽपि भवत्सु ।
भीमजाऽर्थपरयाचनचाटौ यूयमेव गुरव करणीया ॥ ११२ ॥

अन्वय —अस्यै मयि भवद्भि इव मया अपि भवत्सु अथवा कर्तुम् अर्हति । भीमजाऽर्थपरयाचनचाटौ यूयम् एव गुरव करणीया ।

व्याख्या—अस्यै =दमयन्त्यै, मयि=नले विषये, भवद्भि इव=इन्द्रादि-दिक्पालै इव मया अपि,=नलेन अपि, भवत्सु=श्रीमत्सु विषये, अर्थना= प्रार्थना, कर्तुं=विधातुम्, अर्हति=योग्या भवति, कर्तव्येति भाव । कथ कामुक-सुलाभकामिनीलिप्सा ? इति चेत्तत्राऽऽह—भीमजार्थेति । भीमजाऽर्थपरयाचन-चाटौ=दमयन्तीनिमित्ताऽन्यप्रार्थनाप्रियोक्तौ, यूयम् एव=भवन्तो देवा एव गुरव =उपदेष्टार , करणीया =विधातव्या , करोमि चेति भाव ।

अनुवाद—(हे देवगण !) दमयन्तीके लिए मुझसे जैसे आप लोगोंने प्रार्थना की है, वैसे मुझे भी आप लोगोंसे प्रार्थना करनी चाहिए । दमयन्तीके लिए दूसरेसे प्रार्थनारूप प्रिय उक्तिमें मुझे आप लोगोंको ही गुरु बनाना चाहिए ।

टिप्पणी—अस्यै="तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इस वार्तिकसे तादर्थ्यमें चतुर्थी । भीमजाऽर्थपरयाचनचाटौ=भीमाज्जाता भीमजा, भीम + जन् + ड + टाप् (उपपद०), भीमजायै इद भीमजार्थम् (च० त०), परस्मिन् याचनम् (स० त०), तस्मिन् चाटु (स० त०), भीमजार्थं च तत् परयाचनचाटु, तस्मिन् (क० धा०) । करणीया =कर्तुं योग्या , कृ + अनी-यर् + जस ॥ ११२ ॥

अर्पिता प्रथमतो दमयन्ती यूयम्-बहुमुपास्य मया यत् ।
ह्रीर्न चेद् व्यतियतामपि तद्ध सा ममाऽपि सुतरां न तदस्तु ॥ ११३ ॥

अन्वयः—मया अन्वहं यूयम् उपास्य प्रथमतो दमयन्तीं यत् अर्थिताः, तद् व्यतियतां वः ह्री न चेत् तत् सा मम अपि सुतरा न अस्तु ।

व्याख्या—अथ प्रथमप्रार्थकत्वाऽभिमानस्तर्हि ममैव प्रथमप्रार्थकत्वमिति प्रतिपादयति—अर्थिता इति । (हे देवाः !) मया=प्रार्थकेन नलेन, अन्वहम्=अनुदिनं, यूयं=भवन्तो देवाः, उपास्य=उपासनां कृत्वा, प्रथमतः=आदौ एव, भवत्प्रार्थनायाः पूर्वमेवेति भावः । दमयन्ती=भैमीम्, अर्थिताः=प्रार्थिताः । तत्=प्रथमप्रार्थनं, व्यतियतां=व्यतिक्रमताम् अपि, वः=युष्माकं, ह्रीः=लज्जा, न चेत्=नाऽस्ति यदि, तत्=तर्हि, सा=ह्रीः, मम अपि, सुतराम्=अतितरां, न अस्तु=मा भूत् ।

अनुवाद—(हे देवगण !) मैंने प्रतिदिन आप लोगोंकी उपासना कर पहलेसे ही दमयन्तीके लिए जो प्रार्थना की थी, उस(प्रथम प्रार्थना)को उल्लङ्घन करनेवाले आप लोगोंको लज्जा नही है तो वह लज्जा मुझे भी नहीं हो ।

टिप्पणी—अन्वहम्=अह्नि अह्नि, वीप्सामें अव्ययीभाव, "अनश्च" इस सूत्रसे समासाऽन्त टच् । यूयम्="अर्थिताः" इस पदके योगमें गौण कर्ममे प्रथमा । उपास्य=उप+आस+क्त्वा (ल्यप्) । दमयन्तीम्=मुख्य कर्ममे द्वितीया । व्यतियतां=वि+अति+इण्+लट् (शतृ०)+आम् । "न गतिहिंसाऽर्थेभ्यः" इस सूत्रसे आत्मनेपदका निषेध । अस्तु=अस्+लोट्+तिप् ॥ ११३ ॥

> कुण्डिनेन्द्रसुतया किल पूर्वं मां वरीतुमुररीकृतमास्ते ।
> व्रीडमेष्यति परं मयि दृष्टे स्वीकरिष्यति न सा खलु युष्मान् ॥११४॥

अन्वयः—(हे देवाः !) कुण्डिनेन्द्रसुतया पूर्वं मां वरीतुम् उररीकृतम् आस्ते किल । (ततः) मयि दृष्टे परं व्रीडम् एष्यति । सा युष्मान् न स्वीकरिष्यति खलु ।

व्याख्या—(हे देवाः !) कुण्डिनेन्द्रसुतया=दमयन्त्या, पूर्वं=प्रथमम् एव, मां=नलं, वरीतुं=वरणं कर्तुम्, उररीकृतम्=अङ्गीकृतम्, आस्ते=अस्ति, किलेति वार्तायाम् । ततः, मयि=नले, दृष्टे=अवलोकिते सति, परं=केवलं, व्रीडं=लज्जाम्, एष्यति=प्राप्स्यति । एवं च सा=दमयन्ती, युष्मान्=भवतः, देवान्, न स्वीकरिष्यति=न अङ्गीकरिष्यति, खलु=निश्चयेन ।

अनुवाद—(हे देवगण !) दमयन्तीने पहले ही मुझे वरण करनेके लिए स्वीकार किया है। इसलिए मुझे देखनेपर वे लज्जित ही हो जायेंगी, आप लोगोंको निश्चय ही स्वीकार नहीं करेंगी।

टिप्पणी—कुण्डिनेन्द्रसुतया=कुण्डिनानाम् इन्द्र (ष० त०), तस्य सुता, तया (ष० त०)। वरीतु=वृञ+तुमुन्। आस्ते=आस+लट्+त। व्रीड=व्रीड+घञ्+अम् ॥ ११४ ॥

तत्प्रसीदत, विधत्त न खेद, दूत्यमत्यसदृशं हि ममेदम्।
हास्यतैव सुलभा न तु साध्यं तद्विधित्सुभिरनौपयिकेन ॥ ११५ ॥

अन्वय—(हे देवा !) तत् प्रसीदत, खेदं न विधत्त। मम इदं दूत्यम् अत्यसदृशं हि। अनौपयिकेन तद् विधित्सुभिः हास्यता एव सुलभा, साध्यं तु न (सुलभम्)।

व्याख्या—(हे देवा !) तत्=तस्मात्कारणात्, प्रसीदत=प्रसन्ना भवत, खेद=क्लेशं, न विधत्त=न कुरुत। मम=नलस्य, इदं=भवदारोपितं, दूत्यं=दूतकर्म, *अत्यसदृशम्=अत्यन्तायोग्यं, हि=निश्चयेन।* अत्र हेतुं प्रदर्शयति—हास्यतेति। अनौपयिकेन=अनुपायेन, तद्=दूत्यं, विधित्सुभिः=चिकीर्षुभिः, हास्यता एव=उपहसनीयता एव, सुलभा=सुप्रापा, साध्यं तु=प्रयोजनं तु, दमयन्तीप्राप्तिरूपं तु इति शेषः। न=न सुलभम्।

अनुवाद—(हे देवगण !) इस कारण आप लोग प्रसन्न हों, खेद न मानें। मेरा यह दूतकर्म निश्चय ही अत्यन्त अयोग्य है। उपायके बिना जो प्रयोजनकी सिद्धि करना चाहते हैं, उनको उपहासपात्रता ही सुलभ होती है, प्रयोजन नहीं (सुलभ) होता है।

टिप्पणी—प्रसीदत=प्र+सद्+लोट्+थ। विधत्त=वि+धा+लोट्+थ। *अत्यसदृशम्=न सदृशम्* (नञ्०), *अति तम् असदृशम्* (गति०)। अनौपयिकेन=उपाय एव औपयिकं, उपाय शब्दसे 'विनयादिभ्यष्ठक्' इस सूत्रमें पठित "उपायो ह्रस्वत्वं च" इस वार्तिकसे स्वार्थिक ठक् (इक) प्रत्यय, ह्रस्वत्व। न औपयिकं, तेन (नञ्०)। विधित्सुभिः=वि+धा+सन्+उ+भिस्। अनुचित कर्मका आरम्भ अनर्थके लिए होता है, फलके लिए नहीं, यह भाव है ॥ ११५ ॥

ईदृशानि गदितानि तदानीमाकलय्य स नलस्य बलारिः।
शासति स्म किमपि स्मयमानः स्वाऽनुगाऽऽननविलोकनलोलः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—स वलाऽरिः तदानीं नलस्य ईदृशानि गदितानि आकलय्य स्मयमानः स्वाऽनुगाऽऽननविलोकनलोलः (सन्) किमपि शंसति स्म ।

व्याख्या—स =प्रसिद्धः, वलाऽरिः=वलोऽरातिः, इन्द्र इत्यर्थः । तदानीं= तस्मिन् समये, नलस्य = नैषधस्य, ईदृशानि = एतादृशानि, गदितानि= उक्तानि, वाक्यानीति भावः । आकलय्य=आकर्ण्य, स्मयमानः=मन्दं हसन्, स्वाऽनुगाऽऽननविलोकनलोलः=निजाऽनुचरमुखनिरीक्षणचञ्चलः सन्, किमपि= किञ्चिद्वाक्यं, वक्ष्यमाणप्रकारमिति शेषः । शंसति स्म=वभाषे ।

अनुवाद—प्रसिद्ध देवराज इन्द्र उस समय नलके ऐसे वाक्योंको सुनकर मन्दहास्य कर अपने अनुचर यम आदि देवताओंके मुखोंको देखनेमें चञ्चल होते हुए वोले ।

टिप्पणी—वलाऽरिः=वलस्य अरिः (ष० त०) । स्मयमानः=स्मयत इति, स्मिङ्+लट् (शानच्)+सु । स्वाऽनुगाऽऽननविलोकनलोलः=स्वस्य अनुगाः (ष० त०), तेषाम् आननानि (ष० त०), तेषां विलोकनं (ष० त०), तस्मिन् लोलः (स० त०) ॥ ११६ ॥

नाऽभ्यधायि नृपते ! भवतेदं रोहिणीरमणवंशभवेन ।
लज्जते न रसना तव वाम्यादर्थिषु स्वयमुरीकृतकाम्या ? ॥ ११७ ॥

अन्वयः—हे नृपते ! रोहिणीरमणवंशभवेन भवता इदं न अभ्यधायि । अर्थिषु स्वयम् उरीकृतकाम्या तव रसना वाम्यात् न लज्जते ?

व्याख्या—हे नृपते=हे राजन् ! रोहिणीरमणवंशभवेन=चन्द्रकुलोत्पन्नेन, भवता=त्वया, इदम्=एतत्, "सेयमुच्चतरता" (५–१०४) इत्यत आरभ्य "कुण्डिनेन्द्रसुतया" (५–११४) इत्यादिश्लोकपर्यन्तं निषेधवाक्यकदम्बमिति भावः । न अभ्यधायि=न अभिहितं, किन्तु चन्द्रवंशाऽनुत्पन्नेन अभिहितमिति भावः । अत्र हेतुमाह—लज्जत इति । अर्थिषु=याचकेषु, अस्मासु विषये, स्वयम्=आत्मना एव, उरीकृतकाम्या=अङ्गीकृतेच्छा, तव=भवतः, रसना=जिह्वा, वाम्यात्=प्रातिकूल्यात्, न लज्जते=नो जिह्रेति ? ततस्त्वं न चन्द्रवंशोत्पन्न इव प्रतिभासीति भावः ।

अनुवाद—हे राजन् ! चन्द्रवंशमे उत्पन्न आपने यह नहीं कहा है । याचना करनेवालोंमें स्वयं उनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए स्वीकार करनेवाले आपकी जिह्वा प्रतिकूलतासे लज्जित नही होती है ?

टिप्पणी—नृपते=नृणां पतिः (ष० त०), तत्सम्बुद्धौ। रोहिणीरमण-वशभवेन=रोहिण्या रमण: (ष० त०) तस्य वश: (ष० त०), तस्मिन् भवः, तेन (स० त०)। अभ्यधायि=अभि+धा+लुङ् (कर्ममें) +त। *अर्थिषु=अर्थ+इनि+सुप् विषयमें सप्तमी। उरीकृतकाम्या=उरीकृत* काम्य यया सा (बहु०)। वाम्यात्=वामस्य भावो वाम्यं, तस्मात्, वाम+ष्यङ्+ङसि। लज्जते='ओलस्जी व्रीडायाम्'' धातुसे लट्+त ॥ ११७ ॥

भङ्गुरं च वितथं न कथं वा जीवलोकमवलोकयसीमम्।
येन धर्मयशसी परिहातुं धीरहो ! चलति धीर ! तवाऽपि ॥ ११८ ॥

अन्वय —हे धीर ! इमं जीवलोकं भङ्गुरं वितथं च कथं वा न अवलोकयसि ? येन तव अपि धीः धर्मयशसी परिहातुं चलति।

व्याख्या–हे धीर=हे विद्वन् ! इमम्=एतं, जीवलोकं=प्राणिसमूहं, भङ्गुरं=विनश्वरं, वितथं च=विफलं च, दुःखमयत्वादिति भावः। कथं *वा=केन प्रकारेण वा, न अवलोकयसि=न पश्यसि, न जानासीति भावः।* येन=अज्ञानेन हेतुना, तव अपि=भवतः अपि, विदुषः अपीति भावः। धीः= बुद्धिः, धर्मयशसी=पुण्यकीर्ती, अभङ्गुराऽवितथे अपीति भावः। परिहातुं= त्यक्तुं, चलति=चञ्चला भवति। अस्थिरविषयाऽऽसक्ते: स्थिरसुकृतयशः-परित्यागो भवादृशां विदुषामयुक्त इति भावः।

अनुवाद—हे विद्वन् ! आप इस प्राणिसमूहको विनश्वर और विफल क्यों नहीं देख रहे हैं ? जिस(अज्ञान)से आपकी बुद्धि भी धर्म और यशको छोड़नेके लिए चञ्चल हो रही है।

टिप्पणी—जीवलोकं=जीवानां लोकः, तम् (ष० त०)। भङ्गुरं= भञ्जधातुसे 'भञ्जभासमिदो घुरच्'' इस सूत्रसे घुरच् प्रत्यय। अवलोकयसि= अव+लोक+णिच्+लट्+सिप्। धर्मयशसी=धर्मश्च यशश्च, ते (द्वन्द्व०)। परिहातुं=परि+हा+तुमुन्। अस्थिर विषयकी लोलुपतासे स्थिर धर्म और यशका परित्याग आप-जैसे विद्वानोंके लिए उचित नहीं है, यह अभिप्राय है ॥ ११८ ॥

क्व कुलेऽजनि जगन्मुकुटे वः प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन ?।
इन्दुरादिरजनिष्ट कलङ्की कष्टमत्र स भवानपि मा भूत् ॥ ११९ ॥

अन्वय —(हे राजन्) जगन्मुकुटे वः कुले येन प्रार्थकेप्सितं न अपूरि

(सः) कः अजनि ? आदिः इन्दुः कलङ्की अजनिष्ट । कष्टम् ! अत्र भवान् स मा भूत् ।

व्याख्या—(हे राजन् !) जगन्मुकुटे=लोकभूषणे, वः=युष्माकं, कुले=वंशे, येन=जनेन, प्रार्थकेप्सितं=याचकमनोरथः, न अपूरि=न पूरितम्, (सः=तादृशः) कः=जनः, अजनि=जातः ? आदिः=प्रथमः, युष्माकं कूटस्थः पुरुष इति भावः । इन्दुः=चन्द्रः, कलङ्की=कलङ्कयुक्तः, मृगलाञ्छन इति भावः । अजनिष्ट=जातः, कष्टं=खेदः । अत्र=अस्मिन् कुले, भवान् अपि, सः=कलङ्की, अर्थिवाञ्छाया अपूरणेनेति भावः । मा भूत्=नो भवतु, भवानपयशो न वितनोत्विति भावः ।

अनुवाद—(हे राजन् !) लोकके अलङ्काररूप आपके वंशमें जिसने याचककी इच्छाको पूर्ण नहीं किया है, ऐसा कौन-सा पुरुष पैदा हुआ ? हाँ ! आप लोगोंके आदिपुरुष चन्द्र कलङ्की उत्पन्न हुए थे, कष्ट है ! आप भी वैसे (कलङ्कयुक्त) मत हों ।

टिप्पणी—जगन्मुकुटे=जगतां मुकुटः, तस्मिन् (ष० त०) । प्रार्थकेप्सितं =प्रार्थकस्य ईप्सितम् (ष० त०) । अपूरि=पूर+लुङ् (कर्ममें)+त । अजनि=जन्+लुङ् (कर्तामें)+त । कलङ्की=कलङ्क+इनि+सु । अजनिष्ट =जन+लुङ्+त (कर्तामें) । मा भूत्="मा"के योगमें 'माङि लुङ्" इससे लुङ्, "न माङ्योगे" इस सूत्रसे अट्का निषेध । भू+लुङ्+तिप् ॥ ११९ ॥

याऽपदृष्टिरपि या मुखमुद्रा, याचमानमनु या च न तुष्टिः ।
त्वादृशस्य सकलः स कलङ्कः, शीतभासि शशकः परमङ्कः ॥ १२० ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) त्वादृशस्य याचमानम् अनु या अपि अपदृष्टिः, या च मुखमुद्रा, या च न तुष्टिः, सः सकलः कलङ्कः, शीतभासि शशकः परम् अङ्कः ।

व्याख्या—(हे राजन् !) त्वादृशस्य=भवत्सदृशस्य दातुः, याचमानम् अनु=याचकं प्रति, या अपि, अपदृष्टिः=कुदृष्टिः, या च, मुखमुद्रा=मौनं, या च, न तुष्टिः=असन्तोषः, सः=पूर्वोक्तः, सकलः=समस्तः, विकार इति शेषः, कलङ्कः=अपयशः, एतद्वैपरीत्येन, शीतभासि=चन्द्रे, शशकः=अल्पः शशः, परं=केवलम्, अङ्कः=चिह्नं, श्रीवत्सादिवद्, न कलङ्क इति भावः ।

अनुवाद—(हे राजन् !) आप जैसे दाता की याचकको लक्ष्य करके जो कुदृष्टि है और जो मौन है तथा जो असन्तोष है, वह सब विकार ही कलङ्क है, चन्द्रमें जो शश (खरगोश) है, वह केवल चिह्न है, कलङ्क नहीं है।

टिप्पणी—याचमान=याचत इति याचमान, तम् याच+लट् (शानच्)+अम्। मुखमुद्रा=मुखस्य मुद्रा (ष० त०)। तुष्टि=तुष्+क्तिन्+सु। शीतभासि=शीता भा यस्य स शीतभा, तस्मिन् (बहु०)। शशक=अल्प शश, शश शब्दसे "अल्पे" इस सूत्रसे कन् प्रत्यय॥ १२०॥

नाऽक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृत किमथवा पठितोऽपि।
इत्थमर्थिजनसशयदोलाखेलन खलु चकार नकार॥ १२१॥

अन्वय—(हे राजन् !) अक्षराणि पठता (भवता) नकार न अपाठि किम्? अथवा पठित अपि प्रस्मृत। इत्थ नकार अर्थिजनसशयदोलाखेलन चकार खलु।

व्याख्या—(हे राजन् !) अक्षराणि=वर्णान्, पठता=अभ्यस्यता भवता "णैव इति शेष। नकार=निषेधवाचको न शब्द, न अपाठि किम्?=न पठित किम्? अथवा, पठित अपि=कृतपाठ अपि, प्रस्मृत=विस्मृत, इत्थम्=अनेन प्रकारेण, नकार=निषेधवाची नवर्ण, अर्थिजनसशयदोलाखेलन=याचकजनस देहकोटिद्वयक्रीडा, चकार=कृतवान्, खलु=निश्चयेन।

अनुवाद—(हे राजन् !) अक्षरोंको पढते हुए आपने 'न' वर्ण नहीं पढा क्या? अथवा पढकर भी आप भूल गये? इस तरह 'न' वर्णने याचकजनके सन्देहरूप दोला (झूला)में क्रीडा की।

टिप्पणी—पठता=पठतीति पठन्, तेन, पठ+लट् (शतृ)+टा। नकार='न' वर्णसे "वर्णात्कार" इससे कार प्रत्यय। अपाठि=पठ+लुङ् (कर्ममें)+त। प्रस्मृत=प्र+स्मृ+क्त+सु। अर्थिजनसशयदोलाखेलनम्=अर्थिनश्च ते जना (क० धा०), तेषा सशय (ष० त०), स एव दोला (रूपक०), तस्या खेलन, तत् (स० त०)। चकार=कृ+लिट्+तिप्। इस पद्यमें सन्देह और अर्थियोंका ऐसे सशयमें सम्बन्धके न होनेपर भी उसकी उक्तिसे अतिशयोक्ति है, उन दोनोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है॥ १२१॥

अब्रवीत्तमनल "क्व नलेद लक्ष्यमुज्झसि यश शशिकल्पम्।
कल्पवृक्षपतिमर्थिनमेन नाऽऽप कोऽपि शतमन्युरिहाऽन्य॥ १२२॥

अन्वयः—अनलः तम् अब्रवीत्—"हे नल ! इदं लब्धं शशिकल्पं यशः क्व उज्झसि ? इह अन्यः कोऽपि कल्पवृक्षपतिम् एनं शतमन्युम् अर्थिनं न आप।

व्याख्या—अनलः=अग्निः, तं=नलम्, अब्रवीत्=अवदत्, हे नल=हे नैषध ! इदम्=एतत्, लब्धं=प्राप्तं, शशिकल्पं=चन्द्रसदृशं, यशः=कीर्तिः, क्व=कुत्र, उज्झसि=त्यजसि ? इह=अस्मिन् लोके, अन्यः=त्वदतिरिक्तो जनः, कः अपि, कल्पवृक्षपतिं=कल्पतरुस्वामिनम्, अनन्यार्थिनमिति भावः। एनं, शतमन्युम्=इन्द्रम्, अर्थिनं=याचकं, न आप=न लेभे, तदेतादृशं यशो मा त्याक्षीरिति भावः।

अनुवाद—अग्निने नलको कहा—"हे नल ! पाये गये चन्द्रसदृश इस यशको कहाँ छोड रहे हैं ? इस लोकमें और किसीने भी कल्पवृक्षके स्वामी इन्द्रको याचकके रूपमें नहीं पाया है।

टिप्पणी—अब्रवीत्=ब्रूञ्+लङ्+तिप्। लब्धं=लभ+क्त+सु। शशिकल्पम्=ईषत् असमाप्तः शशी शशिकल्पं, तत्, "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः" इस सूत्रसे शशिन् शब्दसे कल्पप् प्रत्यय। कल्पवृक्षपतिं=कल्पवृक्षस्य पतिः, तम् (ष० त०)। शतमन्युं=शतं मन्यवो यस्य सः, तम् (बहु०)। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ १२२ ॥

न व्यहन्यत कदाऽपि मुदं यः स्वःसदामुपनयन्नभिलाषः।
तत्पदे त्वदभिषेककृतां नः स त्यजत्वसमतामदमद्य" ॥ १२३ ॥

अन्वयः—(हे नल !) स्वःसदां नः यः अभिलाषः मुदम् उपनयन् कदाऽपि न व्यहन्यत। अद्य तत्पदे त्वदभिषेककृतां नः सः असमतामदं त्यजतु।

व्याख्या—(हे नल !) स्वःसदां=स्वर्गवासिनां, नः=अस्माकं, यः, अभिलाषः=मनोरथः, मुदं=हर्षम्, उपनयन्=जनयन्, कदाऽपि=जातुचिदपि, न व्यहन्यत=नो विहतः। अद्य=अस्मिन्दिने, तत्पदे=अभिलाषस्थाने, त्वदभिषेककृतां=त्वां स्थापयतां, नः=अस्माकं, सः=अभिलाषः, असमतामदम्=असाधारणतागर्वं, स्वसिद्धावन्याऽनपेक्षित्वमिति भावः। त्यजतु=मुञ्चतु।

अनुवाद—(हे नल !) स्वर्गमें रहनेवाले हम लोगोंका जो अभिलाष हर्षको उत्पन्न करता हुआ कभी भी प्रतिबद्ध नहीं हुआ। आज उस स्थानमें

आपका स्थापन करनेवाले हम लोगोंका वह अभिलाष अपनी असाधारणताके गर्वका परित्याग करे।"

टिप्पणी – स्वसदाम्=स्वः सीदन्तीति स्वःसदः, तेषाम्, स्वर् उपपद-पूर्वक सद् धातुसे "सत्सूद्विष०" इत्यादि सूत्रसे क्विप् (उपपद०)। उपनयम्=उप+नी+लट् (शतृ)+सु। व्यहन्यत=वि+हन्+लङ् (कर्ममें)+त। तत्पदे=तस्य पद, तस्मिन् (ष० त०)। "पद व्यवसित-त्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु" इत्यमरः। त्वदभिषेककृताम्=तव अभिषेकः (ष० त०), तं कुर्वन्तीति, तेषां, त्वदभिषेक+कृ+क्विप् (उपपद०)+आम्। असमतामदः=न समः (नञ्०), असमस्य भावः (असम+तल्+टाप्), असमतायाः मदः, तम् (ष० त०)। त्यजतु=त्यज+लोट्+तिप्। आजसे स्वार्थसाधनमें स्वयं ही देवता समर्थ हैं, ऐसे अहङ्कारको छोड़ देते हैं, यह तात्पर्य है ॥ १२३ ॥

> अब्रवीदथ यमस्तमहृष्ट "वीरसेनकुलदीप! तमस्त्वाम्।
> यदिहत्यमभिभूषति तत्कि चन्द्रवंशवसते सदृशं ते ? ॥ १२४ ॥

अन्वय – अथ यमः अहृष्टं तम् अब्रवीत्–"हे वीरसेनकुलदीप! किमपि यत् तमः त्वाम् अभिबुभूषति, तत् चन्द्रवंशवसते ते सदृशं किम् ?

व्याख्या—अथ=अभिलाषवाक्यानन्तरं, यमः=यमराज, अहृष्टम्=असन्तुष्टं, तं=नलम्, अब्रवीत्=अवदत्। हे वीरसेनकुलदीप=हे वीरसेनवंशप्रदीप! किमपि=अनिर्वाच्य, यत् तमः=मोहः, अन्धकारश्च, त्वा=भवन्तम्, अभि-बुभूषति=अभिभवितुम् इच्छति, तत्=तमोऽभिभवनं, चन्द्रवंशवसते=चन्द्र-कुलस्थिते, ते=तव, सदृशं किम्=उचितं किम् ?

अनुवाद—तब यमराजने अप्रसन्न नलको कहा—"हे वीरसेनके वंशके दीपक! अनिर्वाच्य जो मोह या अन्धकार आपको पराजित करना चाहता है, वह चन्द्रकुलमें स्थितिवाले आपके लिए उचित है क्या ?

टिप्पणी—अहृष्टम्=न हृष्टः, तम् (नञ्०)। वीरसेनकुलदीप=वीर-सेनस्य कुलं (ष० त०), तस्य दीपः (ष० त०), तत्सम्बुद्धौ। अभि-बुभूषति=अभिभवितुम् इच्छति, अभि+भू+सन्+लट्+तिप्। चन्द्रवंश-वसते=चन्द्रस्य वंशः (ष० त०), तस्मिन् वसतिः (स्थितिः) यस्य सः, तस्य (व्यधिकरण०)। जैसे चन्द्रके प्रकाशका अन्धकारसे अभिभव अनुचित है, वैसे

ही चन्द्रवंशमें स्थितिवाले आपका मोहसे अभिभाव अयोग्य है, यह अभिप्राय है। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है ॥ १२४ ॥

रोहणः किमपि यः कठिनानां, कामधेनुरपि या पशुरेव।
नैनयोरपि वृथाऽभवदर्थी हा! विधित्सुरसि वत्स! किमेतत् ॥ १२५ ॥

अन्वयः—यो रोहणः (सोऽपि) कठिनाना (मध्ये) किमपि। या कामधेनुः (साऽपि) पशुः एव। एनयोः अपि अर्थी वृथा न अभवत्। हे वत्स! किम् एतत् विधित्सुः असि ? हा!

व्याख्या—यः, रोहणः=रोहणनामको मणिनामाकरोऽद्रिः, सोऽपि कठिनानां=कठोराणां पदार्थानां मध्ये, किमपि=कठिनः पदार्थः। या, कामधेनुः=सुरभिः, साऽपि पशु एव=चतुष्पात् एव, परम् एनयोरपि= रोहणकामधेन्वोरपि, पाषाणचतुष्पदयोरपीति भावः, अर्थी=याचकः, वृथा= निष्फलः, न अभवत्=नो जातः, हे वत्स=हे वात्सल्यभाजन ! किम्, एतत्= विधित्सुः=चिकीर्षुः, असि=विद्यसे ? हा !=तव शोच्यत इति भाव.।

अनुवाद—जो रोहणनामक मणियोंकी खान पर्वत है, वह कठोर पदार्थोंमें एक कठोर पदार्थ है। जो कामधेनु है, वह भी पशु (जानवर) ही है। इनमें भी याचक निष्फल नहीं हुआ। हे वत्स ! तुम यह क्या करना चाहते हो ? हाय !

टिप्पणी—एनयोः=इदम् शब्दके ओस्में "द्वितीयाटौस्स्वेनः" इससे एन आदेश। विधित्सुः=विधातुम् इच्छुः, वि+धा+सन्+उ+सु। "हाय ! तुम पशु और पाषाणसे भी गये गुजरे हो" यह तात्पर्य है ॥ १२५ ॥

याचितश्चिरयति क्व नु धीरः ? प्राणने क्षणमपि प्रतिभूः कः ?।
शंसति द्विनयनी दृढनिद्रां द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा ॥ १२६ ॥

अन्वयः—(हे वत्स !) धीरो याचितः (सन्) क्व नु चिरयति ? (कुतः) क्षणम् अपि प्राणने प्रतिभूः कः ? द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा द्विनयनी दृढनिद्रां शंसति।

व्याख्या—(हे वत्स !) धीरः=विद्वान्, याचितः=प्रार्थितः सन्, क्व नु= कुत्र नु, चिरयति=विलम्बते ? कुतः क्षणम् अपि=अल्पकालम् अपि, प्राणने= जीवने, प्रतिभूः=लग्नकः, कः ?=न कोऽपि इति भावः। द्राङ्निमेषमिष- घूर्णनपूर्णा=शीघ्रपक्ष्मपातव्याजभ्रमणपूरिता, द्विनयनी=नयनद्वयम् एव, दृढनिद्रां=चिरस्वापं, मरणमिति भावः, शंसति=सूचयति।

अनुवाद—(हे वत्स !) प्रार्थना करनेपर विद्वान् कहाँ विलम्ब करता है ? कुछ क्षणभर भी जीनेमें कौन जामिन होता है ? शीघ्र पलक मारनेके बहानेसे भ्रमणसे पूर्ण दोनो नेत्र मरणकी सूचना देते हैं।

टिप्पणी—याचित =याच् + क्त (कर्मम) + सु । चिरयति=चिर+णिच् + लट् + तिप् । क्षण="कालाऽध्वनोरत्यन्तसयोगे" इस सूत्रसे काल के अत्यन्तसयोगमें द्वितीया । प्राणने=प्र+अन्+ल्युट्+ङि । प्रतिभू = "स्युर्लग्नका प्रतिभुव" इत्यमर । द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा=द्राक् (यथा तथा) निमेष (सुप्सुपा०), तस्य मिष (ष० त०), तेन घूर्णनम् (तृ० त०), तेन पूर्णा (तृ० त०)। द्विनयनी=द्वयोर्नयनयो समाहार (द्विगु)। दृढनिद्रा=दृढा चाऽसौ निद्रा (क० धा०), ताम् ॥ १२६ ॥

अभ्रपुष्पमपि दित्सति शीत सार्थिना विमुखता यदभाजि ।
स्तोकस्य खलु चञ्चुपुटेन म्लानिरुल्लसति तद् घनसङ्घे ॥ १२७ ॥

अन्वय—शीतम् अभ्रपुष्प दित्सति अपि घनसङ्घे अर्थिना स्तोककस्य चञ्चुपुटेन यत् सा विमुखता अभाजि तत् म्लानि उल्लसति खलु ।

व्याख्या—(हे नल !) शीत=शीतलम्, अभ्रपुष्प=जल, मेघपुष्प, (मेघपुष्पसदृश दुर्लभ वस्तु) दित्सति अपि=दातुम् इच्छति अपि, न तु परिजिहीर्षतीत्यर्थ । तादृशे घनसङ्घे = मेघसमूहे, अर्थिना=याचकेन, स्तोककस्य=चातकस्य, चञ्चुपुटेन=त्रोटिपुटेन, यत्=यस्मात्कारणात्, सा=प्रसिद्धा, विमुखता=पक्षिमुखता पराङ्मुखता च, अभाजि=आश्रिता, तत्=तस्मात्, विमुखतामजनादिति भाव । म्लानि =मलिनता, अकीर्तिरिति भाव, जलसमूहजनितेति शेष । उल्लसति=स्फुरति ।

अनुवाद—ठण्डे जलको देनेकी इच्छा करनेवाले मेघसमूहमें भी याचक चातकके चञ्चुपुटने जो विमुखता दिखलायी, उस कारणसे उस(मेघसमूह)में मलिनता प्रकट होती है।"

टिप्पणी—अभ्रपुष्पम्=अभ्रस्य (मेघस्य) पुष्प, तत् (ष० त०)। "मेघपुष्प घनरस " इत्यमर । अभ्रपुष्पका अर्थ यहाँपर जल वा मेघके पुष्पके समान दुर्लभ वस्तु, ऐसा अर्थ भी ध्वनित होता है। दित्सति=दातुम् इच्छन् दित्सन्, तस्मिन्, दा+सन्+लट् (शतृ) + ङि, घनसङ्घे=घनानां सङ्घ, तस्मिन् (ष० त०)। "सङ्घसार्थौ तु जन्तुभि " कोषकी इस उक्तिके अनुसार जन्तुसमुदायके लिए "सङ्घ" पदका प्रयोग उचित है, मेघके लिए इस पदका

प्रयोग उचित नहीं है, अतः "वृन्दे" यह प्रयोग अपेक्षित है। स्तोककस्य= "अथ सारङ्गः स्तोककश्चातकः समौ" इत्यमरः। चञ्चुपुटेन=चञ्चोः पुटं, तेन (ष० त०)। विमुखता=विरुद्धं मुखं यस्य (बहु०), तस्य भावस्तत्ता (विमुख+तल्+टाप्)। दूसरे पक्षमें—वेः (पक्षिणः) मुखं यस्य सः विमुखः (व्यधिकरणबहु०), तस्य भावस्तत्ता। पक्षीके मुखका भाव, यह तात्पर्य है। अभाजि=भज्+लुङ् (कर्ममें)+त। उल्लसति = उत्+लस+लट्+तिप्। जल देनेकी इच्छा करनेवाले मेघमें जो मलिनता है, वह याचक चातकके विमुख (पराङ्मुख) होनेपर हुई है। इस प्रकार इस पद्यमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है। याचककी विमुखतामें दाता(मेघ)की यह ग्लानि है, दाताकी विमुखतामें क्या कहना है ? अतः आपकी याचकमें यह विमुखता अनुचित है, यह तात्पर्य है ॥ १२७ ॥

ऊचिवानुचितमक्षरमेनं पाशपाणिरपि पाणिमुदस्य।
कीर्तिरेव भवतां प्रियदारा दाननीरझरमौक्तिकहारा ॥ १२८ ॥

अन्वयः—पाशपाणिः अपि पाणिम् उदस्य एनम् उचितम् अक्षरम् ऊचिवान्—(हे राजन् !) दाननीरझरमौक्तिकहारा कीर्तिः एव भवतां प्रियदाराः।

व्याख्या—पाशपाणिः अपि=पाशी अपि, वरुणोऽपीति भावः। पाणिं= हस्तम्, उदस्य=उद्यम्य, एनं=नलम्, उचितं=युक्तम्, अक्षरं=वाक्यम्, ऊचिवान्=उक्तवान्। (हे राजन् !) दाननीरझरमौक्तिकहारा=वितरण-जलप्रवाहमुक्तामाला, कीर्तिः एव=समज्ञा एव, भवतां=युष्माकं, प्रियदाराः =अभीष्टपत्नी, न तु भैमीति भावः।

अनुवाद—वरुणने भी हाथ उठाकर राजा नलसे उचित वाक्य कहा—हे राजन् ! दानके जलप्रवाहरूप मोतियोंकी मालावाली कीर्ति ही आपकी प्रिय पत्नी है।

टिप्पणी—पाशपाणिः = पाशः पाणौ यस्य सः (व्यधिकरणबहु०), "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ" इस सूत्रसे पाणि पदका परनिपात। उदस्य =उद्+अस्+क्त्वा (ल्यप्)। ऊचिवान्=वच्+लिट् (क्वसु)+सु। दाननीरझरमौक्तिकहाराः = नीराणां झरः (ष० त०), दाने नीरझरः (स० त०), मौक्तिकानां हारः (ष० त०), दाननीरझर एव मौक्तिकहारो यस्याः सा (बहु०)। प्रियदाराः=प्रियाश्च ते दाराः (क० धा०)। "अथ

पुभूम्नि दारा " इत्यमर । इस कथनमे पत्नीमे भी कीर्ति अधिक प्रिय है। इस कारणसे दमयन्तीके लोभसे आप कीर्तिको मत छोड़ें, ऐसा भाव निकलता है। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ १२८ ॥

चर्म वर्म किल यस्य नभेद्य, यस्य वज्रमयमस्थि च, तौ चेत्।
स्थायिनाविह न कर्णदधीची, तन्न धर्ममवधीरय धीर ! ॥ १२९ ॥

अन्वय —यस्य चर्म नभेद्य वर्म किल, यस्य अस्थि च वज्रमय किल। तौ कर्णदधीची इह स्थायिनौ न चेद्, तत् हे धीर ! धर्मं न अवधीरय।

व्याख्या—यस्य = कर्णस्य, चर्म = त्वक्, न भेद्यम् = अभेदनीय, वर्म = कवच, किल = श्रुतम्। यस्य = दधीचे, अस्थि च = कीकस च, वज्रमय = कुलिशमय, किल = श्रुतम्। तौ = तादृशौ, महासत्त्वाविति भाव। कर्णदधीची, इह अस्मिन् जगति, स्थायिनौ = स्थितिशालिनौ, न चेद् = नो यदि, तत् = तर्हि, हे धीर = हे विद्वन् ! धर्म = सुकृत, न अवधीरय = न अवमन्यस्व।

अनुवाद—जिस (कर्ण)का चमड़ा अभेद्य कवच सुना गया था। जिस (दधीचि)की हड्डी वज्रमयी सुनी गई थी। वैसे (दानी) कर्ण और दधीचि भी इस जगत्मे स्थायी नही हुए, तो हे विद्वन् ! आप धर्मका अपमान मत करें।

टिप्पणी—नभेद्य = न भेद्यम् (सुप्सुपा०)। वज्रमय = वज्र + मयट् + सु (स्वार्थमे)। कर्णदधीची = कर्णश्च दधीचिश्च (द्व०)। स्थायिनौ = तिष्ठत इति, स्था + णिनि + औ। कर्ण और दधीचि आदिकी अस्थिरता और धर्मकी स्थिरता देखकर आप धर्मका तिरस्कार मत करें, यह तात्पर्य है ॥ १२९ ॥

अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितु बलिविन्ध्यौ।
आश्रुताऽवितथतागुणपाशस्त्वादृशा स विदुषा दुरपास ॥ १३० ॥

अन्वय —(हे राजन् !) येन निबद्धौ बलिविन्ध्यौ अद्य यावत् विचलितुम् अपि प्रभू न। स आश्रुताऽवितथतागुणपाश त्वादृशेन विदुषा दुरपास।

व्याख्या—(हे राजन् !) येन = सत्यप्रतिज्ञत्वपाशेन, निबद्धौ = बद्धौ, बलिविन्ध्यौ = वैरोचनिविन्ध्यपर्वतौ, अद्य यावत् = एतद्दिनपर्यन्त, विचलितुम् अपि = सञ्चलितुम् अपि, प्रभू = समर्थौ, न स्त = नो विद्येते, स = तादृश, आश्रुताऽवितथतागुणपाश = प्रतिज्ञातार्थसत्यता सूत्र बन्ध, त्वादृशेन = भवादृशेन, विदुषा = पण्डितेन, दुरपास = दुरुच्छेद।

अनुवाद—(हे राजन् !) जिस सत्यप्रतिज्ञारूप पाशसे बँधे हुए बलि और विन्ध्यपर्वत आजतक विचलित होनेके लिए भी समर्थ नही हैं। मञ्जूर किये गये अर्थकी सत्यतारूप गुणका बन्धन आप-जैसे विद्वान् पुरुषसे नही हटाया जा सकता।

टिप्पणी—निबद्धौ = नि + बन्ध + क्त + औ। बलिविन्ध्यौ = बलिश्च विन्ध्यश्च (द्वन्द्वः)। विचलितुं = वि + चल + तुमुन्। आश्रुताऽवितथता-गुणपाशः = अवितथता एव गुणः (रूपक०), आश्रुतस्य अवितथतागुणः (ष० त०), स एव पाशः (रूपक०)। दुरपासः = दुःखेन अपास्तुं शक्यः, दुर् + अप + अस् + खल् (उपपद०)। सत्यप्रतिज्ञारूप पाशसे बँधे हुए बलि वामनको त्रिपादपरिमित भूमि न दे सकनेसे स्वर्ग राज्यसे हटकर अभीतक पातालमें हैं, उसी तरह सुमेरु पर्वतसे प्रतिस्पर्धा करनेवाले विन्ध्यपर्वत अपने गुरु अगस्त्यके "मेरे न लौटनेतक झुके ही रहो" इस वाक्यका पालन करनेके लिए अभीतक अवनत ही हो रहे है, अतः आपको भी देवकार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके उस प्रतिज्ञासे हटना नही चाहिए, यह तात्पर्य है ॥ १३० ॥

प्रेयसी जितसुधांऽशुमुखश्रीर्या न मुञ्चति दिगन्तगताऽपि।
भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति तामपि कीर्तिम् ? ॥ १३१ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) प्रेयसी जितसुधांऽशुमुखश्रीः या कीर्तिः दिगन्तगता अपि न मुञ्चति। तां कीर्तिम् अपि भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति ?

व्याख्या—(हे राजन् !) प्रेयसी = प्रियतमा, जितसुधांऽशुमुखश्रीः = पराजितचन्द्रादिशोभा, अन्यत्र चन्द्रजयिमुखशोभायुक्ता, या, कीर्तिः = समज्ञा, दिगन्तगता अपि = देशान्तरगता अपि, न मुञ्चति = न त्यजति। तां = तादृशी, कीर्तिम् अपि = समज्ञाम् अपि, भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे—भङ्गिसङ्गमायाः (भङ्गुरसङ्गतेः) कुरङ्गदृशः (हरिणनयनायाः) अर्थे (निमित्ते)। कः = विवेकी पुरुषः, कदर्थयति ? न कोऽपीति भावः ॥ १३१ ॥

अनुवाद—(हे राजन् !) प्रियतमा और चन्द्र आदिको जीतनेवाली शोभासे युक्त जो कीर्ति देशान्तरमें जाती हुई भी नहीं छोड़ती है, वैसी कीर्तिको नाशशील समागमवाली मृगनयना स्त्रीके लिए कौन-सा विवेकी पुरुष व्यर्थ करता है ? (कोई भी नही)।

टिप्पणी—प्रेयसी=अतिशयेन प्रिया, प्रिय+ईयसुन्+ङीप्। जितसुधांऽशुमुखश्री=सुधा अंशु यस्य स सुधांऽशु (बहु०), सुधांऽशु मुखम् (आदि) येषा ते (बहु०), सुधांऽशुमुखाना श्री (ष० त०), जिता सुधांऽशुमुखश्री यया सा (बहु०)। चन्द्र आदिकी शोभाको जीतनेवाली, इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह कीर्तिका विशेषण है। मुखस्य श्री (ष० त०), जित सुधांऽशुर्यया सा (बहु०), जितसुधांऽशु मुखश्री यस्या सा (बहु०)। चन्द्रमाको जीतनेवाली मुखशोभासे युक्त, इस व्युत्पत्तिसे यह स्त्रीका विशेषण है। दिगन्तगता=दिशाम् अन्ता (ष० त०), दिगन्तान् गता (द्वि० त०)। भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे=भङ्ग अस्यास्तीति भङ्गी=नाशशील, भङ्ग+इनि+सु। भङ्गी सङ्गमो यस्या सा भङ्गिसङ्गमा (बहु०), कुरङ्गस्य इव दृशौ यस्या सा कुरङ्गदृक् (व्यधिकरणबहु०), भङ्गिसङ्गमा चासौ कुरङ्गदृक् (कर्म०), तस्या अर्थ, तस्मिन् (ष० त०)। कदर्थयति=कुत्सित अर्थ कदर्थ (गति०)। "को कतत्पुरुषेऽचि" इस सूत्रसे 'कु' शब्दके स्थानमें कत् आदेश। कदर्थं करोति कदर्थयति, कदर्थ शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर लट्+तिप्। चन्द्रमा आदिकी श्री (शोभा)को जीतनेवाली जो कीर्ति देशान्तरमें जाती हुई भी नहीं छोड़ती है, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त होकर रहती है उस कीर्तिको भी जिसकी मुखश्री चन्द्रमाको जीतती है परन्तु नाशशील समागमवाली मृगके समान नेत्रोंसे युक्त वैसी सुन्दरी स्त्रीके लिए कौन सा पुरुष व्यर्थ करता है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें व्यतिरेक अलङ्कार है॥ १३१॥

> यान् वर प्रति परेऽर्थयितारस्तेऽपि य वयमहो ! स पुनस्त्वाम्।
> नैव न खलु मनोरथमात्र, शूर ! पूरय दिशोऽपि यशोभि ॥ १३२॥

अन्वय—(हे राजन् !) परे वर प्रति यान् (अस्मान्) अर्थयितार ते वयम् अपि य (वर) त्वाम् अर्थयितार अहो ! स (त्वम्) पुन न मनोरथमात्र नैव पूरय (किन्तु) हे शूर ! यशोभि दिशोऽपि पूरय।

व्याख्या—(हे राजन् !) परे=अन्ये जना, वर प्रति=इष्टलाभम् उद्दिश्य, यान्=अस्मान्, अर्थयितार=याचनशीला। ते=तादृशा, वयम् अपि=इन्द्रादयो देवा अपि, य=वर प्रति, त्वा=भवन्तम्, अर्थयितार=याचनशीला, अहो !=आश्चर्यम् ! स=तादृशस्त्व, पुन, न=अस्माक, मनोरथमात्रम्=अभिलाषमात्र, नैव पूरय=नैव परिपूर्णं कुरु, किन्तु हे शूर !=

हे वीर ! यशोभिः=कीर्तिभिः, दिशोऽपि=दिगन्तानपि, पूरय=परिपूर्णाः कुरु ।

अनुवाद—(हे राजन् !) दूसरे लोग किसी भी वरको उद्देश्य करके जिन हम लोगो से प्रार्थना करते हैं, वैसे हम लोग भी जिस वरको उद्देश्य करके आपसे प्रार्थना करते हैं, आश्चर्य है ! वैसे आप हम लोगोंके अभिलाषको ही नहीं पूर्ण करें, वल्कि हे शूर ! अपनी कीर्तिसे दिशाओंको भी पूर्ण करें ।

टिप्पणी—यान्="अर्थयितारः" तृन्प्रत्ययान्त इस पदके योगमें "न लोकाऽव्यय०" इत्यादि सूत्रसे षष्ठीका निषेध होनेसे द्वितीया । अर्थयितारः=अर्थयन्त इति, अर्थ+णिच्+तृन् (ताच्छील्यमें) जस् । पूरय=पूर+णिच्+लोट्+सिप् । हे महाराज ! हमारे अभिलाषको पूर्ण करनेसे आपकी कीर्ति सव दिशाओ में फैलेगी, नहीं तो वैसे ही अकीर्ति भी फैलेगी, यह तात्पर्य है ॥ १३२ ॥

अर्थितां त्वयि गतेषु सुरेषु म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः ।
अद्य पाण्डु गगनं सुरशाखी केवलेन कुसुमेन विधत्ताम् ॥ १३३ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) अद्य सुरशाखी सुरेषु (अस्मासु) त्वयि अर्थितां गतेषु म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः (सन्) केवलेन कुसुमेन गगनं पाण्डु विधत्ताम् ।

व्याख्या—(हे राजन् !) अद्य=अस्मिन् दिने, सुरशाखी=देववृक्षः, कल्पवृक्ष इत्यर्थः । सुरेषु=देवेषु, इन्द्रादिषु, त्वयि=भवति विषये, अर्थितां=याचकतां, गतेषु=प्राप्तेषु, म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः=मलिनवितरणजन्यस्वीयमहाकीर्तिशोभः सन्, केवलेन=कीर्तिरहितेन, कुसुमेन=पुष्पेण, गगनम्=आकाशं, पाण्डु=शुभ्रं, विधत्तां=करोतु ।

अनुवाद—(हे राजन् !) आज कल्पवृक्ष, हम देवताओंके आपके याचक होनेपर दानसे उत्पन्न अपनी बड़ी कीर्तिकी शोभाके मलिन हो जानेसे कीर्तिरहित फूलसे ही आकाशको श्वेत करे ।

टिप्पणी—सुरशाखी=सुराणां शाखी (ष० त०) । म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः=दानात् जाता दानजा, दान+जन्+ड+टाप् (उपपद०), यशसः श्रीः (ष० त०) । म्लाना दानजा निजा उरुः यशःश्रीः यस्य सः (बहु०) । कुसुमे=करणमें तृतीया । विधत्तां=वि+धा+लोट्+त ।

अपने याचकोंके दूसरेके याचक होनेसे कल्पवृक्षके दानकी कथा अस्त होगी, यह तात्पर्य है ॥ १३३ ॥

> प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत् स्मृतिधृतोऽपि नल ! त्वमभीष्टद !
> स्वगमनाऽफलतां यदि शङ्कसे तदफलं निखिलं खलु मङ्गलम् ॥१३४॥

अन्वय—हे नल ! प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत् स्मृतिधृत अपि अभीष्टद त्व स्वगमनाऽफलता शङ्कसे यदि, तत् निखिलं मङ्गलम् अफल खलु ।

व्याख्या—हे नल=हे नैषध ! प्रवसते=प्रवास कुर्वते, भरतार्जुनवैन्यवत्=शाकुन्तलेयहैहयपृथुवत्, स्मृतिधृत अपि=स्मर्यमाण अपि, अभीष्टद=इष्टार्थप्रद, त्व, स्वगमनाफलता=निजयात्रावैफल्य, शङ्कसे यदि=सम्भावयसि चेत्, तत्=तर्हि, लोके, निखिल=सर्व, मङ्गल=यात्राकालिक भरतादिस्मरणलक्षण मङ्गलाचरणम्, अफल=निष्फल स्यात्, खलु=निश्चयेन, वैन्य पृथुरित्यादीना स्मरणस्यापि वैयर्थ्यादितो स्वगमनवैफल्य त्वया नाशङ्कनीयमतो गच्छेति भाव ।

अनुवाद—हे नल ! यात्रा करनेवालेको भरत, सहस्रार्जुन और पृथुके समान स्मरण किये जानेपर भी अभीष्ट फल देनेवाले आप, अपनी यात्राकी विफलताकी शङ्का करते हैं तो सब मङ्गलाचरण कार्य निष्फल होगा (ऐसा नहीं, अत आप यात्रा करें) ।

टिप्पणी—प्रवसते=प्रवसतीति प्रवसन्, तस्मै, प्र+वस+लट (शतृ०) +ङे । भरतार्जुनवैन्यवत्=भरतश्च अर्जुनश्च वैन्यश्च (द्वन्द्व०), तैस्तुल्य "तेन तुल्य क्रिया चेद्वति" इस सूत्रसे वति प्रत्यय । स्मृतिधृत=स्मृतौ धृत (स० त०) । अभीष्टद=अभीष्ट ददातीति, अभीष्ट+दा+क (उपपद०) +सु । स्वगमनाऽफलता=स्वस्य गमनम् (ष० त०), अविद्यमान फल यस्य तत् अफलम् (नञ्बहु०), तस्य भाव, अफल+तल्+टाप् । स्वगमने अफलता, ताम् (स० त०) । हे नल ! आप अपने गमनमें निष्फलताकी शङ्का करते हैं तो—

> "वैन्य, पृथु, हैहयमर्जुन च शाकुन्तलेय भरत नल च ।
> एतान्नृपान् य स्मरति प्रयाणे, तस्याऽर्थसिद्धि पुनरागमश्च ॥"

ऐसा शास्त्रवचन अप्रमाण होगा । जिसके स्मरणसे और लोगोंकी अर्थसिद्धि होती है तो उसकी अर्थसिद्धिमे क्या सन्देह है ? यह भाव है । इस पद्यमे द्रुतविलम्बित छन्द है ॥ १३४ ॥

इष्टिं नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्याऽद्य स्वराह्लादिनी,
धर्माऽर्था सृज तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्याऽन्विताऽऽख्यापदाम् ।
त्वत्कीर्तिः पुनती पुनस्त्रिभुवनं शुभ्राऽद्वयाऽऽदेशनाद्
द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामाऽन्वयं लुम्पतु ॥ १३५ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) अद्य नः इष्टिं प्रति स्वराह्लादिनी धर्माऽर्था या ते प्रतिश्रुतिः अभूत्, तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्य अन्विताऽऽख्यापदां सृज, त्वत्कीर्तिः पुनः त्रिभुवनं पुनती द्रव्याणां शुभ्राऽद्वयाऽऽदेशनात् शितिपीतलोहितहरिन्नामाऽन्वयं लुम्पतु ।

व्याख्या—(हे राजन् !) अद्य=अस्मिन्दिने, नः=अस्माकम्, इष्टिं प्रति= इच्छां यागं च प्रति, स्वराह्लादिनी=मधुरस्वराऽऽनन्ददायिनी (इच्छापक्षे), स्वर्गानन्ददायिनी (यागपक्षे), धर्माऽर्था=सुकृतप्रयोजना धर्मरूपा वा या, ते= तव, प्रतिश्रुतिः="जीविताऽवधि किमप्यधिकं वा (५–९७)" इति पद्योक्ता अस्मदभिलापपूरणप्रतिज्ञा, अभूत्=जाता, तां=प्रतिश्रुतिं, श्रुतिप्रतिभटीकृत्य =वेदप्रतिनिधीकृत्य, अन्विताऽऽख्यापदाम्=अन्वर्थनामाऽक्षरां, सृज=कुरु । सत्यप्रतिज्ञो भवेति भावः । अस्य फलमाशीर्मुखेनाह—त्वत्कीर्तिरिति । त्वत्कीर्तिः=भवद्यशः, पुनः=तु, त्रिभुवनं=लोकत्रयं, पुनती=पावयन्ती, द्रव्याणां=नीलपीताऽऽदिपदार्थानां, शुभ्राऽद्वयाऽऽदेशनात्=शुक्लगुणाऽभेद- प्रतिपादनात्, शितिपीतलोहितहरिन्नामाऽन्वयं=कृष्णगौररक्तपालाशवाचक- शब्दसम्बन्धं, लुम्पतु=निवर्तयतु । हे राजन् ! याचकमनोरथपूरणेन यशः सम्पादयेति भावः ।

अनुवाद—(हे राजन् !) आज हम लोगोंकी इच्छा वा यज्ञके प्रति स्वीकृतिके मधुर स्वरसे वा स्वर्गको आनन्द देनेवाली धर्मप्रयोजनवाली वा धर्मरूप जो आपकी प्रतिश्रुति (मंजूरी) हुई, उसको वेदकी प्रतिनिधि बनाकर अर्थानुकूल नामवाली बनाइए । आपकी कीर्ति तीनों लोकोंको पवित्र करती हुई नील पीत आदि द्रव्योंको शुक्लगुणसे अभिन्न बनाकर कृष्ण, गौर, पीत और हरित इनके वाचक शब्दोंके वाच्यत्वसम्बन्धको दूर करे ।

टिप्पणी—इष्टिम्=यज्+क्तिन्+अम् । यहाँपर यज् धातुसे क्तिन् होकर "वचिस्वपियजादीनां किति" इससे सम्प्रसारण । "इष्टिर्यागेच्छयोः" इत्यमरः । स्वराह्लादिनी=स्वरैः आह्लादयतीति तच्छीला, स्वर+आङ्+ह्लाद+णिच्+ णिनि+ङीप्+सु (उपपद०) । इच्छापक्षमें–हम लोगोंकी इच्छाकी मधुर स्वर-

से आनन्द देनेवाली, पाणपक्षमें–स्व आह्लादयतीति तच्छीला, स्वर्+आङ्+ह्लाद+णिच्+णिनि+ङीप्+सु (उपपद०)। पाणसे स्वर्गको आनन्द देनेवाली। धर्मार्था=धर्म अर्थ यस्या सा (बहु०)। श्रुतिप्रतिभटीकृत्य=श्रुतेः प्रतिभटा (ष० त०), अश्रुतिप्रतिभटा श्रुतिप्रतिभटा यथा सम्पद्यते तथा कृत्वा, श्रुतिप्रतिभटा+कृ+च्वि+क्त्वा (ल्यप्)। प्रतिश्रुति(मजूरी)को श्रुति-(वेद)की प्रतिनिधि बनाकर, यह तात्पर्य है। अन्विताऽऽख्यापदाम्=आख्याया पदम् (ष० त०), अन्वितम् आख्यापदं यस्या सा, ताम् (बहु०)। सृज=सृज्+लोट्+सिप्। त्वत्कीर्ति=तव कीर्ति (ष० त०)। त्रिभुवन=त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं, तत् (द्विगु), "अकाराऽन्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः" इससे प्राप्त स्त्रीत्वका "पात्राद्यन्तस्य न" इससे निषेध होनेसे नपुंसकलिङ्गता। पुनती=पुनातीति, "पूञ् पवने" धातुसे लट् (शतृ)+ङीप्। "प्वादीनां ह्रस्वः" इस सूत्रसे ह्रस्व। शुभ्राऽद्वयाऽऽदेशनात्=शुभ्रस्य अद्वय (ष० त०), तस्य आदेशनं, तस्मात् (ष० त०)। शितिपीतलोहितहरिन्नामाऽन्वय=शितिश्च पीतश्च लोहितश्च हरिच्च (द्वन्द्व,), तेषां नामानि (ष० त०) तेषाम् अन्वय (वाच्यत्वलक्षण सम्बन्ध), तम् (ष० त०)। लुम्पतु=लुप्+लोट्+तिप्। इस पद्यमें नील आदि वस्तुओंका अपने गुणका त्याग कर कीर्तिगुणका ग्रहण करनेसे तद्गुण अलङ्कार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥ १३५॥

> य प्रासूत सहस्रपात्तदभवत् पादेन खञ्ज कथ
> स च्छायातनय सुत किल पितु सादृश्यमभिव्यक्ति।
> एतस्योत्तरमद्य न समजनि त्वत्तेजसा लङ्घने
> साहसैरपि पङ्गुरङ्घ्रिभिरभिव्यक्तीभवन् भानुमान्॥ १३६॥

अन्वय —य सहस्रपात् प्रासूत, स छायातनय कथं पादेन खञ्ज उदभवत्? सुत पितु सादृश्यम् अभिव्यक्ति किल। एतस्य अद्य त्वत्तेजसा लङ्घने साहसैः अपि अङ्घ्रिभि पङ्गु अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् न उत्तरं समजनि।

व्याख्या—(हे राजन्!) य=शनैश्चर, सहस्रपात्=सहस्रचरण सूर्यश्च, प्रासूत=प्रसूतवान्, स=प्रसिद्ध, छायातनय=छायापुत्र, शनैश्चर इत्यर्थ। कथ=केन प्रकारेण, पादेन=चरणेन, खञ्ज=खोड, उदभवत्=उत्पन्न? यत सुत=पुत्र, पितु=जनकस्य, सादृश्य=समानताम्,

अन्विष्यति=अनुसरति, किल=खलु। एतस्य=प्रश्नस्य, अद्य=अस्मिन्दिने, त्वत्तेजसां=भवत्प्रतापानां, लङ्घने=अतिक्रमणे विषये, साहस्रैः अपि=सहस्र-संख्यैः अपि, अङ्घ्रिभिः=चरणैः, पङ्गुः=खञ्जः, अभिव्यक्तीभवन्=स्फुटीभवन्, भानुमान्=सूर्यः, नः=अस्माकम्, उत्तरं=प्रतिवचनं, समजनि=सञ्जातः।

अनुवाद—(हे राजन् !) जिस शनैश्चरको हजार पादों(किरणों)से युक्त सूर्यने उत्पन्न किया, वे छायाके पुत्र शनैश्चर कैसे एक पैरसे लंगडे हुए ? क्योंकि पुत्र पिताके सादृश्यका अनुसरण करता है। इस प्रश्नका आज आपके प्रतापको लङ्घन करनेके विषयमें हजार पादों(किरणों)से भी लंगडे प्रतीत होते हुए सूर्य हम लोगोंके उत्तरके रूपमें हो गये।

टिप्पणी—सहस्रपात्=सहस्रं पादाः (रश्मयः अङ्घ्रयश्च) यस्य सः (बहु०)। "संख्यासुपूर्वस्य" इस सूत्रसे पाद शब्दका अन्त्यलोप। "पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः" इत्यमरः। प्रासूत=प्र+षूङ्+लङ्+त। छायातनयः=छायायास्तनयः (ष० त०)। "मन्दश्छायासुतः शनिः" इत्यमरः। पादेन="येनाऽङ्गविकारः" इस सूत्रसे तृतीया। उदभवत्=उद्+भू+लङ्+तिप्। सादृश्यं=सदृशस्य भावः सादृश्यं, तत्, सदृश+ष्यञ्+अम्। "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" अर्थात् कारणके गुण कार्यके गुणोंका आरम्भ करते हैं, इस न्यायसे हजार पादोंवाले सूर्यरूप कारणसे कार्यरूप शनैश्चरको हजार पादोंसे युक्त होना था, सो वे कैसे लंगड़े हो गये ? यह भाव है। त्वत्तेजसां=तव तेजांसि, तेषाम् (ष० त०)। साहस्रैः=सहस्रं (संख्या) येषां ते साहस्राः, तैः, सहस्र शब्दसे "अण् च" इस सूत्रसे मत्वर्थीय अण् प्रत्यय। अङ्घ्रिभिः="येनाऽङ्गविकारः" इससे तृतीया। अभिव्यक्तीभवन्=अनभिव्यक्तः अभिव्यक्तः यथा सम्पद्यते तथा भवन्, अभिव्यक्त+च्वि+भू+लट् (शतृ)+सु। भानुमान्=भानवः (किरणाः) सन्ति यस्य सः, भानु+मतुप्+सु। समजनि=सम्+जन+लङ् (कर्तामें)+त। पूर्वोक्त प्रश्नका उत्तर है नल ! हजारों पादों-(किरणों)से भी आपके प्रतापका लङ्घन करनेमें लंगड़े पिता सूर्यसे वैसे ही लंगडे पुत्र शनैश्चर हुए, यही प्रतीत होता है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमें अपङ्गु सूर्यकी भी पङ्गुताकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है, उसके हेतुके रूपमें शनैश्चरके पङ्गुत्वकी संभावना होनेसे उत्प्रेक्षा—इस प्रकार दोनों अलङ्कारोंका सङ्कर है ॥ १३६ ॥

इत्याकर्ण्य क्षितीशस्त्रिदशपरिषदस्ता गिरश्चाटुगर्भा
वैदर्भीकामुकोऽपि प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार।
अङ्गीकारं गतेऽस्मिन्नमरपरिवृढः सम्भृताऽऽनन्दमूचे
भूयादन्तर्धिसिद्धेरनुविहितभवच्चित्तता यत्र तत्र ॥ १३७ ॥

अन्वय—क्षितीशः त्रिदशपरिषदः इति चाटुगर्भाः ताः गिरः आकर्ण्य वैदर्भीकामुकः अपि प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार। अस्मिन् अङ्गीकारं गते अमरपरिवृढः "(हे राजन् !) यत्र तत्र (अपि) अन्तर्धिसिद्धेः अनुविहितभवच्चित्तता भूयात्" इति सम्भृतानन्दम् ऊचे।

व्याख्या—क्षितीशः = राजा नलः, त्रिदशपरिषदः = सुरसभायाः, सुरसङ्घस्येति भावः। इति = एवरूपाः, चाटुगर्भाः = प्रियवचनप्रचुराः, ताः = पूर्वोक्ताः, गिरः = वचनानि, आकर्ण्य = श्रुत्वा, वैदर्भीकामुकः अपि = दमयन्त्यभिलाषुकः सन् अपि, प्रसभविनिहितं = बलादारोपितं, दूत्यभारं = दौत्यभारं, बभार = भृतवान्। अस्मिन् = नले, अङ्गीकारं = दूत्यभारवहनस्वीकारं गते = प्राप्ते सति, अमरपरिवृढः = देवप्रभुः, इन्द्रः इत्यर्थः, (हे राजन् !) यत्र तत्र = यस्मिन् तस्मिन्नपि स्थाने, सर्वत्रेति भावः। अन्तर्धिसिद्धेः = अन्तर्धानशक्तेः, अनुविहितभवच्चित्तता = अनुसृतत्वन्मनस्कता, भूयात् = भवतात्, भवच्चित्ताऽनुसारेण सर्वत्र भवतः अन्तर्धानशक्तिरस्तु इति भावः। इति = एतादृशं वाक्यं, सम्भृताऽऽनन्दम् = सहर्षम्, ऊचे = उवाच, इन्द्रो नलाय तिरस्कारिणीं विद्यां प्रादादिति भावः।

अनुवाद—राजा नलने देवसमूहके ऐसे खुशामदभरे वचनोंको सुनकर दमयन्तीमें अभिलाषवाले होकर भी जबर्दस्तीसे रक्खे गये दूतकर्मके भारको धारण किया। नलके इन्द्रवचनको स्वीकार करनेपर देवेन्द्रने—"हे राजन् ! जहाँ कहीं भी अपनी इच्छाके अनुसार आपको अन्तर्धानकी सिद्धि हो" ऐसे वचनको आनन्दके साथ कहा।

टिप्पणी—क्षितीशः = क्षितेः ईशः (ष० त०)। त्रिदशपरिषदः = त्रिदशानां परिषत्, तस्याः (ष० त०)। चाटुगर्भाः = चाटूनि गर्भे यासां, ताः (व्यधिकरणबहु०)। आकर्ण्य = आङ् + कर्ण + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। वैदर्भीकामुकः = वैदर्भ्याः कामुकः (ष० त०)। प्रसभविनिहितं = प्रसभं (यथा तथा) विनिहितं, तम् (सुप्सुपा०)। दूत्यभारं = दूतस्य भारः, तम् (ष० त०)।

बभार=(डु) भृञ्+लिट् + तिप् (णल्)। अमरपरिवृढः=अमराणां परिवृढः (ष० त०)। अन्तर्धिसिद्धेः=अन्तर्धेः सिद्धिः, तस्याः (ष० त०)। अनुविहितभवच्चित्तता=भवतः चित्तम् (ष० त०)। अनुविहितं भवच्चित्तं यया (बहु०), अनुविहितभवच्चित्ताया भावः, अनुविहितभवच्चित्ता+तल्+टाप्। अपनी इच्छाके अनुसार आपको अन्तर्धानसिद्धि हो" ऐसा वर देनेसे "यामिकाननुपमद्य० (५–११०)" इस पद्यमें कथित नलकी आपत्तिका परिहार हुआ। भूयात्=भू+आशीर्लिङ्+तिप्। सम्भृतानन्दं=सम्भृत आनन्दो यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०), यह क्रियाविशेषण है। ऊचे=ब्रूञ्+लिट्+त। इस पद्यमें स्रग्धरा छन्द है ॥ १३७ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत् पञ्चमः ॥ १३८ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे। श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये पञ्चमः सर्गः अगमत्।

व्याख्या—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः=पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणिः, श्रीहीरः=तन्नामको जनकः, मामल्लदेवी च=तन्नाम्नी जननी च, जितेन्द्रियचयं=वशीकृतहृषीकसमूहं, यं, श्रीहर्षं=तन्नामकं, सुतं=पुत्रं, सुषुवे=जनयामास। श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य = श्रीविजयप्रशस्तिनामकग्रन्थजनकस्य, तस्य=श्रीहर्षस्य, भव्ये=योग्ये, चारुणि=मनोहरे, नैषधीयचरिते=तदाख्ये, महाकाव्ये = बृहत्काव्ये, पञ्चमः = पञ्चमसंख्यापूरणः, सर्गः= अध्यायः, अगमत्=गतः, समाप्त इत्यर्थः।

अनुवाद—श्रेष्ठ पण्डितोंकी श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोंको जीतनेवाले जिन श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया। श्रीविजयप्रशस्तिनामक ग्रन्थके जनक उन श्रीहर्षके योग्य और सुन्दर नैषधीयचरित महाकाव्यमें पाँचवाँ सर्ग गया (समाप्त हुआ)।

टिप्पणी—बहुत-सा अंश पहले विवृत होनेसे संक्षेपमें टिप्पणी की जाती है। श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य=श्रीसम्पन्नो विजयः (मध्यमपदलोपी स०)।

तस्य प्रशस्ति (प्रशसा), (प० त०), सा चाऽसौ रचना (क० धा०), तस्यास्तात (प० त०), तस्य । भव्ये="भव्य शुभे च सत्ये च योग्ये भाविनि च त्रिषु" इति मेदिनी । पञ्चम =पञ्चाना पूरण , पञ्चन्+लट् (मट्)+सु । अगमत्=गम्+लुङ+तिप् ॥ १३८ ॥

शुभमस्तु ।

— ० —

चतुर्थः सर्गः

पञ्चमः सर्गः

80738

२३

भवति देवस्मा